ओ३म्

त्रैतसिद्धान्तादर्श

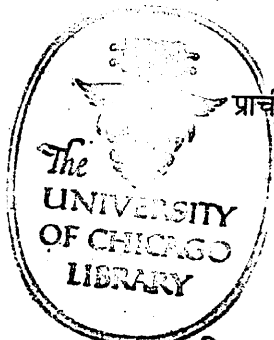
लेखक–

पण्डित शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ

सम्पादक–

आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि

प्रकाशक–
रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क
जि० सोनीपत- १३१००१, (हरियाणा)



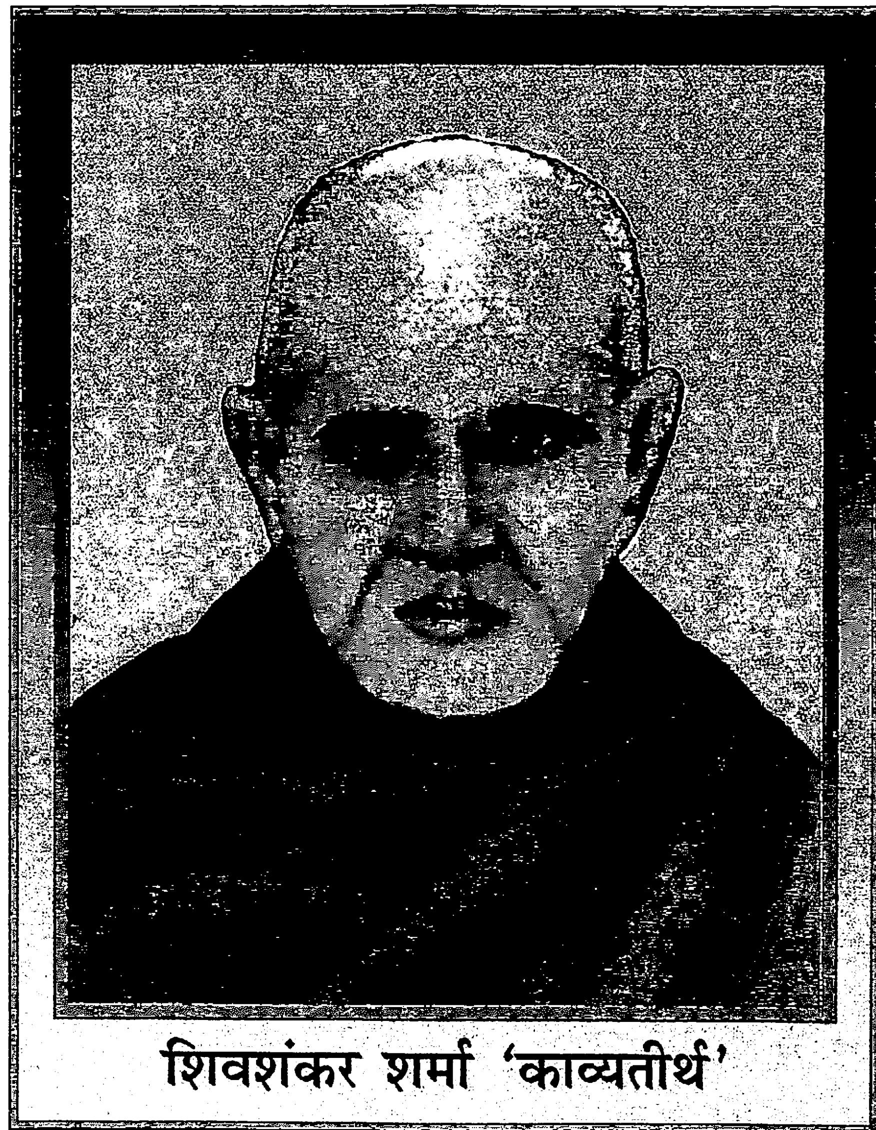
ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा, भारतीय विज्ञान और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा।

पुस्तकप्राप्तिस्थान-
* रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क
जि० सोनीपत- १३१००१
(हरियाणा)
दूरभाष- (०१३०) २४८२८५७
* रामलाल कपूर एण्ड संस
पेपर मर्चेन्टस्, २५९६,
नई सड़क, दिल्ली
* विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण- ५०० प्रति
आश्विन, सं० २०६०,
अक्टूबर, सन् २००३
मूल्य- १५०.००

मुद्रक-
राधा प्रेस
गांधी नगर, दिल्ली


शिवशंकर शर्मा 'काव्यतीर्थ'

सम्पादकीय

बहुत वर्ष पूर्व श्री राजकिशोर, आचार्य गुरुकुल यमुनानगर ने मुझ से पं॰ शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ की कृति 'त्रैतसिद्धान्तादर्श' (त्रैतवाद–निर्णय– यह नाम हस्तलिखित प्रतिलिपि में नहीं है, बाहर वेष्टन पर अंकित है) के बारे में पूछा था। मैंने रामलाल कपूर ट्रस्ट के 'स्वामी सियाराम वैदिक पुस्कालय' की पुस्तक-सूची में देखा और श्री राजकिशोर को बता दिया कि इस नाम की कोई पुस्तक पुस्तकालय में नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व यमुनानगर निवासी श्री इन्द्रजित् जी 'देव' ने जानना चाहा कि क्या श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक की पुस्तकों में 'त्रैतवाद-निर्णय' नामक पाण्डुलिपि है ? श्री 'देव' जी को सम्भवतः स्वर्गीय मीमांसक जी ने ही इस पुस्तक की पाण्डुलिपि अपने पास होने की सूचना दी थी। मैंने श्री 'देव' जी को उत्तर दे दिया कि स्वर्गीय मीमांसक जी ने अपनी पुस्तकें कन्या गुरुकुल लोवा कलां की आचार्या सुश्री शान्तिदेवी को अपने देहावसान से पूर्व प्रदान कर दी थीं। श्री 'देव' जी ने लोवाकलां गुरुकुल से जानकारी लेने का प्रयास किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। पिछले वर्ष 'स्वामी सियाराम वैदिक पुस्कालय' में रखी पाण्डुलिपियों को व्यवस्थित करते समय मुझे सहसा 'त्रैतसिद्धान्तादर्श' मिल गई। मैंने श्री 'देव' जी को सूचित कर दिया। उन्होंने प्राध्यापक राजेन्द्र जिज्ञासु को सूचित किया और दोनों सज्जनों ने पुस्तक को यथाशीघ्र प्रकाशित करने का आग्रह किया। गत वर्ष श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के अधिवेशन में इस पुस्तक को ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित करने का निर्णय किया गया। इस प्रकार पं॰ शिवशंकर शर्मा की इस विद्वत्तापूर्ण दुर्लभ कृति का प्रकाशन किया जा रहा है। इसका श्रेय श्री इन्द्रजित् 'देव' (यमुनानगर) को ही है। उन्होंने ही पं॰ शिवशंकर शर्मा के जीवनवृत्त और कृतित्व को प्रस्तुत करने वाले तीन विद्वानों के लेखों की व्यवस्था की है।

पाण्डुलिपि का संक्षिप्त विवरण

'त्रैतसिद्धान्तादर्श' की पाण्डुलिपि आधुनिक सफेद कागज पर एक ओर नीली स्याही से लिखी गई है। कागज का आकार फुलस्केप है और वह २३ से २५ तक रेखाओं से युक्त है। लेख सुपाठ्य है। पाण्डुलिपि पानी से कुछ क्षतिग्रस्त हुई है। प्रथम पृष्ठ पर श्रद्धेय गुरुवर पं॰ ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु द्वारा लाल स्याही से 'त्रैतवाद-निर्णय' लिखा गया है। पाण्डुलिपि में कहीं भी लिपिकर के द्वारा 'त्रैतवाद-निर्णय' शब्द नहीं लिखा गया है। यह पाण्डुलिपि मूल की प्रतिलिपि है।

मूल कहाँ, किसके पास है— यह ज्ञात नहीं है। यह प्रतिलिपि कब, कहाँ, किसने की थी— यह भी ज्ञात नहीं है। सम्भव है, पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा[१] के अधिकारियों ने अवलोकनार्थ मूल प्रति श्रद्धेय पं॰ ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु को दी हो और उन्होंने उसकी प्रतिलिपि कराकर मूलप्रति वापिस लौटा दी हो? अस्तु, मूल की प्रतिलिपि ट्रस्ट के पुस्तकालय में सुरक्षित है। प्रतिलिपि करने वाले ने अपने नाम, स्थान और काल का उल्लेख कहीं नहीं किया है। प्रतिलिपि १ से २०५ पृष्ठ तक खुले कागजों पर (दो-दो पृष्ठ) लिखी गई है। आगे एक-एक दस्ते (२४ कागजों) के प्रघट्टकों पर लिखी गई है— तदनुसार— २०६—२५०, २५१— ३००, ३०१—३५०, ३५१—४००, ४०१—४५०, ४५१—५००, ५०१—५४८ सात प्रघट्टक हैं। इनमें से ३०१ से ३५० तक वाले प्रघट्टक से अन्त तक सभी प्रघट्टकों के बाहरी पृष्ठ पर पृष्ठसंख्या का उल्लेख है। अन्तिम प्रघट्टक पर लाल पैंसिल से "आरम्भ २५.९.५० समाप्ति २६.१२.५०" लिखा गया है। यही प्रतिलिपि का काल प्रतीत होता है।

इस पुस्तक की वर्त्तमान प्रतिलिपि का मिलान मूलप्रति से भी किया गया था। आरम्भ में मूलप्रति की पृष्ठसंख्या का निर्देश पूज्य गुरुवर पं॰ ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के द्वारा किया गया प्रतीत होता है, परन्तु पश्चात् स्वयं प्रतिलिपि करने वाले के द्वारा किया गया प्रतीत होता है। इस पुस्तक को छापने के उद्देश्य से पूज्य गुरुवर ने टाइपों का निर्देश स्थान-स्थान पर किया है और श्लोकों या वाक्यों पर लाल या नीली स्याही से चिह्न (रेखांकन) लगाये हैं। कई स्थानों पर परिवर्त्तन और परिवर्द्धन भी किये गये हैं जो मूलप्रति से मिलान करके ही सम्भव हैं। ऐसे सभी स्थलों पर हमने वर्त्तमान संस्करण में टिप्पणियाँ दी हैं।

पं॰ शिवशंकर शर्मा ने वर्ण्य विषय को छह विभागों में विभक्त किया है—

१. संज्ञादर्शः— प्रतिलिपि के पृष्ठ १ से १०८ तक अनुष्टुप् छन्द में स्वरचित २४२ संस्कृत श्लोकों और उनकी विस्तृत हिन्दी व्याख्या द्वारा दर्शन सम्बन्धी संज्ञाओं का निरूपण है। अन्त में पुष्पिका है— इति श्री त्रैतसिद्धान्तादर्शे श्रीशिवशंकरप्रणीते संज्ञादर्शो नाम प्रथम आदर्शः समाप्तः।

२. अनुबन्धचतुष्टयादर्शः— प्रतिलिपि के पृष्ठ ११० से १६६ तक चार अनुबन्धों का विवरण है और अद्वैतसिद्धान्त में मान्य अनुबन्धों की समीक्षा की गई है। इस विभाग में ग्रन्थकार द्वारा स्वरचित श्लोकों का अभाव है। अगले आदर्शों में भी स्वरचित श्लोकों का अभाव है। अन्त में पुष्पिका है— इति श्रीशिवशंकरकृते

१. इस पुस्तक के पृष्ठ ६ पर लिखा है— "पञ्जाब की श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा की आज्ञा से इस त्रैतसिद्धान्तादर्श नामक त्रैतदर्शन को लिखता हूँ"।

त्रैतसिद्धान्तादर्शेऽनुबन्धचतुष्टयादर्शः समाप्तः।

३. ब्रह्मास्तित्वाद्यादर्शः— प्रतिलिपि के पृष्ठ १६७ से ३१७ तक ईश्वर और उससे सम्बद्ध विषयों का विशद निरूपण है। अन्त में पुष्पिका है— इति श्रीशिवशंकरकृते त्रैतसिद्धान्तादर्शे ब्रह्मास्तित्वाद्यादर्शः समाप्तः।

४. आत्मास्तित्वाद्यादर्शः— प्रतिलिपि के पृष्ठ ३१८ से ४५१ तक जीवात्मा से सम्बद्ध विषयों का निरूपण है। अन्त में पुष्पिका नहीं है।

५. प्रकृतित्वादर्शः— प्रतिलिपि के पृष्ठ ४५१ पर ही आरम्भ करके ५१७ तक सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति का निरूपण है। अन्त में पुष्पिका नहीं है।

६. समन्वयादर्शः— प्रतिलिपि के पृष्ठ ५१८ से ५४८ तक ईश्वरवाची शब्दों की विस्तृत व्याख्या की गई है। अन्त में पुष्पिका नहीं है।

ग्रन्थ का महत्त्व

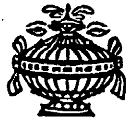
पण्डित शिवशंकर शर्मा आर्यसमाज के आरम्भिक युग के प्रौढ विद्वान् एवं शास्त्रार्थ-महारथी थे। उन्होंने जिस प्रकार के प्रौढ सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना की, उनका जोड़ मिलना कठिन है। उनके मुद्रित ग्रन्थ— ओंकार-निर्णय, वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय, त्रिदेव-निर्णय आदि को पढ़ने से उनके अगाध पाण्डित्य और सूक्ष्म तार्किक चिन्तन का ज्ञान सहज ही हो जाता है। प्रकृत 'त्रैतसिद्धान्तादर्श' भी उनके गम्भीर पाण्डित्य एवं विस्तृत अध्ययन का परिचायक है। इस ग्रन्थ के संज्ञादर्श प्रकरण में विद्वान् लेखक ने भारतीय दर्शन शास्त्रों में प्रयुक्त होने वाली सैकड़ों संज्ञाओं तथा पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की है। एकविध-द्वि-विध-त्रिविध आदि के क्रम से षोडशविध तक अनेक भेद-प्रभेदपूर्वक पारिभाषिक शब्दों का विवरण प्रस्तुत करना पं॰ शिवशंकर के बहुश्रुत ज्ञान को व्यक्त करता है। आरम्भ में इन संज्ञाओं का निरूपण होने के कारण आगे आने वाले शास्त्रीय विवेचन को समझना सरल हो जाता है। मध्यकाल के दार्शनिक व्याख्याकारों ने व्याख्येय ग्रन्थ के— अधिकारी-विषय-प्रयोजन-सम्बन्ध— इन चार अनुबन्धों पर अवश्य विचार किया है। पं॰ शिवशंकर जी ने अपने इस ग्रन्थ से सम्बद्ध इन अनुबन्धों पर दूसरे अनुबन्धचतुष्टयादर्श नामक प्रकरण में विचार किया है, साथ ही अद्वैत-मान्य अनुबन्धों की समीक्षा भी की है। अगले तीन आदर्शों में विद्वान् लेखक ने ईश्वर-जीव-प्रकृति के स्वरूप और तटस्थ लक्षणों की व्याख्या विशद रूप से प्रस्तुत की है। अन्तिम आदर्श समन्वय के रूप में रखा है जिसमें ईश्वर के औपनिषदिक नामों की व्याख्या और वेदान्त के अनेक प्रकरणों की समीक्षा की गई है।

पं॰ शिवशंकर शर्मा ने इस ग्रन्थ में अनेक आचार्यों, ग्रन्थों और मतों का

उल्लेख नामनिर्देश पूर्वक किया है। रामानुज, विष्णुस्वामी, मध्व, निम्बार्क, यादव-भास्कर, नीलकण्ठ, वल्लभ, विद्यारण्य स्वामी, निश्चलदास, शंकर, भास्कर, विज्ञानेन्द्र भिक्षु, वाचस्पति मिश्र, कारुणिक सिद्धान्ती, कापालिक, विश्वनाथ पञ्चानन, वात्स्यायन— आदि आचार्यों, सर्वदर्शनसंग्रह, वेदार्थसंग्रह, अद्वैतसिद्धि, विचारसागर, भामती, तत्त्वकौमुदी, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, वेदान्तपरिभाषा, प्रकटार्थविवरण, तत्त्वविवेक, संक्षेपशारीरक, पञ्चदशी— आदि ग्रन्थों और शांकर, रामानुजमत, विज्ञानवाद, शून्यवाद, प्राभाकर, भाट्ट, अद्वैत, दृष्टिसृष्टिवाद, सृष्टिदृष्टिवाद, द्वैत, आभासवाद, वेदान्तवाद, पाशुपत, भागवत, सात्त्वत, पञ्चरात्र, शाण्डिल्य, चार्वाक, न्याय, सत्कार्यवाद— आदि मतों को यथावसर प्रस्तुत करके समीक्षा करना पं० शिवशंकर जैसे शास्त्रनिष्णात विद्वान् के लिये ही सम्भव है। प्रसंगतः आपने स्वरचित ग्रन्थ 'त्रिदेवनिर्णय' का उल्लेख भी किया है और भावी ग्रन्थ 'अश्वमेध' की सूचना भी दी है। हमें यह ज्ञात नहीं है कि उन्होंने 'अश्वमेध' का प्रणयन किया था या नहीं।

हमें प्रसन्नता है कि वैदिक सिद्धान्त का यह चिरप्रतीक्षित ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। इसके लिए प्रमुख प्रेरक श्री इन्द्रजित् 'देव' (यमुनानगर) का हार्दिक धन्यवाद है। अपने सहयोगी श्री प्रदीप कुमार शास्त्री और श्री वेदव्रत के सक्रिय सहयोग के लिये शुभ आशीर्वाद। पुस्तक के मुद्रण-जिल्द आदि की समुचित व्यवस्था के लिये श्री जीवनराम जी और राधा प्रेस के सञ्चालक के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त किया जाता है।

विरजानन्दाश्रम रेवली — विजयपाल विद्यावारिधि
५.४.२००३



विषय-सूची



विविध-सूचियाँ

ओंकारनिर्णय के ग्रन्थकार का परिचय

[लेखक— श्री स्वामी अभेदानन्द जी सरस्वती, पटना, बिहार।]

'ओंकारनिर्णय' के लेखक, स्वर्गीय श्री पण्डित शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ जी का परिचय और स्मरण आर्यसमाज की नूतन पीढी को कराने का अवसर प्राप्त करके मैं स्वयं गौरवान्वित हो रहा हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि स्वर्गीय पण्डित जी ने अपनी विद्या, बुद्धि और शक्ति के प्रत्येक परमाणु को वेदों के प्रचार और आर्यसमाज के विस्तार करने में सफलता पूर्वक लगा दिया था। हम सबको आर्यसमाज के उस ऐसे महारथी विद्वान् के जीवन और व्यवहार से पूर्ण परिचित होकर, स्वकीय जीवन और आचार-विचार को उसके निर्देशित मार्ग पर चला कर सच्चे आर्य का उदाहरण समुपस्थित करने का सर्वात्मना प्रयत्न करना चाहिए।

माननीय पण्डित जी का जन्म 'चिहुंटा' ग्राम, डाकखाना कमतौल, जिला दरभंगा, बिहार प्रदेश में एक सुप्रतिष्ठित मैथिल ब्राह्मण परिवार में हुआ था। यह स्थान संस्कृत व्याकरण, नव्य न्याय तथा दार्शिनिकों के लिये बहुत प्रसिद्ध है। पौराणिकों और शास्त्रों का तो यह एक गढ़ ही समझा जाता है।

श्री पण्डित जी का पठन-पाठन कुल की प्राचीन परम्परा के अनुसार हुआ। आपने संस्कृत साहित्य का पूर्ण अवगाहन अपना ध्येय निश्चित किया। स्वर्गीय श्री पण्डित अम्बिकादत्त जी व्यास जो कि संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान्, प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ, अपने समय के सर्वमान्य तार्किक और गणितज्ञ थे, एवं उस समय के चतुर विद्वानों में प्रमुख स्थान रखते थे, वे श्री काव्यतीर्थ जी के गुरु थे। श्री व्यास जी की महर्षि दयानन्द सरस्वती जी से भी पटना में भेंट हुई थी और कुछ संवाद भी हुआ था। श्री व्यास जी ने रोष में आकर महर्षि से कहा था—

"लोग श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों का खण्डन तो झट करने लग जाते हैं; परन्तु उनकी अपनी योग्यता की यह अवस्था है कि श्रीमद्भागवत के श्लोाकों की जोड़ के पाँच श्लोक भी नहीं बना सकते।"

इस पर हँसते हुए महर्षि ने प्रत्युत्तर में कहा था— "लिखिये, कितने श्लोक आप लिखना चाहते हैं।" इसके अनन्तर महर्षि ने उसी समय 'पादत्राण' और 'चरणपादुका' का परस्पर संवाद ही विषय रखकर धारा-प्रवाह, सुललित छन्दों में श्लोक-रचना आरम्भ कर दी थी। तब महर्षि के अगाध पाण्डित्य का लोहा श्री व्यास जी महाराज को मानना पड़ा था। इस भेंट के पश्चात् तो वे महर्षि के भक्त

और प्रशंसक ही बन गए थे।

श्री व्यास जी, श्री शिवशंकर जी को महर्षि की महिमा, विद्या और जीवन सम्बन्धी घटनायें प्रायः सुनाया करते थे। वे शिवशंकर की प्रतिभा और विद्या में अभिरुचि पर बहुत अधिक मुग्ध थे और उनको सब प्रकार से सुयोग्य बनाने का बहुत ध्यान रखते थे। इस प्रकार शिवशंकर के हृदय में महर्षि के प्रति भक्तिभाव और विशेष अनुराग का बीज बोने वाले भी श्री व्यास जी ही थे। तब कौन जानता था कि अज्ञातभाव से बोया गया बीज किसी दिन विशेष रूप से पल्लवित, पुष्पित और सुविकसित होगा और श्री अम्बिकादत्त जी व्यास का शिष्य शिवशंकर महर्षि दयानन्द का सुदृढ भक्त, अनुयायी और प्रचारक बनकर वैदिक तत्त्वों के प्रसार में विशेष सफलता प्राप्त करेगा।

अस्तु ! शिवशंकर जी ने जब पहले-पहल महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों को पढ़ा, तो उन्हें पता चला कि उनका उस समय तक का सारा समय और परिश्रम व्यर्थ ही गया है। वेदों के ज्ञान के बिना उनकी सम्पूर्ण विद्या और योग्यता निष्फल है। अतः उन्होंने वेदों के अध्ययन में विशेष परिश्रम करना आरम्भ किया और फिर तो अपना सारा जीवन ही उन्होंने वेदों के मनन, पठन-पाठन और प्रचार में लगा दिया।

मिथिला में वेदों का पठन-पाठन सामान्यतया नाममात्र ही रहा है। जब श्री पण्डित शिवशंकर जी एक कट्टर आर्यसमाजी, आर्योपदेशक और महर्षि दयानन्द के अनुयायी, वेदप्रचारक के रूप में खड़े हुए, तो मैथिल मण्डल में बहुत भारी हल-चल मच गई। रूढ़िवादी बिहार में और उसमें भी पौराणिकों के सुदृढ़ और सुप्रसिद्ध गढ़ मिथिला में यह एक असाधारण घटना थी। पौराणिक अपनी असहिष्णु और संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण श्री शिवशंकर जी के घोर शत्रु बन गए और उनको अनेक प्रकार से हानि पहुँचाने और तंग, परेशान करने लगे। श्री पण्डित जी उस समय तक अपने घर पर 'चिहुंटा' ग्राम में ही रहते थे।

श्रद्धेय पण्डित जी का वेदानुराग और महर्षि के प्रति प्रेम बहुत दृढ़ और परिपक्व था। सांसारिक प्रलोभन उन्हें आकर्षित नहीं कर सकते थे, कष्ट उनको डरा नहीं सकते थे। धमकियों के सामने झुकना तो वे जानते ही नहीं थे। पौराणिकों के विरोध से पण्डित जी की हानि तो क्या होनी थी, उल्टा उनकी प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई।

श्री पण्डित जी ने पौराणिक मण्डल को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा।

कमतौल में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। इससे दरभंगा जिले में आर्यसमाज और पण्डित जी के विरुद्ध और भी अधिक विक्षोभ फैल गया। उद्दण्ड राजकर्मचारियों ने उपद्रव आरम्भ कर दिया। इस पर श्री पण्डित जी ने तत्कालीन महाराजाधिराज दरभंगा को एक विस्तृत पत्र लिखा और उनसे न्याय की याचना की। परन्तु उस समय वहाँ कौन सुनता था।

महाराजाधिराज दरभंगा की ओर से निराश होकर श्री पण्डित जी रांची चले गए और रांची को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर श्री बाबू बालकृष्ण सहाय जी बार० एटला, प्रथम प्रधान, "बंगाल-बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा" के साथ वैदिक-धर्म-प्रचार की व्यवस्था में लग गये। उस समय श्री स्वामी मुनीश्वरानन्द जी महाराज एक छोटी आयु के विद्यार्थी और ब्रह्मचारी थे और वे श्री पण्डित जी के पास रहकर व्याकरण एवं वेद पढ़ा करते थे। श्री पण्डित जी की विद्वत्ता की उन दिनों सर्वत्र धूम मची हुई थी और आर्यजगत् में उनकी कीर्त्ति सर्वत्र फैल चुकी थी।

बिहार से पण्डित जी अजमेर चले गये और वहाँ रहकर उन्होंने छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों के महान् भाष्य तैयार किये, जो कि परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा प्रकाशित किये गये थे।

फिर महात्मा मुंशी राम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) का निमन्त्रण पाकर श्री पण्डित जी पञ्जाब चले गये और गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के सर्वप्रथम वेदोपाध्याय नियुक्त किये गये। फिर कुछ काल पश्चात् आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब ने श्री पण्डित जी को गुरुकुल से बुला लिया। तब जालन्धर और लाहौर में रहकर पण्डित जी ने जो आर्यसमाज की बहुमूल्य सेवाएँ कीं, वे बहुत अधिक और चिर-स्मरणीय हैं।

पंजाब (जालन्धर और लाहौर) में रहकर ही पण्डित जी ने अपने ओंकार-निर्णय, त्रिदेव-निर्णय, जाति-निर्णय, श्राद्ध-निर्णय, वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना की थी।

समय-समय पर पण्डित जी ने कई साधारण पुस्तकें भी प्रकाशित कराई थीं। उनमें से कुछ पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं—

चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठनन्दन जी, वैदिक-विज्ञान, वैज्ञानिक सिद्धान्त-अलौकिक-माला, श्रीकृष्ण-मीमांसा, प्रश्न, ईश्वरीय पुस्तक कौन ?

इनके अतिरिक्त उनकी कुछ अप्रकाशित पुस्तकों की चर्चा भी मैं सुनता रहा हूँ। वे इस समय कहाँ हैं ? हैं, या नष्ट हो गईं ? इसका मुझे कुछ ज्ञान नहीं हो सका है। यदि कोई सज्जन इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल सकें तो बहुत उत्तम होगा।

पण्डित जी की ये सभी पुस्तकें आर्यसमाज की बहुमूल्य निधिस्वरूप हैं। जिनके लिये आर्यजगत् उनका चिर ऋणी रहेगा।

उनके छान्दोग्योपनिषद्-भाष्य और बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य संस्कृत एवं आर्य-भाषा इन दोनों भाषाओं में हैं, बहुत अधिक विस्तृत हैं, और सुबोध हैं। इन भाष्यों की रचना करके उन्होंने सर्वसाधारण के लिये भी वेदान्त ग्रन्थों को पढ़ने-समझने और उन पर विचार करने की सुविधा कर दी है।

यूँ तो पण्डित जी के सभी ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं; परन्तु ऋग्वेद के पिछले ढाई मण्डलों का भाष्य जो कि महर्षि दयानन्द के आकस्मिक निधन के कारण अवशिष्ट रह गया था, को भी श्री पण्डित जी ने बड़ी सावधानी से तैयार करके आर्यजनता को भेंट किया था और कलकत्ता के प्रसिद्ध दानवीर सेठ श्री छाजूराम जी के धन से उसका प्रकाशन हुआ था।

पण्डित जी शास्त्रार्थों में भी बड़े उत्साह से भाग लेते थे। मौखिक और लेखबद्ध दोनों प्रकार के शास्त्रार्थों के लिये वे तैयार रहते थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक आर्यसमाज की सेवा की। वैदिक साहित्य का निर्माण किया और अपना सम्पूर्ण जीवन— तन, मन और धन आर्यसमानज के लिये न्यौछावर कर दिया।

अपने जीवन के सन्ध्या-काल में उनका शरीर रक्त-विकार से दूषित होकर रुग्ण हो गया था। फिर भी आर्यसमाज और वेद की चिन्ता तो उन्हें घेरे ही रहती थी। एक बार पण्डित जी ने मुझसे कहा था कि अन्य दर्शनों के समान ही एक— 'आर्य-दर्शन' लिखने की उनकी प्रबल इच्छा है। यदि छह मास का समय भी शान्ति से एकान्त-सेवन का मिल गया, तो मैं अपना मानसिक वातावरण 'आर्य-दर्शन' लिखने के उपयुक्त बना लूँगा। उस 'आर्य-दर्शन' में आस्तिक, नास्तिक, पौरस्त्य और पाश्चात्त्य सभी प्राप्त दर्शनों का ऊहापोह करके वेद-प्रतिपादित सिद्धान्तों का मैं अकाट्य स्वरूप खड़ा करूँगा। खेद है कि उन्हें इस कार्य का अवकाश न मिला। पण्डित जी चल बसे और यह कार्य होने से रह गया।

इस समय पण्डित जी के लघुभ्राता श्री पण्डित श्यामहीत जी और उनके भ्रातृव्य श्री पण्डित यज्ञवल्लभ जी, अपने पारिवारिक जीवन की कठिनाइयों को

सहते हुए भी आर्यसमाज के साथ हैं। यहाँ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि साधारण जनता ने अज्ञानवश और विज्ञजनों ने अहम्मन्यतावश श्रद्धेय पण्डित जी के साहित्य की ओर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना कि देना आवश्यक था। इसी प्रकार उनके पारिवारिक जनों के प्रति भी उपेक्षा का ही व्यवहार हुआ है, जो कि आर्यसमाज के लिये किसी प्रकार भी शोभनीय नहीं है।

अन्ततः मैं श्री शम्भुराम जी के उत्साह की और उनकी सूझ-बूझ की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता कि जिन्होंने पुनरपि पण्डित जी के निर्णय ग्रन्थों के प्रकाशन का आयोजन आरम्भ किया है और जिनके यत्न से यह "ओंकर-निर्णय" का नया संस्करण प्रकाशन-पथ पर अग्रसर हो रहा है तथा पाण्डित्यपूर्ण साहित्य-प्रकाशन की परम्परा को पुनरपि चालू किया जा रहा है।

अपने सभी सुशिक्षित युवकों और सुवतियों को, यदि वे वेदों के रहस्यों, तत्त्वों और सिद्धान्तों को जानने की उत्सुकता रखते हैं, तो मैं सम्मति दूँगा कि वे एक बार स्वर्गीय पण्डित जी के ग्रन्थों को अवश्य ही पढ़ें और उनके पुनः प्रकाशन में अवश्य ही अपना सहयोग दें। ऐसा करके वे देखेंगे कि वेदों के सम्बन्ध में फैलाये गये सारे भ्रम और अविद्यान्धकार किस प्रकार छिन्न-भिन्न होते हैं और सत्य-सनातन वैदिक ज्ञान का प्रकाश किस प्रकार प्रकाशित हो उठता है।

पटना, बिहार }

मानवमात्र का हितैषी—
अभेदानन्द सरस्वती

पं॰ शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ

[लेखक— श्री भवानीलाल भारतीय एम॰ ए॰।]

आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल के जिन साहित्यकारों ने अपनी विद्वत्तापूर्ण कृतियों से आर्य-सहित्य के भण्डार की अभिवृद्धि की है उनमें पं॰ शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ का नाम सर्वप्रमुख है। यह बड़े दुःख की बात है कि आज हम आर्यसमाज की नींव के तुल्य इन साहित्यकारों की सरस्वती-साधना से अपरिचित होते जा रहे हैं। इन स्वनामधन्य महान् आत्माओं की साहित्यिक कृतियों का ज्ञान प्राप्त करना तो दूर रहा, हम उनका स्वल्प परिचय भी नहीं रखते।

पं॰ शिवशंकर शर्मा भारत के उस प्रदेश में उत्पन्न हुये थे जो सदा से ही

महान् विद्वानों और शास्त्रज्ञों की जन्मभूमि रहा है। मिथिला प्रान्त (बिहार) संस्कृतज्ञ विद्वानों को जन्म देने के लिये सदा से ही प्रसिद्ध रहा है। इसी पुण्यभूमि ने वाचस्पति मिश्र जैसे मूर्धन्य दार्शनिक विद्वान् को जन्म दिया था। इस प्रान्त के दरभंगा जिले के चिहुंटा नामक ग्राम में पं॰ शिवशंकर जी का जन्म हुआ। इनके गुरु प्रसिद्ध पौराणिक पण्डित और साहित्यकार पं॰ अम्बिकादत्त व्यास थे। पं॰ शिवशंकर जी लिखित 'ओंकार-निर्णय' का जो नवीन संस्करण गोविन्दराम हासानन्द ने प्रकाशित कराया है उसमें ग्रन्थारम्भ से पूर्व स्वामी अभेदानन्द जी महाराज प्रधान सार्वदेशिक सभा और स्व॰ स्वामी वेदानन्द जी महाराज ने पं॰ शिवशंकर जी की जीवनी लिखते समय यह लिखा है कि पं॰ अम्बिकादत्त व्यास पौराणिक होते हुए भी स्वामी दयानन्द के प्रच्छन्न भक्त थे और उन्होंने ही शिवशंकर जी के मन में स्वामी दयानन्द के प्रति भक्ति उत्पन्न की। मैं उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। काशी निवासी पं॰ अम्बिकादत्त व्यास ने स्वामी जी के सिद्धान्तों के विरुद्ध बहुत कहा और लिखा है। ऋषिकृत 'संस्कृत-वाक्य-प्रबोध' की कुछ मुद्रण विषयक त्रुटियों की ओट में उन्होंने उसका 'अबोध-निवारण' नामक पुस्तक लिखकर खण्डन प्रकाशित कराया। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इस बात से सहमत होना कठिन है कि पं॰ अम्बिकादत्त व्यास कभी स्वामी जी के प्रशंसक रहे होंगे और उन्होंने अपने शिष्य शिवशंकर के मन में भी उनके प्रति श्रद्धा भावों का सूत्रपात किया होगा। अस्तु।

कुछ भी हो स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तों के प्रति शिवशंकर जी के हृदय में श्रद्धापूर्ण भाव उत्पन्न हुए और उन्होंने शीघ्र ही दयानन्द-वाङ्मय का अध्ययन कर अपने आपको वेदों के स्वाध्याय में लगा दिया, इस प्रकार सर्वशास्त्र-निष्णात होकर पण्डित जी एक कट्टर आर्यसमाजी और आर्योपदेशक के रूप में लोगों के समक्ष आये, मिथिला जैसे पुरातन-पन्थी, पौराणिक गढ़ में पं॰ शिवशंकर जी का विरोध होना स्वाभाविक ही था। अतः उन्होंने दक्षिणी बिहार को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। १८९८ से १९०० तक पण्डित जी ने राँची में निवास किया। यहाँ के आर्यनेता बाबू बालकृष्ण सहाय के सहयोग से वे वैदिक धर्म के प्रचार में संलग्न हुये। यहाँ रहकर उन्होंने 'आर्यावर्त्त' पत्र में सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक लेख लिखे।

बिहार से चलकर पण्डित जी ने अजमेर में १९०३ से १९०६ तक निवास किया। यहाँ परोपकारिणी सभा के तत्त्वावधान में राजस्थान, मध्यभारत, गुजरात में प्रचार किया, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों पर बृहद्-भाष्य-रचना की। ये उपनिषद्-भाष्य पण्डित जी की अपूर्व विद्वत्ता और उनकी शास्त्रज्ञता के

ज्वलन्त प्रमाण हैं। आकार की दृष्टि से शांकर भाष्य के अनन्तर इतने विस्तृत भाष्य और किसी ने नहीं लिखे।

अजमेर से १९०६ की अगस्त में पण्डित जी पंजाब चले गये और वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अन्तर्गत उपदेशक का कार्य करने लगे। इसी काल में उन्होंने 'निर्णय' अपने प्रसिद्ध सैद्धान्तिक ग्रन्थ लिखे जिनके कारण उनकी प्रसिद्धि आर्यजगत् में सर्वत्र फैल गई। सिद्धान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने ऋग्वेद के उस अवशिष्ट भाग का भाष्य किया जो स्वामी दयानन्द के असामयिक अवसान के कारण शेष रह गया था।

ग्रन्थ-रचना के साथ-साथ पं॰ शिवशंकर जी शास्त्रार्थों में भी भाग लेते थे। वह युग शास्त्रार्थ का युग था, जबकि पौराणिक पण्डित अपनी मृतप्राय व्यवस्था को पुनरुज्जीवित करने के प्रयास में आर्य-विद्वानों को यदा-कदा शास्त्रार्थों के लिये आहूत करते रहते थे। पण्डित जी ने एक ऐसे ही शास्त्रार्थ का उल्लेख अपने 'वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय' की भूमिका में किया है, जिसमें एक धूर्त पौराणिक ने यजुर्वेदीय ३०.१५ मन्त्र में 'आखुवाहनां गजाननाय' इतना अंश अपनी ओर से मिलाकर वेद से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया था।

कुछ काल के लिये महात्मा मुंशीराम जी के आग्रह पर आपने गुरुकुल कांगड़ी में वेदोपाध्याय के पद पर भी कार्य किया था। भाद्र॰ १९६६ वि॰ की Vedic Magazine में हम पढ़ते हैं—

The College staff consists of the following Professors.

(१) Mahashaya Ramadeva B. A. acting Acharya and Professor of English Literature.

(2) Pandit Shiva Shanker Kavya Tirtha Professor of Vedic Literature.

उस समय कांगड़ी में अच्छे २ अध्यापक कार्य करते थे। पं॰ काशीनाथ जी शास्त्री संस्कृत के अध्यापक थे। पं॰ बालकृष्ण इतिहास के, प्रसिद्ध विद्वान् योगी श्री सियाराम जी गणित के और आज के आर्यनेता श्री घनश्याम सिंह गुप्त जी विज्ञान के अध्यापक थे।

जिन ग्रन्थों के कारण पं॰ शिवशंकर जी की ख्याति सर्वत्र प्रसारित हुई वे निम्नलिखित हैं—

(१) **ओंकार-निर्णय**— यह सर्वप्रथम १९०६ ई॰ में प्रकाशित हुआ। इसमें वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों के आधार पर ओंकार की महिमा का वर्णन किया गया है। पुराणों और तन्त्रों में भी ओम् को उतना ही महत्त्व दिया

गया है जितना वैदिक ग्रन्थों में। वैदिक अनुसन्धान की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अपना महत्त्व है।

(२) **जाति-निर्णय**— यह ग्रन्थ भी शास्त्रीय आधार पर वर्ण-व्यवस्था का अनुशीलन उपस्थित करता है। पण्डित जी ने अपने ग्रन्थों की रचना में ऐतिहासिक अनुसन्धान वृत्ति को सर्वत्र स्वीकार किया। अनेक वैदिक और पौराणिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म पर आधारित है जन्म पर नहीं।

(३) **श्राद्ध-निर्णय**— यह पुस्तक भी पण्डित जी की मौलिक सूझ और उनके तलस्पर्शी वैदिक ज्ञान की परिचायक है। श्राद्ध के विषय में जो वैदिक मन्त्र पौराणिक विद्वानों के द्वारा प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं उन सबका विवेचन करने के अनन्तर पण्डित जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि मृतक श्राद्ध के विषय में वेद और वैदिक साहित्य सर्वथा मौन है।

(४) **त्रिदेव-निर्णय**— यह पुस्तक भी पण्डित जी की एक प्रसिद्ध कृति है। १९१३ ई. में इसका द्वितीय संस्करण पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा के द्वारा प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में लेखक ने अपने संस्कृत गुरुओं— पं॰ अम्बिकादत्त व्यास, रामभिक्ष शास्त्री, गंगाधर शास्त्री आदि की चर्चा की है और यह भी बतलाया है कि उनका स्वामी दयानन्द और उनकी विचारधारा से किस प्रकार परिचय हुआ। 'त्रिदेव-निर्णय' एक ऊहाप्रधान रचना है, जिसमें शिव, विष्णु और ब्रह्मा की देवत्रयी का शास्त्रीय विवेचन है। लेखक के मतानुसार शिव आदि जिन तीन देवों की विशद कल्पना पौराणिक युग में हुई है उनका मूल वेद में आलंकारिक रूप से विद्यमान है। देवों के परिवार और उनसे सम्बन्धित अन्यान्य बातों की संगति लगाने के लिये लेखक को अनेक कल्पनाओं का सहारा भी लेना पड़ा है।

(५) **वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय**— इसका प्रथम भाग १९०९ के लगभग तैयार हुआ। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के कारण वेदों में इतिहास विषयक विभिन्न कल्पनाएँ पाश्चात्त्य और एतद्देशीय विद्वानों ने की हैं। उनकी मान्यताओं का खण्डन करने के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें शुनःशेप और नरमेध, कूपपतित त्रित ऋषि, च्यवन को यौवन दान, दधीचि की अस्थियों से वृत्र का हनन आदि प्रसिद्ध पौराणिक गाथाओं का वेदों में दर्शन करने वालों के आक्षेपों का समाधान किया गया है। इसी प्रकार घोषा, रोमशा, लोपामुद्रा, यम-यमी-संवाद, उर्वशी-पुरुरवा विषयक आख्यायिकाओं की भी यौगिक दृष्टि से संगति लगाकर वेदों पर लगाये जाने वाले अनित्य इतिहास के आरोपों का निराकरण किया गया

है। शिवशंकर जी ने इस प्रसंग में कहीं-कहीं महर्षि यास्क और उनके निरुक्त की भी आलोचना की है।

कुछ भी हो यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शिवशंकर जी आर्यसमाज के महान् लेखक थे। उनके ग्रन्थ आदि पुनर्मुद्रण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। क्या आर्यप्रकाशक इस ओर ध्यान देंगे ?

श्रद्धेय पं॰ शिवशंकर जी काव्यतीर्थ

[लेखक— प्राध्यापक राजेन्द्र जिज्ञासु, वेदसदन, अबोहर— १५२११६।]

कभी आर्यसमाज में दो शंकर अत्यन्त पूज्य दृष्टि से देखे जाते थे। दोनों के कारण आर्यसमाज का दशों दिशाओं में यश फैला। दोनों को अक्षय कीर्त्ति प्राप्त हुई। दोनों ही श्रेष्ठ आचरण के गम्भीर साहित्यकार थे। एक थे पं॰ श्री शिवशंकर जी काव्यतीर्थ और दूसरे श्री पं॰ नाथूराम जी शंकर शर्मा। कविवर शंकर जी के बारे में तो कई लेखों और पुस्तकों में लिखा है कि आपने ऋषि दयानन्द जी महाराज के दर्शन किये थे। मैंने कभी पं॰ शिवशंकर जी काव्यतीर्थ के एक ग्रन्थ के साथ उनके जीवन-परिचय में पढ़ा था कि आपने भी ऋषि-दर्शन किये थे। आँख में मोतिया उतरने के कारण इस समय इसका प्रमाण नहीं दे सकता।

प्रशंसित पण्डित जी का जन्म विद्या के गढ़ मिथिला प्रदेश के दरभंगा जनपद के एक छोटे से ग्राम चिहुंटा में हुआ। आप मिथिला के एक ब्राह्मण-कुल में जन्मे। यही कथन आपके गम्भीर पाण्डित्य को प्रमाणित करता है। यह कैसा विचित्र संयोग है कि प्रसिद्ध पौराणिक पण्डित और संस्कृत के एक मूर्धन्य विद्वान् तथा महर्षि दयानन्द की भरपेट निन्दा करने वाले पं॰ अम्बिकादत्त जी व्यास की छत्रछाया में आपने संस्कृत का उच्च शिक्षण प्राप्त किया। इन्हीं पं॰ अम्बिकादत्त जी व्यास को ऋषि जी के अकारण द्वेष के लिये उनके जीवन-काल में ही हिन्दी-प्रदीप के सम्पादक ने लताड़ा था।

पं॰ अम्बिकादत्त जी के मेधावी शिष्य श्री पं॰ शिवशंकर जी ने अपनी ज्ञान-प्रसूता लेखनी से महर्षि दयानन्द जी के सिद्धान्तों व दार्शनिक दृष्टिकोण का डंका बजा दिया। यह थी ऋषि दयानन्द की अपूर्व दिग्विजय।

वैदिक सिद्धान्तों पर असाधारण अधिकार प्राप्त करके आप आर्यसमाज के विस्तृत क्षेत्र में उतर आये। पोंगा-पन्थियों के विरोध के कारण आपको मिथिला

छोड़ना पड़ा। आर्यसमाज के आरम्भिक युग के नेताओं व विद्वानों ने पूज्य पण्डित जी के व्यक्तित्व व प्रतिभा को पहचान लिया। वे जहाँ भी गये आर्यजगत् में उनको बहुत सम्मान मिला।

मैंने पूज्यपाद वेदविद् स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ के मुख से एक से अधिक बार सुना, "ऋषि दयानन्द के वेदविषयक दृष्टिकोण को जितना पं॰ गुरुदत्त जी विद्यार्थी व पं॰ शिवशंकर जी काव्यतीर्थ ने समझा उतना और किसी ने नहीं।" यह आर्यजगत् के आरम्भिक युग के विद्वानों के प्रसंग में वे कहा करते थे। श्री स्वामी वेदानन्द जी ने पूज्य पण्डित जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'वैदिक पीयूष-बिन्दु' के लाहौर से प्रकाशित संस्करण में भी कुछ इसी प्रकार से लिखा था।

आर्यसमाज के यशस्वी मनीषी श्री पं॰ चमूपति जी (जिन्हें आर्य द्वितीय गुरुदत्त विद्यार्थी कहा करते थे) ने श्री पं॰ शिवशंकर जी की चर्चा करते हुए, उनके ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए बड़े गौरव से यह लिखा है— "पण्डित जी की ये कृतियाँ आर्य-साहित्य का एक पाण्डित्यपूर्ण अंग हैं।"

पण्डित जी के साहित्य की एक-एक पंक्ति विचारोत्तेजक है। आपका साहित्य रोचक व प्रेरक भी है, नीरस नहीं है, जो मौलिकता आपके ग्रन्थों में है, वह आज के विरले ही लेखकों में मिलेगी। इसी कारण आर्यसमाज के सर्वश्रेष्ठ व लोकप्रिय उर्दू मासिक 'आर्य मुसाफिर' में आपके 'वैदिक पीयूष-बिन्दु' को 'गागर में सागर' लिखा जाता रहा। यह आर्य सामाजिक साहित्य में अपनी शैली व विषय की प्रथम पुस्तक थी और बहुत लोकप्रिय रही।

श्री पं॰ शिवशंकर जी के 'त्रिदेव-निर्णय' ने तो पौराणिक पण्डितों की भी सोच बदल दी। निष्प्राण पुराणों की प्राण-प्रतिष्ठा करते हुये जिस-जिस पौराणिक लेखक ने पुराणों को अलंकारों से अलंकृत करने का प्रयास किया, उन सबने आपके इस सर्वथा मौलिक ग्रन्थ से यथेष्ट लाभ प्राप्त किया। कोई कृतज्ञता का प्रकाश करे अथवा नहीं, तथ्य को छुपाया तो नहीं जा सकता।

आपके साहित्य का प्रभाव उत्तर तक ही सीमित नहीं रहा, दक्षिण भारत में सागर-तट पर केरल विश्वविद्यालय में आचार्य नरेन्द्र भूषण जी की एक मलयालम पुस्तक बी.ए. में पाठ्य-पुस्तक के रूप में पढ़ाई जाती रही। इस पुस्तक का आधार श्री पं॰ शिवशंकर जी का 'त्रिदेव-निर्णय' ही तो है। यह स्वयं नरेन्द्र भूषण जी बताया करते हैं।

पण्डित जी के पाण्डित्यपूर्ण लेख तत्कालीन हिन्दी के पत्रों में तो यदा-कदा छपते ही थे, आर्यसमाज के सब उर्दू पत्र भी कभी-कभी उनके लेखों को अनूदित करके देते रहते थे। पण्डित जी का कार्यक्षेत्र सारा उत्तर भारत रहा। वह कुछ

समय तक आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के माननीय उपदेशक रहे, फिर गुरुकुल कांगड़ी में वेदोपाध्याय के रूप में भी आपने कुछ वर्ष सेवा की। उस काल के सब यशस्वी स्नातकों को आपके चरणों में बैठकर कुछ सीखने का सौभाग्य प्राप्त रहा। पंजाब सभा की सेवा में आने से पूर्व श्री पण्डित जी कुछ समय के लिये अजमेर में परोपकारिणी सभा की सेवा में रहकर साहित्य-सृजन करते रहे।

आप जहाँ एक कुशल लेखक व गवेषक एवं विचारक थे वहाँ एक सिद्धहस्त शास्त्रार्थ-महारथी भी थे। आपकी स्मृति असाधारण थी। सहस्रों प्रमाण आपको कण्ठस्थ थे। सूझ बहुत अच्छी थी। आपने पौराणिक विद्वानों से कई शास्त्रार्थ किये। विपक्षी भी आपकी योग्यता का लोहा मानते थे।

आप बहुत उच्च कोटि के आस्तिक थे। जीवन की अन्तिम वेला में एक भयंकर रोग हो गया। आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब ने अपना कर्त्तव्य निभाते हुए उस विपदा की वेला में आपको आर्थिक सहयोग जारी रखा। उनके रोग को देखकर जब आर्य जन यह कहते— "पण्डित जी ! आपको ईश्वर ने यह भयंकर यातना दे दी।" आप बड़े मेघ-गम्भीर स्वर में कविरत्न प्रकाश जी के समान सबको यही उत्तर दिया करते थे कि ईश्वर की दया व न्याय पर्याय हैं। ईश्वर न्याय करता है, यही उसकी दया है। वह प्रभु इसी कारण दयालु है कि वह अन्याय नहीं करता। मेरा रोग, मेरा दुःख मेरे ही कर्मों का फल है। अच्छा है कि यह भुगत जाय। वे उस अवस्था में कभी विचलित नहीं देखे गये।

ऋषि जी ऋग्वेद के जितने भाग का भाष्य न कर सके, श्री पण्डित जी ने उसे पूरा करने का एक प्रयास किया। आपने छान्दोग्य व बृहदारण्यक उपनिषदों का संस्कृत-हिन्दी भाष्य किया। आपका 'ओंकार-निर्णय' पुनः गोविन्दराम हासानन्द ने प्रकाशित किया है। 'त्रिदेव-निर्णय' का एक सुन्दर, सस्ता संस्करण श्री प्रभाकर देव जी आर्य ने हिण्डौन सिटि से गत वर्ष प्रकाशित किया। 'वैदिक-विज्ञान', 'वेद-सुधा', 'वैदिक पीयूष-बिन्दु', 'वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय', 'श्राद्ध-निर्णय', 'वैदिक रहस्य भाग— १, २' तथा 'कृष्ण-मीमांसा' आदि अपनी कृतियों से वे सदा अमर रहेंगे। **'त्रैतसिद्धान्तादर्श' (त्रैतवाद-निर्णय)** अब तक अप्रकाशित पड़ी रही। यह सन् १९२४ के आस-पास लिखी गई। मैंने श्री स्वामी वेदानन्द जी के मुख से इसकी प्रशंसा सुनी थी। श्री स्वामी जी ने इसकी पाण्डुलिपि का अध्ययन करके इसे एक अत्युत्तम पुस्तक लिखा है। 'वैदिक पीयूष-बिन्दु' की भूमिका में भी श्री स्वामी जी ने इस ग्रन्थरत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। रामलाल कपूर ट्रस्ट इसके प्रकाशन के लिये बधाई का पात्र है।

ओ३म्

त्रैतसिद्धान्तादर्शे

संज्ञादर्शः

मंगलाचरण

ध्यायं ध्यायं महादेवं जगत्कर्त्तारमीश्वरम्।
ग्रन्थो विरच्यते त्रैतसिद्धान्तादर्शसंज्ञकः।।१।।

अर्थ— महादेव और जगत्कर्ता ईश्वर का पुनः-पुनः ध्यान कर त्रैत-सिद्धान्तादर्श नामक ग्रन्थ मुझसे विरचित होता है।

सूर्य चन्द्र वायु अग्नि इत्यादि भी वेदानुसार देव कहलाते हैं किन्तु वे महादेव नहीं। पुराणों में तमोगुणी रुद्र को महादेव कहते हैं किन्तु वह जगत्कर्ता नहीं। पौराणिक विद्वान् ब्रह्मनामक एक देव की कल्पना कर उसको जगत्कर्ता की पदवी देते हैं किन्तु वह ईश्वर नहीं क्योंकि वह कल्पित विष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न होते ही मधु कैटभ आदि असुरों से महा-संग्राम करता है और परास्त भी हो जाता है। अतः सर्व देवों का देव जगत् का स्रष्टा धाता और संहर्त्ता एक परमेश्वर ही ध्येय और पूज्य है, दूसरा नहीं। जगत्कर्त्तृपद से ईश्वर में प्रमाण भी दर्शाया गया, क्योंकि यह सम्पूर्ण पृथिव्यादि जगत् घटपटादिवत् सकर्त्तृक है। कोटियों हम जीव मिलकर इस महा-अद्भुत् जगत् को कदापि भी बना नहीं सकते। इस हेतु इसके बनाने वाला कोई अवश्य है। जो इसका निर्माता है, वही ईश्वर कहलाता है। वह ईश्वर इसका निमित्त कारण है, उपादान नहीं। इस विषय का आगे विस्तार से निरूपण रहेगा।

एक एव प्रभुर्नित्यः सच्चिदानन्दविग्रहः।
सृजत्यवति भूतानि नित्यं हरति लीलया।।२।।

अर्थ— एक ही प्रभु नित्य और सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा इस जगत् को लीला मात्र से बनाता, पालता और नित्य संहार करता है।

सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य एक ही है। दो तीन चार नहीं। वह अपने कार्य में किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं करता। पुराण कहता है कि ब्रह्मा रूप से सृष्टि रचता, विष्णु रूप से पालता और रुद्र रूप से हरता है, किन्तु यह सिद्धान्त वेदविरुद्ध होने से हेय है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् अनन्त कल्याणगुणसागर प्रभु और नित्य है। यद्यपि सांख्य शास्त्रानुसार प्रधान[१] भी प्रभु

१. प्रकृति।

और नित्य माना गया है, क्योंकि वह अचेतन होने पर भी चेतन जीव के संयोग से सृष्टि रचता है और जीव के ऊपर अपना विचित्र प्रभाव डालता है। अतः आगे कहा जाता है कि वह परमात्मा सच्चिदान्नद स्वरूप है। इसमें भी प्रधान[१] सत् है, किन्तु चित्= चेतन नहीं। जीव सत् और चित् दोनों है, किन्तु आनन्दस्वरूप नहीं। जीव में सुखदुःख दोनों हैं और अल्पज्ञ होने के कारण सदैव ज्ञान विज्ञान के लिये लालसित बना रहता है मुक्तावस्था में भी जीव सर्वज्ञ नहीं होता। जो सर्वज्ञ नहीं, वह कदापि नित्यतृप्त भी नहीं हो सकता। इस हेतु केवल ईश्वर ही नित्यतृप्त है, अन्य नहीं। और भी यद्यपि कर्मों की अपेक्षा से इस उत्तम मध्यम अधम जगत् का विरचयिता ईश्वर है, तथापि इसकी रचना में परमेश्वर को कुछ प्रयास नहीं होता। लीला मात्र से इसको रच देता है। उसकी लीला मनोहारिणी और सुखप्रदा होनी चाहिये, इसमें संदेह नहीं, किन्तु इस जगत् में अतिशय क्लेश और महाद्वेष देखने से अनन्त कल्याणैकसागर मातृपितृप्रेमार्द्र सर्वज्ञ ईश्वर रचयिता नहीं कहा जा सकता। यदि इसका स्रष्टा ईश्वर हो तो वह अपने समान ही इस जगत् को भी सुखद बनावे इत्यादि शंकाओं का समाधान उत्तरोतर ग्रन्थ में रहेगा।

ब्रह्मजीवप्रधानानि ज्ञातव्यानि प्रयत्नतः।
त्रीणीमान्यविदित्वा हि धर्मतत्त्वं न सिद्ध्यति।।३।।

अर्थ– ब्रह्म जीव और प्रधान (प्रकृति= इस जड़ जगत् का उपादान कारण) ये तीनों प्रयत्न पूर्वक ज्ञातव्य हैं, क्योंकि इन तीनों के यथार्थ ज्ञान न होने से धर्मतत्त्व सिद्ध नहीं होता।

नवीन वेदान्ती इन तीनों को एक ही मानते हैं। इनके सिद्धान्त में कितने प्रकार के दोष हो सकते हैं, वे आगे दिखलाये जायेंगे। संक्षेप से ईश्वर का स्वरूप कहा गया। जीव का स्वरूप यह है।

जीवश्चिदणुरल्पज्ञो देहादेः[२] पृथगीरितः।
बहुः कर्त्ता च भोक्ता च नानाजन्मा च कर्मतः।।४।।

अर्थ– जीव चित्= चेतन, अणु, अल्पज्ञ, देहादि से पृथक्, संख्या में बहुत, कर्त्ता= कर्म करने वाला, भोक्ता= कर्म के फल का भोक्ता, और कर्मवश नाना– जन्मग्राही कहा गया है। आधुनिक वेदान्त और सांख्यादि शास्त्रों में जीव विभु माना गया है, किन्तु वह वास्तव में अणु है। **जीवतत्त्वादर्श** में जीव की विभुता का निराकरण दिखलाया जायेगा। राम, कृष्ण, बुद्ध और शंकराचार्य प्रभृति सर्वज्ञत्वेन

१. प्रकृति। २. हस्तलेख में 'दोहादिः' पाठ है।

वर्णित हुए हैं, किन्तु परीक्षा से किन्हीं की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती। इस हेतु वेदानुसार जीव अल्पज्ञ कहा गया है। नास्तिक गण देहादि से अतिरिक्त जीव को नहीं मानते किन्तु आस्तिक सिद्धान्त में शरीर और इन्द्रियादिक से जीव भिन्न सिद्ध होता है। संख्या में जीव अनन्त हैं, इसलिये बहु कहा गया है। और वैदिक सिद्धान्त को छोड़ कुराण[१] बायबल आदि पुनर्जन्म को नहीं मानते किन्तु विचित्र सृष्टि के देखने से जीव का पुनर्जन्मत्व प्रत्यक्षतया सिद्ध है। अत एव नानाजन्मा यह विशेषण कहा गया है। आगे इस जड़ जगत् के उपादान कारण प्रकृति का स्वरूप संक्षेप से कहा जाता है।

एका गुणमयी नित्या परिणामवती सदा।
नानारूपवती माया भोग्या दृश्या जडात्मिका।।५।।
महाबला महादेवी जीवाकर्षणकारिणी।
अनिर्वाच्या सुनिर्वाच्या सर्वयोनिः प्रकीर्तिता।।६।।

अर्थ–इस जड़ जगत् के उपादान कारण का नाम प्रकृति है। यह ध्यान में सदैव रखना चाहिए। वैशेषिककार कणाद प्रभृति कहते हैं कि इस जड़ जगत् के समवायी (उपादान कारण) कारण एक नहीं, किन्तु अनेक हैं। पृथिवी अप् (जल) तेज और वायु इन चारों के नित्य परमाणु हैं। जिनसे यह जड़ जगत् बनता है। इनके अतिरिक्त आकाश काल और दिशा भी सृष्टि के सहायक द्रव्य हैं। इनका कथन बहुत ठीक है किन्तु यह वर्णन एक प्रकार से प्रत्यक्ष वस्तुओं को लेकर किया गया है। यह ठीक है कि यह परमाणुमय सृष्टि है, परन्तु इन परमाणुओं की भी एक अत्यन्त सूक्ष्मावस्था होती है जिसको वैदिक भाषा में माया स्वधासत्[२] आदि नामों से कहते हैं और उसी को सांख्यमत में प्रकृति अथवा प्रधान नाम देते हैं। इस हेतु वैदिक और वैशेषिक सिद्धान्त में किञ्चित् मात्र भेद नहीं। यदि भेद है तो इतना ही है कि परमाणु के आगे वैशेषिककार नहीं जाते। इसमें संदेह नहीं कि इस जगत् का उपादान कारण एक ही वस्तु है, उसी एक से अनेक हुए हैं। यह अत्यन्त गूढ़ सिद्धान्त है, इसको केवल योगी और अत्यन्ताध्ययनशील वैज्ञानिक पुरुष जान सकते हैं। यद्यपि वह एक है तथापि इस सृष्टि में ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, राग-द्वेष-मोह इत्यादि देखे जाते हैं, इस हेतु इनका कारण प्रकृति सत्त्व, रज और तम एतत्त्रिगुणमयी कही जाती है। पुराण और नवीन वेदान्त इत्यादि कहते हैं कि जड़ जगत का भी उपादान कारण परमात्मा ही है। अतः ऊर्णानाभवत् ईश्वर निमित्त और उपादान दोनों कारण हैं।

१. हस्तलेख में 'पुराण' पाठ है। २. स्वधा-असत्।

यद्यपि कहीं–कहीं माया को जड़ जगत् का उपादान कारण मानते हैं, किन्तु वह नित्य भी नहीं, और वस्तु भी नहीं। वैदिक सिद्धान्त में माया नित्य और वस्तु है। और वह परिणामवती है। पुनः नानारूपवती जडात्मिका है। जीवात्मा की यह भोग्या और दर्शनीया है। अत्यन्त बलवती यह महादेवी है। जीवों को अपनी ओर खैंचने वाली है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक पुरुष भी इसका निरूपण यथोचितरूप से नहीं कर सकते। इसके आदि अन्त का पता नहीं चलता। इस लिए यह माया अनिर्वाच्या कहलाती है। वेदान्ती के समान यहां अनिर्वाच्य शब्द का अर्थ नहीं। वे कहते हैं कि माया न तो सती न असती, न उभयात्मिका है, किन्तु अनिर्वाच्या और सनातनी है। इसका आदि तो नहीं, किन्तु ज्ञान से नाश होने के कारण अन्त होता है। इस सिद्धान्त का भी निराकरण आगे रहेगा।

तां प्रकृतिं महेशानो गृहीत्वा सृजति प्रभुः।
यस्या अज्ञानसन्तत्या मुह्यन्ति मानवा इमे।।७।।
प्रकृतिः सा विवेक्तव्या वेदशास्त्रोपपत्तिभिः।
धर्मतत्त्वसुबोधाय नरैः मोक्षेप्सुभिः सदा ।।८।।

अर्थ– उस प्रकृति को लेकर प्रभु ईश्वर सृष्टि रचता है। जिसके अज्ञान–बाहुल्य से ये मनुष्य मोहित हो रहे हैं। इस कारण मोक्षाभिलाषी जन धर्मतत्त्व के बोध के लिये वेदों, शास्त्रों और[१] उपपत्तियों द्वारा प्रकृति को अच्छे प्रकार सदैव जानें। प्रकृति के यथार्थ ज्ञान न होने से ही मनुष्य नाना भ्रमों में पड़े हुए हैं।

दयानन्दं गुरुं ध्यात्वा सत्यमार्गप्रवर्त्तकम्।
[प॰ आ॰ प्र॰ स॰][२] निदेशेन क्रियते त्रैतदर्शनम्।।९।।

व्याख्या– वास्तव में सत्यमार्गप्रदर्शक परिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्द स्वामी हुए हैं। श्री बुद्धशंकराचार्य प्रभृति स्वयं अज्ञानकूप में निमग्न थे। आगे इनके ग्रन्थों से इन सबका महाभ्रम दिखलाया जायेगा। उस श्री दयानन्द गुरु को मैं ध्यान धर पञ्जाब की श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा की आज्ञा से इस त्रैतसिद्धान्तादर्श नामक त्रैतदर्शन को लिखता हूँ।

कोई अद्वैतवादी है कोई द्वैतवादी इत्यादिक हैं, किन्तु वेद त्रैतसिद्धान्त–प्रवर्तक है क्योंकि वेद धर्मनिरूपण करता है, और इन तीनों विना धर्म की सिद्धि हो नहीं सकती। उपास्य उपासक ये दोनों परम आवश्यक हैं। जीव सदैव ईश्वर

१. हस्तलेख में 'ओ' पाठ है। इसी प्रकार अन्यत्र भी 'ओ' तथा 'औ' पाठ मिलता है जिसका संशोधन कर दिया गया है। २. कोष्ठान्तर्गत पाठ का स्थान हस्तलेख में रिक्त छोड़ा हुआ है। श्लोक के ऊपर 'पञ्जाब आर्य्य प्रतिनिधि सभा' लिखा गया है। इसी का संक्षिप्त रूप कोष्ठक के अन्दर परिवर्धित किया गया है।

का सेवक उपासक है, ईश्वर उपास्य है। अतः इन दोनों का उपास्योपासक भाव सम्बन्ध अनादि और अनन्त है। यह सम्बन्ध भी हम जीवों को कहाँ विदित होता है ? निस्संदेह इस सृष्टि में । अतः इसके भी अनादित्व और अनन्तत्व सिद्ध हैं। और भी जीवों की कर्मापेक्षा से सृष्टि होती है। यह सर्व आस्तिक सिद्धान्त है, और सृष्टि के पश्चात् ही कर्म हो सकते तो शंका होती है कि प्रथम कर्म है अथवा सृष्टि है। अतः यहाँ अन्योन्याश्रय दोष होता है। इस दोष की निवृत्ति के लिये बीजांकुरन्याय का आश्रय लिया जाता है। यहाँ भी बीज विना अंकुर नहीं हो सकता। और जब तक अंकुर नहीं तब तक बीज नहीं हो सकता, तो इन दोनों में प्रथम कौन, इसका निश्चय नहीं हो सकता। अतः बीजांकुरन्यायवत् सृष्टि और कर्म दोनों अनादि हैं। अत एव 'ब्रह्म', 'जीव' और 'प्रकृति' इन तीनों का अनादित्व सिद्ध होने से त्रैत सिद्धान्त ही वैदिक है। ब्रह्म ही माया विवश होकर जीव बन नाना अध्यासों में फँसा है वा यह जगत् स्वप्नवत् सदैव मिथ्या है वा ईश्वर विना ही प्रकृति से सृष्टि होती है इत्यादि कल्पना अवैदिक होने से सर्वथा त्याज्य है। त्रैत सिद्धान्त ही वैदिक मार्ग है, इसको विविध प्रमाणों से आगे दिखलावेंगे।

बालानां सुखबोधाय धृतये च विशेषतः।
श्लोकैरेव निरूप्यन्ते संज्ञाः सर्वाः समासतः।।१०।।

अर्थ– बालकों के सुखपूर्वक बोध और विशेषतः मन में धारणा के लिए संस्कृत श्लोकों द्वारा ही वेदान्तोपयोगिनी सब सज्ञाएँ संक्षेप से यहाँ लिखी जाती हैं। इस त्रैतसिद्धान्तादर्श में जिस–जिस संज्ञा का बारम्बार प्रयोजन पड़ेगा उस–उस का संक्षेप से विवरण, लक्षण, लक्ष्य और भेद प्रथम यहाँ लिख देते हैं। बहुत सी संज्ञाओं को किञ्चित् भाव बदल कर वेदान्ती अपने पक्ष में लगा लेते हैं, इस कारण भी कुछ उपयोगिनी संज्ञाओं का प्रथम विधान कर देना मैं आवश्यक और उचित समझता हूँ।

अध्यारोपस्त्वतस्मिन् स्यात् कल्पनं तस्य वस्तुनः।
शुक्तिकाशकले यद्वद् रूप्यादीनां प्रकल्पनम्।।११।।

अर्थ– अवस्तु में वस्तु के अथवा वस्तु में अवस्तु के आरोप का नाम अध्यारोप है, उदाहरण जैसे रज्जु में सर्प का, शुक्ति में रजत का, किरण सम्मिलित बालुका आदियों में जल आदि का जो आरोप और इस प्रकार का अन्यान्य भ्रम है। उसी का नाम अध्यारोप है। इसी को भ्रम, विभ्रम, विपर्यय और अध्यास भी कहते हैं। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय इन तीनों में स्वाभाविक या आगन्तुक दोष होने से ही अध्यारोप होता है। व्यवहार में देखा जाता है कि जो–जो वस्तुएँ

सदृश हैं, उनमें ही प्रायः अध्यारोप होता है। जैसे रज्जु और सर्प, शुक्ति और रजत बहुत अंशों में सदृश हैं। अतः इनमें विभ्रम होता है। एक बात और यहाँ विचित्र देखते हैं कि सर्प में रज्जु का और रजत में शुक्ति का विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण ?

उत्तर– जिस वस्तु का प्रबल संस्कार हो और हानि-लाभ का भी प्रबल ज्ञान हो, उसी का भ्रम होता है। सर्प के काटने से मनुष्य मरता है और चाँदी की प्राप्ति से धनिक होता है। अतः सर्पादिकों का संस्कार मनुष्यों के अन्तःकरण पर अधिक खचित है, इसलिये दोष रहने से बलिष्ठ वस्तु का निर्बल वस्तु के ऊपर आभास पड़ता है।

यद्यपि भ्रमस्थान शतशः हैं तथापि जिनसे प्रत्यक्ष हानि वा लाभ नहीं प्रतीत होता, उस ओर ध्यान भी नहीं जाता। जैसे मेघ के श्याम, नील, पीत, श्वेतादि अनेक रूप बदलते रहते हैं। चलती हुई पृथ्वी स्थिर भासती है। पूर्व से पश्चिम में आता हुआ सूर्य ज्ञात होता है इत्यादि शतशः भ्रम हम जीवों को क्लेशित नहीं करते किन्तु– स्वल्प सर्प-रज्जुभ्रम कितना क्लेश देता है। इसका एक मात्र कारण अनादि कालानुभूत मृत्यु-संस्कार है। इसलिये रज्जु सर्प का दृष्टान्त शास्त्रों के बहुत स्थलों में कहा गया है। यद्यपि अध्यारोप, अध्यास, विभ्रम और विपर्यय इत्यादिक समानार्थक हैं, तथापि कहने में कुछ-कुछ शब्दों का भेद पड़ता है। अतः इनका स्वरूप भी यहाँ दिखलाते हैं।

अध्यासो द्विधा ज्ञानाध्यासार्थाध्यासभेदात्।
अवस्तुनि वस्तुबुद्धिर्ज्ञानाध्यासा।।१२।।
अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्वा अस्वरूपे स्वरूपबुद्धिर्वा।। इत्यादि।

अर्थ– ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास भेद से अध्यास दो प्रकार का है। इसको शास्त्र में अनेक प्रकार से कहते हैं। जैसे जो सर्प नहीं हैं उसको सर्प समझना। रज्जु सर्प नहीं हैं किन्तु उसको सर्प समझ लेना ही अध्यास है। इसी प्रकार आत्मा में अनात्मा का और अनात्मा में आत्मा का बोध अध्यास है। अथवा इससे विपरीत भी कह सकते हैं कि **वस्तुनि अवस्तुज्ञानम्।** वस्तु में अवस्तु का ज्ञान। रज्जु रूप वस्तु में अवस्तु सर्प का ज्ञान। आत्मरूप वस्तु में अनात्मरूप वस्तु का ज्ञान इत्यादि। अस्वरूप में स्वरूप का ज्ञान इत्यादि शब्दों के हेर-फेर से कई प्रकार लक्षण कह सकते हैं।

प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वे सति पूर्वदृष्ट[१]सजातीयोऽर्थाध्यासः।

१. हस्तलेख में 'पूर्वदृष्टिसजातीयो.' पाठ है।

प्रमाणों से अजन्य ज्ञान का विषय हो और जिस वस्तु को पहले देखा हो उसी के समान वस्तु का भ्रम हो, तो उसे अर्थाध्यास कहेंगे। जैसे शुक्ति (सीपी) और रजत (रूपा) इन दोनों का पूर्ण ज्ञान है तब कहीं पर चमकती हुई शुक्ति देख पड़े किन्तु शुक्ति का बोध न हो, उसी को रजत समझ कर उठाने को दौड़ पड़े तो उसका नाम अर्थाध्यास होगा। अथवा स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यासभेद से अध्यास दो प्रकार का है। रज्जु में सर्प का ज्ञान स्वरूपाध्यास कहलाता है और जहाँ किसी वस्तु के सम्बन्ध से भ्रम होता है वहाँ संसर्गाध्यास जानना चाहिए। जैसे स्वच्छ स्फटिक के समीप लाल पुष्प रख दिया जाय तो स्फटिक लाल प्रतीत होगा। अथवा सोपाधिक और निरुपाधिक भेद से अध्यास दो प्रकार का है। जैसे रक्त कुसुम के संसर्ग से जहाँ स्फटिक रक्त मालूम होता है वहाँ सोपाधिक अध्यास और जहाँ उपाधि के विना ही भ्रम हो वहाँ निरुपाधिक अध्यास है जैसे रज्जु में सर्प का। पुनः बाह्याध्यास और आन्तरिकाध्यास के भेद से अध्यास दो प्रकार है। स्फटिक में लोहितभ्रम बाह्याध्यास है और आत्मा में कर्तृत्वादि का भ्रम आन्तराध्यास है।

समस्त पौराणिक धर्म में अध्यारोप का उदाहरण है–

१. प्रथम सूर्य से लेकर गंगा प्रभृति जड़ वस्तुओं को चेतन समझना महा-ध्यास है क्योंकि अधिष्ठान रज्जु के ज्ञान से सर्पाध्यास झटिति मिट भी जाता है, किन्तु सूर्य, चन्द्र और गंगा इत्यादि के वास्तविक स्वरूप का इनको कदापि ज्ञान नहीं होता। अतः इस भ्रम का कदापि नाश नहीं होता। अतः इस निखिल धर्म को महाध्यास कहते हैं।

२. द्वितीय इन्द्र, वरुण आदि कल्पित देव हैं। पुराण जैसा इन्द्रादिकों का विवरण लिखते हैं वैसे कोई भी इन्द्रादि चेतन देव इस संसार में नहीं। इस कारण अवस्तु जो इन्द्र, वरुण, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, लक्ष्मी और दुर्गा आदि हैं, उनको भी एक–एक वस्तु समझ लेना यह महाभ्रम है।

प्रथम और द्वितीय उदाहरण में इतना भेद है कि सूर्यादिक एक वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु मनुष्यवत् उनको चेतन समझना महाध्यास है और द्वितीय उदाहरण के इन्द्रादिक देव शशशृंगवत् कोई वस्तु ही नहीं तब उनको एक वस्तु समझ लेना कितना बड़ा अध्यास है। इसको पुनः विचारना चाहिये। इसी प्रकार गोलोक, कैलाश, ब्रह्मलोक प्रभृतियों की कल्पना है। धर्म ग्रन्थ प्रायः काल्पनिक होते हैं। इसी हेतु पृथ्वी पर के धर्म ग्रन्थों में परस्पर महान् विरोध है। पौराणिक धर्म गो ब्राह्मण रक्षक और मूर्तिपूजादिक विधायक है। तद्विपरीत कुरान और बायबल हैं किन्तु गणित, भौतिकविज्ञान और साहित्य आदिकों के

नियम सर्वत्र एक हैं। पक्षपात रहित होकर इन बातों को विचारना, जानना और तदनुकूल आचरण करना ही मनुष्यता है। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि मनुष्य जाति–भ्रम–सन्देहादिकों का पुञ्ज है, मानो अविद्या, अज्ञान, भ्रम, पक्षपात और सन्देहादिकों के परमाणुओं से ही मनुष्य जाति की रचना हुई है। अतः कल्याणाभिलाषी जन को सदैव जिज्ञासु बना रहना चाहिये। सम्प्रति अध्यास ही धर्म और राष्ट्रनीति का मूल कारण हो गया है, इसी से पृथ्वी पर महाक्लेश दीखता है।

लक्षण

कलंक, अंक, लाञ्छन, चिह्न, लक्ष्म, लक्षण ये षट् नाम लक्षण के हैं। जैसे गौ, हाथी, घोड़ा गदहा, बकरा, भेड़, मछली, कछुआ, गेहूं, जौं, धान इत्यादि निखिल वस्तुओं में अपना एक-एक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विशेष चिह्न है जिससे वे भिन्न–भिन्न कहलाते और माने जाते हैं। किसी में प्रत्यक्ष और किसी में अप्रत्यक्ष चिह्न हैं, जैसे गोजाति के गले में एक कम्बल सी वस्तु लटकती है जिसको सास्ना वा गल–कम्बल कहते हैं। यह सास्ना अन्य किसी पशु में नहीं होती। अतः गोजाति का यह गलकम्बल निज और प्रत्यक्ष विशेष चिह्न है। इसी प्रकार हाथी का सूंड, सिंह का केसर, ऊँट का लम्बगला आदि प्रत्यक्ष लक्षण हैं। किन्तु कुत्ता, गीदड़ और वृक (भेड़िया) में कोई प्रत्यक्ष विशेष चिह्न नहीं देखते, तथापि उनमें अप्रत्यक्षरूप से कोई विशेष चिह्न अवश्य है जो इनको भिन्न–भिन्न सिद्ध कर रहा है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक जाति में एकाध ही भेद–जनक चिह्न नहीं किन्तु अनेक हैं। प्रायः प्रत्येक प्राणी के भाषण, ध्वनि, गान और गति आदिक में भी भेद हैं, जिनसे वे दूर से भी पहचान लिए जाते हैं।

वैसे ही प्रत्येक शब्द में भी ईश्वरीय वा मानवीय संकेतरूप विशेष चिह्न हैं जिससे अर्थभेद हुआ करता है। अग्नि, जल, ब्राह्मण आदिक अनन्त शब्दों में इस शब्द से यह अर्थ बोधव्य है, यह ईश्वर संकेत है। 'घि', 'टि', 'घ' इत्यादि व्याकरण संज्ञाओं में आचार्यों का संकेत है। अतः प्राणिवत् शब्दों का भी लक्षण उस-उस शास्त्र के बोध में सहायक होता है। जिन अग्नि, जल, वृक्ष, शम, दम आदि शब्दों को प्रतिक्षण व्यवहार में प्रयुक्त करते वा बोलते हैं, कभी उनका भी लक्षण इसलिये किया जाता है कि उसके सम्बन्ध में पाठक को अधिक विज्ञान बढ़े। जैसे पृथ्वी उसको कहते हैं जिसमें गन्ध हो। जल उसको कहते हैं जिसमें शीत स्पर्श हो इत्यादि। किन्तु पूर्वोक्त कथन मात्र से पृथिवी वा जल का पूर्ण बोध नहीं होता। हाँ, केवल जल वा पृथिवी में पृथक्त्व दिखलाने के लिये उतने

अतिसंक्षिप्त लक्षण कर दिये जाते हैं किन्तु उस वस्तु के समग्र गुणों के अध्ययन करने से वस्तु का परिचय होता है। जैसे एक ग्रामीण भी गौ और भैंस में वा उनके दूध, दही, घृत, इत्यादि में भी भेद समझता है किन्तु इनके परमाणुओं वा भीतर की रचनाओं में क्या अन्तर है इत्यादि विषय को ग्रामीण जन नहीं जान सकते। वैसे ही साधारण रीति से पृथिवी को सब कोई जानते हैं किन्तु इसके परमाणु, आकार, आधार वा गति इत्यादिक विषयों का बोध बिना अध्ययन के नहीं हो सकता। अतः शास्त्रों में लक्षणादिक करके उसके वास्तविक स्वरूप को आचार्य दिखलाने के लिये प्रयत्न करते हैं।

अध्यारोपस्य तस्याऽस्य चाज्ञानं हेतुरीरितम्।
समष्टिव्यष्टिभेदेन तद्द्विधा परिभाष्यते।।१३।।

व्याख्या– इस अध्यारोप का कारण अज्ञान है, वह समष्टि और व्यष्टि भेद से दो प्रकार का है।

जैसे ज्ञान एक अनादि और भावरूप पदार्थ है, वैसे ही अज्ञान भी जीवगत अनादि और भावरूप एक पदार्थ है, किन्तु वह ज्ञान निरास्य है अर्थात् ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है। अज्ञान की सर्वथा निवृत्ति कदापि नहीं होती। साम्प्रदायिक लोग कहते हैं कि बुद्ध, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक, मुहम्मद, ईसामसीह इत्यादि मनुष्य सर्वज्ञ थे, उनमें अज्ञान का लेश भी नहीं था, किन्तु उन–उन आचार्यों के उपदेशों अथवा ग्रन्थों के देखने वा परीक्षा करने से विदित होता है कि वे अल्पज्ञ थे। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, जल, वायु और ग्रहणादि के वास्तविक स्वरूप का उन लोगों को बोध नहीं था। इसी प्रकार कणाद, गौतम, कपिल और पतञ्जलि आदि भी सर्वज्ञ नहीं थे। हाँ, इतना ही कह सकते हैं कि जिस–जिस विषय के वे लेखक वा उपदेशक थे, उस–उस के विशेष ज्ञाता थे। प्रथम बुद्ध सर्वज्ञ कहलाते हैं परन्तु उनके मत का निराकरण आर्य शास्त्र में विद्यमान है, एवं कणाद प्रभृति के मत का खण्डन उत्तम युक्तियों से शंकराचार्य ने किया है। शंकराचार्य के अद्वैत मत का खण्डन सम्पूर्ण न्याय और सांख्य शस्त्र में है। इसी प्रकार कुरान, बायबल और पुराणादिकों के मन्तव्यों का खण्डन आधुनिक विद्वान् अकाट्य युक्तियों से करते हैं। तब हम कैसे कहें कि जीव कभी सर्वज्ञ हो सकता है। अद्वैतप्रतिपादक आधुनिक वेदान्त में भी सर्वज्ञ जीव का एक उदाहरण भी नहीं। क्योंकि एक भी जीव के सर्वज्ञ होने से सृष्टि का लोप हो गया रहता, किन्तु पूर्ववत् सृष्टि बनती ही जाती है।[१] द्वितीय बात यह है कि यह संसार

१. अद्वैतमत–समीक्षा देखें पृ. ९९ आदि.....।

अनन्त और अनादि है। जीव किसी अवस्था में इसकी सीमा तक नहीं पहुँच सकता। जीव को प्रत्यक्षपूर्वक ही बोध होता है। अनुमानादिक प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक हैं। जब संसार की सीमा तक यह जीव पहुँच ही नहीं सकता, तब यह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ! पुनः जब प्रत्यक्ष पृथिव्यादिकों का भी सम्यक् बोध पृथिवीस्थ किसी जीव को नहीं, तब उपरिष्ठ अर्व, खर्व कोश दूरस्थ नक्षत्रादिकों का बोध मनुष्य कर लेगा, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इस हेतु अज्ञान भी जीवगत एक अनादि भावरूप पदार्थ है। वह अज्ञान समष्टि और व्यष्टि रूप से दो प्रकार का है, जैसे वन के देखने से यह वन है इस प्रकार की एक बुद्धि होती है, इसका नाम समष्टि है। किन्तु उसी वन में यह वृक्ष, यह लता, यह पुष्प, यह व्याघ्र, सिंह है इत्यादिक जो भिन्न–भिन्न बुद्धि का विषय है उसे व्यष्टि कहते हैं। यह समस्त जगत् समष्टि और सूर्य, पृथिवी प्रभृति खण्ड–खण्ड व्यष्टि है। व्यष्टि में भी समष्टि और व्यष्टि भेद हो सकते हैं। पृथिवी एक समष्टि है, और पृथिवी के भिन्न–भिन्न गन्ध, सुवर्ण, नमक, लोह आदि व्यष्टि हैं। हम जीवों में ये दोनों प्रकार के अज्ञान पाये जाते हैं। प्रथम समष्टि रूप से पृथिवी का ज्ञान नहीं, व्यष्टि रूप ये किस–किस पदार्थ से यह पृथिवी बनी है, इसका भी पूर्ण बोध नहीं। वैशेषिक और नैयायिक कहते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चारों के परमाणु भिन्न–भिन्न और नित्य हैं। और ये चार मूल तत्त्व हैं, किन्तु सांख्यवादी एक ही प्रकृति को मूलतत्त्व कहते हैं। वेदान्ती भी एक ही ईश्वर को मूलतत्त्व सिद्ध करते हैं। आधुनिक विज्ञानवादी भी जल, वायु और पृथिवी को एक–एक तत्त्व नहीं मानते किन्तु ये निश्चित हैं, वे तेज को पृथक् वस्तु स्वीकार नहीं करते। ऐसा उनका दृढ़ सिद्धान्त है। वे विज्ञानवादी अपने अनुभव और परीक्षा से कहते हैं कि जितने मूल तत्त्व अभी तक विदित हुए हैं उतने ही हैं यह नहीं कह सकते। अभी प्रायः ७० मूलतत्त्व[1] ज्ञात हुए हैं। और ये ७० वास्तविक मूलतत्त्व हैं, यह भी नहीं कह सकते। कदाचित् एक ही मूलतत्त्व हो, उसी के ये समस्त विकास हों, अतः समष्टि और व्यष्टि रूप से किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हम जीवों को नहीं। जब हम अपने शरीर को भी यथार्थ रूप से नहीं जानते, इस शरीर से पृथक् कोई चेतन जीव है वा नहीं, इसी विषय को लेकर आज तक आस्तिकों और नास्तिकों में महाविवाद हो रहा है, उसकी समाप्ति नहीं होती, तब कैसे कह सकते हैं कि यह जीव कदापि सर्वज्ञ हो सकता है। इस कारण अज्ञान भी एक अनादि वस्तु है और वह जीव के आश्रय में रहता है।

शंका– जब जीव स्वभावतः अल्पज्ञ है, त्रिकाल में भी प्रकृति, जीव और

१.यह सूचना गत शताब्दी के दूसरे दशक की है। वर्त्तमान काल में तत्त्वसंख्या लगभग सौ है।

ब्रह्म का बोध नहीं होगा, तब पढ़ना और न पढ़ना दोनों समान हैं। व्यावहार और जीवन–यात्रा के लिए अतिक्षुद्र जन्तु में भी यत्किञ्चित् बोध हो ही जाता है। तब इतने प्रयास से वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से प्रयोजन क्या ?

समाधान– जहाँ तक हो यथार्थ ज्ञान का उपार्जन करना चाहिए, यही मनुष्यता और परम पुरुषार्थ है। इस हेतु शास्त्र का अध्ययन मनुष्य के लिए आवश्यक है। संज्ञादर्श के पश्चात् इन बातों की अधिक मीमांसा रहेगी। यहाँ प्रथम अपने आचार्यों से निबद्ध संज्ञाओं की विलक्षणता पर ध्यान दीजिये, तब क्रमशः स्वयमेव अन्तःकरण में बोध विकास होता जायेगा और सुख की वृद्धि होती जायेगी।

विक्षेपावरणस्थे द्वे शक्ती स्तस्तस्य चैव हि।
आवृणोत्यन्त्ययात्मानं वैविध्यं यात्यथाद्यया।।१४।।

व्याख्या– उस अज्ञान की दो शक्तियां हैं, एक विक्षेप दूसरी आवरण। आवरण शक्ति से आत्मा को ढकता है, और विक्षेप शक्ति से अनन्त होता है। गीता में कृष्ण ने कहा है कि–

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। भगवद्गीता ५.१५।।

अज्ञान से ज्ञान आवृत है, इस हेतु मनुष्य मोहित हो रहा है। विक्षेप शक्ति का उत्तम उदाहरण क्रोधी वा उन्मत्त पुरुष है। क्रोधावस्था में अज्ञान की उस विक्षेप शक्ति की अतिवृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम है– विक्षिप्त चित्त वाले नृपगण अपने–अपने वश में पृथिवीस्थ लोगों को रखना चाहते हैं, अतः इसकी पूर्ति के लिए ये जगत् में घोर संग्राम करते और मनुष्यों को महाक्लेश सागर में डुबा देते हैं। सिकन्दर, जूलियस सीजर, दुर्योधन आदिक निदर्शन हैं। पुराणों में इस विक्षेप शक्ति के बहुत से [उदाहरण] कल्पित किए गये हैं। नमुचि, वृत्र, हिरण्यकशिपु, रावण, और कंस आदि इसके उदाहरण हैं, इसके अतिरिक्त देवासुर संग्राम भी। इस सम्बन्ध में प्रात्यहिक जीवन में भी इस विक्षेप के उदाहरण प्रतिक्षण पाए जाते हैं। क्रोधवश मनुष्य अपने सहोदर भाई वा प्रियतमा का भी हनन कर देते हैं। अज्ञान की आवरण शक्ति भी जीवों के ऊपर बहुत प्रभाव डाले हुए है। इसी आवरण के विवशीभूत भारतवासी नाना क्लेशों से पीड़ित हो रहे हैं। भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी इत्यादि कल्पित वस्तु इसी आवरण के कारण भारतवासियों को सता रही हैं। ये रोगों को भी भूत, प्रेतादि जन्य समझ कर चिकित्सा से निवृत्त हो प्रिय सन्तान को भी खो बैठते हैं। इसी आवरण से आवृत आर्य गण अपने में विविध जातियाँ, स्पर्श–दोष, शकुन, यात्रा, ग्रह और तिथि मासादिकों में भी शुभाशुभ विचार करने लगे। अतः शास्त्र कहते

हैं कि यथासम्भव ज्ञानोपार्जन करके अज्ञान–शक्तियों को न्यून करे, तब मनुष्य सुख का भागी बन सकता है।

वेदान्तियों का मत

अज्ञान के सम्बन्ध में नवीन वेदान्तियों का यह मत है– जो अनादि और भावरूप वस्तु हो, किन्तु ज्ञाननिरास्य हो, उसे अज्ञान कहते हैं। यद्वा जगत् का उपादान कारण होने पर भी सत् और असत् से अनिर्वचनीय हो, यद्वा जो विस्पष्ट भासित हो किन्तु अनादि और अनिर्वाच्य हो यद्वा साक्षात् ज्ञाननिरास्य हो, ईदृक् वस्तु का नाम वेदान्तिमत में अज्ञान होता है। यही अज्ञान जगत् का मूल कारण है। इसी को सत्त्वरजस्तमोगुणमयी साम्यावस्था रूपवती मूल प्रकृति कहते हैं। इसी को प्रलयावस्था, अव्यक्त, अव्याकृत, अक्षर (ज्ञान विना जिसका पतन न हो) अविद्या और तम कहते हैं। वह अज्ञान वनवत् एक बुद्धि के विषय होने से समष्टि और प्रत्येक वृक्षवत् अनेक बुद्धियों के विषय होने से व्यष्टि कहलाता है। समष्टि-अज्ञान ईश्वर का उपाधि होता है। वही माया कहलाती है क्योंकि इसमें विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता है। वही समष्टि कारण शरीर होता है क्योंकि वह अखिल जगत् का कारण है। वही आनन्दमय कोष कहलाता है क्योंकि समष्टि-ज्ञान में आनन्द की बहुलता है और कोषवत् अखण्ड आत्मा का आच्छादक होता है। उसी को सुषुप्ति भी कहते हैं, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण जगत् का उपराम रहता है। व्यष्टि-अज्ञान जीव का उपाधि होता है। उसी को अविद्या कहते हैं, क्योंकि इसमें मलिन सत्त्व की प्रधानता रहती है। वही व्यष्टि कारण शरीर होता है, क्योंकि वह अहंकारादियों का कारण है। वह भी व्यष्टि जगत् का आनन्दमय कोष होता है क्योंकि उसमें प्रचुर आनन्द रहता और कोषवत् प्रत्यक् चेतन (प्रति शरीर में रहने वाला चेतन) का आच्छादक होता है। उसी को सुषुप्ति कहते हैं, क्योंकि उसमें सकल व्यष्टि-प्रपञ्च का उपराम रहता है।

तस्य प्रहरणं शुद्धं परोक्षं चापरोक्षकम्।
प्रकृत्यात्मविवेकाय द्वेधाज्ञानं प्रकीर्त्तितम्।।१५।।

अर्थ– उस अज्ञान का प्रहारक ज्ञान दो प्रकार का है १. परोक्ष २. अपरोक्ष। वह प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा के विवेक के लिए होता है और शुद्ध है। आगे परोक्ष और अपरोक्ष का लक्षण करते हैं–

अस्ति वस्त्विति यज्ज्ञानं तत् परोक्षं प्रकीर्त्यते।
तथाऽपरोक्षविज्ञानमिदं वस्त्विति कथ्यते।।१६।।

अर्थ– वस्तु है इस प्रकार का जो ज्ञान है वह परोक्ष कहलाता है। तथा

यह वस्तु है इस प्रकार जो ज्ञान है वह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान है।

परोक्षज्ञानतो नश्येदसदावरणं त्विदम्।
अपरोक्षार्थविज्ञानादभानावरणं तथा।।१७।।

अर्थ– परोक्ष ज्ञान से यह असदावरण विनष्ट हो तथा अपरोक्षार्थ विज्ञान से यह अभानावरण विलीन हो।

वस्तुपरिचयो ज्ञानं पवित्रं पापनाशनम्।
तत्सेवेरन् सदा धीरा देवं शमभिलाषिणः।।१८।।

अर्थ– वस्तुओं के परिचय का नाम ज्ञान है। वह पवित्र, पापनाशन और देव है। उसे कल्याणाभिलाषी धीर जन सदा सेवें।

विचार

ज्ञान भी अनादि और अनन्तकालस्थायी एक भावरूप वस्तु है। दर्शन शास्त्र में वस्तु शब्द केवल द्रव्यवाची नहीं किन्तु द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और अभाव आदि पदार्थों का भी वाचक वस्तु शब्द होता है। यह ज्ञान शब्द सापेक्षक होता है, क्योंकि ज्ञान शब्द के उच्चारण के पश्चात् ही वस्तु की अपेक्षा होती है। इस कारण जितनी वस्तुएँ हैं, उतने प्रकार के ज्ञान भी हैं। गज–ज्ञान से यत्किञ्चित् विलक्षण हय–ज्ञान होता है। हय-ज्ञान से विलक्षण गर्दभ–ज्ञान है। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञान में यत्किञ्चित् विलक्षणता अवश्यमेव होती है। ज्ञान भी प्रथम समष्टि रूप से, तब व्यष्टि रूप से होता है। एक ही क्षण में अपनी चतुर्दिशाओं की वस्तुओं का बहुत ही शीघ्र ज्ञान होता है, पश्चात् द्वितीय क्षण में यह वृक्ष, यह पशु, यह पक्षी, यह मनुष्य इत्यादि प्रकारक भिन्न–भिन्न ज्ञान होने लगता है। इसी समष्टि को निर्विकल्प और व्यष्टि को सविकल्प ज्ञान कहते हैं। द्वितीय उदाहरण यह लीजिये कि आप किसी वैसे बाजार में जाईये, जिसमें सब प्रकार की वस्तुएं एकत्र की गई हों। वहाँ प्रथम आप किसी ऊँचे टीले पर चढ़ें और वहाँ से अपनी दृष्टि चारों ओर प्रेरित करें, तब प्रथम ही क्षण में बड़ी शीघ्रता के साथ सब एकत्रित वस्तुओं को देख लेंगे। तब द्वितीय क्षण में आपको पृथक्–पृथक् वस्तुओं का ज्ञान होने लगेगा कि यहाँ हाथियों का झुण्ड है, वहाँ घोटकवृन्द है, बीच में बहुत सी दुकानें हैं इत्यादि। पुनरपि वह ज्ञान दो प्रकार का होता है। यद्यपि लण्डन नगर को हमने नहीं देखा है किन्तु लण्डन नगर इस पृथिवी पर विद्यमान है, इसमें सन्देह नहीं। वसिष्ठ, विश्वामित्रादिक महापुरुष अतिप्राचीन काल में थे, स्वयं मैं उस परम्परा का फलस्वरूप हूँ जिसमें जन्य-जनक भाव की शृंखला बन्ध जाती है अर्थात् मैं अपने पिता से उत्पन्न हुआ, मेरे पिता अपने पिता से, वह भी अपने पिता से। इस प्रकार शृंखला बन्धते-बन्धते सृष्टि के

आदि तक पहुँच जाती है इत्यादि। इस प्रकार का ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाता है। और यह मेरी पुस्तक है, वह तेरी है। मैं इस फूल को सूंघ रहा हूँ इत्यादि प्रकार के ज्ञान का नाम अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष है। निःसन्देह वस्तु का ज्ञान अत्यन्त कठिन है, बाह्यरूप से वस्तु का ज्ञान होता है किन्तु आन्तरिक रूप से नहीं। यदि एक अपरिचित विष तुम्हारे समीप रख दिया जाय तो बाह्यरूप से उसके आकृति, रूप आदि का ज्ञान होगा। किन्तु इसके खाने से मैं मर जाऊँगा, यह ज्ञान कदापि न होगा। इससे सिद्ध है कि परीक्षा के विना वस्तु का ज्ञान ठीक–ठीक नहीं होता। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान में भी परीक्षा की आवश्यकता होती है। हमारे आचार्यगण इसी ज्ञान को दिखलाने के लिए अनेक उपाय बतलाते आये हैं। निःसन्देह यह ज्ञान अज्ञान का प्रहारक है। अज्ञान से सदैव हानि और ज्ञान से लाभ होता है। लोक में भी जो जितना ही ज्ञानी है, वह उतने ही लाभ उठाता है। अफ्रिका निवासी हबशी अज्ञानी होने के कारण खेती भी नहीं कर सकते। इस हेतु वे बहुत दुःख में सदैव रहते हैं। और इसी दुःख के कारण उनका दिनों दिन क्षय होता जाता है। इसके विपरीत ज्ञानी और विज्ञानी जर्मनी की अतिवृद्धि होती जाती है। यह ज्ञान परम पवित्र इसलिए है कि यह प्रकाशमय है। और आत्मा को अत्यन्त सुख देने वाला है। और देव इसलिए है कि जीव को मुक्ति तक पहुँचाता है।

ज्ञानं जन्यमजन्यञ्च पुनर्द्वेधा प्रकीर्त्तितम्।
विवेक्तव्यं प्रयत्नेन नरैर्मंगलकांक्षिभिः।।१९।।

अर्थ– पुनः जन्य और अजन्य भेद से ज्ञान दो प्रकार का है। जो किसी वस्तु के संसर्ग से उत्पन्न हो, उसे जन्य ज्ञान कहते हैं और जो अनादि काल से स्वाभाविक प्रवाहरूप से चला आता है, उसे अजन्य ज्ञान कहते हैं। मनुष्य जाति में प्रायः जन्य और अजन्य अर्थात् कृत्रिम और स्वाभाविक दोनों प्रकार के ज्ञान हैं। मनुष्य जन्म लेते ही जल में तैर नहीं सकता। किन्तु सीखने पर अच्छी तरह से जल में तैर सकता है, इस हेतु तैरना मनुष्य में जन्य ज्ञान है। जन्म लेते ही मधुर ध्वनि में गीत नहीं गा सकता किन्तु शिक्षित होने पर सहस्रों स्वरों में मनुष्य मधुर गान कर सकता है। इस प्रकार के सहस्रशः मनुष्यजाति में जन्य अर्थात् कृत्रिम ज्ञान हैं। तथा क्षुधानिवृत्ति के लिए स्तन्यपान में प्रवृत्ति, रोदन, यत्किञ्चित् चेष्टा, शयन, जागरण इत्यादि अजन्य ज्ञान हैं। स्वतः जन्म लेते ही शिशु की मातृदुग्धपान में जो प्रवृत्ति होती है, वह ज्ञान किसी वस्तु के परिचय से नहीं, किन्तु अनादि काल से जो संस्कार का प्रवाह जीवात्मा में चला आ रहा है, वही ज्ञान स्तन्यपानप्रवृत्ति का कारण होता है। इसी प्रकार कामादिक भी मनुष्य जाति

में स्वाभाविक हैं। इस जाति में क्रोध, भय, लोभ इत्यादि स्वाभाविक नहीं क्योंकि लघु शिशु के निकट यदि विषधर सर्प अथवा सिंह लाया जाय तो उस शिशु में भय का चिह्न कोई नहीं पाया जाता। तद्विपरीत आठ दश मास का बालक सर्प को अपने हाथ से पकड़ लेगा और उसे मुख में डालने का प्रयत्न करेगा। इससे प्रतीत होता है कि भय इस जाति में नैसर्गिक नहीं, किन्तु कृत्रिम है। इसी प्रकार क्रोधादिक भी छोटे बच्चे में नहीं देखे जाते।

मनुष्येतर पशुओं और–पक्षी प्रभृतियों में अजन्य ज्ञान की ही प्रधानता है। मत्स्य के बच्चे जन्म लेते ही पानी में तैरने लगते हैं, पशुओं के भी बच्चे जन्म लेते ही पानी में तैरने लगते हैं। मकड़ी के बच्चे परम्परागत स्वाभविक ज्ञान से ही जाल बुनने लग जाते हैं। मधुकर के बच्चे स्वभाव से ही पुष्पों से रस लेकर मधु बनाना आरम्भ कर देते हैं। इस हेतु मनुष्येतर जातियों में अजन्य ज्ञान की ही प्रचुरता है और मनुष्यजाति में जन्य ज्ञान की।

ईश्वर में केवल अजन्य ज्ञान है, और जीव में जन्याजन्य दोनों ज्ञान हैं। जो लोग कहते हैं कि परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्ति से जीवों और सृष्टियों को रच देता है, वे भूल में हैं, क्योंकि उनके सिद्धान्त में ईश्वर सर्वज्ञ नहीं कहला सकता। क्योंकि लोक में देखा जाता है जिस नवीन वस्तु को मनुष्य बनाता है, उसका बोध प्रथम मनुष्य को नहीं रहता। उदाहरणार्थ रेलगाडी और तार लीजिये। प्रथम मनुष्य को रेल और तार का किञ्चित् मात्र भी बोध नहीं था। इसके आविष्कार करने वाले भी नहीं जानते थे कि मेरी आविष्कृत रेलगाड़ी एक घण्टे में १०० मील दौड़ सकेगी। इसी प्रकार तार के आविष्कर्ता प्रथम इस प्रकार की विद्युत् का ज्ञान नहीं रखते थे इत्यादि। जो इस युग में सहस्रशः नवीन वस्तुओं का आविष्कार हुआ है, उनसे मनुष्य कदापि परिचित नहीं थे। अब लौकिक दृष्टान्त ही ईश्वर में भी घटाया जाता है क्योंकि हम मनुष्य लौकिक दृष्टान्तानुसार हीं ईश्वर में शंका-समाधान करते हैं। तब यदि सृष्टि और जीव अनादि नहीं हैं, ईश्वर ने इनको अपने अचिन्त्य सामर्थ्य से बनाया है तो ईश्वर को इनका प्रथम बोध भी नहीं होगा। जब उसने सृष्टि बनाई होगी तब उसका बोध ईश्वर को हुआ होगा। इस हेतु असत्कारणवादी के पक्ष में ईश्वर सर्वज्ञ कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि ईश्वर त्रिकालज्ञ है, जो होने वाला है उस का भी ज्ञान ईश्वर को है, तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि बोध सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं। वह बोध वस्तु की अपेक्षा करता है, तब यदि पूर्व सृष्टि थी ही नहीं तो किस वस्तु की अपेक्षा से सृष्टि का ज्ञान ईश्वर को हो सकता है। इस कारण यही सिद्ध होता है कि जीव, प्रकृति और ईश्वर ये तीनों अनादि

और अनन्त हैं। यदि कहो कि अभाव का भी बोध हम मनुष्यों में है, जैसे शशशृंग, खपुष्प, वन्ध्यापुत्र, इत्यादि अभाववस्तु का जैसे हम मनुष्यों में बोध है, वैसे अभाव सृष्टि का बोध ईश्वर में रह सकता है। यह कथन भी मनोरोचक नहीं, क्योंकि शृंग गवादिक पशुओं में विद्यमान है, किन्तु शश में वह अविद्यमान है। इसी प्रकार पुष्प और पुत्र भी जगत् में कहीं विद्यमान हीं हैं, और कहीं नहीं हैं। इस हेतु विद्यमान ही शृंग, पुष्प और पुत्र की अपेक्षा से क्वचित् इनके अभाव का ज्ञान हम मनुष्यों में होता है। इस हेतु क्वचित् सृष्टि हो क्वचित् न हो, तब ही सृष्टि के अभाव का बोध भी हो सकता है। अत एव ईश्वर में अजन्य ज्ञान मानना चाहिए, और तभी ईश्वर में सर्वज्ञता भी सिद्ध होती है इति दिक्।

ज्ञानं स्यादादिमं द्वेधा प्रमा चैवाप्रमेति च।
प्रमापि द्विविधा तत्र जीवेश्वरविभेदतः।।२०।।
वक्ष्यतेषड्विधाऽऽद्यान्यज्ञाना वृत्तिस्तथापरा।
जीवाश्रयापि तत्राद्या प्रमा स्याद् व्यावहारिकी।।२१।।
पारमार्थिक्यथाप्येवं भेदाद् द्वेधार्थभेदतः।

अर्थ—जन्य ज्ञान दो प्रकार का है। १. प्रमा, २. अप्रमा। प्रमा भी दो प्रकार की है। १. जीवाश्रया, २. ईश्वराश्रया। जीवाश्रया प्रमा ६ प्रकार की है जिसका वर्णन आगे आवेगा। और ईश्वराश्रया मायावृत्ति अथवा अज्ञानवृत्ति कहलाती है। पुनरपि जीवाश्रया प्रमा व्यावहारिकी और पारमार्थिकी भेद से दो प्रकार की है। इन सबका विवरण आगे विस्तार से रहेगा।

चराचरः प्रपञ्चोऽयं सूक्ष्मस्थूलोभयात्मकः।
विद्वद्भिस्तु सदा ज्ञेयः कार्यभूतो ह्यशेषतः।।२२।।

अर्थ—यह चरा-चर जगत् सूक्ष्म और स्थूल भेद से दो प्रकार का है। यह प्रत्यक्ष और मनोहारी है[१]। [यह कार्यभूत प्रपञ्च सदा विद्वानों के द्वारा जानने योग्य है।][२]

प्रकृतेः परिणामः स्यात् सृष्टी रामानुजे मते।
ब्रह्मणः परिणामस्तु विष्णुस्वामिमते तथा।।२३।।

अर्थ— रामानुज, विष्णुस्वामी, मध्व, निम्बार्क, यादवभास्कर, नीलकण्ठ इत्यादिक भी अनेक वेदान्ती हुए हैं। उनके मत के अनुसार कुछ संज्ञाएं कही जाती हैं। यद्यपि यादवभास्कर और नीलकण्ठ का मत आजकल प्रचलित नहीं है,

१. ऊपर लिखे श्लोक में इस वाक्य के अभिधायक शब्द नहीं हैं। २. हस्तलेख में कोष्ठान्तर्गत वाक्य नहीं है, परिवर्धित किया है।

इसी कारण माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' नाम के ग्रन्थ में उनके मत का संग्रह नहीं किया, तथापि रामानुजाचार्य ने अपने 'वेदार्थसंग्रह' में उनके मत का संग्रह किया है, इस हेतु उनका मत भी संग्रहणीय है। उनमें रामानुजाचार्य बौधायन मतानुयायी और विशिष्टाद्वैतवादी है। मध्व भेदवादी, निम्बार्क भेदाभेदवादी, विष्णुस्वामी शुद्धाद्वैतवादी, वल्लभाचार्य भी इसी मत के अनुयायी हैं, जिस नाम से वाल्लभ मत इस समय प्रसिद्ध है। ये चारों सम्प्रदाय कहलाते हैं। इन चारों का सिद्धान्त परिणामवाद कहलाता है। किन्तु इतना भेद है कि रामानुज के मत में प्रकृति का परिणाम और विष्णुस्वामी के मत में ब्रह्म का परिणाम यह जगत् है।

विकृतोऽविकृतश्चैव परिणामो द्विधा मतः।
आद्यो दध्यादि दुग्धादेर्द्वितीयो ब्रह्मणो जगत्।।२४।।

अर्थ— परिणाम विकृत और अविकृत भेद से दो प्रकार का है। दुग्ध से दही का होना विकृत परिणाम है। और सुवर्ण से कुण्डलादिवत् ब्रह्म का अविकृत परिणाम जगत् है।

विभूतिर्हि[१] द्विधा प्रोक्ता नित्यानित्यत्वभेदतः।
अधऊर्ध्वपरिच्छिन्ना श्रीरामानुजदर्शने।।२५।।[२]

अर्थ— श्री रामानुज के मत में नित्या और अनित्या भेद से विभूति दो प्रकार की है। **पादोऽस्य सर्वा[३] भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि** (छा॰ उप॰ १.१२.६) इस श्रुति में प्रतिपादित एक पाद विभूति यह संसार है, इसी को अनित्य विभूति और लीला विभूति भी कहते हैं, और त्रिपाद विभूति नित्य विभूति कहलाती है। उनमें नित्य विभूति अधःपरिच्छिन्ना और अनित्य विभूति ऊर्ध्वपरिच्छिन्ना है।

सृष्टेरन्तर्गतो देहः सूक्ष्मस्थूलोभयात्मकः।
समष्टिव्यष्टिभेदेन द्विधा स्याच्छांकरे मते।।२६।।

अर्थ— शंकराचार्य के मत में सृष्टि के अन्तर्गत जो यह सूक्ष्म—स्थूल एतदुभयात्मक देह है। वह समष्टि और व्यष्टि भेद से दो प्रकार का है।

कैवल्यं तद् द्विधा तद्वत् कीर्त्तितं वेदवित्तमैः।
निवृत्तिस्सर्वदुःखानां प्राप्तिः स्वात्मसुखस्य च।।२७।।

अर्थ— वेदज्ञ पुरुष कहते हैं कि कैवल्य (मुक्ति) दो प्रकार का है। १. सर्व

१. हस्तलेख में 'हि' नहीं है। २. हस्तलेख में यह श्लोक स्वयं श्रद्धेय गुरुवर ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु द्वारा लिखा गया है। प्रतिलिपिकार ने रिक्तस्थान छोड़ दिया था। २५—२६ वें श्लोकों तथा अर्थों में विपर्यास भी हो गया था। ३. ऋ॰ १०.९०.३; अथर्व॰ १९.६.३; मा॰ सं॰ ३१.३ में 'विश्वा' पाठ है।

दुःखों की निवृत्ति। २. ब्रह्मसुख की प्राप्ति। विद्या के द्वारा यथासम्भव अखिल अविद्या का नाश होना कैवल्य कहाता है। उसी को मोक्ष, मुक्ति और अपवर्ग कहते हैं। जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति आदि का वर्णन आगे रहेगा।

रामानुजादिसिद्धान्ते त्वेवं तद्द्विविधं भवेत्।
स्वात्मप्राप्त्यात्मकं चैव परात्मप्राप्तिलक्षणम्।।२८।।

अर्थ– वह कैवल्य रामानुज के मत में इस प्रकार द्विविध होता है। १. स्वात्मप्राप्ति, २. परात्मप्राप्ति।

दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः कीर्त्तितौ शांकरे मते।
चैतन्यं दृक् तथा तस्य दृश्यमेतज्जगद् भवेत्।।२९।।

अर्थ– शांकर मत में दृक् और दृश्य भेद से पदार्थ दो प्रकार का है। चैतन्य दृक् कहलाता है और दृश्य यह सम्पूर्ण जगत् है।[१]

मूलाविद्या तथा तूलाविद्याविद्या द्विधा मता।
प्रत्यक्षं स्याद् द्विधा जीवसाक्षी चेश्वरसाक्ष्यथा।।३०।।

अर्थ– शांकर मत में अविद्या दो प्रकार की है। १. मूलाविद्या, २. तूलाविद्या। प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है एक जीवसाक्षी और दूसरा ईश्वरसाक्षी।

संशयोऽपि द्विधा प्रोक्तो मानगो मेयगस्तथा।
तथासम्भावना चाथ विपरीता च भावना।।३१।।[१]

अर्थ– शांकर मत में संशय भी दो प्रकार का है। १. प्रमाणगत। २. प्रमेयगत। एक वस्तु में विरुद्ध जो कोटिद्वयावगाही ज्ञान होता है, उसे संशय कहते हैं। अथवा एक ही वस्तु में विद्यमान और विरुद्ध नानाकोटि ज्ञान होता है, उसे संशय कहते हैं। वह एक प्रमाणगत है अर्थात् ब्रह्म की सत्ता में वेद प्रमाण है वा नहीं, इस प्रकार का जो वेदात्मक प्रमाणगत संशय है उसको प्रमाणगत संशय कहते हैं। ब्रह्म एक है या द्वितीय सहित है, ब्रह्म जगत् का कारण है या नहीं ? इस प्रकार का जो ब्रह्मात्मक प्रमेयगत संशय होता है, उसको प्रमेयगत संशय कहते हैं। असम्भावना उसे कहते हैं जिसमें निषेधकोटिक संशय अधिक हो। वह भी प्रमाणगत और प्रमेयगत भेद से दो प्रकार की है। उनमें ब्रह्म की प्रतिपादिका श्रुति कैसे हो सकती है, क्योंकि यह घटपटादिवत् सिद्ध वस्तु नहीं। किन्तु कदाचित् अन्य प्रमाण से उसका बोध हो, इस प्रकार की जो चित्तवृत्ति है,

१. उनतीसवें श्लोक का अर्थ और इकत्तीसवें श्लोक का मूल प्रतिलिपिकार से छूट गया था, पुनः उसने उसी पृष्ठ की दूसरी ओर लिखा है। श्रद्धेय गुरुवर ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने अपने हाथ से लिखकर यथास्थान निर्देश किया है।

वह ब्रह्मरूप का बोधक जो श्रुतिलक्षण प्रमाण तद्गत असम्भावना है। और ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप ही है, और यह जगत् अनृत, जड़, दुःखात्मक है, तब इस जगत् का कारण ईश्वर कैसे हो सकता है, नहीं हो सकता। इस प्रकार की जो चित्तवृत्ति वह ब्रह्मात्मक प्रमेयगत असम्भावना है। लोक में भी प्रमाण और प्रमेयगत असम्भावना देखनी चाहिए। विपरीत भावना यह है कि अवस्तु में उस वस्तु का ज्ञान। वह ज्ञानाध्यास भी कहलाती है, यह पूर्व में कहा गया है[१]। वह भी प्रमाणगत और प्रमेयगत भेद से दो प्रकार की है। अहेय और अनुपादेय जो ब्रह्म उसकी प्रतिपादिका श्रुति नहीं हो सकती क्योंकि उससे श्रुति का कुछ फल नहीं। इसलिये श्रुति कर्मपरक ही है। इस प्रकार की जो निश्चयात्मिका चित्तवृत्ति है, उसको प्रमाणगत विपरीत भावना कहते हैं। **योग्यं योग्येन सम्बध्यते**[२] इस न्याय के अनुसार त्रिगुणात्मक जो यह प्रपञ्च उसका उपादान कारण माया ही हो सकती है, ब्रह्म नहीं। ईदृक् जो निश्चयात्मिका चित्तवृत्ति है, उसको ब्रह्मात्मक प्रमेयगत विपरीत भावना कहते हैं। लोक में भी विपरीत भावना का अनुसन्धान करना चाहिए।

संशयादिकराहित्यसाहित्याभ्यां द्विधा भवेत्।
प्रज्ञापि सुस्थिरैकाथ द्वितीया त्वस्थिराभिधा।।३२।।

अर्थ– प्रज्ञा भी एक सुस्थिरा और दूसरी अस्थिरा भेद से दो प्रकार की है। संशय, असम्भावना और विपरीत भावना इनसे रहित सुस्थिरा प्रज्ञा कहलाती है और संशयादि सहित अस्थिरा प्रज्ञा होती है।

स्थैर्योत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रज्ञायाश्च द्विधा मतः।
समाधिः सविकल्पाख्यो निर्विकल्पाह्वयस्तथा।।३३।।

अर्थ– द्रष्टा के स्वरूपावस्थान का हेतु जो चित्तवृत्तिनिरोध, उसको समाधि कहते हैं। वह दो प्रकार का है। १. सविकल्प, २. निर्विकल्प। जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प का अवभास हो, उस चित्त-समाधान का नाम सविकल्प समाधि है। इसी को सबीज और सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। तथा जिसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इन तीनों के विकल्प का अवभास नहीं, ऐसा जो चित्त-समाधान उसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। यही निर्बीज और असम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है।

विद्वद्विविदिषाभेदात् संन्यासो द्विधा भवेत्।

१. पृष्ठ ६। २. योग्य का योग्य के साथ ही सम्बन्ध होता है, जैसे एक राजा का दूसरे राजा के साथ ही सम्बन्ध होता है।

जातरूपकमण्डल्वोर्धार्याद्योऽपि द्विधा मताः।।३४।।[१]

अर्थ– विहित कर्मों का विधिपूर्वक त्याग का नाम संन्यास है। वह दो प्रकार का है। १. विद्वत्संन्यास, २. विविदिषासंन्यास। गृहस्थाश्रम इत्यादि में प्रथम वेदादिकों के श्रवण से ईश्वर का साक्षात्कार कर चित्त की विश्रान्ति के हेतु जीवनमुक्ति के उद्देश्य से क्रियमाण जो संन्यास वह विद्वत्संन्यास है। तथा विवेकादिसाधनसम्पन्न होकर तत्त्वज्ञान के उद्देश्य से क्रियमाण जो संन्यास वह विविदिषासंन्यास है। विद्वत्संन्यास भी दो प्रकार का है। १. जातरूपधर, २. दण्डकमण्डल्वादिधारणरूप। औत्पत्तिक[२] रूप को न त्यागकर जन्म के कारणकर्मों का त्याग जातरूपधर कहलाता है। और विधिपूर्वक दण्डकमण्डलु आदि धारण कर शिखा, सूत्रादि का परित्याग करना द्वितीय संन्यास कहलाता है।

तथा तद्धेतुभूतं स्याद्वैराग्यं सर्ववस्तुषु।
परञ्चापरमित्येवं भेदात्तद् द्विविधं भवेत्।।३५।।

अर्थ– उस संन्यास का हेतुभूत जो सर्व वस्तुओं में वैराग्य है, वह पर–अपर भेद से दो प्रकार का है।

वैराग्याभ्यासयोगाभ्यां क्रियमाणश्च योगिभिः।
निग्रहो द्विविधः प्रोक्तस्तत्राद्यो हठनिग्रहः।।३६।।
द्वितीयो योगिभिः प्रोक्तः क्रमनिग्रहनामकः।
सामान्योऽथ विशेषश्च द्विधाहंकार उच्यते।।३७।।

अर्थ– योगिगण वैराग्य और अभ्यास से जिस निग्रह को करते हैं, वह हठनिग्रह और क्रमनिग्रह भेद से दो प्रकार का है। विषयों से इन्द्रियों को हटाने का नाम निग्रह है। इसी को निरोध और प्रत्याहार कहते हैं। सामान्य और विशेष भेद से अहंकार दो प्रकार का है। अभिमानात्मिका चित्तवृत्ति का नाम अहंकार है। मैं श्रेष्ठ हूँ इत्यादि प्रकार के जो सामान्य अभिमान हैं, वह सामान्य अहंकार हैं। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ इत्यादि अहंकार का नाम विशेष अहंकार है।

सौरभासौरभत्वाभ्यां भिन्नो गन्धो द्विधा भवेत्।
शब्दो वर्णात्मकश्चाथ ध्वन्यात्मेति द्विधा मतः।।३८।।
शारीरो मानसश्चेति भेदादाध्यात्मिको द्विधा।
तापः स्याद् भुवि प्रत्यक्षो हेयो मंगलसाधकैः।।३९।।

१. हस्तलेख में 'जातरूपकमाण्डल्योर्धार्यादयोऽपि द्विधा मताः' पाठ है। इस श्लोक में 'विद्वद्' को छोड़कर शेष भाग श्रद्धेय गुरुवर ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु द्वारा लिखा गया है। २. वंशानुगत। बैरागी जाति के लोग जन्म से ही संन्यासी होते हैं।

अर्थ– गन्ध दो प्रकार का है। १. सौरभ, २. असौरभ। घ्राण से जिसका ग्रहण हो, उसे गन्ध कहते हैं। अनुकूल वेदनीय गन्ध का नाम सौरभ। प्रतिकूल वेदनीय गन्ध का नाम असौरभ है। शब्द दो प्रकार का है। १. वर्णात्मक, २. ध्वन्यात्मक। शारीर और मानस भेद से आध्यात्मिक ताप दो प्रकार का है। वह मंगलसाधक जनों से त्याज्य है। प्रतिकूल वेदनीय अर्थ को ताप कहते हैं। जो अपने शरीर अथवा मन के अनुकूल न हो वह ताप कहलाता है। वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से तीन प्रकार का है। उनमें आध्यात्मिक ताप दो प्रकार का है। १. शारीर, २. मानस। वात, पित्त और श्लेष्मा के वैषम्य के कारण जो ज्वरादिक रोग, उसको शारीर ताप कहते हैं। परकर्त्तृक जो अपकारादि, उनसे उत्पन्न जो क्रोधादिक, उसको मानस ताप कहते हैं।

सुकर्मिणां तु दिव्यश्च त्रिधातापस्समीरितः।
क्षयस्यातिशस्याथ तापश्च सहसा च्युतेः।।४०।।

अर्थ– पुनः क्षयताप, अतिशयताप, च्युतिताप के भेद से ताप तीन प्रकार का है। अपनी उन्नति, अभ्युदय और वृद्धि इत्यादिक कल्याण सदा रहेगा या न रहेगा, इससे जो भावी भय की उत्पत्ति, उसे क्षयताप कहते हैं। किसी अन्य पुरुष की उत्कर्षता देखकर जो ताप उत्पन्न होता है वह अतिशयताप कहाता है। पुण्यकर्मों के क्षय होने पर जो नाना प्रकार की हानियाँ प्राप्त होती हैं, तज्जन्य ताप का नाम च्युतिताप है। पुण्यकर्मों के क्षय से ही कभी चलते-चलते भी गिर जाता है, और उससे उसको बहुत चोट आती है। कभी अकस्मात् शरीर के ऊपर दीवार आदिक गिर पड़ते हैं। जब पञ्जाब प्रान्त के कांगड़ा नाम के जिले में किञ्चित् अवशिष्ट रात्रि में महाभूकम्प हुआ था[१], तो उस समय कितने तो मकान के गिरने से तत्काल ही मर गए, और कितने ही दो-तीन दिवसों के पश्चात् भी गिरे मकानों के अभ्यन्तर से निकाले गए। इसी प्रकार कभी-कभी नदियों की अतिवृद्धि के कारण मनुष्य-समाज में बहुत ही भय प्राप्त होता है, इत्यादि च्युत के लक्षण हैं।

समाधेयं समाधिस्थैः समाधौ ब्रह्म तद् भवेत्।
विराड् हिरण्यगर्भश्चेशश्चेत्येवं त्रयी तनु।।४१।।

अर्थ– यह अद्वैती की संज्ञा है। समाधि में जिस ब्रह्म का योगिगण ध्यान करते हैं वह ब्रह्म तीन प्रकार का है– १. विराट्, २. हिरण्यगर्भ और ३. ईश। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का जो कारण है उसे ब्रह्म कहते हैं। यह

१. यह घटना ४ अप्रेल सन् १९०५ में घटी थी। तब कांगड़ा पञ्जाब प्रान्त का एक जिला था। इस समय कांगड़ा हिमाचल प्रदेश के अन्तर्गत है।

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। ब्रह्म सत्य, ज्ञान और आनन्द है यह स्वरूप लक्षण है। समष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणशरीरोपहित चैतन्य जो ब्रह्म उसको विराट्[१], समष्टिसूक्ष्म कारणशरीरोपहित जो चैतन्य ब्रह्म उसको ईश कहते हैं। ईश, ईश्वर, ईशान इत्यादिक एकार्थक शब्द हैं।

तन्नियम्यस्तथा जीवः शरीरत्रयसंयुतः।
प्राज्ञतैजसविश्वाख्यभेदात्स्यात्त्रिविधो मतः।।४२।।

अर्थ– यह अद्वैती की संज्ञा है। उस ब्रह्म में नियम्य जीव का शरीर भी तीन प्रकार का है और वह जीव भी तीन प्रकार का है। अविद्योपहित अथवा अविद्यावच्छिन्न अथवा अविद्याप्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं, यद्वा अन्तः–करणोपहित अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न [अथवा] अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं। उस जीव के व्यष्टि, स्थूल और सूक्ष्म कारण ये तीन शरीर हैं। और 'प्राज्ञ', 'तैजस' और 'विश्व' भेद से वह जीव तीन प्रकार का है। उनमें व्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयोपहित चैतन्य विश्व, व्यष्टिसूक्ष्मकारणशरीरद्वयोपहित चैतन्य तैजस और व्यष्टिकारणशरीरमात्रोपहित चैतन्य प्राज्ञ कहलाता है।

तथा यत्तदधिष्ठेयं शरीरं तत्त्रिधोच्यते।
स्थूलं सूक्ष्मं तथैवाथ कारणञ्चेति भेदतः।।४३।।

अर्थ– उस जीवात्मा का अधिष्ठेय शरीर तीन प्रकार का है– १. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. कारण। भोग के आयतन को शरीर कहते हैं। यह तीनों प्रकार का शरीर क्षेत्र कहलाता है। जैसे क्षेत्रों में बीज बोते हैं वैसे ही इस शरीर में कर्म रूप बीजों का वपन होता है। इसलिए इसको क्षेत्र कहते हैं। और इस क्षेत्र में रहने वाला जीव क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यास्तिस्त्रोऽवस्थाश्च देहिनः।
मनोवाक्कायभेदाच्च त्रैविध्यं करणं व्रजेत्।।४४।।

अर्थ– उस जीव की तीन अवस्थाएं हैं– १. जाग्रत्, २. स्वप्न, ३. सुषुप्ति। और करण भी तीन हैं– १. मन, २. वाक् और ३. काय।

उत्कृष्टं मध्यमं पुण्यं पुण्यं सामान्यमेव च।
एवमेव त्रिधा प्रोक्ते पापमिश्रितकर्मणी।।४५।।

अर्थ– पुण्य तीन प्रकार का है– १. उत्कृष्ट, २. मध्यम और ३. सामान्य। इसी प्रकार पाप और मिश्रित कर्म भी उत्कृष्ट, मध्यम और सामान्य भेद से तीन प्रकार का है।

१. इस के अनन्तर 'हिरण्यगर्भ' का लक्षण अपेक्षित है।

जिस पुण्य से सर्वोच्च हिरण्यगर्भ का शरीर प्राप्त हो, वह उत्कृष्ट पुण्य है। जिससे इन्द्रादिक शरीर प्राप्त हो वह मध्यम, और जिससे यक्ष, राक्षस आदि शरीरों की प्राप्ति हो वह सामान्य पुण्य है। जिस पाप से परतापक गुच्छ, गुल्म और वृश्चिकादिक शरीर प्राप्त हों उसे उत्कृष्ट पाप कहते हैं। जिससे आम्रवनादि शरीर प्राप्त हो वह मध्यम पाप कहलाता है। जिससे गौ, गज, अश्व और तुलसी आदिक शरीर प्राप्त हों उसे सामान्य पाप कहते हैं। इसी प्रकार जिस मिश्रित कर्म से निष्कामकर्मानुष्ठानादि के योग्य शरीर प्राप्त हो वह उत्कृष्ट मिश्रित, जिससे स्वाप्रमोचिकाम्यकर्मानुष्ठानादि के योग्य शरीर प्राप्त हो वह मध्यम मिश्रित और जिससे चाण्डाल और व्याघ्रादि का अधम शरीर प्राप्त हो वह सामान्य मिश्रित कहलाता है।

विपाकारम्भि यत्कर्म तत्प्रारब्धमुदीरितम्।
इच्छानिच्छापरेच्छानां भेदात्तत्त्रिविधं भवेत्।।४६।।

अर्थ– फल का आरम्भक जो कर्म उसको प्रारब्ध कहते हैं। वह– १. इच्छा, २. अनिच्छा और ३. परेच्छा के भेद से तीन प्रकार का है। स्वेच्छापूर्वक भिक्षादि करना वह इच्छाप्रारब्ध है, समाधि-अवस्था में शिष्यादिकों के द्वारा दीयमान जो अन्नादिक वह परेच्छाप्रारब्ध है और अकस्मात् जायमान जो कण्टक वेधादि वह अनिच्छाप्रारब्ध है।

तन्निष्पन्नस्तथा ज्ञाने प्रतिबन्धस्त्रिधा मतः।
भूतो भावी तथा वर्त्तमानश्चेति प्रभेदतः।।४७।।

अर्थ– उस प्रारब्ध से प्राप्त ज्ञान का प्रतिबन्ध तीन प्रकार का है– १. भूत, २. भावी और ३. वर्त्तमान। कार्यानुकूलकिञ्चिद्धर्मविघटक को प्रतिबन्ध कहते हैं। जैसे अग्नि में दाहरूप कार्यानुकूल जो किसी सामर्थ्यरूप धर्म का विघटक मणि, मन्त्र और औषधादिक होता है तद्वत्।

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च प्रतिबन्धे तिरोहिते।
ज्ञानमुत्पद्यते शुभ्रं पवित्रञ्च प्रकाशकम्।।४८।।

अर्थ– शमादि और श्रवणादि साधनों से प्रतिबन्ध (अवरोध) तिरोहित हो जाता है, तब श्वेत, पवित्र और प्रकाशक ज्ञान उत्पन्न होता है। जीव, ब्रह्म और प्रकृति इन तीनों में भेद के निश्चय का नाम ज्ञान है।

वाक्यात्तस्मादखण्डार्थबोधो लक्षणया[१] भवेत्।
सम्बन्धत्रयसंयुक्तात् पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।।४९।।

१. हस्तलेख में 'लक्षणाया' पाठ है।

अर्थ– सजातीय, विजातीय स्वगतभेदशून्यार्थ का नाम अखण्डार्थ है। यद्वा अपर्याय अनेक शब्दों से जो प्रकाशनीय होकर अविशिष्ट हो, यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थ हो। जैसे सत्य, ज्ञान और आनन्दादि जो अपर्याय शब्द उनसे जिसका प्रकाश तो हो किन्तु वास्तव में जो सर्वविशेषणों से शून्य हो। सर्वविशेषणों से शून्य का नाम अविशिष्ट है। यद्वा उसके जो प्रातिपदिक[१] (अर्थवान् शब्द) उनका जो अर्थ, वह अखण्डार्थ है। भागत्याग-लक्षणा से वह होता है। वह द्विविधा है– १. केवल लक्षणा, २. लक्षितलक्षणा। शक्य[२] परम्परा सम्बन्ध का नाम लक्षितलक्षणा है। जैसे 'द्विरेफ (जिस शब्द में दो रेफ हों) गूँजता है' इस वाक्य में द्विरेफ शब्द की भ्रमर में और भ्रमर शब्द की मधुकर में परम्परा लक्षणा है। शक्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध का नाम केवललक्षणा है। वह तीन प्रकार की है– जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। शक्यमात्र के परित्याग से तत्सम्बन्धी अर्थान्तर में जहाँ वृत्ति हो उसका नाम जहल्लक्षणा है। शक्य (वाच्य) का सर्वथा त्याग हो किन्तु वाच्य के सम्बन्धी अर्थ में जिसकी वृत्ति हो वह जहल्लक्षणा जहत्= त्यजत्= त्याग करने वाली लक्षणा। जैसे 'गंगा में घोष[३] है' यहाँ गंगा पद की तीर में लक्षणा है। गंगा नाम जलप्रवाह का है, उसमें घोष नहीं बनता। किन्तु तट के ऊपर घोष होता है। अतः गंगापद की शक्ति प्रवाह में है। उस प्रवाह का त्याग कर प्रवाह सम्बन्धी जो तट उसका ग्रहण किया गया। शक्यार्थ के अपरित्याग[४] से तत्सम्बन्धी अर्थान्तर में वृत्ति का नाम अजहल्लक्षणा है। जैसे 'शोण= रक्त (लाल) दौड़ता है' यहाँ शोण पद की शोणगुणविशिष्ट अश्वादि द्रव्य में लक्षणा है। शक्य के एकदेश के परित्याग से एकदेश में वृत्ति का नाम जहदजहल्लक्षणा है। इसी को भागत्याग-लक्षणा कहते हैं। जैसे 'वह यह देवदत्त है', तद्देशकालवैशिष्ट्य और एतद्देशकालवैशिष्ट्यरूप विरुद्धांश को त्याग कर देवदत्त पिण्डमात्र में जो वृत्ति उसका नाम भागत्याग है। तद्वत् 'तत् त्वमसि' इत्यादि वाक्य में भी सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्वरूप विरुद्धांश को त्याग कर दो चिन्मात्रों में अभेद का भान भागत्याग-लक्षणा से होता है।

पदार्थप्रत्यगात्मा= तत्+त्वम् इन दो पदों का सामानाधिकरण्य[५] है। उन दोनों पदों के जो ईश्वर और जीव दो अर्थ हैं, उनमें त्वम् विशेष्य और तत्

१. हस्तलेख में 'प्रतिपादक' पाठ है। २. शब्द में अर्थ का बोध कराने की शक्ति (सामर्थ्य) होती है, अतः शब्द शक्त (वाचक= अभिधायक) कहलाता है और अर्थ 'शक्य' (वाच्य= अभिधेय) कहलाता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को शक्ति= अभिधा कहते हैं। ३. घोसियों (पशु–पालकों) का आवास, जहाँ पशु रखे जाते हैं, 'घोष' कहलाता है। ४. हस्तलेख में 'परित्याग' पाठ है। ५. हस्तलेख में 'समानाधिकरण्य' पाठ है, और आगे 'है' पद भी नहीं है।

विशेषण है। इसका नाम विशेष्यविशेषणभाव और दोनों पदों यद्वा उनके दोनों अर्थ जो ईश्वर और जीव दो अर्थ हैं उनके विरुद्धांश के त्याग से जो चिन्मात्र में वृत्ति उसका नाम लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। वे सम्बन्धत्रय ये हैं–

सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणभावश्च सम्बन्धोऽसौ त्रिधा मतः।।५०।।
तेनोपेतान्महावाक्याज्जातं विज्ञानमात्मनः।
तापं समूलमुन्मूल्य शान्तिं सम्पादयेद् ध्रुवाम्।।५१।।

अर्थ– १. सामानाधिकरण्य २. विशेषणविशेष्यता ३. लक्ष्यलक्षणभाव, इन भेदों से सम्बन्ध तीन प्रकार का है, उस सम्बन्धत्रयोपेत महावाक्य से आत्मविज्ञान होता है, उससे समूल ताप को उखाड़ कर ध्रुवा शान्ति का सम्पादन करे।

आध्यात्मिकस्तथैवाधिभौतिकश्चाधिदैविकः।
तापोऽसौ त्रिविधः प्रोक्त आत्मनः शान्तिनाशनः।।५२।।

अर्थ–आत्मशान्ति नाशन ताप तीन प्रकार का है १. शरीर और मन के ऊपर प्रभाव डालनेवाला ताप आध्यात्मिक है। २. व्याघ्र और सर्पादिकों के कारण जायमान ताप अधिभौतिक है। ३. विद्युदादिकृत ताप आधिदैविक है।

सत्त्वं रजस्तमश्चैते गुणाः स्युः प्रकृतेस्त्रयः।
ओतप्रोतमिदं सर्वं गुणैरेतैश्चराचरम्।।५३।।

अर्थ– प्रकृति सम्बन्धी सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इन्हीं गुणों से यह चराचर जगत् ओतप्रोत है। सत्त्वादिक गुण इसलिये कहलाते हैं कि रज्जु[१] के समान ये आत्मा को बांधते हैं। सांख्य मत में ये तीनों द्रव्य हैं। और एतन्मयी ही प्रकृति है। यही जगत् का मूल कारण वा उपादान कारण है।

सुखं दानं तपो यज्ञः कर्त्ता ज्ञानञ्च कर्म च।
तथाहारादयश्चान्ये सर्वे स्युस्त्रिगुणात्मकाः[२]।।५४।।

अर्थ–सुख, दान, तप, यज्ञ, कर्त्ता, ज्ञान, कर्म, और आहारादिक भी तीन प्रकार के हैं। सात्त्विक राजस और तामस सुख हैं। इसी प्रकार ये तीनों विशेषण सब में लगाये जाते हैं। भगवद् गीता में इसका विस्तार से वर्णन है[३]।

गुणत्रयमयीमेतां मूलां शक्तिं स्वयं स्वराट्।
प्रकृत्याख्यामवष्टभ्य कारणं ब्रह्म गीयते।।५५।।

अर्थ–स्वयं सर्वदा विराजमान परमात्मदेव इसी गुणत्रयमयी मूला शक्ति

१. गुण का अर्थ रज्जु भी है। २. हस्तलेख में 'स्युस्त्रिगुणात्मिकाः' पाठ है। ३. द्र०- भगवद्गीता अ० १७, १८।

प्रकृति देवी को लेकर जगत् रचता है[1]। अत एव जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म गाया जाता है। कार्य के अव्यवहित पूर्व में जिसकी नियत वृत्ति हो वह कारण कहलाता है। वह दो प्रकार का है– १. उपादान, २. निमित्त कारण। कार्य में अन्वित कारण का नाम उपादान है। अर्थात् जिससे कार्य बनता है वह उपादान है। जैसे घट का उपादान कारण मृत्तिका है, पट का उपादान कारण तन्तु है। तन्तु का उपादान कारण रूई है, उसका कपास, उसका भी बीज। इस प्रकार सबका आदि कारण परमाणु है। किन्तु सांख्यमत के अनुसार परमाणुओं का भी मूल कारण प्रकृति है। उपादान से भिन्न कारण का नाम निमित्त कारण है। जैसे घट के कुम्भकार, चक्र, सूत्र, और जलादि निमित्त कारण हैं। नवीन न्याय के मत में कारण तीन हैं। १. समवायी २. असमवायी और ३. निमित्त। अद्वैतमत में ऊर्णनाभ (मकड़ी) के समान इस प्रपञ्च का ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना जाता है।

तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेति भेदतः।
माया ज्ञेया त्रिधा बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।।५६।।

अर्थ–अद्वैत पक्ष में माया तीन प्रकार की है– १. तुच्छा २. अनिर्वचनीया और ३. वास्तवी। श्रौत दृष्टि से वह माया तुच्छा, यौक्तिक दृष्टि से अनिर्वचनीया और लौकिक दृष्टि से वास्तवी है।

व्यावहारिक्यथ प्रातिभासिकी पारमार्थिकी।
ब्रह्म विश्वभ्रमार्थानां सत्ता ज्ञेया त्रिधैव च।।५७।।

अर्थ– अद्वैत मत में सत्ता तीन प्रकार की है– १. ब्रह्म की पारमार्थिकी सत्ता २. विश्व की व्यावहारिकी सत्ता और ३. शुक्ति-रजतादि भ्रमविषयार्थक वस्तुओं की प्रातिभसिकी सत्ता। व्यावहारिकी सत्ता का नाम अज्ञात सत्ता और प्रातिभासिक सत्ता का नाम ज्ञात सत्ता भी है।

ब्रह्मणो मूर्तयस्तिस्रो ब्रह्म विष्णुर्महेश्वरः।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिण्यो[2] भुवनत्रये।।५८।।

अर्थ– पौराणिक मत में ब्रह्म की तीन मूर्त्तियां है– १. ब्रह्मा २. विष्णु और ३. महेश। उत्पादक ब्रह्मा, स्थापक यद्वा पालक विष्णु और संहारक महेश्वर= रुद्र माना गया है।

धूमादिरर्चिरादिश्च जनिमृत्यात्मकस्तथा।
चन्द्रब्रह्मप्रपञ्चानां गतिमार्गास्त्रयः क्रमात्।।५९।।

१. श्लोक ५५ में 'जगत् रचता है' इस वाक्यांश के अभिधायक शब्द नहीं हैं। २. हस्तलेख में '.करिण्यो' पाठ है।

अर्थ– मार्ग तीन हैं– १. इष्टापूर्त्तादिकारी कर्मियों का चन्द्रलोक प्राप्तिमार्ग धूमादि है। २. ब्रह्मोपासकों का ब्रह्मलोक प्राप्तिमार्ग अर्चिरादि है और ३. पापियों का प्रपञ्च प्राप्तिमार्ग जनिमृति कहलाता है। इसी को पितृयाण, देवयान और जायस्व म्रियस्व भी कहते हैं। अब धूमादि मार्ग का क्रम कहते हैं।

धूमं रात्रिं ततः कृष्णं षण्मासीं दक्षिणायनम्।
संवत्सरं ततो देववायुलोकौ ततः क्रमात्।।६०।।
आदित्यलोकतश्चन्द्रं योगी प्राप्य निवर्तते।

अर्थ– इष्टापूर्त्तादिकारी कर्मनिष्ठ पुरुष मरने के पश्चात् प्रथम धूम में, तब रात्रि, कृष्णपक्ष, षाण्मासिक दक्षिणायन, संवत्सर, देवलोक, वायुलोक आदित्य और चन्द्र में क्रमशः प्राप्त होता है। चन्द्र में यावत्पुण्यफलभोग पुनः योगी वहाँ से नीचे गिरता है।

अर्चिषोऽहस्ततः शुक्लं षण्मासीं चोत्तरायणम्।।६१।।
संवत्सरं ततो देववायुलोकावनुक्रमात्।
भानुलोकं ततश्चन्द्रलोकं लोकं च विद्युतः।।६२।।
वरुणेन्द्रप्रजाधीशलोकान्प्राप्योत्तरोत्तरान्।
ब्रह्मलोकं गतो विद्वान् भूयो नावर्तते ततः।।६३।।

अर्थ– ब्रह्मोपासक जन मरणानन्तर[1] प्रथम अर्चि में, तब दिन, शुक्लपक्ष, षण्मास उत्तरायण, संवत्सर, देवलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युत्लोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक में क्रमशः प्राप्त होकर ब्रह्म में प्राप्त होता है। वहाँ से बहुकाल पर्यन्त पुनरावृत्ति नहीं होती।

स्वर्गो मर्त्योऽथ पातालमित्येतद् भुवनत्रयम्।
लोकत्रयं तथा धामत्रयमप्येतदुच्यते।।६४।।

अर्थ–लोक तीन प्रकार का है। १. स्वर्ग। २. मर्त्य और ३. पाताल। इनको भुवनत्रय और धामत्रय भी कहते हैं।

त्रिषु धामसु यज्ज्ञानं ज्ञाता ज्ञेयञ्च यद् भवेत्।
त्रिपुट्येषात्मनो रूपं नातिक्रामति कर्हिचित्।।६५।।

अर्थ– विषयाभिव्यञ्जक अन्तःकरण की जो परिणामरूपावृत्ति है, उसका नाम ज्ञान है। ज्ञानाश्रय का नाम ज्ञाता वा आत्मा है। और ज्ञान विषयक घट पटादिक सकल वस्तुओं का नाम ज्ञेय है। इसको त्रिपुटी भी कहते हैं। यह आत्मा को कदापि नहीं त्यागती।

१. हस्तलेख में 'मरणान्तर' पाठ है।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं स्वात्माज्ञानापहारकम्।
प्रतिबन्धकमेतस्य संशयादि त्रिधा मतम्।।६६।।

अर्थ– आत्मा के अज्ञान का अपहारक यह ज्ञान है। इस ज्ञान के प्रतिबन्धक संशयादि तीन हैं। वे ये हैं–

संशयः स्वात्मनस्चाथ विपरीता च भावना।
तथासम्भावनैतत्स्यात्त्रयं तत् प्रतिबन्धकम्।।६७।।

अर्थ–आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक तीन हैं १. संशय २. विपरीत भावना और असम्भावना। इनके लक्षण पूर्व में कहे गये हैं[1]।

श्रुत्वा मत्वा निदिध्यास्य स्वात्मानं तन्निवर्त्तयेत्।
श्रवणादित्रयं ह्येतत् कीर्त्तितं बोधसाधकम्।।६८।।

अर्थ– आत्मा का श्रवण, मनन, और निदिध्यासन करके सशंयादिक त्रय की निवृत्ति करनी चाहिए क्योंकि श्रवणादि त्रय बोधसाधक हैं। उपक्रमादि षड्लिंगों से वेदों का तात्पर्य केवल अद्वितीय ब्रह्म में है, इस प्रकार के निश्चय का नाम श्रवण, श्रुत अर्थ का युक्तियों से चिन्तन का नाम मनन और विजातीय प्रत्यय (ज्ञान) को दूर कर के सजातीय प्रत्ययप्रवाह के धारण का नाम निदिध्यासन है। इसी को ध्यान भी कहते हैं। उपक्रमादि षट्लिंग आगे[2] कहे जायेंगे–

स्थूलः सूक्ष्मस्तथैवाथ कारणात्मेति च त्रिधा।
ज्ञेयः सर्वः प्रपञ्चोऽयं कालस्तद्वत् त्रिधा मतः।।६९।।
भूतो भावी तथा वर्त्तमानश्चेति प्रभेदतः।
कालोऽसौ स्यात्परिच्छेत्ता वस्तूनां जडसंगिनाम्।।७०।।

अर्थ– प्रपञ्च तीन प्रकार का है १. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. कारणात्मक। काल तीन प्रकार का है– १. भूत, २. भावी और ३. वर्त्तमान। पञ्चीकृत जगत् स्थूल कहलाता है। अपञ्चीकृत जगत् का नाम सूक्ष्म है। स्थूलसूक्ष्मोभयविध जगत् के जनक का नाम कारण है। अतीतादि व्यवहार के असाधारण कारण का नाम काल है। सूर्यपरिस्पन्दादि क्रियावच्छिन्न जो काल उसका नाम वर्त्तमान है। तत्क्रियाध्वंसावच्छिन्न काल का नाम भूत और तत्क्रियाप्रागभावावच्छिन्न काल का नाम भावी है।

दैशिकः कालिकश्चाथ तथा वास्तविकोऽपरः।
परिच्छेदस्त्रिधा ज्ञेयो नाखण्डेऽसौ चिदात्मनि।।७१।।

१. द्र०- पू. पृ० १८,१९। २. द्र०- पृ० ४६।

अर्थ– परिच्छेद तीन प्रकार का है– १. दैशिक, २. कालिक और ३. वास्तविक। अखण्ड परमात्मा में वे तीनों परिच्छेद नहीं रहते। यत्किञ्चित् देश में रहने वाला दैशिक परिच्छेद है। यत्किञ्चित् काल में रहने वाला कालिक परिच्छेद है और यत्किञ्चित् वस्तुगत परिच्छेद का नाम वास्तविक परिच्छेद है।

नापि भेदस्त्रिधाख्यातो युज्यते तत्र कर्हिचित्।
सजातीयो विजातीयः स्वगतश्चात्मवस्तुनि।।७२।।

अर्थ– भेद तीन प्रकार का है– १. सजातीय, २. विजातीय और ३. स्वगत। ये तीनों भेद भी ब्रह्म में नहीं हैं। समानजातिकृत भेद का नाम सजातीय है। जैसे वृक्षान्तर से वृक्ष का। विरुद्धजातिकृत भेद का नाम विजातीय भेद है। जैसे शिलादि से वृक्ष का अपने अवयवों से भेद का नाम स्वगतभेद है। जैसे पर्णपुष्पफलादिक से वृक्ष का।

देहस्य वासनाथापि वासना लोकशास्त्रयोः।
वासनैव त्रिधा पुंसां सर्वानर्थकरी स्मृता।।७३।।

अर्थ– वासना तीन प्रकार की है– १. देहवासना, २. लोकवासना और ३. शास्त्रवासना। सदा देह की पुष्टि का चिन्तन देहवासना, लोगों को प्रसन्न रखने की चिन्ता लोकवासना और शास्त्रद्वारा जगत् की विजय की चिन्ता शास्त्रवासना है।

ज्ञानं चोपरतिस्तद्वत् वैराग्यमिति च त्रयम्।
जातमात्रं विहन्त्याशु सर्वानर्थं हि देहिनाम्।।७४।।

अर्थ– १. ज्ञान, २. उपरति और ३. वैराग्य ये तीनों उत्पन्न होते ही मनुष्यों के निखिल अनर्थों का हनन कर देते हैं। आत्मा देहादि से भिन्न है, यद्वा आत्मा से देहादि भिन्न है। इस प्रकार के निश्चय का नाम ज्ञान है। परोक्ष और अपरोक्ष भेद से ज्ञान द्विविध है। असंदिग्ध और अविपर्यस्त निश्चय का नाम अपरोक्ष ज्ञान है और संशयादिग्रस्त ज्ञान परोक्ष है। विहित कर्मों का विधिपूर्वक त्याग उपरति है। विषयों का त्याग वैराग्य है।

श्रवणादित्रयं यद्वद् ज्ञानादौ हेतुरीरितम्।
प्राणायामोऽपि तद्वत्स्यात् मनःस्थैर्येण देहिनाम्।।७५।।

अर्थ– जैसे ज्ञानादिक में श्रवणादि त्रय हेतु कहा गया है,[1] तद्वत् मन की स्थिरता में प्राणायाम विशेष हेतु है।

पूरको रेचकश्चैव कुम्भकश्चेति भेदतः।

१. द्र०- पृ० २८।

प्राणायामस्त्रिधा स स्यान्मनोबन्धनकारकः।।७६।।

अर्थ– प्राणायाम तीन प्रकार का है– १. पूरक २. रेचक और कुम्भक। ये मन के बन्धनकारक हैं।

आन्ध्यं मान्द्यं पटुत्वञ्च नेत्रधर्मास्त्रयो मताः।
तादात्म्याध्यासतस्ते तु भासन्ते स्वात्मवस्तुनि।।७७।।

अर्थ– अन्धता, मन्दता और पटुत्व ये तीनों नेत्रधर्म हैं। तादात्म्याध्यास से आत्मधर्म प्रतीत होता है।

तादात्म्यं तत् त्रिधा प्रोक्तं कर्मजं सहजं तथा।
भ्रान्तिजञ्चाप्यहंकारचिच्छायादेहसाक्षिणाम्।।७८।।

अर्थ– तादात्म्य तीन प्रकार का है– १. कर्मज, २. सहज और ३. भ्रान्तिज। यह अद्वैतवादी की परिभाषा है। उससे भिन्न हो और उसकी सत्ता वास्तव में भिन्न न हो, उसका नाम तादात्म्य है। अहंकार का चिच्छाया (चिदाभास) के साथ सहज तादात्म्य है। स्थूल देह के साथ कर्मज तादात्म्य है। साक्षी के साथ भ्रान्तिज तादात्म्य है।

एषणा त्रिविधा पुत्रवित्तलोकात्मगोचरा।
सुप्तिमूर्च्छासमाधीनां भेदात् सुप्त्यादिकत्रयम्।।७९।।

अर्थ– एषणा= अभिमान= इच्छा। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा भेद से एषणाएँ तीन हैं। सुप्ति, मूर्च्छा और समाधि भेद से सुप्त्यादि अवस्थाएँ तीन हैं।

रामानुजमते तत्त्वं त्रयं चिदचिदीश्वराः।
शब्दानुमानप्रत्यक्षरूपं मानत्रयं तथा।।८०।।

अर्थ– रामानुज के मत में तत्त्व तीन हैं– १. चित्, २. अचित् और ३. ईश्वर। चित्= जीव। अचित्= जड़ जगत्। चित् और अचित् दोनों ईश्वर का शरीर माना जाता है। अनन्त कल्याणगुणसागर, सिद्धोपाय और विभु ईश्वर है। ईश्वर ही उपाय और उपेय दोनों है। जीव अणु है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण हैं। शब्द और प्रत्यक्ष के विरोध में प्रत्यक्ष ही प्रमाण प्रबल होता है। शब्दादि प्रमाण के लक्षण चतुर्विधप्रमाणप्रतिपादनावसर में कहे जायेंगे।

वासनानन्द इत्याद्यो ब्रह्मानन्दो द्वितीयकः।
तृतीयो विषयानन्द इत्यानन्दस्त्रिधा भवेत्।।८१।।

अर्थ– शंकराचार्य के मत में आनन्द तीन हैं– १. वासनानन्द, २. ब्रह्मानन्द और विषयानन्द। सात्त्विक और एकाग्र बुद्धि में प्रतिबिम्बित जो सुखरूप आत्मा वही आनन्द है, यद्वा आत्मप्रतिबिम्बिता जो वृत्ति उसे आनन्द कहते हैं। ब्रह्मानन्द उस अवस्था का नाम है, जिसमें द्वैत भान न हो और निद्रा का भी अभाव हो, उस काल में जो ब्रह्माभिमुख वृत्ति उसे ब्रह्मानन्द कहते हैं। निजानन्द, योगानन्द, मुख्यानन्द, अद्वैतानन्द, आत्मानन्द इन आनन्दों का अन्तर्भाव इसी आनन्द में होता है। माला, चन्दन, वनितादि विषयाकार जो एकाग्र बुद्धि उससे अभिव्यंग्य[1] जो आनन्द उसे विषयानन्द कहते हैं। विद्यानन्द का भी अन्तर्भाव इसी में है। ब्रह्मध्यान से व्युत्थित= उचटे हुए पुरुष की जो आनन्द की वासना उसे वासनानन्द कहते हैं। जैसे लशुन के भाण्ड से लशुन को निकालने पर भी गन्ध की वासना कुछ अवश्य रह जाती है, वैसे ब्रह्मध्यानादि से जिसका मन उचट जाता है, तो भी उसके मन में कुछ ब्रह्मानन्द की वासना रह जाती है, उस आनन्द का नाम वासनानन्द है।

प्राग्लोपोऽविनिगम्यत्वं प्रमाणापगमस्तथा।
दोषा एतेऽनवस्थाया अंगीकारे त्रयो मताः।।८२।।

अर्थ– अनवस्था दोष के स्वीकार करने पर अन्य तीन दोष उपस्थित होते हैं– १. प्राग्लोप, २. अविनिगम और ३. प्रमाणापगम। उनके लक्षण आगे कहे जायेंगे।

अतिव्याप्तिस्तथाव्याप्तिर्दोषश्चासम्भवस्तथा।
दोषा एते त्रयः ख्याताः सर्वलक्षणदूषकाः।।८३।।

अर्थ– सब दोषों के दूषक तीन दोष हैं– १. अतिव्याप्ति, २. अव्याप्ति और ३. असम्भव। असाधारण धर्म का नाम लक्षण है। लक्ष्य में रहकर अलक्ष्य में भी जिसकी प्रवृत्ति हो, उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। जैसे श्रृंग वाले को गौ कहते हैं। इस लक्षण का प्रवेश लक्ष्य गौ में होने पर भी अलक्ष्य महिष आदि में भी होगा। इस हेतु यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। किसी लक्ष्य में हो और किसी में न हो, उसे अव्याप्ति कहते हैं। जैसे कपिल वर्ण वाले को गौ कहते हैं। यह लक्षण भी ठीक नहीं। क्योंकि श्वेत गवादि में इस लक्षण की प्रवृत्ति न होगी इसलिए इसका नाम अव्याप्ति दोष है। और जिसकी प्रवृत्ति किसी लक्ष्य में न हो, उसे असम्भव दोष कहते हैं। जैसे जिसका एक शफ (खुर) हो, उसे गौ कहते हैं। यह लक्षण किसी गौ में घटित न होगा, क्योंकि गौ के दो शफ होते हैं, अतः इसका नाम असम्भव दोष है।

अन्यथाप्युपपत्तिश्चोपपत्तिरन्यथैव च।

१. अर्थात् व्यक्त होने वाला। हस्तलेख में 'अभिव्यङ्ग' पाठ है।

तथानुदय इत्यर्थापत्तेर्दोषास्त्रयो मताः।।८४।।

अर्थ– अर्थापत्ति के तीन दोष होते हैं– १. अन्यथाप्युपपत्ति, २. अन्यथैवोपपत्ति और ३. अनुदय।

प्रमातुश्च प्रमाणस्य दोषो मेयस्य चैव हि।
दोषास्त्रयः प्रमात्रादेः सर्वभ्रान्तिविभावकाः।।८५।।

अर्थ– सर्वभ्रांन्तिकारक तीन दोष होते हैं– १. प्रमातृदोष, २. प्रमाणदोष और ३. प्रमेयदोष। भ्रान्ति तब ही होती है जब थोड़ा बहुत तीनो में दोष हो। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति इसलिए होती है कि प्रमेय जो रज्जु उसके ऊपर किञ्चित् प्रकाश और अन्धकाररूप दोष हैं। और नेत्ररूप प्रमाण में भी वे ही किञ्चित् प्रकाश और अन्धकाररूप दोष हैं। और प्रमातारूप मनुष्य में भयादिदोष हैं। इसी को आगे कहते हैं–

भीतिलोभादिकं मातुर्दोषः काचादिकरस्तथा।
मानस्य चाकचक्यादिर्मेयदोषः प्रकीर्त्तितः।।८६।।

अर्थ– प्रमाता के भय और लोभादिक दोष, प्रमाण के काचादिक दोष और प्रमेय के चाकचक्यादि द्रोष होते हैं।

आगामि सञ्चितं कर्म प्रारब्धञ्चेति भेदतः।
कर्माणि त्रिविधानि स्युश्चित्राण्यखिलदेहिनाम्।।८७।।

अर्थ– अखिल जीवों के त्रिविध कर्म होते हैं– १. आगामि= इस जन्म में क्रियमाण कर्म। २. सञ्चित= जन्मान्तर का साधक जो अवस्थित पूर्व जन्म का कर्म। ३. प्रारब्ध= वर्त्तमान शरीराम्भक कर्म।

ज्ञानात्मा च महात्मा च शान्तात्मा चेति भेदतः।
आत्मा वेदान्तशास्त्रेऽस्मिन् स्यात्त्रिधा परिभाषितः।।८८।।

अर्थ– इस वेदान्त शास्त्र में आत्मा तीन प्रकार के माने गए हैं। वे ये हैं– १. ज्ञानात्मा, २. महात्मा और ३. शान्तात्मा।

नादवर्णकलास्तद्वन्नादादित्रिकमुच्यते।
एवं द्वित्रिक्रमेणोक्ताः संज्ञा वेदान्तिनामिमाः।।८९।।

अर्थ– नाद, वर्ण और कला इसको नादादि त्रिक कहते हैं। इस प्रकार वेदान्तियों की द्वित्रिक क्रम से ये संज्ञाएँ कही गई हैं।

मध्यमा वैखरी चैव पश्यन्ती च परा तथा।
एषा चतुर्विधा ज्ञेया वाणी वेदान्तदर्शने।।९०।।

अर्थ– वेदान्त दर्शन में वाणी चार प्रकार की है– १. मध्यमा, २. वैखरी, ३. पश्यन्ती और ४. परा। मूलाधारचक्रस्थित वायु से अभिव्यंग्य अतिसूक्ष्म और अस्मदादिकों का अप्रत्यक्ष जो शब्द वह परा वाणी है। नाभिचक्रस्थित वायु से अभिव्यंग्य और योगीप्रत्यक्षगोचर जो शब्द वह पश्यन्ती है। हृच्चक्रस्थ वायु से अभिव्यंग्य और उससे भी स्थूल वह मध्यमा वाणी है। और मौखिक वायु से अभिव्यंग्य सर्वश्रुतिगोचर स्थूल जो शब्द वह वैखरी वाणी है।

धर्मार्थकाममोक्षाः स्युः पुरुषार्थचतुष्टयम्।
तथा चतुर्विधः शब्दप्रवृत्तेर्हेतुरुच्यते।।९१।।
गुणः क्रियाप्यथो जातिः सम्बन्धश्चेति भेदतः।
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राः स्युस्तथा वर्णचतुष्टयम्।।९२।।

अर्थ– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। गुण, क्रिया, जाति और सम्बन्ध ये चार शब्दप्रवृत्ति के हेतु कहे जाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। वेदप्रतिपाद्य प्रयोजनवान् जो अर्थ उसे धर्म कहते हैं। प्राणियों से प्रार्थ्यमान जो वित्तादिक वह अर्थ कहा जाता है। मनुष्यों से अभिलषित जो र्स्वगादि उसे काम कहते हैं। निखिल दुःखों की निवृत्ति होकर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का नाम मोक्ष है। जो स्वयं निर्गुण और निष्क्रिय हो और सामान्यवान् हो, उसे गुण कहते हैं जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस इत्यादिक। २४ गुण न्याय शास्त्र में माने गए हैं। वे स्वयं गुणरहित हैं और इनमें क्रिया भी नहीं होती किन्तु इनकी भिन्न–भिन्न जातियाँ हैं। इसी हेतु सामान्यवान् कहलाते हैं। सामान्य नाम जाति का है। संयोग और विभाग का जो असाधारण हेतु उसे क्रिया कहते हैं। क्रिया नाम कर्म का है। कर्म से संयोग या विभाग होता है। अपर और पर भेद से जाति दो प्रकार की है। समानतारूप धर्म को दिखलाने वाली जो बहुतों में व्यापक वस्तुएँ हैं, उसे जाति कहते हैं। यद्वा **"नित्यत्वे सति समानबुद्धिजनकत्वम् अनेकसमवेतत्वं जातित्वम्।"** नित्य हो, समानबुद्धिजनक हो और अनेकों में रहने वाला हो, उसे जाति कहते हैं। न्याय शास्त्र में उसे सामान्य कहते हैं। पर सामान्य को सत्ता भी कहते हैं। संसृष्टबुद्धि और संसृष्ट व्यवहार इन दोनों का जो हेतु उसे सम्बन्ध कहते हैं। ये ही गुण क्रिया जाति और सम्बन्ध चार वस्तुएँ हैं जिनके दिखलाने के लिये जगत् में कोटियों शब्द बने हुए हैं। कोटि–कोटि शब्दों से जो कुछ हम सुनते, देखते, सूंघते इत्यादि व्यवहार करते, वे गुणादिक चार ही हैं, अधिक नहीं। मनुष्यों में यद्यपि भेद नहीं, वह एक ही प्रकार का है, तथापि गुण द्वारा चार वर्णों में विभक्त हुए हैं, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय,वैश्य और शूद्र कहलाते हैं। भारतवर्ष में एक–एक कर्म के ऊपर एक–एक वर्ण मान लिया गया। एक–एक व्यवसाय एक–एक मनुष्यसमुदाय को दिया गया अथवा स्वभाव से

एक-एक व्यवसाय में एक-एक मनुष्यसमुदाय की प्रवृत्ति हुई। उसे वर्ण वा जाति कहने लगे। जो पूजा-पाठ, कथापुराण, पठन-पाठन करने लगे और अपने व्यवसाय के कारण जिनमें शम, दम इत्यादिकों की भी आवश्यकता हुई, वे ब्राह्मण विप्र इत्यादि नामों से पुकारे जाने लगे। धर्म-काम करवाने से ही इनका द्वितीय नाम पुरोहित हुआ। और पुरोहित होने से ही यह आवश्यकता हुई कि ये शमी, दमी और तपस्वी आदि हों। वे क्योंकि अपने घर में अपनी बहु-बेटी के सामने विश्वास पूर्वक उसी को आने-जाने देंगे, जो सब तरह जितेन्द्रिय, तपस्वी, शान्त और तितिक्षु आदि हों। इसी कारण अपने व्यवसाय के वशीभूत हो ब्राह्मणों को शम-दमादि करने पड़े। आज भी देखते हैं कि यदि ये संस्कृत न पढ़ें तो ये पुरोहित नहीं हो सकते। तो इससे सिद्ध है कि इनका व्यवसाय ही संस्कृत पढ़ने की प्रवृत्ति में प्रेरणा करता है। और इन्हें संस्कृत पढ़ना पड़ता है। वैसा ही अन्य तीनों जातियों में भी गुण खोजना चाहिए। भारतवर्ष में कोई भी वर्ण ऐसा न होगा जिसको एक स्वतन्त्र काम न दिया गया हो और उस वर्ण को जो काम दिया गया उसको दूसरा वर्ण नहीं कर सकता। ऐसी राज्यव्यवस्था हुई। इस हेतु यहाँ प्रतिदिन जाति की दृढता खूब संगठित हो गई। उदाहरण ये हैं– ब्राह्मण को छोड़ पुरोहित वृत्ति अन्य कोई भी वर्ण करा नहीं सकता। यदि प्रमादवश कोई अन्य वर्ण से पुरोहिती करवा ही ले तो वह अनुचित और दण्डनीय कर्म समझा जायेगा। इसी प्रकार नापित के अतिरिक्त दूसरा वर्ण केश काटने का काम नहीं कर सकता। डोम के अतिरिक्त बासों के बर्तन कोई अन्य वर्ण नहीं बना सकता। हम मिथिला देश में देखते हैं कि जब उपनयन, विवाह, श्राद्ध और अन्यान्य धर्म-काम उपस्थित होते हैं, उस समय बांस के बासन के लिए डोम को ही बयाना दिया जाता है। इसी प्रकार कुम्भकार, धोबी, वरही (बढ़ई), लौहार, स्वर्णकार, चमार, लवणकार (नौनियां), जुलाहा, धुनियां, गोप (अहीर), मेषपाल (भेड़िहर), कसेरा (कांसे के बर्तन बनाने वाला) इत्यादि आवश्यकतानुसार बहुत से वर्ण भारतवर्ष में बन गए। जिनको बाहरी शत्रुओं के साथ संग्राम करने पड़े वे क्षत्रिय नाम से प्रसिद्ध हुए और अपने व्यवसाय के अनुसार उन्हें शूर-वीर होना पड़ा इत्यादि अनुसन्धेय है। प्रत्येक देश में जलवाय्वादि के कारण मनुष्य में एक–एक विवेक की शाखा विलक्षण होती गई और उसी की उन्नति परम्परा से लोग करते चले आए। यहाँ स्पर्श दोष की ओर लोगों की बुद्धि अधिक गई। इस हेतु अत्यन्त दुर्दशा होने पर भी यहाँ के लोग स्वेतर मुसलमान और अंग्रेज आदि के हाथों की कच्ची वस्तु नहीं खाते। इसके अतिरिक्त मूर्त्तिपूजा, गो-ब्राह्मण-भक्ति, सूर्यादि-देवपूजा, नद्यादि तीर्थ इत्यादि वस्तुओं की ओर भी इनकी बुद्धि अतिगम्भीर

भाव से प्रवृत्त हुई। यहूदी जातियों की बुद्धि अधिकतर मूर्तिपूजा के विरोध, एक ईश्वर की पूजा, बलिदान और सुन्नत इत्यादिक की ओर ही दौड़ी। इसी यहूदी जाति की नकल मुसलमानी धर्म हैं। इसी हेतु मुहम्मद साहिब की बुद्धि बड़ी कटुता के साथ प्रतिमापूजा के विरोध और एक ईश्वर की पूजा की ओर गई और दिनोंदिन मुसलमानों में इसकी अधिक वृद्धि होती गई। ग्रीस देशवासी विद्वानों की बुद्धि अधिकतर राज्यसंगठन की ओर बढ़ती गई। इसी का परिणाम आज सम्पूर्ण यूरोप में विद्यमान है। सम्प्रति यूरोप वासियों का विचार दो शाखाओं में विशेषरूप से फैल रहा है। एक विज्ञान का अन्वेषण और दूसरा राज्यसंगठन। यूरोप के यही दो मुख्य विषय हैं। निस्सन्देह मनुष्य जाति में विचारों का ही महासंग्राम है। इसका मुख्य उदाहरण धर्म सम्प्रदाय हैं। लोग कहते हैं कि सम्प्रति यह उन्नति का युग है किन्तु धर्म सम्प्रदाय में कुछ भी उन्नति नहीं दीखती क्योंकि हिन्दू ,मुसलमान, क्रिस्तान, यहूदी, पारसी, बौद्ध, जैन सब कोई मिल एक मन्दिर में एक रीति से ईश्वर के गान पूजापाठ नहीं कर सकते। और भी अपने–अपने विचार के अनुसार अपने–अपने धर्म सम्प्रदाय के अपने–अपने चिह्न और अपने–अपने मन्तव्य बनाये हुए हैं। हिन्दुओं में शिखासूत्र, चन्दनादि चिह्न और श्राद्ध आदि मन्तव्य बहुत प्रबल हैं। यदि मुसलमान सुन्नत न करावें तो उनकी मुसलमानी नहीं रह सकती। वे कितने ही बड़े कुरान के हाफिज मुहम्मद के अनुयायी क्यों न हों किन्तु वे अपने लड़को की सुन्नत न करावें तो मुसलमान नहीं कहा सकते। वैसा ही क्रिस्तानों का वप्तिस्मा है इत्यादि।

ब्रह्मचर्यञ्च गार्हस्थ्यं वानप्रस्थं तथैव च।
संन्यासश्चेति भेदेन स्युश्चत्वारस्तथाश्रमाः।।९३।।

अर्थ– आश्रम चार हैं– १. ब्रह्मचर्य २. गार्हस्थ्य ३.वानप्रस्थ और ४. संन्यास।

सर्वेषामेव शास्त्राणामनुबन्धचतुष्टयम्।
पृथक्-पृथक् भवत्येतज् ज्ञातं शास्त्रे प्रवर्त्तकम्[१]।।९४।।
सम्बन्धश्चाधिकारी च तथा मेयप्रयोजने।
एवं भेदेन भिन्नं तद् विद्वद्भिः परिभाषितम्।।९५।।

अर्थ– सब शास्त्रों के आदि में पृथक–पृथक् अनुबन्धचतुष्टय होता है। वे ये हैं– १. सम्बन्ध २. अधिकारी ३. विषय और ४. प्रयोजन।

यथा वेदान्तशास्त्रस्य सर्वसाधनसंयुतः।

१. हस्तलेख में 'प्रवर्त्तक' पाठ है।

अधिकारी भवेज्जीवो रागद्वेषादिवर्जितः।।९६।।

अर्थ– जैसे वेदान्त शास्त्र का अधिकारी वह जीव है, जो सर्वसाधन–संयुत और रागद्वेषादिवर्जित हो।

जीवस्य ब्रह्मणश्चैव प्रकृतेश्च समन्ततः।
भेदस्तु विषयो ज्ञेयः सर्वधर्मप्रवर्त्तकः।।९७।।

अर्थ– जीव, ब्रह्म और प्रकृति इन तीनों का जो सर्वथा भेद वह विषय है, जो सर्वधर्मप्रवर्त्तक होता है।

वाच्यवाचकभावादिः सम्बन्धः सम्प्रयोजनम्।
शास्त्रादौ तन्नरैर्ज्ञेयमनुबन्धचतुष्टयम्।।९८।।

अर्थ– वाच्यवाचकभाव आदि अनेक सम्बन्ध होते हैं जैसे वेदान्तशास्त्र वाचक है, और जीव, ब्रह्म, प्रकृति उस शास्त्र के वाच्य हैं। इस हेतु वेदान्तशास्त्र का जीव, ब्रह्म और प्रकृति के साथ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है। प्रयोजन के साथ अधिकारी का प्राप्य-प्रापकभाव सम्बन्ध है, क्योंकि प्रयोजन प्राप्य होता है और अधिकारी प्रापक होता है। विषय के साथ अधिकारी का अनुष्ठात्रनुष्ठेयभाव सम्बन्ध होता है, क्योंकि विषय अनुष्ठेय होता है और अधिकारी अनुष्ठाता होता है। जीव और ब्रह्म में पूज्य-पूजकभाव आदि अनेक सम्बन्ध होते हैं, क्योंकि ईश्वर पूज्य और जीव पूजक है। ईश्वर स्वामी और जीव सेवक है, इसलिये सेव्य–सेवकभाव सम्बन्ध होगा। विद्यार्थी और पुस्तक में [पुस्तक] पाठ्य और विद्यार्थी पाठक है इत्यादि सम्बन्ध ऊहनीय है। और सकल शास्त्रों का प्रयोजन कल्याण होता है। कल्याण बहुत प्रकार के हैं, तथापि लौकिक और पारलौकिक भेद से दो प्रकार के कहे जा सकते हैं १. [व्यावहारिक ज्ञानादि] लौकिक प्रयोजन और २. मोक्षादि पारलौकिक प्रयोजन हैं। शास्त्र के आदि में यह अनुबन्धचतुष्टय सब मनुष्यों को ज्ञातव्य है। अनुबन्धचतुष्टय का वर्णन आगे विस्तार से रहेगा।

विवेकश्च विरागश्च षट्सम्पत्तिस्तथैव च।
मुमुक्षुत्वञ्च चत्वारि साधनानि विदुर्बुधाः।।९९।।

अर्थ– बुधगण कहते हैं कि १. विवेक, २. विराग ३. षट्सम्पत्ति और ४. मुमुक्षुत्व ये चार साधन हैं।

ऋग्यजुस्सामवेदाश्च वेद आथर्वणस्तथा।
वेदाश्चत्वार इत्येते सर्वकर्मनिवर्त्तकाः[१]।।१००।।

अर्थ– सकल शुभ कर्म के साधन १. ऋग्, २. यजुः, ३. साम और ४. आथर्वण वेद हैं।

१. निवर्त्तक शब्द यहाँ निर्वर्त्तक (=साधन) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मनो बुद्धिरहकांरश्चित्तं चेति चतुर्विधम्।
स्यादन्तःकरणं वृत्तिभेदादेकं स्वरूपतः।।१०१।।
संकल्पो निश्चयो गर्वश्चिन्तनं चेति भेदतः।
वृत्तयस्ताश्चतस्रः स्युर्मनआदेर्यथाक्रमम्।।१०२।।

अर्थ– यद्यपि स्वरूप से अन्तःकरण एक ही है, तथापि वृत्तिभेद से १. मन, २. बुद्धि, ३. अहंकार और ४. चित्त भेद से चार हैं। संकल्पविकल्पात्मक वृत्तिमान् अन्तःअरण का नाम मन, निश्चयात्मक वृत्तिमान् अन्तःकरण का नाम बुद्धि, अभिमानात्मक वृत्तिमान् अन्तःकरण का नाम अहंकार और अनुसन्धानात्मक वृत्तिमान् अन्तःकरण का नाम चित्त है।

प्रत्यक्षमनुमानञ्च तथा शब्दोपमानके।
एवं चतुर्विधं प्रोक्तं प्रमाणं मेयसाधकम्।।१०३।।[१]

अर्थ– प्रमेय साधक १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. शब्द और ४. उपमान ये चार प्रमाण हैं। यथार्थज्ञान का नाम प्रमा है। प्रमा के करण का नाम प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमा के करण का नाम प्रत्यक्ष है। लिंगज्ञानजन्य ज्ञान का नाम अनुमिति है। अनुमिति के करण का नाम अनुमान है। शाब्दी प्रमा के करण का नाम शब्द, उपमिति करण का नाम उपमान है।

व्याप्त्याश्रय को लिंग कहते हैं। साध्य और साधन इन दोनों में नियत रूप से रहने वाले का नाम व्याप्ति है अर्थात् व्याप्य ज्ञान से जहाँ व्यापक का ज्ञान हो उसे अनुमिति कहते हैं। वह अनुमिति दो प्रकार की है– १. स्वार्था, २. परार्था। इसमें अपने व्याप्य की प्रतीति के अनन्तर जो व्यापक ज्ञान वह स्वार्था अनुमिति है। तथा स्वयं व्याप्य से व्यापक ज्ञान दूसरे के लिये प्रयुक्त जो वाक्यावयवत्रय उससे दूसरे का जो व्यापकज्ञान उसका नाम परार्था अनुमिति है। १. प्रतिज्ञा, २. हेतु और ३. उदाहरण अथवा १. उदाहरण २. उपनय और ३. निगमन ये तीन अवयव हैं। पक्ष[२] में साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा है जैसे यह पर्वत वह्निमान् है। तृतीयान्त अथवा पञ्चम्यन्त को हेतु कहते हैं जैसे धूमेन, धूमाद् वा। लौकिक और वैदिक पुरुषों को जिस अर्थ में बुद्धिसाम्य हो वह दृष्टान्त है जैसे महानस =पाचकालय। उदाहरण की अपेक्षा करने वाला वैसा अथवा वैसा नहीं इस तरह

१. इस श्लोक को श्रद्धेय गुरुवर ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने अपने हाथ से लिखा है।
२. प्रतिज्ञावाक्य में साध्य का आश्रय पक्ष कहा जाता है, जैसे 'पर्वत वह्निमान् है' इस वाक्य में साध्य= वह्नि का आश्रय पर्वत पक्ष है। दृष्टान्तवाक्य में वह्नि का आश्रय महानस सपक्ष है। विपक्ष सरोवर में वह्नि नहीं है क्योंकि वहाँ हेतु धूम का अभाव है।

का जो उपसंहार उसको उपनय कहते हैं। हेतु के कथन से प्रतिज्ञावाक्य के पुनः कथन का नाम निगमन है।

विनिश्चित्य प्रमाणेन प्रमेयं ब्रह्मलक्षणम्।
यदा ध्यायति तत्काले भवेद् विघ्नचतुष्टयम्।।१०४।।
लयविक्षेपसंज्ञौ द्वौ रसास्वादस्तथैव च।
कषायश्चेति तान् विघ्नान् छिन्द्यात् सम्बोधनादिभिः।।१०५।।

अर्थ– जब प्रमाण से प्रमेय ब्रह्म का निश्चय कर ध्यान करने लगता है, तब चार विघ्न उपस्थित होते हैं, वे ये हैं– १. लयविघ्न, २. विक्षेपविघ्न, ३. रसास्वादविघ्न और ४. कषायविघ्न। कार्यों के उत्पादन में जो प्रयोजकीभूत धर्म उसका जो विघटक (विनाशक) उसे विघ्न कहते हैं। इसी को प्रतिबन्धक भी कहते हैं। यहाँ ध्यान शब्द से समाधि का ग्रहण है। उस समाधि के उत्पादन में सहायक जो धर्म उसका जो विघटक उसे समाधि-प्रतिबन्ध कहते हैं। समाधि काल में निद्रा का पुनः-पुनः होना लयविघ्न है। पुनः-पुनः विषयों[1] का अनुसन्धान करना विक्षेप नाम का विघ्न है। रागद्वेषादि के कारण चित्त का जो स्तब्धीभाव उसे कषाय कहते हैं। समाधि के आरम्भ समय में ब्रह्मानन्द की प्राप्ति न होने पर भी स्थूलवृत्तियों के न रहने से जो एक प्रकार के आनन्द की प्राप्ति है, उसे रसास्वाद कहते हैं। इन चारों विघ्नों को सम्बोधन[2] आदि व्यापारों से छिन्न-भिन्न करे अर्थात् प्राणायामादि द्वारा लयाभिमुखचित्त को पुनः-पुनः उत्थापित करे, विषयों में विविध दोष दिखलाकर विक्षिप्त चित्त को शान्त करे, कषाययुत चित्त को अच्छी तरह से विचार करे कि क्योंकर यह स्तब्ध हो जाता है और समाधि काल में किसी अलौकिक रस का भान भी होने लगे तो उसी के स्वाद में न भूल जाय। इत्यादि उपायों से यथाशक्ति और यथासम्भव ध्यानकालीन सकल विघ्नों को दूर किया करे।

रागद्वेषादिदोषाणां शमार्थं चाथ भावयेत्[3]।
मैत्र्यादिभावानां सर्वभूतेषु बुद्धिमान्नरः।।१०६।।
मैत्री च करुणा चैवोपेक्षा च मुदिता तथा।
एवञ्चतुर्विधैवेयं मैत्र्यादेर्भावना भवेत्।।१०७।।

अर्थ– रागद्वेषादि दोषों के शमनार्थ सब भूतों में मैत्र्यादि भावना का अनुष्ठान करे। वे ये हैं– १. मैत्री, २. करुणा, ३. उपेक्षा और ४. मुदिता। सुखी

१. हस्तलेख में 'विषयी' पाठ है। २. सम्बोधन= समझाना, उद्‌बुध करना, उठाना।
३. हस्तलेख में 'चान्य भापयेत्' पाठ है।

पुरुषों के साथ मैत्री की, दुःखी पुरुषों के साथ करुणा की, पापियों में उपेक्षा की और धर्मात्माओं में मुदिता (आनन्दिता) की भावना करे।

जरायुजाण्डजः स्वेदजोद्भिज्जाख्यश्चतुर्विधः।
भूतग्रामो बुधैः प्रोक्तो वैचित्र्यं कर्मभोगतः।।१०८।।
ब्रह्मवेदनयोग्यं स्याच्छरीरं तत्र मानवम्।
प्रायो जरायुजं नान्यद् ब्रह्मार्थित्वाद्यसम्भवात्।।१०९।।

अर्थ– अपने-अपने कर्मानुसार विचित्रताप्राप्त चार प्रकार के प्राणी होते हैं, वे ये हैं– १. मनुष्य पश्वादि प्राणी जरायुज, २. पक्षिपन्नगादि प्राणी अण्डज, ३. यूकालिक्षादि प्राणी स्वेदज और ४. तरुगुल्मादि प्राणी उद्भिज्ज कहलाते हैं। उनमें केवल मानव शरीर ही ब्रह्मज्ञान योग्य है, अन्य जरायुज [आदि] नहीं।

कुटीचकरस्तु प्रथमो यतिरन्यो बहूदकः।
हंसः परमहंसश्च यतयः स्युश्चतुर्विधाः।।११०।।
यतमानातिरेकाख्यावेकेन्द्रियवशीकृती।
चत्वारः स्युरिमे भेदा वैराग्यस्यापरस्य च।।१११।।

अर्थ– १. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस और ४. परमहंस भेद से यति चतुर्विध हैं। पूर्वद्विविध संज्ञा प्रकरण में पर और अपर भेद से वैराग्य द्विविध कहा गया है[1]। उनमें अपर वैराग्य १. यतमान वैराग्य, २. व्यतिरेक वैराग्य, ३. एकेन्द्रिय वैराग्य, ४. वशीकार वैराग्य इन भेदों से चार हैं। इस संसार में यह सार यह असार है इस प्रकार के विवेक का नाम यतमान वैराग्य है। चित्त के दोषों में से कौन पक्व और कौन अपक्व हैं, उनको पृथक्-पृथक् जानकर उनके त्याग की चेष्टा व्यतिरेक वैराग्य है। अन्यान्य इन्द्रियों को वश में कर लेने पर भी मन का वशीभूत न होना और उसके वश में करने की चेष्टा एकेन्द्रिय वैराग्य है। और ऐहिक और पारलौकिक सकल सुखों को त्यागने का नाम वशीकार है।

अध्यात्मविद्याध्ययनं सताञ्च,
संगो निरासोऽखिलवासनानाम्।
प्राणप्रवाहस्य शनैर्निरोधो
युक्तिरिमाश्चित्तजये वदन्ति।।११२।।[2]

अर्थ– चित्त के जय के लिये इन चार युक्तियों को कहते हैं, वे ये हैं– १. अध्यात्मविद्या का अध्ययन, २. सज्जनों का संग, ३. अखिल वासनाओं का त्याग

१. द्र०––पू० पृ० २०। २. इस श्लोक को लिपिकर ने दो श्लोक समझ कर हस्तलेख में श्लोकार्धों पर १११-११२ संख्याएँ लिख दी हैं।

और ४. प्राणप्रवाह का धीरे–धीरे निरोध।

शीतोष्णकठिनाश्चाथ मृदुश्चेति चतुर्विधः।
स्पर्शः प्राज्ञैः सुविज्ञेयो धर्मो वातानलाब्भुवाम्।।११३।।

अर्थ– स्पर्श चार प्रकार का है– १. पृथ्वी का कठिन, २. जल का शीतल, ३. अग्नि का उष्ण और ४. वायु का मृदु है। त्वगिन्द्रियमात्र से ग्राह्य गुण का नाम स्पर्श है।

परमात्मा वासुदेवाख्यो जीवः संकर्षणाभिधः।
प्रद्युम्नाख्यं मनश्चैव गर्वोऽनिरुद्धसंज्ञकः।।११४।।
चतुर्व्यूहमिदं प्रोक्तं वासुदेवादिलक्षणम्।
श्रीरामानुजमध्वाद्यैः प्रविविच्य स्वदर्शने।।११५।।

अर्थ– श्री रामानुज और मध्व इत्यादि वैष्णव मत में चतुर्व्यूह कहा गया है, वह यह है– १. परमात्मा वासुदेव, २. जीव संकर्षण, ३. मन प्रद्युम्न और ४. अभिमान अनिरुद्ध। इनके मत में परमात्मा वासुदेव से जीव संकर्षण उत्पन्न होता है, उससे मन प्रद्युम्न उत्पन्न होता है और उससे अभिमान अनिरुद्ध उत्पन्न होता है।

रामानुजीयसिद्धान्ते ज्ञेया जीवाश्चतुर्विधाः।
बद्धा मुमुक्षवो मुक्ता नित्यमुक्ताश्च केचन।।११६।।
नित्यबद्धा अपि प्रोक्ता जीवा माध्वैः स्वदर्शने।
परं रामानुजादीनां मतेऽयुक्तमिदं मतम्।।११७।।
एवञ्चतुर्विधा भिन्नाः संज्ञाः सम्यगुदाहृताः।
पञ्चपञ्चप्रकाराश्च[1] प्रोच्यन्ते साम्प्रतं त्विमाः।।११८।।

अर्थ– रामानुज के सिद्धान्त में जीव चतुर्विध हैं– १. बद्ध, २. मुमुक्षु, ३. मुक्त और ४. नित्यमुक्त। माध्वाचार्य नित्यबद्ध जीव भी मानते हैं, किन्तु रामानुजादिकों के मत में यह मत अयुक्त है। इस प्रकार चतुर्विध संज्ञाएँ यथासम्भव बतलाई गई हैं। आगे पञ्चविध संज्ञाएँ कही जायेंगी।

कोशाः पञ्च समाख्याताश्छादकत्वान्निजात्मनः।
अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति तन्मयाः।।११९।।

अर्थ– आत्मा के आच्छादक पाँच कोश कहे गए हैं– १. अन्नमय, २. प्राणमय, ३. मनोमय, ४. विज्ञानमय और ५. आनन्दमय। यह स्थूल शरीर मातृपितृभुक्त अन्न से जायमान जो शुक्रशोणित उससे उत्पन्न होता है, अन्नमय

१. हस्तलेख में 'पञ्चपञ्चप्रकारश्च' पाठ है।

कोश है। कर्मेन्द्रियसहित प्राण का नाम प्राणमय कोश है। कर्मेन्द्रियसहित मन का नाम मनोमय कोश है। ज्ञानेन्द्रियसहित बुद्धि का नाम विज्ञानमय कोश है और समाधिजन्य आह्लादसहित विवेक का नाम आनन्दमय कोश है।

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रायश्चित्तं तथाविधम्।
निषिद्धञ्चेति कर्माणि पञ्च स्युः सर्वदेहिनाम्।।१२०।।

अर्थ– सकल मनुष्यों के १. नित्य, २. नैमित्तिक, ३. काम्य, ४. प्रायश्चित्त और ५. निषिद्ध भेद से कर्म पाँच हैं। शुभाशुभ-अदृष्टजनक व्यापार का नाम कर्म है। जिसके न करने से प्रत्यवाय हो, उसे नित्य कर्म कहते हैं, जैसे सन्ध्या–गायत्र्यादि। किसी निमित्त से जो किया जाय, वह नैमित्तिक कर्म है, जैसे पुत्रेष्ट्यादि। पापक्षय के साधन का नाम प्रायश्चित्त कर्म है, जैसे कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत। स्वर्गादि इष्टसाधन का नाम काम्यकर्म है, जैसे ज्योतिष्टोमादि यज्ञ है। प्रत्यवायजनक कर्म का नाम निषिद्ध है, जैसे गोहत्यादि।

कर्मणां साधकानि स्युः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि देहिनाम्।।१२१।।
व्यापाराः पञ्चधा चैषां स्मृताः प्रातिस्थिकाः क्रमात्।
उक्त्यादानविहारोत्सर्गानन्दाः सर्वसम्मताः।।१२२।।

अर्थ– कर्म के साधक पांच कर्मेन्द्रिय हैं– १. वाणी, २. हस्त, ३. पाद, ४. पायु और ५. उपस्थ। इन पाँचों के पाँच व्यापार होते हैं। भाषण का साधन वागिन्द्रिय, ग्रहण का साधन हस्तेन्द्रिय, विहार का साधन पादेन्द्रिय, मलत्याग का साधन पायु इन्द्रिय, मूत्रत्याग का साधन उपस्थेन्द्रिय।

ज्ञानेन्द्रियाण्यथो पञ्च प्रोक्तानि विदुषां वरैः।
घ्राणत्वक्श्रोत्ररसनचक्षुःसंज्ञानि सन्ततम्।।१२३।।
शब्दस्पर्शौ तथा रूपरसगन्धा इतीदृशाः।
पञ्चशब्दादयः प्रोक्ताः क्रमाच्छ्रोत्रादिगोचराः।।१२४।।

अर्थ– ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं– १. घ्राण, २. त्वक्, ३. श्रोत्र, ४. रसना और ५. चक्षुः। इन पाँचों के पाँच व्यापार हैं– १. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस और ५. गन्ध। श्रोत्रमात्र से ग्राह्यगुण का [नाम] शब्द, वागिन्द्रियमात्रग्राह्यगुण का [नाम] स्पर्श, चक्षुरिन्द्रियमात्रग्राह्यगुण का नाम रूप, जिह्वामात्रग्राह्यगुण का नाम रस, घ्राणमात्रग्राह्यगुण का नाम गन्ध है।

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः।
प्राणाख्याः पञ्च कर्णादौ मुख्या वेदे प्रकीर्त्तिताः।।१२५।।

नागः कूर्मस्तथा देवदत्तश्चाथ धनञ्जयः।
कृकलश्चेति विज्ञेयास्तथा पञ्चोपवायवः।।१२६।।

अर्थ– १. प्राण २. अपान ३. समान ४. उदान और ५. व्यान, ये पाँच वायु प्राण नाम से प्रसिद्ध हैं। कर्णादि में रहने वाले हैं। नाग, कूर्म, देवदत्त, धनञ्जय और कृकल ये पांच उपवायु हैं। प्राग्गमनवान् पाय्वादि स्थानवर्त्ती वायु का नाम अपान है। विष्वग्गमनवान् सर्वशरीरवर्त्ती वायु का नाम व्यान, ऊर्ध्वगमनवान् कण्ठवर्त्ती वायु का नाम उदान, खाये पीये अन्नपानादिक का समीकरण करने वाला नाभिस्थानवर्त्ती जो वायु वह समान है। उद्गारकर वायु नाग, उन्मीलनकर वायु कूर्म, क्षुधाकर वायु कृकल, विजृम्भणकर वायु देवदत्त, और सर्वदेहव्यापी मरणकालपर्यन्त स्थायी वायु धनञ्जय कहलाता है।

खं वाय्वाग्न्यब्भुवः पञ्च स्थूलभूतानि चैव हि।
शब्दादिसूक्ष्मभूतानि तन्मात्राख्यानि पञ्च च।।१२७।।

अर्थ– १. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल और ५. पृथिवी ये स्थूलभूत हैं और १. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस और ५. गन्ध ये पाँच सूक्ष्मभूत और तन्मात्र कहलाते हैं। आकाश का गुण शब्द, वायु के गुण शब्द और स्पर्श, अग्नि के गुण शब्द-स्पर्श-रूप, जल के गुण शब्द-स्पर्श-रूप-रस और पृथिवी के गुण शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध हैं। पञ्चीकृत भूत स्थूलभूत कहलाते हैं, अपञ्चीकृत शब्दादि तन्मात्र कहलाते हैं अर्थात् शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र और गन्ध-तन्मात्र ये सूक्ष्मभूत कहलाते हैं।

अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः।
इति पञ्च यमाः प्रोक्ता विज्ञैर्वेदान्तयोगयोः।।१२८।।

अर्थ– वेदान्त और योगशास्त्र में १. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं। प्राण-वियोग-प्रयोजक-व्यापार-रहित का नाम अहिंसा है अथवा मन, कर्म और वचन से परपीड़ा न करना अहिंसा है। वचन और मन में यथार्थता का नाम सत्य है। परद्रव्य का हरण न करना अस्तेय है। उपस्थेन्द्रिय का संयम करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। भोग-साधनों का संग्रह न करना अपरिग्रह है।

तपःशौचे च सन्तोषः स्वाध्यायश्चेशचिन्तनम्।
इत्येते नियमाः पञ्च प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः।।१२९।।
क्षिप्ता मूढा च विक्षिप्तैकाग्रा रुद्धा च पञ्चमी।
एतास्तु योगिराजानां मताश्चित्तस्य भूमयः।।१३०।।

अर्थ– तप, शौच, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर–चिन्तन ये पाँच नियम कहलाते हैं। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता का नाम तप, शरीर और मन की शुद्धि का शौच, यथालाभतुष्टि[1] का नाम सन्तोष, पवित्र वेदादि मन्त्रों का अध्ययन [स्वाध्याय] और ईश्वर की स्तुति प्रार्थनादिक का नाम ईश्वर–चिन्तन है।

क्षिप्ता, मूढा, विक्षिप्ता, एकाग्रा और रुद्धा ये पाँच चित्त की भूमियाँ हैं। चित्त की अवस्था विशेष का नाम यहाँ भूमि है। विषयों की ओर अत्यन्त दौड़ने वाले चित्त की क्षिप्तावस्था होती है। निद्रातन्द्रादिकों से ग्रस्ता अवस्था का नाम मूढा भूमि है। कभी विषय और कभी ध्यान की ओर गमन करने वाले चित्त की विक्षिप्तावस्था होती है। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था वाले चित्त की एकाग्रावस्था होती है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था वाले चित्त की निरुद्धावस्था होती है।

नित्यो नैमित्तिकश्चाथ लयो दैनन्दिनस्तथा।
महांश्चात्यन्तिकस्तद्वत् पञ्चैते प्रलया मताः।।१३१।।

अर्थ– वेदान्तिगण पाँच प्रलय मानते हैं– १. नित्य, २. नैमित्तिक, ३. दैनन्दिन ४. महाप्रलय और ५. आत्यन्तिकप्रलय। सकल भावकार्य के विनाश का नाम प्रलय है। प्राणियों की सुषुप्ति–अवस्था नित्य प्रलय, **चतुर्युगसहस्त्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते**"[2] एक सहस्र चतुर्युग ब्रह्मा का एक दिन होता है। उस एक दिन में चतुर्दश मनुओं और चतुर्दश इन्द्रों का आधिपत्य होता है। उसमें एक-एक मनु और इन्द्र के अवगत होने पर दूसरे-दूसरे मनु और इन्द्र का अधिकार आता है। उस अधिकार का जो अन्तराल काल है उसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं और इसी का नाम मन्वन्तर प्रलय भी है। इसी के अन्तर्गत युगप्रलय भी है। ब्रह्मा की सुषुप्ति दैनन्दिन प्रलय है ब्रह्मा की नाशावस्था ब्रह्मप्रलय और महाप्रलय कहलाता है। इस प्रलय में केवल अज्ञान रह जाता है। अज्ञानसहित सकल भाव कार्यों के विनाश का नाम आत्यन्तिक प्रलय है।

भ्रमाः पञ्च समाख्याताः सर्वानर्थकरास्त्विमे।
जीवोऽयं ब्रह्मणो भिन्नः कर्तृत्वादि च वास्तवम्।।१३२।।
शरीरत्रयसंगी चैवात्मा संराजते सदा।
जगद्धेतुस्तथा ब्रह्म विकारैर्बहुभिर्युतम्।।१३३।।
कारणाच्च[3] पृथक् सृष्टिः सत्या नैवात्र संशयः।
इत्येतांस्तु भ्रमान् छिन्द्याद् दृष्टान्तैः पञ्चभिः पुमान्।।१३४।।

१. हस्तलेख में 'पुष्टि' पाठ है। २. तुलना करें–मनुस्मृति प्रथम अध्याय, सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकार तथा भगवद्गीता अष्टम अध्याय। ३. हस्तलेख में 'कारणा च' पाठ है।

अर्थ– नवीन वेदान्तियों के मत में सर्वानर्थकारी ये पाँच भ्रम कहे जाते हैं– १. ब्रह्म से जीव भिन्न है, २. कर्तृत्वादि वास्तव है, ३. यह आत्मा सदा शरीरत्रयसंगी होता है, ४. ब्रह्म इस जगत् का कारण है, इस हेतु वह बहुत विकारों से युक्त है, ५. कारण से यह सृष्टि पृथक् और सत्य है। इन पाँचों भ्रमों को पाँच दृष्टान्तों से छिन्न करना चाहिए।

प्रतिबिम्बं न चात्यन्तं भिन्नं बिम्बाद् यथा तथा।
ब्रह्मणो न भिदा जीवे एवं पूर्वभ्रमं त्यजेत्।।१३५।।
लोहिस्फटिकाख्येन दृष्टान्तेन निवारयेत्।
कर्तृत्वादेर्यथार्थत्वभ्रमं तद्वद्द्वितीयकम्।।१३६।।

अर्थ– जैसे बिम्ब से अत्यन्त भिन्न प्रतिबिम्ब नहीं होता, वैसे जीव में ब्रह्म का भेद नहीं, क्योंकि ब्रह्म बिम्ब और जीव प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में भेदरूप भ्रम को दूर करे। जैसे स्फटिक रक्तकुसुमादिक के संसर्ग से रक्त प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में स्फटिक रक्त नहीं, तद्वत् जीवात्मा में कर्तृत्वादि वास्तव नहीं। इस प्रकार द्वितीय भ्रम का निराकरण करे।

पुरस्कृत्याथ दृष्टान्तं घटाकाशात्मकं तथा।
शरीरत्रयसंगीत्वं भ्रमं[1] छिन्द्यादुदारधीः।।१३७।।
चतुर्थं रज्जुसर्पात्मदृष्टान्तेन प्रतिक्षिपेत्।
लोहखड्गादिदृष्टान्तैः पञ्चमञ्चाथ शेषतः।।१३८।।

अर्थ– तृतीय भ्रम का निराकरण इस प्रकार करे कि जैसे महाकाश से भिन्न घटाकाश नहीं, इसी प्रकार जीवात्मा का उपाधिमात्र शरीरत्रय है। चतुर्थ भ्रम का निराकरण रज्जुसर्पात्मक दृष्टान्त से करे। पञ्चम भ्रम का लोहखड्गादि दृष्टान्तों से करे।

शुक्तौ रूप्यं तथा रज्जौ सर्पः स्थाणौ पुमानथो।
आकाशे नीलिमा चैव मरीच्यामुदकं तथा।।१३९।।
इत्येते पञ्च दृष्टान्ता वेदान्तज्ञैरुदाहृताः।
ब्रह्मण्यस्य प्रपञ्चस्य भ्रान्त्या भानं स्वरूपतः।।१४०।।

अर्थ– शुक्ति में रूप्य का, रज्जु में सर्प का, स्थाणु में पुरुष का , आकाश में नीलिमा का, मरीची में जल का भ्रम होता है। वेदान्त शास्त्र में ये पाँच भ्रम के दृष्टान्त हैं। [ब्रह्म में इस प्रपञ्च की स्वरूपतः प्रतीति भ्रान्ति से है।][2]

१. हस्तलेख में 'भ्रममं' पाठ है। २. कोष्ठान्तर्गत पाठ हस्तलेख में नहीं है।

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।
पञ्च पर्वाण्यविद्याया विद्यन्ते विदुषा मताः।।१४१।।

अर्थ– १. तम, २. मोह, ३. महामोह, ४. तामिस्र और ५. अन्ध ये पाँच अविद्या के पर्व कहे जाते हैं।

अविद्या चास्मिता रागो द्वेषश्चाभिनिवेशकः।
नामान्तरेण चाख्याता पञ्च क्लेशा इमे क्रमात्।।१४२।।
यद्वाविद्यास्मितासूयास्पर्द्धा चाभिनिवेशकः।
पञ्च क्लेशाः स्युरेतांश्च ब्रह्मज्ञानान्निवर्त्तयेत्।।१४३।।

अर्थ– उन्हीं अविद्या के पर्वों के १. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष और ५. अभिनिवेश ये पाँच नामान्तर हैं और वे क्लेश कहलाते हैं। इनकी निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से करनी चाहिए।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिख्यातिरेव च।
तथा ख्यातिरनिर्वाच्या ह्यन्यथाख्यातिरप्यथा।।१४४।।

अर्थ– ख्यातियाँ पाँच हैं– १. आत्मख्याति, २. असत्ख्याति, ३. अख्यातिख्याति, ४. अनिर्वाच्याख्याति और ५. अन्यथाख्याति। यहाँ ख्याति शब्द भ्रमवाचक है। विज्ञानवादी [बौद्ध] के मत में आत्मख्याति है। विज्ञान ही आत्मज्ञान है, उसी का अध्यस्तपदार्थाकार से भान होता है। शून्यवादी [बौद्ध] के मत में असत्ख्याति है। शुन्य जो असत् उसी का अध्यस्तपदार्थाकार से भान होता है। प्राभाकर [मीमांसक] के मत में अख्याति है। भ्रम ज्ञान का ही अभाव होता है। भाट्ट [मीमांसक] और वैशेषिक के मत में अन्यथाख्याति है। तदभाववान् वस्तु में तत्प्रकारक भान का नाम अन्यथाख्याति है। अद्वैत मत में अनिर्वचनीया ख्याति है। सदसदादि प्रकारों से अनिर्वाच्य जो अध्यस्तपदार्थ उसके भान का नाम अनिर्वचनीया ख्याति है। इस प्रकार पञ्चविध संज्ञाओं का प्रस्तार समाप्त हुआ।

कामः क्रोधस्तथा लोभो मदमोहौ च मत्सरः।
गणोऽयमरिषड्वर्गो वेदान्ते परिभाषितः।।१४५।।
स्युः षड्भावविकाराश्च जनिश्चास्तित्ववर्धने।
तथा चापक्षयो नाशः परिणाम इतीदृशाः।।१४६।।
त्वङ् मांसं रुधिरं मेदो मज्जास्थीनीति भेदतः।
घटिकाः स्थूलदेहस्य हीमाः षट् कोशिका मताः।।१४७।।

अर्थ– काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर ये छह गण वेदान्त में

अरिषड्वर्ग कहलाते हैं। कामादिकों का लक्षण पूर्व[1] में कहा गया है और असुरसम्पन्ननिरूपण[2] में कहे जायेगें।

भावविकार छह हैं– १. जनि, २. अस्तित्व, ३. वर्द्धन, ४. अपक्षय, ५. नाश और ६. परिणाम। कार्य के प्रथमक्षण की सत्ता के सम्बन्ध का नाम जनि (उत्पति) है, जातकार्य का जो अवस्थानक्षण उसे अस्तित्व कहते हैं। शरीर के बहुत अवयवों के साथ सम्बन्ध का नाम वर्द्धन (वृद्धि) है। पूर्व पूर्वरूप के विध्वंस से रूपान्तर की प्राप्ति का नाम परिणाम है। बहुत अवयवों के साथ विश्लेष का नाम अपक्षय है। चरम शरीर के साथ प्राणसंयोग के ध्वंस का नाम नाश है। यह क्रमपूर्वक भावविकारों का लक्षण है। भाव इसका यह है कि प्रत्येक वस्तु की छह दशाएँ होती हैं– १. प्रथम वह उत्पन्न होती है। २. तब उसका अस्तित्व कहा जाता है। ३. तब वह बढ़ने लगती है। ४. तब कुछ रूप में परिवर्तन होने लगता है। ५. तत्पश्चात् उसमें कुछ क्षय होने लगता है। ६. तब उसका नाश हो जाता है। स्थूल देह के घटक ये छह कोश हैं– १. त्वचा, २. मांस, ३. रुधिर, ४. मेद, ५. मज्जा और ६. अस्थि।

जरा च मरणं चैव क्षुत्पिपासे तथैव च।
शोकमोहाविति त्वेवं[3] समाख्याताः षडूर्मयः।।१४८।।
उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च[4] लिंगषट्कमिदं मतम्।।१४९।।

अर्थ– १. जरा, २. मरण, ३. क्षुधा, ४. पिपासा, ५. शोक और ६. मोह ये छह ऊर्मियाँ (तरंगें) हैं।

१. उपक्रमोपसंहार, २. अभ्यास, ३. अपूर्वता, ४. फल, ५. अर्थवाद और ६. उपपत्ति ये छह लिंग कहलाते हैं। लीन अर्थ के प्रकाशक को लिंग कहते हैं। प्रकरणप्रतिपाद्य जो अर्थ उसको आदि और अन्त दोनों में कहना चाहिए। इसका नाम उपक्रमोपसंहार है। उपक्रम= आदि। उपसंहार= अन्त। ये प्रथम लिंग हैं। प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थ का पुनः-पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है। प्रकरणप्रतिपाद्य का मानान्तर की अविषयता का नाम अपूर्वता है। प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थ को सुन कर उसके ज्ञान से उस वस्तु की प्राप्ति प्रयोजन ही फल है। प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थ की प्रशंसा का नाम अर्थवाद है। वह अर्थवाद तीन प्रकार का होता है– १. गुणवाद, २. अनुवाद और ३. भूतार्थवाद। उनमें विरुद्धार्थप्रतिपादक को गुणवाद

१. द्र०– पू० पृ० ३३। २. द्र॰ पृ॰– ६३। ३. हस्तलेख में 'तेवं' पाठ है। ४. हस्तलेख में 'अर्थवादोपपत्तिश्च' पाठ है।

कहते हैं जैसे यूप[1] आदित्य है। उक्त अर्थ का अन्य शब्दों से पुनः कथन का नाम अनुवाद है जैसे "जुहोति= हवनं करोति" इत्यादि। प्रमाणान्तर परिप्राप्त जो वस्तु उसके कथन का नाम भूतार्थवाद है जैसे "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" अग्निहिम की औषध है। प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थों का दृष्टान्तों से प्रतिपादन करना उपपत्ति कहलाती है। इन षड्विध लिंगों से निज-निज ग्रन्थों को भूषित करना चाहिए।

शिशुत्वं बाल्यकौमारे कैशोरं यौवनं[2] तथा।
वार्द्धक्यं चेति भेदेन षडवस्थाः प्रकीर्त्तिताः।।१५०।।
वैशेषिकं तथा न्यायशास्त्रं सांख्याभिधं तथा।
योगशास्त्रञ्च मीमांसे शास्त्राण्येवं विदुर्बुधाः।।१५१।।
वैखानसं च सत्याषाढीयं कात्यायनं तथा।
सूत्रं बौधायनं तद्वच्चापस्तम्बाश्वलायने।।१५२।।

अर्थ– १. दन्तजनन पर्यन्त शिशुत्व २. पञ्च वर्ष तक कौमार, ३. दश वर्ष तक बाल्य, ४. पञ्चदश वर्ष तक कैशोर, ५. सौलह वर्ष से लेकर साठ (६०) वर्ष तक यौवन और ६. तत्पश्चात् वार्द्धक्य ये छह शरीर की अवस्थाएँ कही गई हैं।

१. वैशेषिक, २. न्याय, ३. सांख्य, ४. योग, ५. पूर्वमीमांसा, ६. उत्तरमीमांसा इन्हें छह शास्त्र कहते हैं।

१. वैखानस, २. सत्याषाढीय, ३. कात्यायन, ४. बौधायन, ५. आपस्तम्ब और ६. आश्वलायन ये छह सूत्र श्रौतसूत्र कहलाते हैं।

शिक्षा व्याकरणं ज्योतिश्छन्दःकल्पनिरुक्तयः।
एतानि स्युः षडंगानि वेदराशेर्निजांगिनः।।१५३।।
स्नानं सन्ध्या-जपो होम आतिथ्यं देवतार्चनम्।
वैश्वदेवस्तथैतानि प्राहुः कर्माणि षड् बुधाः।।१५४।।

अर्थ– १. शिक्षा, २. व्याकरण, ३. ज्यौतिष, ४. छन्दः, ५. कल्प और ६. निरुक्ति ये छह वेद के अंग कहलाते हैं। १. स्नान, २. सन्ध्या-जप, ३. होम, ४. आतिथ्य, ५. देवतार्चन और ६. वैश्वदेव ये षट्कर्म कहलाते हैं।

पूर्वोक्तानि प्रमाणानि चत्वारि द्वे च नूतने।
आक्षेपानुपलम्भाख्ये षट् सम्भूय भवन्ति हि।।१५५।।

अर्थ– १. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३. उपमान, और ४. शब्द ये पूर्वोक्त[3] चार तथा आक्षेप= अर्थापत्ति और अनुपलम्भ = अनुपलब्धि ये दो मिलकर छह प्रमाण

१. श्रौतयज्ञों में पशु को बांधने के लिए लकड़ी का लम्बा खूंटा 'यूप' कहलाता है। २. हस्तलेख में 'योगनं' पाठ है। ३. द्र॰––पू॰ पृ॰ ३७।

होते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान पूर्व[1] में कहे गये। उपमिति प्रमा के कारण का नाम उपमान प्रमाण है। प्रत्यक्ष गवयादिधर्मिक जो सादृश्यज्ञान उसे उपमान कहते हैं। अर्थात् उपमा से जिसका ज्ञान हो वह उपमान। वाक्यकरणिका प्रमा का नाम शाब्दी प्रमा है। वह लौकिकी और वैदिकी भेद से दो प्रकार की है। उस शाब्दी प्रमा के करण वाक्य का नाम प्रमाण है। अनुपपद्यमान अर्थज्ञान से उसके उपपादिकीभूत अर्थान्तर की कल्पना करना अर्थापत्ति कहलाती है। वह दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति भेद से दो प्रकार की है। उनमें अनुपपद्यमान जो दृष्टार्थ ज्ञान उससे तदुपपादिकीभूत अर्थान्तर की कल्पना करना दृष्टार्थापत्ति है। 'यह मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता' इतने कहने से रात्रिभोजन की कल्पना की जाती है क्योंकि दिन और रात्रि दोनों कालों में जो भोजन न करेगा, वह कदापि मोटा न होगा। इस हेतु पीनत्व (मोटापन) की प्राप्ति के लिये रात्रि भोजन की कल्पना करना अत्यावश्यक है। इसी का नाम दृष्टार्थापत्ति है। संस्कृतवाक्यानुसार इसकी संगति इस प्रकार होती है– दिन-भोजन न करने वाले में रात्रि-भोजन के विना अनुपपद्यमान जो पीनत्व (मोटापन) उसके देखने से उस का उपपादक जो अर्थान्तर रात्रिभोजन उसकी कल्पना दृष्टार्थापत्ति है। इसमें पीनत्व (मोटापन) ज्ञान करण और रात्रिभोजन कल्पना फल है। अनुपपद्यमान= अयुक्तिसंगत= असम्भव अर्थ के श्रवण से उसके उपपादिकीभूत अर्थ की कल्पना करना श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। वह दो प्रकार की है– अभिधानानुपपत्ति और दूसरी अभिहितानुपपत्ति। इनमें अनुपपद्यमान जो वाक्यैकदेश उसके श्रवण से तदुपपादिकीभूत अर्थान्तर की जो कल्पना उसे अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। जैसे 'द्वार को' इतने वाक्य के सुनने से अर्थ कुछ नहीं होता। इस हेतु 'बन्द करो' या 'खोलो' इत्यादि पदार्थान्तर की कल्पना करना आवश्यक हो जाता है। कल्पना विना अर्थ की उपपत्ति= प्राप्ति नहीं होती। जिस अर्थ की प्राप्ति न हो उसे ही अनुपपद्यमान अर्थ कहते हैं। इस हेतु अनुपपद्यमान वाक्यैकदेश सुनकर उसको पूर्ण करने के लिए दूसरे पद की योजना करना श्रुतार्थापत्ति है। तथा अनुपपद्यमान समग्र वाक्य के श्रवण से तदुपपादिकीभूत अर्थान्तर की कल्पना अभिहितानुपपत्ति कहलाती है। जैसे– 'तरति शोकमात्मवित्' आत्मवित् पुरुष शोक को तैर जाते हैं। इस वाक्य में शोक का मिथ्यात्व कल्पित करना पड़ता है। और शोक ज्ञान से निवर्त्तनीय है, यह मानना पड़ता है। शोक ज्ञान से निवृत्त होता है, इतने श्रवण से जब तक शोक का मिथ्यात्व कल्पित न किया जाये, तो अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। इस हेतु से 'तरति शोकमात्मवित्' इस सम्पूर्ण वाक्य को सुनने से भी अर्थ

१. द्र॰– पृ॰ ३७।

का लाभ नहीं होता। अतः शोक का मिथ्यात्वकल्पना ऊपर से लाना पड़ता है, इस हेतु इसका नाम अभिहितानुपपत्ति है। अभिहित= कथित की अनुपपत्ति= अप्राप्ति। अनुपलब्धि अभाव का नाम है। यह भी एक प्रमाण इसलिए माना गया है कि इससे भी यथार्थज्ञान होता है। जैसे किसी ने पूछा कि मेरा भाई यहाँ है? उत्तर मिला नहीं। 'नहीं' सुनने से भी अपने भाई के इस स्थान में न रहने का यथार्थ बोध हुआ, इसलिए अभाव प्रमाण माना गया है। वास्तव में भाव और अभाव इन दो ही पदार्थों की सारी सृष्टि है। किसी वस्तु को भाव रूप से किसी वस्तु को अभाव रूप से प्रकाशित करते हैं।

आत्माश्रयाभिधो दोषो दोषोऽन्योऽन्याश्रयस्तथा।
चक्रकञ्चानवस्था च प्राग्लोपश्च तथाविधः[1]।।१५६।।
दोषोऽविनिगमाख्योऽथ षडेते प्रतिवादिनाम्।
आत्माश्रयादयो दोषा उत्पत्तिस्थितिवित्तिषु।।१५७।।

अर्थ– दोष छह हैं– १. आत्माश्रय, २. अन्योऽन्याश्रय, ३. चक्रक, ४. अनवस्था, ५. प्राग्लोप और ६. विनिगमनाविरह। इन का वर्णन और इनके उदाहरण शास्त्रों में बहुत रहते हैं।

शमो दमस्तितिक्षा च श्रद्धा चोपरतिस्तथा।
समाधानमिदं ज्ञेयं षड्विधं हि शमादिकम्।।१५८।।

अर्थ– १. शम, २. दम, ३. तितिक्षा, ४. श्रद्धा, ५. उपरति और ६. समाधान यह शमादि षड्विध हैं। इन का भी आगे[2] वर्णन रहेगा।

अजिह्वः षण्डकः पंगुरन्धो[3] बधिर एव च।
मुग्धश्चैते सुविज्ञेयाः[4] षड् भूमौ भिक्षुपुंगवाः।।१५९।।

अर्थ– वेदान्त में छह प्रकार के भिक्षु माने गये हैं। वे ये हैं–

1. इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते।।१।।

भोजन करते हुए भी जो इष्ट-अनिष्ट में आसक्त नहीं होता। हित, सत्य और मित बोलता है, उसको अजिह्व कहते हैं। जिसकी जिह्वा न हो वह अजिह्व है।

२. अद्य जातां तथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम्।
शतवर्षाञ्च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः।।२।।

१. हस्तलेख में 'तथा विभः' पाठ है। २. पृ॰ ७६-७७। ३. हस्तलेख में 'अंगुरन्धो' पाठ है। ४. हस्तलेख में 'सुविज्ञयो' पाठ है।

आज की अथवा षोडशवार्षिकी यद्वा शतवर्ष की स्त्री को देखकर जो निर्विकार रहता है, वह षण्डक कहलाता है।

३. भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च।
योजनान्न परं याति सर्वथा पंगुरेव सः।।३।।

जो भिक्षा, मूत्र और पुरीष इत्यादि कर्म के लिए एक योजन से अधिक नहीं जाता, वह पंगु भिक्षु है।

४. तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्।
चतुर्युगं भुवं त्यक्त्वा[१] परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते।।४।।

चलते या बैठते हुए जिसका नेत्र दो, चार हाथ पृथिवी को छोड़ आगे नहीं जाता, उस संन्यासी को अन्ध कहते हैं।

५. हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहञ्च यत्।
श्रुत्वापि यो न शृणुते बधिरः स प्रकिर्त्तितः।।५।।

हिताहित, मनोहर अथवा शोकजनक वचन को सुनकर भी जो नहीं सुनता, वह बधिर भिक्षु है।

६. सान्निध्ये विषया यस्य[२] समर्थोऽविकलेन्द्रियः।
सुप्तवद् वर्त्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते।।६।।

जो समर्थ और सकल इन्द्रियों से युक्त भी हो, और जिसके निकट सभी भोग्य विषय उपस्थित हों, तो भी जो नित्य सुप्तवत् ही रहे, वह भिक्षु मुग्ध कहलाता है।

कुलं शीलञ्च वित्तञ्च रूपं यौवनमेव च।
विद्या राज्यं तपश्चैषां कीर्त्तिताः षड् बहिर्मदाः।।१६०।।
जातिवर्णाश्रमाणाञ्च गोत्रनाम्नोः कुलस्य च।
अभिमानात्मकाः षट् स्युर्भ्रमा वेदान्तकीर्त्तिताः।।१६१।।
श्वेतं पीतं तथा कृष्णं माञ्जिष्ठं हरितं तथा।
रक्तञ्चापीति भेदेन रूपं स्यात् षड्विधं मतम्।।१६२।।
कट्वम्ललवणा मिष्ठस्तिक्तः कषायसंज्ञकः।
एवं भेदाद्रसः प्राज्ञैः षड्विधः परिकीर्त्यते।।१६३।।

अर्थ– वेदान्त शास्त्र में कुल, शील, वित्त, रूप, यौवन और इनके विद्या, राज्य और तप रूप मद, ये बहिर्मद कहलाते हैं। जाति, वर्ण, आश्रम, गोत्र, नाम और कुल इन छहों[३] के जो छह अभिमान वे अभिमानात्मक भ्रम कहलाते हैं।

१. हस्तलेख में 'त्यक्ता' पाठ है। २. हस्तलेख में 'विषयां च' पाठ है।
३. हस्तलेख में 'छत्रों' पाठ है।

श्वेत, पीत, कृष्ण, माञ्जिष्ठ, हरित और रक्त ये छह प्रकार के रूप हैं। कटु, अम्ल, लवण, मिष्ठ, तिक्त और कषाय ये छह प्रकार के रस हैं।

ऐश्वर्यं श्रीर्यशो वीर्यं ज्ञानं वैराग्यमेव च।
एतद्वैदान्तिकैः प्रोक्तमैश्वर्यादीह षड्विधम्।।१६४।।
उत्पत्तिर्निधनञ्चैव भूतानामगतिर्गतिः।
विद्याविद्या तथैतत्स्यादुत्पत्त्यादीह षड्विधम्।।१६५।।

अर्थ– ऐश्वर्य, श्रीः, यश, वीर्य, ज्ञान और वैराग्य ये षड्विध ऐश्वर्यादि कहलाते हैं।

उत्पत्ति, निधन (मरण), अगति (अनिष्टसम्बन्ध), गति (सम्बन्ध), [विद्या और अविद्या][१] ये षड्विध उत्पत्त्यादि कहलाते हैं। इस प्रकार षड्विध संज्ञा का वर्णन समाप्त हुआ।

अज्ञानावृत्तिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः[२]।
दुःखहानिश्च सप्तैता अवस्थाः परिकीर्त्तिताः।।१६६।।

अर्थ– अज्ञान, आवृत्ति, विक्षेप, द्विविध ज्ञान अर्थात् परोक्ष–अपरोक्ष ज्ञान, तृप्ति और दुःख–हानि ये (सात) अवस्थाएँ कही गई हैं।

शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च।
प्रमाता च प्रमाणञ्च प्रमेयञ्च फलं तथा।।१६७।।
एवं सप्तविधञ्चैव चैतन्यं प्रोच्यते बुधैः।
तत्त्वतस्त्वेकमेवापि नानोपाध्युपरञ्जितम्।।१६८।।

अर्थ– यह अद्वैतियों की संज्ञा है– १. शुद्धचैतन्य २. ईश्वरचैतन्य ३. जीवचैतन्य ४. प्रमातृचैतन्य ५. प्रमाणचैतन्य ६. प्रमेयचैतन्य और ७. फलचैतन्य– इस प्रकार चैतन्य सात हैं। वास्तव में एक ही चैतन्य नाना उपाधियों से नाना चैतन्य कहलाते हैं। निरवच्छिन्न[३]चैतन्य को शुद्ध चैतन्य कहते हैं। मायोपहित चैतन्य ईश्वर कहलाता है। अविद्योपहितचैतन्य जीव कहलाते हैं। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृचैतन्य कहते हैं। अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य को प्रमाणचैतन्य कहते हैं। अज्ञात जो घटाद्यवच्छिन्नचैतन्य उसे प्रमेयचैतन्य (विषयचैतन्य) कहते हैं। ज्ञात जो घटाद्यवच्छिन्न यद्वा अन्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्य उसे फलचैतन्य कहते हैं।

भूर्भुवःस्वर्महर्लोको जनलोकस्तपस्तथा।

१. हस्तलेख में कोष्ठान्तर्गत पाठ है। २. हस्तलेख में 'द्विविधः ज्ञान.' पाठ है।
३. हस्तलेख में 'निरवच्छिन्न' पाठ है।

सत्यञ्चेत्यथ भूरादिसप्तकं समुदाहृतम्।।१६९।।
अतलं वितलं सुतलं तलातलं रसातलञ्चैव।
पातालसप्तकमिदं महातलञ्चापि पातालम्।।१७०।।

अर्थ– भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, और सत्यलोक ये भूरादि सप्तलोक कहलाते हैं। अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल ये पाताल सप्तलोक कहलाते हैं।

बीजजाग्रत्तथा जाग्रन् महाजाग्रत्तथैव च।
जाग्रत्स्वप्नस्तथास्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तिके।।१७१।।
एवं भेदात् समाख्याताः सप्ताज्ञानस्य भूमयः।
भूमयः सप्त तद्वत्स्युर्ज्ञानस्योक्ता महर्षिभिः।।१७२।।
शुभेच्छाख्या तु[१] तत्राद्या ज्ञानभूमिः प्रकीर्त्तिता[२]।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा।।१७३।।
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिश्च[३] पञ्चमी।
पदार्थाभाविनी[४] षष्ठी सप्तमी चाथ तुर्यगा।।१७४।।

अर्थ– अज्ञान की सात भूमिकाएँ हैं, वे ये हैं– १. बीजजाग्रत्, २. जाग्रत्, ३. महाजाग्रत्, ४. जाग्रत्स्वप्न, ५. स्वप्न, ६. स्वप्नजाग्रत् और ७. सुषुप्ति। इनके लक्षण क्रमशः ये हैं।

1. कुसूले संस्थितं बीजं तत्र सर्वो यथा द्रुमः।
तथा यत्रस्थितं विश्वं नतु व्यक्तिमुपागतम्।।
बीजरूपं स्थितं जाग्रद् बीजजाग्रत्तदुच्यते।
संसारप्रथमावस्था महामोहः स एव हि।।
तदेवज्ञानमित्युक्तं यत्स्वबोधेन लीयते।।

कुसूल (कोठी) में स्थित जो बीज उसमें जैसे सम्पूर्ण वृक्ष भी रहता है, वैसा ही जिसमें सम्पूर्ण विश्व स्थित हो किन्तु व्यक्त न हो, वह बीजरूप स्थित बीजजाग्रत् कहलाता है। यही संसार की प्रथमावस्था है इसी को महामोह और अज्ञान भी कहते हैं। स्वबोध से इसका लय होता है।

२. कुसूले संस्थितं बीजं क्षेत्रे निक्षिप्यते यदा।
अंकुरोन्मुखतां या तु सावस्था जाग्रदुच्यते।।
इदमेव महत्तत्त्वमिति सांख्यैर्निरूपयते।

१. हस्तलेख में 'शुभेच्छाख्यातुं' पाठ है। २. हस्तलेख में 'प्रकीर्त्तिताः' पाठ है। ३. हस्तलेख में 'स्यादशंसक्तिश्च' पाठ है। ४. हस्तलेख में 'पदार्थाभावनी' पाठ है।

ईक्षणञ्चेति वेदान्तैः सामान्याहंकृतिस्तथा।।
आनन्दमयकोषश्च तत्साक्षी त्वीश्वरः स्मृतः।।

कुसूल में संस्थित बीज जब क्षेत्र में बोया जाता है तब उसमें अंकुर होता है। इसी अवस्था का नाम जाग्रत् है, इसी को सांख्य महत्तत्त्व कहते हैं और वेदान्त ईक्षण सामान्याहंकार और आनन्दमय कोश कहते हैं। वेदान्त में इसका साक्षी ईश्वर माना गया है।

३. विशेषाहंकृतिः सूक्ष्माङ्कुरवद् व्यावहारिकी।
महाजाग्रद् बुधैः प्रोक्ता व्यष्ट्यवस्थालये तु सा[१]।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्ये[२]ऽवस्था जाग्रदिति स्मृता।।

जिसमें विशेष अहंकार हो और सूक्ष्म हो और अंकुरवत् व्यावहारिक अवस्था हो उसे महाजाग्रत् कहते हैं। वह महाजाग्रत् व्यष्टिजगत् की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में विद्यमान रहती है।

४. जाग्रदेव यदा जीवो मनोराज्यं करोति ह[३]।
जाग्रतः स्वप्न इव यत्स जाग्रत्स्वप्न उच्यते।

जागता हुआ जीव जब मनोराज्य करता है मानो जागे हुए जीव का स्वप्न सा हो, वह जाग्रत्स्वप्न कहलाता है।

५. लोकप्रसिद्धो यः स्वप्नः स स्वपन इति कथ्यते।

लोकप्रसिद्ध जो स्वप्न है, वही स्वप्न कहलाता है।

६. जातेऽपि जागरे[४] जन्तोः स्वप्नदृष्टार्थभासनम्[५]।
प्रत्यक्षमिव संस्कारात् स्वप्नजाग्रत् तदुच्यते।।

जीव की जागरणावस्था में भी संस्कार के बल से प्रत्यक्ष के समान स्वप्नदृष्ट अर्थो का भान होता है। उसे स्वप्न जाग्रत् कहते हैं।

७. षडवस्थापरित्यागे सुषुप्तिः सप्तमी मता।

पूर्वोक्त षडवस्थाओं को त्याग सप्तमी अवस्था सुषुप्ति की होती है। नवीन वेदान्त के पक्ष में ये अज्ञान की भूमियाँ कहलाती हैं। किन्तु न ये अज्ञान की, न ज्ञान की भूमिकाएँ हैं। किन्तु जगत् की ये सात अवस्थाएँ हैं। और ये स्वाभाविक हैं। इसी प्रकार ज्ञान की भी सात भूमिकाएँ ये हैं–

१. ज्ञान की प्रथम भूमि शुभेच्छा है। नित्यानित्य वस्तुओं का विवेकादि करके फल देने वाली जो मोक्ष की इच्छा है उसे शुभेच्छा कहते हैं। यद्वा नाना

१. हस्तलेख में 'व्यष्ट्यवस्थात्रत्तु' पाठ है। २. हस्तलेख में 'जाग्रत्स्वपनसुषुप्ताख्ये' पाठ है। ३. हस्तलेख में 'करोतिः' पाठ है। ४. हस्तलेख में 'जाग्रे' पाठ है। ५. हस्तलेख में 'स्वप्नदृष्टार्थभाषणं' पाठ है।

क्लेशों को सहते हुए भी मनुष्यों की कल्याणेच्छा करना शुभेच्छा कहलाती है।

२. गुरुओं के निकट जा, वेदान्तवाक्य द्वारा ईश्वर के सम्बन्ध में जो श्रवण, मनन इत्यादि विचारना है, उसे सुविचारणा भूमिका कहते हैं।

३. निदिध्यासन के अभ्यास से मन को एकाग्र करके सूक्ष्म वस्तुओं के ग्रहणयोग्य बनाने का नाम तनुमानस भूमि है।

४. जीव, ब्रह्म और प्रकृति के साक्षात्कार करने की अवस्था का नाम सत्त्वापत्ति है। सत्त्व जो ब्रह्म, जीव और प्रकृति उनकी आपत्ति= प्राप्ति उसे सत्त्वापत्ति कहते हैं।

५. सविकल्पक समाधि के अभ्यास से निरुद्ध मन में निर्विकल्पक समाधि की अवस्था का उदय होना असंसक्ति कहलाती है।

६. असंसक्ति भूमिका के अभ्यास की पटुता से सांसारिक वस्तुओं की ओर मन का न जाना पदार्थाभाविनी भूमिका कहलाती है।

७. ब्रह्मध्यानावस्थित पुरुष का पुनः अन्य पदार्थ की ओर परिस्फुरण न होना तुरीया अवस्था कहलाती है।

मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता।
निःस्पृहत्वं समत्वञ्च भवेन्मौनादिसप्तकम्।।१७५।।
रसो रुधिरमांसे च मेदो मज्जास्थिरेतसी।
धातवः सप्तधैते स्युः स्थूलदेहसमाश्रयाः।।१७६।।

अर्थ– ये मौनादिक सात हैं– १. मौन= वचनों का संयम। २. योगासन= योगशास्त्र में विहित जो पद्मासन इत्यादि। ३. योग= चित्तवृत्तिनिरोध। ४. तितिक्षा= सहिष्णुता। ५. एकान्तशीलता= मनुष्यों का संग छोड़ एकान्त में रहने का अभयास। ६. निःस्पृहत्व= लालसाराहित्य। ७. समत्व= समदर्शित्व। स्थूल देह के ये सात धातु हैं– १. रस, २. रुधिर, ३. मांस, ४. मेद, ५. मज्जा, ६. अस्थि= हड्डी और ७. रेत (रज वीर्य)।

व्रीह्यादिकं तथा दर्शपूर्णमासावथो मनः।
प्राणाः क्षीरं च वाक् चैव स्यादन्नं सप्तधा मतम्।।१७७।।

अर्थ– १. मनुष्यों का अन्न यवादिक[1] हैं। २. देवताओं का अन्न दर्श (अमावास्या में क्रियमाण यज्ञ) और पूर्णमास (पूर्णिमा में क्रियमाण यज्ञ) यज्ञ हैं।

१.हस्तलेख में गवादिक' पाठ है। श्लोक में 'व्रीह्यादिक' पाठ है' जिसका हिन्दी रूपान्तर 'शाल्यादिक' अथवा 'चावल आदि' होना चाहिए। आदि पद से 'यव' लिया जा सकता है। अतः 'गव' के स्थान पर 'यव' शोध किया है।

३. बच्चों का अन्न दुग्ध है। ४. साक्षात् जीवों के अन्न, ये तीन हैं, ५. मन, ६. वाणी और ७. प्राण।

वामदक्षिणयोर्युग्मं चक्षुषोः श्रोत्रयोस्तथा।
नासिके द्वे मुखं प्राणाः शीर्षण्याः समुदाहृताः।।१७८।।
उत्साहव्यसनं तद्वद्विश्वव्यसनमेव च।
व्यसनं सेवकस्याथ मनोराज्यधनात्मनाम्।।१७९।।
इति सप्तविधं प्रोक्तं व्यसनं ज्ञाननाशनम्।
सर्वदैतत्तु सन्त्याज्यं न्यासिना सुखमिच्छता।।१८०।।

अर्थ– ये सात शीर्षण्य प्राण कहलाते हैं– १. दोनों नेत्रों में दो, दोनों श्रोत्रों में दो, दोनों नासिकाओं में दो और एक मुख में। सात व्यसन हैं– १. उत्साह व्यसन= नृत्यगीतादिकों की इच्छा। २. विश्वव्यसन= गृहक्षेत्रादिकों के सम्पादन की इच्छा। ३. सेवकव्यसन= दूसरों के धन और राष्ट्र ले लेने की इच्छा से सेवकों की वृद्धि की इच्छा। ४. मनोव्यसन= चौर्य्यादि करने की इच्छा। ५. राज्यव्यसन= सांसारिक भूमि से लेकर स्वर्गभूमि तक प्राप्ति की इच्छा। ६. धनव्यसन= गोहिरण्यादि की प्राप्ति की इच्छा। ७. आत्मव्यसन= शरीरपुष्ट्याद्यर्थ रसायनभक्षणादिकों की इच्छा। ये सातों इच्छाएँ ज्ञाननाशक हैं। सुख चाहने वाले संन्यासी इनका सर्वदा त्याग करें।

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चाथ पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
प्राणादि पञ्चकञ्चान्तःकरणञ्च चतुर्विधम् ।।१८१।।
सूक्ष्मभूतानि पञ्चाथ [रागश्चैव य उच्यते][1]।
कामः कर्म तमश्चैतन्मतं पुर्यष्टकाविधम्।।१८२।।

अर्थ– १. पञ्चज्ञानेन्द्रियवर्ग। २. पञ्चकर्मेन्द्रियवर्ग। ३. पञ्चप्राणवर्ग। ४. चतुर्विध-अन्तःकरणवर्ग। ५. सूक्ष्मभूतवर्ग। ६. कामवर्ग। ७. कर्मवर्ग और ८. तपोवर्ग ये आठ पुर कहलाते हैं। राग का नाम काम है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं– सञ्चित, आगामी और प्रारब्ध। अविद्या का नाम यहाँ तम है। अनित्य में नित्यज्ञान, अशुचि में शुचिज्ञान, दुःख में सुखज्ञान, अनात्मा में आत्मज्ञान अविद्या कहलाती है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं स्याद् भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।१८३।।

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ हिन्दी अर्थ के अनुसार कल्पित किया गया है। हस्तलेख में 'पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च' पाठ है।

यमश्च नियमश्चैव प्राणायामस्तथैव च ।
प्रत्याहारासने ध्यानधारणांगसमाधयः।।१८४।।

अर्थ– प्रकृति आठ प्रकार की है– भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार।

योग के आठ अंग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्त्तनं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतानि मैथुनांगानि त्याज्यानि ब्रह्मचारिभिः।।१८५।।

अर्थ– ब्रह्मचारियों के द्वारा ये आठ मैथुन त्याज्य हैं, जिन्हें मैथुनांग कहते हैं– स्त्रियों का दर्शन, स्पर्शन, केलि, कीर्त्तन, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिर्वृत्ति।

धमिनी क्रोधनी मोहिनी स्थितिन्यतिचारिणी।
वाहिनी वर्त्तिनी चैतेऽन्तर्मदाः कृतिनीयुताः।।१८६।।

अर्थ– ये आठ अन्तर्मद कहलाते हैं– धमिनी, क्रोधिनी, मोहिनी, स्थितिनी, अतिचारिणी, वाहिनी, वर्त्तिनी और कृतिनी। इनके लक्षण अन्यान्य ग्रन्थों से जानने चाहिएँ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं सूर्यश्च शशी तथा।
आत्मा चेत्यष्टमूर्तीनामष्टौ[१] मदा उदीरिताः।।१८७।।

अर्थ– ये आठ सांकेतिक मद कहलाते हैं। ये आठ सर्वथा सांकेतिक नाम हैं– १. भूमिमद– तमोगुणपरिपूर्ण पुरुष की जो वस्त्रादि की इच्छा का हेतु [उसे भूमिमद कहते हैं]। २. सांसारिक सुखाभिलाषी जन की जो यह मेरे लिए आवश्यक है, यह अनावश्यक है इत्यादि चिन्ता का जनक जो मद उसे सलिलमद अथवा जलमद कहते हैं। ३. कामरसपरिपूर्ण पुरुष की वनितासम्भोगेच्छा के लिए जो तदनुकूल व्यापार का जनक जो मद उसे पावकमद कहते हैं। ४. चिन्तापरिपूर्ण पुरुष का यह काम होगा या नहीं होगा इत्यादि संशय करके कार्य की शिथिलता करने का जो मद उसे शशिमद[२] कहते हैं। ५. यात्रा करने की इच्छापरिपूर्ण पुरुष को नाना देशगमन की इच्छा का जनक जो मद उसे पवनमद कहते हैं। ६. हाथी, घोड़े इत्यादि पशुओं के संग्रह करने की इच्छा का नाम आकाशमद है। ७.

१. हस्तलेख में 'अष्टमूर्त्तिनामष्टो' पाठ है। २. श्लोकस्थ क्रम के अनुसार 'शशिमद' सातवें स्थान पर होना चाहिए।

इसका संहार करना चाहिए, इस प्रकार की जो क्रोधी पुरुषों की इच्छा उसे सूर्यमद कहते हैं। ८. मेरे समान विद्या में कौन है इत्यादि का नाम आत्ममद है।

घृणा शंका भयं लज्जा जुगुप्सा पञ्चमी तथा।
कुलं शीलं तथा वित्तमष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः।।१८८।

अर्थ– वेदान्त शास्त्र में घृणापाश, शंकापाश, भयपाश, लज्जापाश, जुगुप्सा–पाश, कुलपाश, शीलपाश और वित्तपाश ये आठ पाश कहे गये हैं। व्याध और मत्स्यघाती जिससे पशुओं और मत्स्यों को फंसाते है, उसे पाश कहते हैं अर्थात् बन्धन। १. घृणा= दया, कभी दया भी बन्धन का कारण होती है, जैसे मृगशावक के ऊपर जड़भरत ने दया दिखलाई थी। उससे उनके तप में विघ्न हुआ और पुनः-पुनः अनेक जन्म लेने पड़े। इस प्रकार की कथाओं के उदाहरण पुराणों में बहुत हैं। महादेव ने दया कर रावण को वर दिया। इस दया का परिणाम अत्यन्त दुःखप्रद हुआ इत्यादि। २. शंका पूर्वोक्त[१] संशय, यह भी एक पाश है। मैंने जो ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञान का सम्पादन किया है, वह अनर्थ का निवारक होगा, अथवा नहीं इत्यादि रूप संशय ब्रह्मज्ञान की प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक होता है। इसलिए पाश के समान यह एक बन्धन है। लोक में भी अनेक प्रकार की शंकाएँ करके बहुत सी उन्नतियों से विमुख रह जाते हैं। जैसे हमारा यह पुत्र एम.ए. परीक्षा तक पहुंचेगा या नहीं, व्यय भी बहुत होगा, इस हेतु इसे न पढ़ाकर अभी से किसी वाणिज्य में लगा दें तो, यह सुखी रहेगा इत्यादि। ३. भय= आगामी दुःखों के अनुसन्धानजन्य जो मन का उद्वेग उसे भय कहते हैं। वह भी एक पाश है क्योंकि ब्रह्मज्ञान मुझसे अत्यन्त असाध्य है बहुप्रयाससाध्य है क्योंकि इस के लिए महातप, महाव्रत, महासंयम और नियम इत्यादि व्यापार करने पड़ते हैं। इस प्रकार से विचार कर मन में उद्वेग उत्पन्न कर ब्रह्मज्ञानादि साधन में भयवश प्रवृत्त नहीं होता। इस हेतु ईदृग् भय भी पाश ही है। ४. लज्जा भी एक पाश है। बहुत से पुरुष वा स्त्रियाँ इस हेतु ध्यान वा कीर्त्तन नहीं करते हैं, कि लोग मुझे वकध्यायी समझेंगे और हंसी करेंगे। यदि मैं किसी संघ में जाकर उपासना पूजा करूँ तो लोग चिढ़ावेंगे। इत्यादि लज्जा वश कितने ही पुरुष हितकार्य से विमुख रह जाते हैं। ५. जुगुप्सा= निन्दा। इस क्षुद्र ब्रह्मज्ञान से क्या हो सकता है। जगत् में किसी न किसी उपाय से धनोपार्जन कर सुखी बनना चाहिए। केवल पूजा–पाठ से क्या होना है। इस प्रकार धर्मकार्य को निन्दित समझ कितने ही आदमी धर्म में प्रवृत्त नहीं होते। इस हेतु यह भी एक पाश है। ६. कुल– मेरा कुल बहुत ही बड़ा और प्रतिष्ठित है। यदि मैं संन्यासाश्रम ग्रहण कर ब्रह्मज्ञान में

१. पृ० १८।

प्रवृत्त हुआ, तब मेरे कुल की मर्यादा नष्ट हो जायेगी, एवंविध चिन्ता का जनक कभी-कभी कुल भी हो जाता है। इसलिए यह भी एक पाश है। ७. शील= स्वभाव। कभी स्वभाव भी बन्धन का कारण होता है। कोई-कोई पुरुष ऐसे सरल स्वभाव के होते हैं कि वे साधारण पुरुषों की बातों में भी फंसकर कल्याण मार्ग से विहीन हो जाते हैं। ८. वित्त= धन। मेरे निकट इतनी सम्पत्तियाँ हैं, इतने दास-दासियाँ हैं। मैं क्या ही लौकिक आनन्द से दिन व्यतीत कर रहा हूँ। इन सबको छोड़ मैं कैसे ब्रह्मज्ञान का साधन करूँ। इस प्रकार की चिन्ता करके बहुत से धनी पुरुष वित्त के कारण सन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं होते। अतः कभी धन भी सन्मार्ग के प्रतिबन्धक होने से पाश ही होता है।

ज्ञातृज्ञाने च ज्ञेयञ्च भोक्तृभोग्ये च भोजनम्।
कर्त्ता च करणं कर्म संसारो नवधा भवेत्।।१८९।।
ज्ञानेन्द्रियाणि च तमश्च तथाप्यवस्थाः,
कर्मेन्द्रियाणि मनआदि चतुष्टयञ्च।
प्राणादिपञ्चकमथो विपदादिकञ्च,
कर्माणि देह इति वा नवधान्यपक्षे।।१९०।।

अर्थ– ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, भोक्ता, भोग्य, भोजन, कर्त्ता, करण और कर्म ये नव प्रकार के संसार हैं। १. जानने वाला, हम जीव ज्ञाता कहलाते हैं, तब एक संसार ज्ञाताओं का है। पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि सभी ज्ञाता हैं। २. एक संसार वह है कि जिसके द्वारा ज्ञाता ज्ञान उपार्जन करता है। बहुत से ज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों से, कभी पूछने से, कभी मन्त्रादि साधनों से, कभी अनुमानादिक से एवंविध अनेक उपायों से ज्ञाता ज्ञान उपार्जन करता है। ज्ञेय वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के किसी द्वारा संयोग से जो अन्तःकरण में परिणामविशेष की उत्पत्ति होती है, उसे ज्ञान कहते हैं। ३. ज्ञेयसंसार है। यावद्वस्तुओं को ज्ञेय कहते हैं। जिस–जिस वस्तु को किसी प्रकार हम जान सकें, वे सभी ज्ञेय हैं। ब्रह्म से लेकर कीट पर्यन्त ज्ञेय हैं। इसी ज्ञेय के अध्ययन, पठन–पाठन, विचार, मीमांसा, तर्क-वितर्क करते–करते भी [कोई] अन्त तक नहीं पहुँचता। ४. भोक्तृसंसार है। अत्यन्त क्षुद्र अस्मदादियों से अदृश्य जन्तु भी भोगविलास करते हैं। इसलिए भोक्तृसंसार भी चिन्त्य है। ५. भोग– भोक्ता जिसको खाता पीता है यद्वा जिससे सुख उठाता है, यह सब भी भोग्य हैं। ६. भोजन– भोक्ता और भोग्य के किसी प्रकार संयोग से सुख की जो प्राप्ति है, उसे भोजन कहते हैं। यद्वा क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति के साधन का नाम भोजन है। ७. कर्तृसंसार– यह प्रत्यक्ष है

कि कोई भी जीव विना कुछ किए हुए अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। जहाँ कर्त्तृत्व बहुलता के साथ है, वहीं जीव श्रेष्ठ और माननीय होता है। अश्व में कर्त्तृत्वशक्ति अधिक होने से अश्व मनुष्यों को माननीय हुआ है। इसी प्रकार वृषभादिक भी। ८. करणसंसार है। कर्म के अत्यन्त साधक को करण[१] कहते हैं। ९. कर्मसंसार है। करण के व्यापार विषय का नाम कर्म है। जितने जीव हैं उतने भिन्न-भिन्न प्रायः कर्म हैं। यद्यपि खान-पान ये दो साधारण कर्म हैं, तथापि प्रत्येक जीव के भिन्न–भिन्न कर्म कुछ नियत हैं। जो कर्म मधुकर अपनी स्वाभाविकी चातुरी से मधूपार्जन रूप करता है, उसे अन्य पतंग नहीं कर सकते। जिस चातुर्य को अथवा माधुर्य को गान द्वारा कोकिल आदि पक्षी प्रकाशित करते हैं, उस कर्म को मनुष्य भी नहीं कर सकता। जिस विज्ञता से कारण्डव विहग आकाश में उड़ान करते हैं, वह चातुर्य अन्य विहंगों में नहीं। ये नव प्रकार के संसार सदा ध्येय और चिन्त्य हैं।

दूसरे के पक्ष में नवधा संसार ये वक्ष्यमाण हैं– १. पञ्चज्ञानेद्रिय। २. तम = अज्ञान, जो चार प्रकार के पूर्व में[२] कहे गये हैं। ३. अवस्था= जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ हैं। ४. पञ्चकर्मेन्द्रिय। ५. मन आदि चार अन्तःकरण। ६. पञ्चप्राणादिक। ७. पाँच आकाशादिक स्थूलभूत। ८. कर्म= सञ्चित, आगामी और प्रारब्ध। ९. देह= स्थूल शरीर।

पूर्वोक्तसप्तशीर्षण्य प्राणरन्ध्राणि सप्त वै।
शिश्नरन्ध्रं गुदारन्ध्रं रन्ध्राणि स्युः पुरे नव।।१९१।।
वदन्ति दश रन्ध्राणि नाभिनैकादशापरे।
केचित्त्वेष्वेव संयोज्य ब्रह्मरन्ध्रं तथा पुनः।।१९२।।

अर्थ– इस शरीर में कोई नव रन्ध्र मानते हैं। दो नयनरन्ध्र, दो कर्ण रन्ध्र, दो घ्राणरन्ध्र, एक मुखरन्ध्र ये सात शीर्षण्य रन्ध्र कहलाते हैं क्योंकि ये शिर में हैं। एक शिश्नरन्ध्र (मूत्रेन्द्रियरन्ध्र) और एक गुदारन्ध्र ये सब मिलकर नौ रन्ध्र होते हैं। कोई पूर्वोक्त नव रन्ध्रों में ब्रह्मरन्ध्र मिलाकर दश रन्ध्र कहते हैं। शिर के सबसे उपरिष्ठ भाग में योगिगण ब्रह्मरन्ध्र बतलाते हैं। अन्य आचार्य पूर्वोक्त दश रन्ध्रों में नाभिरन्ध्र को मिलाकर एकादश रन्ध्र बतलाते हैं।

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च ततः परम्।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव पयस्विनी।।१९३।।
लकुहा लम्बुषा चैव शंखिनी चेति भेदतः।

१. हस्तलेख में 'कर्म' पाठ है। २. पृ॰ ५,६।

तता दशविधा नाड्यः स्थूलदेहे समन्ततः।।१९४।।

अर्थ– स्थूल देह में सर्वत्र फैली हुई दश नाडियाँ कही जाती हैं। वे ये हैं– १. इडा= वामनासिकास्था नाड़ी, जिसे चन्द्रनाड़ी भी कहते हैं। २. पिंगला= दक्षिणनासिकास्था नाड़ी, जिसे सूर्यनाड़ी भी कहते हैं। ३. सुषुम्णा= इड़ा और पिंगला के बीच में रहने वाली है। ४. गान्धारी= दक्षिणनेत्रस्था नाड़ी। ५. हस्तिजिह्वा= वामनेत्रस्था नाड़ी। ६. पूषा= दक्षिणकर्णस्था नाड़ी। ७. पयस्विनी= वामकर्णस्था नाड़ी। ८. लकुहा= गुदप्रदेशस्था नाड़ी। ९. लम्बुषा= मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) नाड़ी। १०. शंखिनी= नाभिनाड़ी।

इन्द्रो ब्रह्मा हरी रुद्र ईशश्च पद्मसम्भवः।
भूः सूर्यो वरुणश्चन्द्रो नाडीनां दश देवताः।।१९५।।

अर्थ– पूर्वोक्त दश नाड़ियों के ये वक्ष्यमाण दश देवता माने गए हैं– १. इन्द्र, २. ब्रह्मा, ३. हरि, ४. रुद्र, ५. ईश, ६. पद्मसम्भव, ७. पृथिवी, ८. सूर्य, ९. वरुण और १०. चन्द्र। ये पौराणिक संज्ञाएँ हैं। चतुर्वक्त्र ब्रह्मा का नाम पद्मोद्भव और हिरण्यगर्भ का नाम ब्रह्मा है।

भूरादिसप्तकञ्चैव तथा पातालसप्तकम्।
चतुर्दशविधं प्राज्ञैरेतद्भुवनमुच्यते।।१९६।।

अर्थ– भूः, भुवः इत्यादि सप्तलोक और अतल, वितल इत्यादि सप्तपाताल ये मिलकर चतुर्दश भुवन कहलाते हैं।

अस्थि चर्म कफः स्नायुर्मज्जा मांसाश्रुदूषिकाः।
विण्मूत्रे वातपित्ते च शुक्रं श्लेष्मा च शोणितम् ।।१९७।।
एवं पञ्चदशास्थ्यादि कीर्तितं वेदवित्तमैः।
यैः सम्भूय देहोऽयं स्थूलो निर्मीयतेऽचिरात्।।१९८।।

अर्थ– अस्थि, चर्म, कफ, स्नायु, (सिराबन्धन) मज्जा, मांस, अश्रु, दूषिका(नेत्रों का मल) विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त, शुक्र (वीर्य), श्लेष्मा, शोणित ये पन्द्रह स्थूल देह में निर्मित हैं या इन्हीं से स्थूल देह बना हुआ है।

रागद्वेषौ तथा कामक्रोधलोभमदा अपि।
मोहमात्सर्यभक्तीच्छाश्रद्धेर्ष्या गर्व एव च।।१९९।।
दम्भो दर्पस्तथाऽसूया धर्मा एते तु षोडश।
बुद्धेरेवात्मनो नास्ति सम्बन्धस्तैः कथञ्चन।।२००।।

अर्थ– १. राग= इष्टसाधनता की बुद्धि से स्त्री प्रभृतियों में स्नेह। २. द्वेष = लोगों में उद्वेगाचरण। ३. काम= स्त्र्यादि विषयक अभिलाष। ४. क्रोध= काम के प्रतिघात से उत्पद्यमान जो तारण और आक्रोश आदि उसका हेतु। ५. लोभ = परद्रव्येच्छा। ६. [मद= अहंकार][१]। ७. मोह= उपार्जित वस्तुओं में अनुचित स्नेह। ८. मत्सर= स्वसमान सम्पत्तियों के देखने से असहन। ९. भक्ति= आराध्य ईश्वरादि में परम श्रद्धा। १०. इच्छा= इष्टसाधनता के ज्ञान से जन्य अभिलाष। ११. श्रद्धा= गुरुवेदान्तवाक्यों में विश्वास। १२. ईर्ष्या= दूसरों की सम्पत्तियों की असहिष्णुता। १३. गर्व= अभिमानात्मिका चित्तवृति। १४. दम्भ= धर्मध्वजित्व। १५. दर्प= धनविद्यादि निमित्तक चित्त का उत्सेक और १६. असूया= गुणों में दोष का आविष्कार। ये रागादि षोडश बुद्धिधर्म हैं। इनमें भक्ति और श्रद्धा मुक्ति के हेतु हैं। इच्छा मुक्ति और बन्धन दोनों का हेतु है। अन्य सब धर्म बन्धहेतु हैं। रागद्वेषादियों से बुद्धि ही का सम्बन्ध है और आत्मा का नहीं। यह कथन नवीन वेदान्तियों और सांख्यवित् पुरुषों का है, वैदिक धर्म का नहीं क्योंकि बुद्धि जड़ है उसमें रागद्वेषादि नहीं हो सकते, किन्तु रागद्वेषादि चेतन आत्मा के धर्म हैं।

इन्द्रियाणि दश प्राणाः पञ्चान्तःकरणं तथा।
इति षोडशकं लिंगमाहुर्वेदान्तवेदिनः।।२०१।।

अर्थ– दश इन्द्रिय, पाँच प्राण और एक अन्तःकरण इन सोलहों को वेदान्तवेदी लिंग कहते हैं। अथवा लिंगशरीर, सूक्ष्मशरीर इत्यादि नाम से यह पुकारा जाता है। इसी शरीर के साथ जीवात्मा लोकान्तर गमनागमन में समर्थ होता है। यद्वा–

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।
लिंगं सप्तदशात्मैतद्व्याचार्याः केचिदूचिरे।।२०२।।

अर्थ– कोई आचार्य कहते हैं कि पाँच प्राण, मन, बुद्धि, दश इन्द्रियां ये सप्तदश मिलकर लिंगशरीर कहलाता है।

केचिच्चतुर्विधं भेदं कृत्वान्तःकरणस्य हि।
एकोनविंशकस्तत्त्वैश्चितं लिंगं प्रचक्षिरे।।२०३।।

अर्थ– कोई अन्तःकरण के चार भाग करके उन्नीस तत्त्वों से युक्त लिंग-शरीर को कहते हैं।

निरुक्तेष्वेव तत्त्वेषु संकलय्याथ केचन।
शब्दादीन् पञ्च चैवोचुश्चतुर्विंशतितत्त्वकम्।।२०४।।

अर्थ– कोई पूर्वोक्त एकोनविंशति तत्त्वों में शब्दादि पाँच जोड़ कर चतुर्विंशति तत्त्व कहते हैं।

---

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ हस्तलेख में नहीं है।

पञ्चीकृतानि भूतानि पञ्चावस्थात्रयं तथा।
शरीरत्रयमज्ञानमेष[1] द्वादशको गणः।।२०५।।
तत्त्वैः सम्भूय पूर्वोक्तैः षट्त्रिंशत्तत्त्वरुपकः।
लिंगं सम्पादेयदेतत् प्राहुरन्ये विवेकिनः।।२०६।।

अर्थ– पाँच पञ्चीकृतभूत, तीन अवस्थाएँ, तीन शरीर और एक अज्ञान ये द्वादशक गण कहलाता है। पूर्वोक्त चौबीस तत्त्वों में इन बारहों को मिलाकर कोई विवेकी छत्तीस तत्त्वों से युक्त लिंगशरीर को कहते हैं।

अस्थिमांसत्वचोनाडीरोम पञ्च क्षितेर्गुणः।
अपां श्लेष्मा तथा मूत्रं स्वेदः शुक्रं च शोणितम्।।२०७।।
क्षुत् तृट् निद्रा तथालस्यं संगोऽग्नेः पञ्चकीर्तिताः।
धावनं चलनं चैव वियोगश्च प्रसारणम्।।२०८।।
आकुञ्चनं च पञ्चैते गुणा वायोरुदाहृताः।
मत्सरो लोभमोहौ च कामक्रोधौ तमो गुणः।।२०९।।
प्रातिस्विका गुणा एते पञ्च पञ्चोत्तरोत्तरम्।
वर्द्धन्ते संगताः पूर्वैर्गुणैः कारणसम्भवैः।।२१०।।
पञ्च खे दश वातेऽग्नौ गुणाः पञ्चदश स्मृताः।
जले विंशतिसंख्याकाः पञ्चविंशतिकाः क्षितौ।।२११।।
एवमेते गुणाः सर्वे खादेः संकलिता बुधैः।
पञ्चसप्तति संख्याकाः प्रोच्यन्ते तत्त्वदर्शिभिः।।२१२।।

अर्थ– पृथिवी के अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी और रोम ये पाँच गुण हैं [जल के श्लेष्मा, मूत्र, स्वेद, शुक्र और शोणित ये पाँच गुण हैं।][2] अग्नि के क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आलस्य और संग ये पाँच गुण हैं। वायु के धावन, चलन, वियोग, प्रसारण और आकुञ्चन ये पाँच गुण हैं। आकाश के मत्सर, लोभ, मोह, काम और क्रोध ये पाँच गुण हैं। ये आकाशादि पाँचों के पच्चीस गुण हैं। अपने-अपने आकाशादि पाँचों के पाँच-पाँच गुण नियत हैं। किन्तु कारण गुणों के साथ उत्तरोत्तर पाँचों भूतों में पाँच-पाँच बढ़ते चले जाते हैं। जैसे आकाश के पाँच गुण जब वायु के पाँचों गुणों में मिलते हैं तो वायु के दश गुण हो जाते हैं। अग्नि में पन्द्रह गुण हो जाते हैं। जल में बीस होते हैं। पृथिवी में पच्चीस होते हैं। इस प्रकार सब जोड़ कर पचहत्तर गुण होते हैं।

१.हस्तलेख में 'शरीरत्रयमज्ञान नेष' पाठ है। २. हस्तलेख में कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं है।

कामक्रोधश्च लोभश्च रागद्वेषमदास्तथा।
मोहमात्सर्यगर्वेर्ष्या असूया दम्भदर्पकौ।।२१३।।
अनृतं पैशुनं मानो जुगुप्सा प्राणिपीडनम्।
परिवादोऽतिवादश्च परितापोऽक्षमाऽधृतिः।।२१४।।
असिद्धिः पापकृत्यञ्च हिंसाऽज्ञानं ततः परम्।
प्रातिकूल्यं विवित्सा च पारुष्यं स्तेयमेव च।।२१५।।
परिग्रहस्तथाऽशौचमित्येते सम्भवन्ति हि।
गुणा जन्तोर्विजातस्य[1] क्षितौ सम्पदमासुरीम्[2]।।२१६।।

अर्थ– प्रथम आसुरी सम्पति कहते हैं– १. काम, २. क्रोध, ३. लोभ, ४. राग, ५. द्वेष, ६. मद, ७. मोह, ८. मात्सर्य ९. गर्व, १०. ईर्ष्या, ११. असूया, १२. दम्भ, १३. दर्प, १४. अनृत= अयथार्थ वचन। १५. पैशुन= परोक्ष में परदूषण वचन। १६. मान = सर्वत्र अनम्रता। १७. जुगुप्सा= परनिन्दा, १८. प्राणिपीडन। १९. परिवाद= समक्ष में भी परदूषणाभिधान। २०. अतिवाद= निरर्थक अतिप्रलाप। २१. परिताप, २२. अक्षमा, २३. अधृति= अधैर्य्य, २४. असिद्धि, २५. पापकृत्य, २६. हिंसा, २७. अज्ञान, २८. प्रातिकूल्य= प्रतिकूलता= सर्वानिष्टाचरण। २९. विवित्सा= विषयों के अन्वेषण की इच्छा। ३०. पारुष्य= नैष्ठुर्य= कठोरता, ३१. स्तेय= अविधि- पूर्वकपरस्वापहरण। ३२. परिग्रह और ३३. अशौच। ये तैंतीस दुष्ट पुरुषों के गुण हैं जो असुर कहलाते हैं।

दानं दमश्च यज्ञश्च ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
अभयं सत्त्वसंशुद्धिः स्वाध्यायस्तथार्जवम्।।२१७।।
दया भूतेष्वलौलुप्यं त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
अहिंसा सत्यमक्रोधो मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२१८।।
क्षमा तेजो धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
ध्यानं चोद्यं समाधानं वैराग्यं ब्रह्मचर्यकम्।।२१९।।
इत्यादयो गुणाः पूर्ववैपरीत्यात् समुद्भवाः।
जायन्ते सम्पदं दैवीमभिजातस्य देहिनः।।२२०।।

अर्थ– अब दैवी सम्पति कहते हैं जो पूर्वोक्त असुर गुणों से विपरीत हैं। १. दान, २. दम, ३. यज्ञ, ४. ज्ञानव्यवस्था, ५. योगव्यवस्था, ६. अभय, ७. सत्त्वसंशुद्धि ८. स्वाध्याय, ९. तप, १०. आर्जव= ऋजुता= सरलता। ११. भूतों में दया। १२. अलौलुप्य= लोलुपताराहित्य। १३. त्याग, १४. शान्ति, १५. अपैशुन्य,

---

१. हस्तलेख में 'जन्तुर्विजातस्य' पाठ है। २. हस्तलेख में 'सम्पदमासुरीन्' पाठ है।

१६. अहिंसा। १७. सत्य। १८. अक्रोध, १९. मादर्व= मृदुता। २०. ह्री= लज्जा। २१. अचापल, २२. क्षमा, २३. तेज, २४. धृति= धैर्य। २५. शौच, २६. अद्रोह, २७. नातिमानिता= अतिसम्मान का अभाव। २८. ध्यान, २९. चोद्य= मैं कौन हूँ, और कहाँ से आया हूँ इत्यादि विचार। ३०. समाधान, ३१. वैराग्य और ३२. ब्रह्मचर्य। ये बत्तीस सत्पुरुषों के गुण हैं जो देवनाम से कहे जाते हैं।

अवशिष्ट संज्ञादर्श[१]

बहिरन्तर्विभेदेन चेन्द्रियं द्विविधं मतम्।
मनोऽन्तरिन्द्रियं प्रोक्तं ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि तु।।२२१।।
दश बाह्येन्द्रियाणि ज्ञैरुक्तान्यध्यात्मदर्शने।
एतान्येव तु संयोज्य प्रोक्तान्येकादशानि च।।२२२।।

व्याख्या– इन्द्रिय दो प्रकार के हैं– १. बहिरिन्द्रिय २. अन्तरिन्द्रिय। मन को अन्तरिन्द्रिय कहते हैं। और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियां ये दश अध्यात्म दर्शन में बहिरिन्द्रिय कहलाते हैं ये सब मिलाकर इन्द्रिय-एकादश कहलाते हैं।

बहिरंगाऽन्तरंगे द्वे ज्ञानांऽगे समुदीरिते।
बहिरंगन्तु यागादि तथान्तः श्रवणादिकम्।।२२३।।

व्याख्या– ज्ञानांग दो हैं– १. बहिरंग और २. अन्तरंग। यागादिक बहिरंग साधन, और श्रवणादिक अन्तरंग साधन हैं। यागादि कर्मों से प्रथम अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण शुद्ध होने पर ब्रह्मज्ञानादि शुभ कर्म की जिज्ञासा और कर्तव्यता उत्पन्न करता है। इस हेतु यह बहिरंग साधन है। और श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये तीन साक्षात् ज्ञानसाधन होने से अन्तरंग कहलाते हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध अन्तःकरण से है।

यौगपद्यक्रमाभ्याञ्च व्याप्ता सृष्टिर्द्विधेष्यते।
शास्त्रीयं चाप्यशास्त्रीयं द्वैतं तद्वद्द्विधा मतम्।।२२४।।

व्याख्या– नवीन वेदान्तियों के मत में सृष्टि दो प्रकार की है १. युगपत् सृष्टि और २. क्रमसृष्टि। दृष्टिसृष्टिवादिमत में युगपत् सृष्टि होती है। उनके मत में जैसे स्वप्नावस्था में माता-पितादि कुछ वस्तु पूर्व सिद्ध और पुत्रादिक कुछ वस्तु पश्चात् सिद्ध यद्यपि प्रतीत होता है, तथापि वस्तुतः स्वप्न निद्रा के दोष से माता-पिता पुत्रादिक सभी साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं। स्वप्नावस्था में पूर्वापर का

१. हस्तलेख में यह उपशीर्षक नहीं है। पृ० १०१ से १०८ तक विषयनिर्देश के रूप में लिखा गया है।

कुछ भेद प्रतीत नहीं होता। तद्वत् जागरणावस्था में आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। इस प्रकार पूर्वापर भाव प्रतीत भी होता है। तथापि अविद्या के दोष से आकाशादिक और मातृपुत्रादिक साथ ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा उनका मत है। सृष्टिदृष्टिवादि के मत में क्रमसृष्टि है। इनके मत में आकाशादिक और मातृपुत्रादिक क्रम से निज-निज कारण द्वारा उत्पन्न होते हैं, यह विचार है।

द्वैत दो प्रकार का है– १. शास्त्रीय और २. अशास्त्रीय। गुरु तथा शास्त्रीय ज्ञान के साधक हैं, विघातक नहीं। अतः यह शास्त्रीय द्वैत कहलाता है। कामक्रोधादिक ज्ञान का विघातक है इसलिये यह अशास्त्रीय द्वैत है।

जन्यं सुखं तथाजन्यं सुखमेवं द्विधा भवेत्।
जन्यं वृत्तिसुखं ब्रह्मसुखं चाजन्यमीर्यते[१]।।२२५।।

व्याख्या– जन्य और अजन्य भेद से सुख दो प्रकार का है। वस्तुसंसर्ग से जन्य सुख होता है और ब्रह्मसुख अजन्य है, अर्थात् वह किसी वस्तु के संसर्ग से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जब मन सर्वथैव निर्विषय होता है, तब ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए उसे अजन्य सुख कहते हैं।

सामानाधिकरण्यञ्च द्विधाख्यातं मनीषिभिः।
बाधमुख्यविभेदेन भावस्तद्वद्द्विधा मतः।।२२६।।
सद्रूपोऽसद्विधर्मा च सद्रूपो ब्रह्मचिद् भवेत्।
तथाऽज्ञानादिविश्वाख्यो भावश्चाऽसद् विलक्षणः।।२२७।।

व्याख्या– बाधसामानाधिकरण्य और मुख्य सामानाधिकरण्य भेद से सामानाधिकरण्य दो प्रकार का है। दो में से एक के बाध से जो सामानाधिकरण्य, उसे बाधसामानाधिकरण्य कहते हैं। जैसे आभासवादी विद्यारण्य स्वामी के मत में अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब जो जीव उसके बाध से ब्रह्म के साथ सामानाधिकरण्य अर्थात् अभेद होता है। सिद्धान्तमुक्तावलीकारादि के मत में अज्ञानोपहित जीव के अबाध से ब्रह्म के साथ जो सामानाधिकरण्य उसे मुख्य सामानाधिकरण्य कहते हैं। अद्वैतसिद्धि नाम ग्रन्थ में बाध सामानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव सामानाधिकरण्य, अभेद सामानाधिकरण्य और अध्यास सामानाधिकरण्य भेद से सामानाधिकरण्य चार प्रकार के हैं। प्रथम यह पुरुष स्थाणु है, दूसरा एक कमल नील है, तीसरा तत्त्वमसि और चतुर्थ यह रजत है इत्यादि स्थल में क्रम से घटा लेना।

१. हस्तलेख में 'चाजन्य नीर्य्यते' पाठ है।

भाव भी दो प्रकार का है– १. सद्रूप और २. असद्रूप। सद्रूपभाव ब्रह्मचिन्मय है और असद्रूपभाव अज्ञान से लेकर यह सम्पूर्ण जगत् है।

वक्तृतात्पर्यमेवाथ शब्दतात्पर्यमेव च।
तात्पर्यं तद्विधा प्रोक्तमेवं वेदान्तवादिभिः।। २२८।।

व्याख्या– वेदान्तवादी[१] दो प्रकार के तात्पर्य कहते हैं १. वक्तृतात्पर्य २. शब्दतात्पर्य। वक्ता के तात्पर्य को वक्तृतात्पर्य कहते हैं। वह ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान में कारण नहीं होता, क्योंकि उसके अभाव में भी अव्युत्पन्न वाक्य से भी वाक्यार्थ ज्ञान देखते हैं। दूसरा शब्दतात्पर्य वह है कि जिस वस्तु के लिये जिस शब्द का उच्चारण किया गया हो उसी का ग्रहण हो अन्य का नहीं। जैसे भोजन काल में किसी ने कहा कि सैन्धव लाओ। सैन्धव शब्द के लवण और घोड़ा दो अर्थ होते हैं किन्तु भोजन काल में सैन्धव शब्द लवण के लिए उच्चरित हुआ है, अश्व के लिए नहीं। इस कारण यहाँ सैन्धव शब्द से लवण का ग्रहण करना शब्दतात्पर्य है। इस तात्पर्य के निर्णय के लिये उपक्रमादि षड्विधलिंग[२] कहे गये हैं।

अपवादस्त्रिधा प्रोक्तः शास्त्रीयो यौक्तिकस्तथा।
प्रत्यक्षश्चेति भेदेन मिथ्याभूतस्य वस्तुनः।।२२९।।

व्याख्या– मिथ्या वस्तु का अपवाद (बाध) तीन प्रकार का है १. शास्त्रीय २. यौक्तिक और ३. प्रत्यक्ष। अधिष्ठान में भ्रान्ति से प्रतीत जो अन्य वस्तु उसको अधिष्ठान से व्यतिरिक्त का निश्चय अपवाद कहलाता है जैसे शुक्ति आदि में भ्रान्ति से प्रतीत जो रजतादि उसको शुक्ति से व्यतिरिक्त निश्चय करना। उनमें [शास्त्र] अर्थात् आदेशों में "नेति नेति" इस श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च के अभाव का जो निश्चय उसे शास्त्रीयबाध कहते हैं। मृत्तिकाभिन्न घट नहीं अर्थात् मृत्तिकास्वरूप ही घट है इस प्रकार के निश्चय के समान निखिल कारणीभूत जो ब्रह्म उससे व्यतिरिक्त यह प्रपञ्च नहीं। इस प्रकार के निश्चय का नाम यौक्तिकबाध[३] है। और "तत्त्वमसि" वह तू है "अयमात्मा ब्रह्म" यह आत्मा ब्रह्म है इत्यादि वाक्य से आत्मसाक्षात्कार होने पर अज्ञान की और अज्ञान के कार्य की जो निवृत्ति उसे प्रत्यक्षबाध[४] कहते हैं।

विधिस्त्रेधा समाख्यातोऽपूर्वोऽप्राप्ते निगद्यते।
नियमः पाक्षिके तद्वत्परिसंख्याऽन्यवारकः।।२३०।।

व्याख्या– विधि तीन प्रकार का है १. अपूर्व, २. नियम, ३. परिसंख्या।

१. हस्तलेख में 'वेदान्तवेदी' पाठ है। २. देखें– पूर्वपृष्ठ ४६।
३. हस्तलेख में 'यौक्तिकवाद' पाठ है। ४. हस्तलेख में 'प्रत्यक्षवाद' पाठ है।

अत्यन्त अप्राप्त अर्थ का जो विधायक उसे अपूर्व विधि कहते हैं। जैसे "व्रीहीन् प्रोक्षति" व्रीहियों (धान आदि) को धोता है। यहाँ व्रीहि-प्रोक्षण [अपूर्व]विधि है। एक पक्ष में प्राप्त के अप्राप्त अंश का पूरक जो विधि उसे नियमविधि कहते हैं। जैसे याग के अंग जो प्राप्त व्रीहि उनका नखविदलन और मुषलावहनन इन दो पक्षों में कदाचित् नखविदलन की प्राप्ति हो, किन्तु मुषलावहनन की अप्राप्ति हो, तो उसका पूरक व्रीहि का अवहनन करना अवघात [नियम]विधि है। दोनों प्राप्त होने पर इतरव्यावृत्तिबोधक जो विधि उसे परिसंख्याविधि कहते हैं। जैसे याग का अंग जो पशुरशना ग्रहण करना है, यहाँ किस पशु की रशना ग्रहण करनी है। यद्वा जहाँ अश्व और गर्दभ दोनों पशुओं की रशना ग्रहण करने की शंका हो वहाँ "अश्वाभिधानीमादत्ते" अश्व की रशना ग्रहण करता है, इस वाक्य से गर्दभ रशना ग्रहण की व्यावृति हो जाती है।

पारमार्थिकजीवोऽथ जीवश्च व्यावहारिकः।
प्रातिभासिकजीवश्च[१] जीवा एते त्रयो मताः।।२३१।।
कूटस्थस्तत्र चाद्यः स्यात् परोऽन्तःकरणान्वितः।
प्रातिभासिकजीवस्तु क्लृप्तः स्याद् व्यावहारिके।।२३२।।
गौणात्मा चाथ मिथ्यात्मा मुख्यात्मा च तथाविधः।
आत्मा क्रमात्त्रिधा पुत्रदेहकूटस्थसंज्ञकः।।२३३।।

व्याख्या– पारमार्थिक जीव, व्यावहारिक जीव और प्रातिभासिक जीव ये तीन प्रकार के जीव हैं। यह और वक्ष्यमाण संज्ञाएँ अद्वैतियों की हैं। कूटस्थ जीव पारमार्थिक है। अन्तःकरणप्रतिबिम्बित जीव व्यावहारिक है। और व्यावहारिक जीव में प्रतिभासिक जीव कल्पित होता है। पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादिक गौणात्मा, देहादिक मिथ्यात्मा और कूटस्थ (सर्वव्यापक) मुख्यात्मा है। इस प्रकार आत्मा तीन कहे गये हैं।

तन्त्रत्वं त्रिविधं पुत्रप्रजाभास्यार्थगोचरम्।
जन्यत्वेनाश्रयत्वेन भास्यत्वेन तथैव च।।२३४।।
व्यावर्त्तकानि त्रीणि स्युरुपाधिश्चोपलक्षणम्।
तथा विशेषणं चैव वस्तूनां यत्र तत्र हि।।२३५।।

व्याख्या– अधीनता तीन प्रकार की है– १. जन्यभाव से, २. आश्रयभाव से और ३. भास्यभाव से अधीनता होती है। पित्रादि की अधीनता पुत्रादिकों को इसलिए है कि पुत्रादिक जन्य हैं अर्थात् पिता से उत्पन्न हुए हैं। राजा की

१. हस्तलेख में 'प्रातिभासित जीवश्च' पाठ है।

अधीनता प्रजा को इसलिए है कि राजा के आश्रय में प्रजा रहती है। ज्ञान की अधीनता सकल पदार्थों को इसलिए है कि ज्ञान से ही सकल पदार्थ भासित होते हैं। उपाधि, उपलक्षण, और विशेषण भेद से वस्तुओं के व्यावर्तक तीन हैं। जो कार्य में अन्वित होकर वर्तमान रहे उसे व्यावर्त्तक (विशेषण) कहते हैं। जैसे घट का नीलादिक रूप व्यावर्तक है क्योंकि घटरूपकार्य में नीलरूप अन्वित होकर वर्तमान है। जिसका कार्य में अन्वय न हो ऐसा जो व्यावर्त्तक उसे उपाधि कहते हैं जैसे स्फटिक में जपा[१]कुसुम (रक्त पुष्प) आदिक लौहित्य का उपाधि होता है क्योंकि स्फटिकरूप कार्य में जपा[१]कुसुम का अन्वय (प्रवेश) नहीं है। तो भी लौहित्य का कारण है। कभी हो कभी न हो ऐसा जो व्यावर्त्तक उसे उपलक्षण कहते हैं। जैसे किसी ने पूछा कि देवदत्त का गृह कौनसा है ? उत्तर मिला कि जिस पर काक हो, वह देवदत्त का गृह है। क्योंकि गृह पर काक का रहना कादाचित्क है इसलिये उसे उपलक्षण कहते हैं।

आकांक्षा योग्यताऽऽसत्तिस्तात्पर्यज्ञानमेव च।
चत्वार्येतानि वाक्यार्थज्ञान उक्तानि हेतवः।।२३६।।

अर्थ– वाक्यार्थज्ञान के ये चार हेतु होते हैं १. आकांक्षा, २. योग्यता, ३. आसत्ति और ४. तात्पर्यज्ञान ये चार वाक्यार्थज्ञान में हेतु होते हैं। जिस पद के बिना जिसका अन्वय न हो उस पद के साथ उसकी आकांक्षा होती है। जैसे क्रियापद के बिना कारकपद अन्वयबोध नहीं करता। इस हेतु कारकपद को क्रियापद की आकांक्षा होती है जैसे 'मनुष्य को' इतना कहने से क्रिया की आकांक्षा होती है। 'मनुष्य को देखो या मारो पीटो' इत्यादिक क्रिया के बिना कारकपद का अन्वय नहीं हो सकता। एक पदार्थ में अपर पदार्थ के सम्बन्ध का नाम योग्यता है जैसे 'वह्निना सिञ्चति' अग्नि से सींचता है। यहाँ योग्यता नहीं हैं क्योंकि सेचन क्रिया जल से होती है, अग्नि से नहीं। इस हेतु 'जलेन सिञ्चति' यहाँ योग्यता होगी किन्तु 'वह्निना सिञ्चति' यहाँ योग्यता न होगी। पद के सन्निधान को आसत्ति कहते हैं अर्थात् जिस पदार्थ का जिस पदार्थ के साथ अन्वय अपेक्षित हो उन दोनों को अव्यवहित होकर उपस्थित रहना शाब्दबोध में कारण होता है जैसे 'यह घट नीला है'। घटपद के समीप नीलापद का रहना आसत्ति है। क्योंकि घटपद का नीलापद के साथ अन्वय अपेक्षित है इसलिए इन दोनों पदों के अव्यवहितरूप से उपस्थित होने से ही शाब्दबोध हो सकता है। वक्ता की इच्छा को तात्पर्यज्ञान कहते हैं जैसे भोजन काल में 'सैन्धव लाओ' इतना कहने से सैन्धवपद से वक्ता की इच्छा नमक से है और यात्रा समय में

१. हस्तलेख में 'यवा' पाठ है।

'सैन्धव लाओ' इतना कहने से वक्ता की इच्छा अश्व से है। इसी का नाम तात्पर्य ज्ञान है।

जीव ईशो विशुद्धचित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगो वेदान्ते षडनादयः।।२३७।।

अर्थ– नवीन वेदान्त में ये छह अनादि पदार्थ हैं– १. जीव, २. ईश, ३. विशुद्धचित्, ४. जीव-ईश का भेद, ५. अविद्या, ६. अविद्या और चित् का योग।

ऋगादयश्च वेदाः स्युश्चत्वारोऽङ्गानि षट् तथा।
तथोपाङ्गानि चत्वारि विद्या एताश्चतुर्दश।।२३८।।
पुराणानि तथा न्यायो मीमांसा शास्त्रमेव च।
धर्मशास्त्रं तथैतानि चोपाङ्गानि विदुर्बुधाः।।२३९।।

अर्थ– चार वेद, छह अंग और चार उपांग ये मिलकर चतुर्दश विद्याएँ हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये चार उपांग हैं।

कार्यकारणभावश्चैवाधाराऽऽधेयता तथा।
विषयविषयित्वञ्च संयोगश्च तथाविधः।।२४०।।
आध्यासिकञ्च तादात्म्यं मुख्यं तादात्म्यमेव च।
एवमेवंविधा भेदाः सम्बाधानामुदीरिताः।।२४१।।

अर्थ– सम्बन्ध अनेक प्रकार के हैं, वे ये हैं– मृत्तिका और घट का सम्बन्ध कार्यकारणभाव कहलाता है। भूतल और घट का सम्बन्ध आधाराधेयभाव कहलाता है। ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध विषयविषयीभाव कहलाता है। कुराड़ और जल का सम्बन्ध संयोग कहलाता है। देह और आत्मा का सम्बन्ध आध्यासिकतादात्म्य कहलाता है। नील और घट का सम्बन्ध मुख्यतादात्म्य कहलाता है। इत्यादि।

आरम्भिपरिणाम्याख्ये विवर्तश्चेति[१] भेदतः।
कारणं त्रिविधं प्रोक्तं जन्यस्यानात्मवस्तुनः।।२४२।।

अर्थ– जन्य जड़ पदार्थ के तीन कारण कहे गए हैं– १. आरम्भ, २. परिणाम और ३. विवर्त। नैयायिक और वैशेषिक के मत में आरम्भ कारणवाद है। उनका यह प्रकार है– प्रथम ईश्वरेच्छा से पार्थिवादि परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति होती है, तब द्व्यणुक उत्पन्न होता है। तब त्र्यणुक और चतुरणुक आदि उत्पन्न होते हैं। इसी क्रम से भूत= भौतिक द्रव्य उत्पन्न होते हैं। सांख्यमत में परिणाम कारणवाद है। उपादान के समान समसत्ता वाला जो अन्यथाभाव उसे

१. हस्तलेख में 'विवर्त्त चेति' पाठ है।

परिणाम कहते हैं जैसे दूध से दही का होना परिणाम है। यद्वा उपादान के लक्षण के समान अन्यथाभाव का नाम परिणाम है। इस मत में सत्त्व, रज और तम गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। और उसी प्रकृति का परिणाम यह जगत् है। नवीन वेदान्तियों के मत में विवर्त्त कारणवाद है। उपादान से विषमसत्ता वाले अन्यथाभाव का नाम विवर्त्त है। इस मत में ब्रह्म का विवर्त्त यह अखिल जगत् है।

अध्यात्मं चाधिभूतं च तथा चैवाधिदैवतम्।
अध्यात्मादित्रिकं चैतत् कीर्त्तितं बोधसाधकम्।।२४३।।

अर्थ – अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत ये अध्यात्मादि तीन बोधसाधक हैं, जैसे मन अध्यात्म, मन्तव्य अधिभूत और वहाँ चन्द्र अधिदैवत है। बुद्धि अध्यात्म, बोद्धव्य अधिभूत और उसमें बृहस्पति अधिदैवत है। अहंकार अध्यात्म, अहं कर्तव्य अधिभूत और उसमें रुद्र अधिदैवत है। चित्त अध्यात्म, चेतयितव्य अधिभूत और क्षेत्रज्ञ वहाँ अधिदैवत है। श्रोत्र अध्यात्म, श्रोतव्य अधिभूत और वहाँ दिशा अधिदैवत है। त्वचा अध्यात्म, स्पर्शयितव्य अधिभूत और वहाँ वायु अधिदैवत है। चक्षु अध्यात्म, द्रष्टव्य अधिभूत और सूर्य वहाँ अधिदैवत है। जिह्वा अध्यात्म, रसयितव्य अधिभूत और वरुण वहाँ अधिदैवत है। नासिका अध्यात्म, घ्रातव्य अधिभूत और अश्विद्वय वहाँ अधिदैवत है। वाणी अध्यात्म, वक्तव्य अधिभूत और अग्नि वहाँ अधिदैवत है। पाणि (दोनों हाथ) अध्यात्म, आदातव्य (ग्रहीतव्य) अधिभूत और इन्द्र वहाँ अधिदैवत है। चरण अध्यात्म, गन्तव्य अधिभूत और विष्णु वहाँ अधिदैवत है। पायु (मलेन्द्रिय) अध्यात्म, विसृज्य (त्याज्य) अधिभूत और मित्र वहाँ अधिदैवत है। उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) अध्यात्म, आनन्द अधिभूत और प्रजापति वहाँ अधिदैवत है।

इति श्री शिवशंकरप्रणीते त्रैतसिद्धान्तादर्शे[१]
संज्ञादर्शो नाम प्रथम आदर्शः
समाप्तः।।१।।



१. हस्तलेख में 'इति श्री त्रैतसिद्धान्तादर्शे श्री शिवशंकर प्रणीते' पाठ है।

अनुबन्धचतुष्टयादर्श

अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन ये चार मिलकर अनुबन्ध कहलाते हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में इन्हें जान लेना उचित है।

अधिकारीनिरूपण

वेदान्त के अधिकारी पृथिवी पर के समस्त नर और नारियाँ हैं। किसी वर्ण, किसी सम्प्रदाय और किसी देश का कोई क्यों न हो जो स्त्री, पुरुष, आत्मकल्याण, आत्मोद्धार और मानवधर्म और परमपिता को चाहें जानने-मानने और करने की इच्छा करें वे इसके निकट आवें अवश्य कल्याणभागी होंगे। किन्तु जिस हेतु वेदान्त के अध्ययन में चारों वेदों, शतपथादि ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, गीता, महाभारत और स्मृतियों के प्रमाण अधिक आते हैं, अतः यथाशक्ति इन्हें जान कर जो वेदान्ताध्ययन करते हैं, वे शीघ्र इसके तत्त्वों से सुपरिचित होते हैं। तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन षट् अंगों के आशय के भी अभिज्ञ हों। वर्तमानकालिक सांख्यशास्त्र के, न्याय-वैशेषिक के तथा आधुनिक तर्कों के तत्त्वों में निष्णात हों तथा नूतनाविष्कृत विज्ञानों, भूगोल, भूगर्भविद्या, यन्त्रविद्या, भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान, शारीरिक विज्ञान, पशुविद्या, पक्षिविद्या इत्यादि विद्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हों वे इसके अध्ययन में प्रवृत्त[१] हों। इसके जानने के लिए प्राकृत विद्याओं की नितान्त आवश्यकता है क्योंकि उसी की माया से यह व्यावहारिक महामहाद्भुत आश्चर्य कौशलयुक्त आकाश से लेकर कीट पर्यन्त जगत् भासित हो रहा है। जिसको विद्वान् से लेकर मूर्ख तक सत्य समझ लिप्त हो रहे हैं। इसी को परमार्थ तत्त्व समझ नाना क्लेशों में उलझ जीवन गवांते[२] हैं। यदि इसको तत्त्वतः न जानेंगे तब परमजिज्ञास्य ब्रह्म भी कल्पित ही प्रतीत होगा। अतः ये चराचर जगत् क्या हैं, कहाँ से आए, हम क्या हैं, इस बुद्धि का क्या प्रयोजन, इस जीवन का उद्देश्य क्या, यह भासित प्रपञ्च किस ओर जा रहा है इत्यादि तत्त्व जान लेने से अनन्त ब्रह्म की जिज्ञासा में मन लगता है और तब वे असत्य पङ्क में कदापि नहीं फंसते। तब ही परमदेव के परम कौशल [और] अनन्त लीलाओं को जान कर परमानन्द में निमग्न हो सकते हैं। अतः श्रुति कहती हैं–

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।

१. हस्तलेख में 'प्रविष्ट' पाठ है। २. हस्तलेख में 'खाते' पाठ है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।।

(कठोपनिषद् १.३.६-९)

जो समाहित मन से सदा विज्ञानवान् होता है, उसी के इन्द्रिय वश[१] में होते हैं जैसे सारथि के सदश्व।। ६।। जो समनस्क शुचि हो [कर] सदा विज्ञानवान् होता है। वह उस परमात्मपद को पाता है जिससे महान् अन्य वस्तु कोई नहीं है अथवा जिससे पुनः नहीं होता।। ८। जिस नर का विज्ञान ही सारथि और मन लगाम है, वही मार्ग का पार पाता है। वही ईश्वर के उस परमपद को पाता है।।९।। इत्यादि विज्ञान की प्रशंसा स्वयं श्रुति करती है। और भी नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्मों और उपासना से जिसका अन्तःकरण शुद्ध है वही इसका अधिकारी है। जिस कर्म को विधिपूर्वक न करने से प्रत्यवाय हो, ऐसा जो सन्ध्यावन्दनादि, वह नित्य कर्म कहाता है। पुत्रजन्मादि निमित्त से जो कर्म किया जाय, वह नैमित्तिक [कर्म कहाता है]। पापक्षयों के साधन जो चान्द्रायण आदि व्रत, वे प्रायश्चित्त [कर्म कहाते है]। परमपिता के गुणों के अनुसार जो मानस व्यापार है, वह उपासना कहलाती है। इत्यादि कर्मो का मुख्य प्रयोजन बुद्धिशुद्धि है। उपासना का प्रयोजन चित्तैकाग्र्य ही है क्योंकि श्रुति कहती है–

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति।। बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.२२।।

उस परमात्मा को ब्राह्मण वेदाध्ययन से, यज्ञ से, दान से, तप से, अनशनव्रत (चान्द्रायण आदि) से जानना चाहते हैं। इसी को जान कर मुनि होता है। इत्यादि।

साधनचतुष्टय

और भी जो जन साधनचतुष्टय से युक्त है, वही इसका अधिकारी है। विवेक, विराग, षट्सम्पतियाँ और मुमुक्षुत्व ये चार साधन हैं।

विवेकनिरूपण

विवेकसम्पन्न पुरुष इसका अधिकारी है। नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार का नाम विवेक है। इस प्रकार विचार को नित्यानित्यवस्तुविवेक कहते हैं।

१. हस्तलेख में 'वश्य' पाठ है।

इस सम्बन्ध में दो-चार जो बातें ज्ञातव्य हैं वे ये हैं– मुण्डकोपनिषद् (१.१.३-७) के आरम्भ में ही लिखा है कि अङ्गिरा के निकट विधिवत् प्राप्त हो महाशाल (महोपाध्याय) शौनक पूछते हैं कि भगवन् ! किस एक वस्तु के ज्ञान से सब ही वस्तुएँ विज्ञात होती हैं। इनसे अङ्गिरा कहने लगे– ब्रह्मवित् कहते हैं कि प्रथम परा और अपरा दो विद्याएँ जाननी चाहिएं। अपरा विद्याएँ ये हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

पराविद्या वह है जिससे अक्षर(अविनाशी) का अधिगम होता है। जो अक्षर, अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र है अपाणि, अपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म और अव्यय है। इसी को धीर जगद्-योनि समझते हैं। जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) जाला बनाती है और बिगाड़ती है, जैसे पृथिवी से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे पुरुष के शरीर से केश-लोम होते हैं वैसे ही इस अक्षर से यह चराचर विश्व होता है, इत्यादि।

इससे सिद्ध है कि नित्यानित्यवस्तुविवेक के लिये समस्त विद्याओं का पारदर्शी हो। तदनन्तर उस परमपिता का पूर्ण बोध हो सकता है। यदि वह निरन्तर समाहित हो, इसकी चिन्ता में लगा रहा हो। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते एवं बात करते हुए भी जैसे रसिक और कामी युवक के हृदय में केवल युवति ही एक वस्तु रहती है, आगे-पीछे ऊपर-नीचे वही एक देख पड़ती है, तद्वत् जिसका समाहित मन उसी परब्रह्म में लीन रहता है। तब भेद-ज्ञान मिटकर अनायास उसके मुख से निकलने लगता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ। मेरी ही ये सारी लीलाएँ हैं। मैंने ही यह सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथिवी आदि प्रपञ्च रचा है। मैं ही रच रहा हूँ। हे मनुष्यो ! मुझे जानो इत्यादि। इसी अवस्था को प्राप्त होकर ऋषि वामदेव, योगिराज श्रीकृष्ण, चैतन्य, शंकर आदिकों ने कहा है कि मैं ब्रह्म हूँ, 'अहं ब्रह्मास्मि'।

पुनः– छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम प्रपाठक के आरम्भ से संवाद आता है कि "इस नित्यानित्यवस्तुविवेक के लिए जब नारद प्रथम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, वेदानां वेद (व्याकरण), पित्र्य (ऋतुविद्या आदि), राशि (ज्योतिष) दैव, निधि, वाकोवाक्य (तर्कविद्या), एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजन[१]विद्या इत्यादि विद्याओं का अध्ययन कर गये। तदनन्तर उस-उस की परम विभूतियाँ उस नारद को सूझने लगीं। तब सनत्कुमार के निकट जा आत्मवित् हुए"। अद्यतन पुरुष दो चार शब्दों के जान लेने पर ही ब्रह्मवित् होना चाहते हैं, यह आश्चर्य की बात है।

१. हस्तलेख में 'देवयजन' पाठ है।

इस आत्मविवेक के लिए इन्द्र को १०१ वर्ष प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य करना पड़ा। छान्दोग्योपनिषद् (८.११.३) देखिये।

द्वादश वर्ष निरन्तर श्वेतकेतु आचार्यकुल में वेदादि-अध्ययन करते रहे, किन्तु ब्रह्मबोध न हुआ। तत्पश्चात् पुनः कतिपय वर्ष अपने पिता के समीप आत्मविद्या का अध्ययन किया। तब वे आत्मदर्शी होकर परोपदेशक हुए। छान्दोग्योपनिषद् (६.१.१) देखिये।

इसी प्रकार वरुणपुत्र भृगु जी अपने पिता के सन्निधि बार-बार ब्रह्म-जिज्ञासा करते रहे। तप, ब्रह्मचर्य और भूयोभूयः मनन के पश्चात् उन्हें ब्रह्मबोध हुआ[१]। श्रुतियों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे विदित होता है कि प्रथम प्राकृत विज्ञान ही अध्येतव्य है। तत्पश्चात् विवेक उत्पन्न होता है।

वैराग्यनिरूपण

वैराग्ययुक्त पुरुष इसका अधिकारी है। इस लोक में और परलोक में फल भोगने की इच्छा न करने का नाम वैराग्य है इसको इहामुत्रफलभोगविराग कहते हैं। इस में दो अंश हैं– १. ऐहिकफलभोगविराग और २. पारलौकिकफलभोगविराग। इसी द्विविध भोगों की मृगतृष्णा में मानव सन्ततियाँ अहोरात्र चक्कर लगा रही हैं । अकिञ्चन नर-नारियों को छोड़ मध्यम और उत्तम श्रेणियों में से सैकड़े निन्यान्वे पुरुष स्त्रैणभोग[२] में निमग्न हैं। इनके लिए परम उपास्य देवी यदि कोई है तो वह केवल सुन्दरी षोडशी भुवनेश्वरी नारी है। यद्यपि दाम्पत्यप्रेम स्त्री-सम्बन्धी भोगविलास स्वाभाविक है, तथापि मनुष्य-सन्तान ने इस प्राकृत धर्म को इतना बिगाड़ रखा है कि कहीं स्त्रियाँ और कहीं पुरुष नरक कुण्ड बन गये हैं। प्रेक्षावानों ने परीक्षा कर देखा है कि कोई-कोई अति सुन्दर बुद्धिमान् बालक इस व्यसन में असमय से ही फंसकर ही ऐसा कुरूप और रोगी बन जाता है कि जिसके निकट दुर्गन्ध से स्वकीया पत्नी भी खड़ी नहीं हो सकती। राजवंश प्रायः सब ही इसी देवी की रात्रिन्दिवा उपासना करते रहते हैं। शोक की बात है कि मनुष्यों की यह क्या दुर्दशा है। भारतवासी ब्राह्मण और क्षत्रिय इसमें इतने लीन हुए कि दो सौ/ चार सौ विवाह करने और दासियाँ रखने लगे। अब तक भी ऐसे बहुत से उन्मत्त राजा धनान्ध पृथिवी के नीचातिनीच कीड़े बने हुए हैं। यह व्यसन यहाँ इतना बढ़ा कि अपने सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता परम इष्ट देव को भी स्त्रीरूप में ही समझने लगे, वनितोचित अलंकारों से सुभूषित कर पूजने लगे। काली, दुर्गा, तारा, बगला, भुवनेश्वरी, भगवती आदि तन्त्रादि देवी-देवताएँ इसी व्यसन के परिणाम हैं। जब लोग अथवा समग्र मानवजगत् इस

१. द्र.– तै० उप० भृगुवल्ली।   २. हस्तलेख में 'वस्त्रैणभोग' पाठ है।

स्त्रैणलीला में लीन-प्रलीन है, तब वेदान्तोपदेश के प्रचार की कौन सी आशा है। वेदान्त कहता है कि परमवैराग्यवान् पुरुष इसका अधिकारी है। यद्यपि १. राजा ययाति और २. मुनि सौभरि प्रभृति की आख्यायिका से दिखलाया गया है कि भोग से इन्द्रियों की मरणक्षण तक तृप्ति नहीं होती और यह केवल आसुरी प्रवृत्ति है। त्रिलोक की सुन्दरियों से रावण तृप्त न हुआ। भीमासुर षोडश सहस्र कन्याओं को एक स्थान में एकत्रित कर विहार करना चाहता था, इसका फल उसको मिला। ३. सुन्द[१] और उपसुन्द[१] दोनों भाई इसी से नष्ट हुए। ४. बकासुर की ऐसी ही कथा है। ५. असुरगण मोहिनी की बातों से मोहित हो अमृत से वञ्चित रहे। पौराणिक नारद कपिमुख हुए। दुहितृप्रणयी ब्रह्मा अपूज्य बने। वृन्दा के प्रति कपटाचारी विष्णु प्रस्तर हुए इत्यादि काल्पनिक और ऐतिहासिक कथाएँ शतशः विद्यमान हैं, तथापि मनुष्यों का इससे उद्धार नहीं।

प्रात्याहिक दृश्य सूचित करता है कि मनुष्य समाज में सैकड़े पचहत्तर पुरुषों का जीवन भोगविलास के लिए ही है। इस प्रकार एक ही विलास का अतिसंक्षिप्त दिग्दर्शन दिखलाया है। किन्तु भौम विषयक भोग बहुविध हैं। कोई उन्मत्त राजा पृथिवी पर के निखिल मनुष्यों को अधीन कर एक सम्राट् होना चाहता है। कोई अपनी प्रतिमा के अपने जीवन में ही भजन-पूजन का उत्कण्ठाभिलाषी रहता है। अन्य महोदय विराट् सभाओं के अधिपति हो, जय-जय ध्वनि की आकांक्षा करते रहते हैं। इस प्रकार के समग्र व्यसनों से निवृत्त पुरुष इस शास्त्र का अधिकारी है।

पारलौकिक भोगविराग

मनुष्य के अन्तःकरण में अदृश्य सुख की कामनाएँ भी अधिकतर हैं। अतः आगे कहा जायेगा कि सकाम और निषिद्ध कर्म कदापि न करे। इन्द्र की अप्सरो -मण्डित नन्दनवन-भूषित स्वर्गपुरी, कृष्ण की गोपिकाओं से पूर्ण गोलोक, भगवती की अनुचरी सर्वविभूतिसम्पन्ना योगिनी और कामविह्वला मैरेयी प्रभृतियों से सुसज्जित कैलाशासन एवं वरुणलोक, प्रजापतिलोक इत्यादि की कथा किस मानव के हृदय को बलात् नहीं खींचती। उपासको ! इस मृगतृष्णा से भी जब तुम्हारा चित्त विरागवान् होगा, तब ही तुम सुखी और अनन्तानन्त ब्रह्मानन्द के योग्य होगे, जिस आनन्द की अणुतम मात्रा से यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आनन्दालय भासित होता है।

१. हस्तलेख में 'सुन्दर' और उपसुन्दर' पाठ है।

षट्सम्पत्तियाँ

शम, दम उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा ये षट् सम्पत्ति नाम से वेदान्त में कही जाती हैं। इनका अभ्यासी इस शास्त्र का अधिकारी होता है। भूमि, कनक, पशु और अन्नादिक सम्पत्तियाँ क्षणिक, असौख्यकर और कभी-कभी आत्मघातक भी होती हैं और इनसे जगत् में जो अशान्ति की नदियाँ बह रही हैं इन्हें प्रत्यक्ष नयनों से देखिए। वर्त्तमानकालिक एक ही जर्मनी-फ्रांस-युद्ध उदाहरण के लिए पर्याप्त है। जिससे समस्त पृथिवी के मनुष्यसमाज रोगों और भूखों से मर रहे हैं। अति भयंकर प्रलयकाल सा प्रतीत हो रहा है। क्या इसी का नाम जीवनोद्देश्य है ? अतः अतिसंक्षेप से इनका लक्षणमात्र यहाँ लिखते हैं, क्योंकि ग्रन्थविस्तर से भय ही हो रहा है। मनुष्यो ! इनको हृदयस्थ और व्यावहारस्थ करो।

शम

ईश्वरविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन से भिन्न जो अन्य विषयों से मन को हटा लेना, वह शम कहलाता है। जैसे तीव्र बुभुक्षा जागृत होने पर भोजनातिरिक्त विषय मन को रुचिकर नहीं होते, भोजनविलम्ब नहीं सह सकता, वैसे ही जब तत्त्वज्ञानसाधन श्रवण-मननादिकों में अत्यन्त अभिरुचि और मालाचन्दनादिकों में अत्यन्त अरुचि होती है, तब पूर्व वासनाओं के बल से श्रवणादि साधनों से उड्डीयमान और भोगविलास में धावमान जो मन उसकी निवृत्ति जिस अन्तःकरण की वृत्ति से होती है, उसे शम कहते हैं। इसी का नाम शान्ति भी है।

दम

व्यसनों से श्रोत्रादि इन्द्रियों को हटाकर ईश्वरविषयक श्रवणादिक में लगाना दम कहाता है। यद्यपि इन्द्रियों का दमन करना अति कठिन है, परन्तु अभ्यास से सरल हो जाता है। जितना ही इच्छा को बढ़ावेगा, उतना ही आगे-आगे दौड़ती जायेगी और जितना पीछे हटावेगा, उतना ही वह पीछे हट भी जाती है। इसके उदाहरण जनक, शुक, व्यास, शंकर, रामानुज, दयानन्द और ईसा आदि एक ओर और अकिञ्चन कामासक्त[१] पुरुष दूसरी ओर हैं। पृथिवी विजयी सिकन्दर इन्द्रियों का दास बन थोड़ी ही आयु में मर गया।

उपरति

निगृहीत और वशीभूत जो श्रोत्रादिक इन्द्रियवर्ग वे जिस चितवृत्ति विशेष

१. हस्तलेख में 'कार्य्यासक्त' पाठ है।

से पुनः विषयों से न जा लिपटें, किन्तु श्रवणमननादिक में स्थिर हो जायें उसे उपरति कहते हैं। विहित अनित्यकर्मों का त्याग और चतुर्थाश्रमोचित कर्मों का ग्रहण करना उपरति है।

तितिक्षा

शीत-उष्ण, सुख-दुःखादिकों के सहने का नाम तितिक्षा है। सहिष्णुता एक अमूल्य रत्न है।

समाधान

शब्दादि विषयों से निगृहीत अन्तःकरण को ईश्वरविषयक श्रवणादिकों में और तदुपकारक निरभिमानित्वादि साधनों में लगाने का नाम समाधान है।

श्रद्धा

निष्कपट, सत्यपरायण, सत्यान्वेषी, सत्यवक्ता आचार्यों और वेदान्तवाक्यों में विश्वास का नाम श्रद्धा है।

मुमुक्षुत्व

मोक्ष की इच्छा का नाम मुमुक्षुत्व है। ब्रह्म की प्राप्ति और अनर्थ की निवृत्ति का नाम मोक्ष है। इनके सम्बन्ध में श्रुति कहती है–

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रक्षीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सकलं मुमुक्षवे।।[१]

जिसका चित्त शान्त हो और जितेन्द्रिय हो और भ्रमलिप्सादि दोषरहित आज्ञाकारी गुणवान् सर्वदा अनुगत और मोक्ष की इच्छा करने वाला हो, ऐसे शिष्य को उपदेश करना चाहिए।

शंका– आपने अभी कहा था कि प्रत्येक नर-नारी का अधिकार वेदान्तशास्त्र में है, किन्तु अनुबन्धचतुष्टय के एक अंग के दिग्दर्शन से प्रतीत होता है कि यह शास्त्र संन्यासियों के लिये ही है, क्योंकि विवेक, विराग, षट् सम्पतियों और मुमुक्षुत्व का साधन गृहाश्रमी कैसे कर सकते हैं ? विवेक का साधन कुछ अंश तक गृही कर भी सकें किन्तु विराग और षट्[२] सम्पतियों का साधन इनसे कैसे हो सकता है ? कहा गया है कि जन्म लेते ही मनुष्य तीन ऋणों से निगृहीत हो जाता है। ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और देव-ऋण। वह अध्ययन से ऋषि-ऋण से, सन्तानोत्पति से पितृ-ऋण से और विविध यज्ञों से देव-ऋण से छूटता है। यहाँ वेदान्त में सब से विराग कहा है इत्यादि।

समाधान– वेदान्त के उपदेशों के आशय से केवल आप ही नहीं किन्तु

१. मूल ज्ञात नहीं। २. हस्तलेख में 'इस' पाठ है।

जगत् वञ्चित है। इसके उच्च्य आशय को लोग ग्रहण नहीं करते। वेदान्तशिक्षा बिना मानवजाति का उद्धार नहीं। विवेकिवृन्द ! प्रत्येक आश्रम में, प्रत्येक व्यवहार में, प्रत्येक काल में और प्रत्येक जीवन में विवेक-विराग-शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा और मुमुक्षुत्व ग्राह्य हैं। इनके अभाव के कारण ही तो मनुष्य जाति में वह अशान्ति दुःख समुद्रसम अपार हो रहे हैं। प्रत्येक कार्य यदि आसक्तित्यागपूर्वक और विवेकवैराग्यादियुक्त [होकर] किया जाय तो यह भूमि स्वर्ग हो जाय। क्या गृहस्थों को इन्द्रियदमन नहीं करना चाहिए ? एक स्त्रीव्रत अधर्म नहीं किन्तु धर्म और इन्द्रियदमन ही है। "पुत्रप्रयोजन भार्या" को लक्ष्य में रखकर जो दाम्पत्य प्रेम के आकांक्षी बनते हैं, वे वास्तव में विरागी ही हैं। परमज्ञानी वामदेव, जनक, याज्ञवल्क्य, अगस्त्य, अत्रि और वसिष्ठ आदिक सपत्नीक थे। प्रत्येक कार्य में आसक्ति पापजनक है। आत्मरक्षार्थ और जगत्कल्याणार्थ धनसंग्रह करना विवेक ही है। जब स्वार्थ ही स्वार्थ मनुष्य को सूझता है, तब ही अमंगल होता है। जब एक देश के लोग दूसरे देशवासियों को जीतकर चबा लेना चाहते हैं, तब ही अनिष्ट होता है। यहाँ विचारना चाहिए कि इससे क्या लाभ ? यह जीवन सौ वर्ष से अधिक नहीं। इन्द्रियगण शिथिल होंगे। मृत्यु होगी। तब मनुष्य को मनुष्य क्यों खाये ? फ्रांस में राजवंश क्यों कर निर्मूल किए गये ? क्या ऐतिहासिक विद्वान् यह नहीं कहते हैं कि भूपतिगण अत्यन्त स्वार्थी हो गये थे। इसी प्रकार सर्वत्र की दशा है। क्या स्वार्थ के लिये मनुष्य जाति को दास बनना उचित है ? क्या एक समस्त देशवासियों की समस्त सामग्रियों को छीन, दूसरे देश को सम्पति पूर्ण करना राक्षसी वृति नहीं ? एवमस्तु अलमप्रसंगेन। विवेकादि के निकट जितना मनुष्य समाज आवेगा, उतना ही सुखी होगा। वेदान्त ही जगत् का उद्धारक होगा।

ज्ञानसाधनाष्टक

पूर्वोक्त विवेक, विराग, षट् सम्पति और मुमुक्षुता ये चार और श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्पद के अर्थ का और त्वंपद[१] के अर्थ का शोधन ये चार मिलकर आठ ज्ञान के साधन हैं। इनसे युक्त वेदान्ताधिकारी है। शोधन का आशय यह है कि चेतन में कारणता, अधिष्ठानता[२] अदृश्यता और साक्षित्व और जड़जगत् में कार्यता, अध्यस्तता, दृश्यत्व और भास्यत्व आदि का विचार कर ज्ञान की प्राप्ति करना है।

१. हस्तलेख में 'तत्पद' पाठ है। २. हस्तलेख में 'अधिष्ठान्ता' पाठ है।

अनधिकारनिरूपण

काम्य कर्म का कर्त्ता इसका अधिकारी नहीं। फलप्राप्ति की आकांक्षा से जो-जो कर्म किये जाते हैं वे-वे काम्य कर्म हैं। वास्तव में किसी फल की प्राप्ति के लिये ही अन्य देवताओं की पूजा लोग करते हैं। पुत्रकामी जन पुत्रेष्टि, स्वर्गकामी अग्निष्टोमादि यज्ञ करते हैं।

शंका— फलप्राप्ति की आकांक्षा विना ही यदि अग्निष्टोमादि यज्ञ करें तो कर सकते हैं या नहीं ? मान लीजिए फल की आकांक्षा न करें, किन्तु जितने विहित कर्म हैं उन सबको करते जायँ, इसमें क्या क्षति ? दूसरी बात संसार में देखते हैं कि "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते" प्रयोजन को लक्ष्य में न रख कर मन्द पुरुष की भी प्रवृत्ति किसी [कर्म] में नहीं होती। दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति करना वेदान्त का प्रयोजन कहा जाता है। प्रयोजन ही फल है। तब काम्य कर्म [का] कर्ता अधिकारी नहीं, यह आप कैसे कहते हैं ? कामना के विना कौन सा कर्म किया जाता है, इसका [समाधान] आप करें।

समाधान— इस शंका के अनेक अंश है। **क**— प्रथम फलाभिलाष के विना ही अग्निष्टोमादि यज्ञ कर सकते हैं या नहीं ? **ख**— द्वितीय कामनारहित कोई कर्म ही नहीं है। **ग**— तृतीय वेदान्त का भी प्रयोजन बतलाया जाता है। अतः यह भी एक कर्म है। **घ**— चतुर्थ श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि आदि भी तो सकाम कर्म ही हैं, वेदान्त इनका विधान करता है। इत्यादि। भिन्न-भिन्न अंशों का वर्णन यथामति इस प्रकार है। फल के त्याग से अथवा फल के उद्देश्य से कर्म करने में क्षति नहीं। फलत्यागपूर्वक कर्म करें, तो उत्तम और वेदान्ताधिकारी हैं, फल के लिये भी यदि सत्कर्म करें तो वह भी उत्तम ही है। वास्तव में मैं इन विचारों को यहाँ उपस्थित नहीं करता, किन्तु बहुत से व्यर्थ कर्मों को कर्म मान लिया है। उनका निषेध करना मेरा उद्देश्य है। आश्चर्य की बात यह है कि भारतवासी तार्किक विद्वान् जीव क्या है ? ईश्वर क्या है ? नास्तिकों के मन्तव्य हेय हैं और मोक्ष के लिये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि पदार्थ अवश्य ज्ञातव्य हैं; यथार्थ ज्ञान से ही मुक्ति होती है, मिथ्याज्ञान से कदापि नहीं। इसके लिये षोडश पदार्थ जानने चाहिएँ अथवा प्रकृति-पुरुष का विवेक अत्यन्त अपेक्षित है इत्यादि विषयों की जहाँ-जहाँ चर्चा आवेगी वहाँ-वहाँ तर्कों का पुल बाँधेंगे। हेतुओं की शृंखलाओं से प्रतिपक्षी को निगडित कर देंगे, किन्तु जहाँ देवताविषयक विवाद उपस्थित होगा वहाँ मौन साध बैठ जायेंगे। मैं इसका कारण केवल आन्तरिक दौर्बल्य को ही समझता हूँ। देशीय-जातीय पक्षपात धर्मान्धता और परतन्त्रता आदि भी इसके गौण कारण हैं।

परन्तु मैं आप लोगों से यह कहता हूँ कि जब तक निखिल पक्षपातशून्य होकर सत्यासत्य का निर्णय नहीं करेंगे, तब तक मानव सन्तान का उद्धार नहीं। लाखों तर्काभासों से सत्य को छिपाकर आप शास्त्रविवेचना करते हैं, अतः इसका फल उत्तम कुछ भी नहीं होता। किन्तु उत्तरोत्तर दुःख की वृद्धि ही होती जाती है। अतः मैं यहाँ यथामति कल्याणार्थ निरूपण करता हूँ। हम देखते हैं कि प्रत्येक वैदिक या लौकिक कर्म में इन्द्र, वरुण, अग्नि, विष्णु, सविता, वायु, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, काली, दुर्गा, भैरव, गंगा गोदावरी, हनुमान्, गरुड, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी इत्यादि देवताओं का आवाहन, आसन, पूजन, पाठ आदि कर्म होते हैं। और इनके नाम पर भोज्य पदार्थ भी रखे जाते हैं। परन्तु क्या ये देव यज्ञ में आते हैं ? क्या ये हमारी स्तुति-प्रार्थनाओं को सुनते भी हैं ? क्या ये मनुष्य के समान चेतन हैं ? यदि चेतन हैं तो हम मनुष्यों से वार्तालाप क्यों नहीं करते ? मैं कहता हूँ कि इनमें बहुत से देवता ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, मदन, इन्द्र, वरुण, अप्सरा, योगिनी आदि तो केवल मानवकल्पित हैं। वास्तव में ये सब कोई वस्तु नहीं। योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार ये विकल्प हैं। योग कहता है कि **"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः"** (१.९) जिसके लिए शब्द हों किन्तु वस्तु न हों, वे विकल्प कहलाते हैं जैसे नरशृंग (मनुष्य का सींग), वन्ध्यापुत्र, सर्पचरण इत्यादि के लिए शब्द तो बन जाते हैं किन्तु वे वस्तु नहीं हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा और विष्णु आदि विकल्प हैं। इनकी सत्ता का कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं। द्वितीय सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, पृथिवी और गंगा प्रभृति वस्तु तो हैं, परन्तु वे हमारी स्तुति-प्रार्थना को न सुन सकती हैं, और न किसी निवेदित पदार्थ को खा सकती हैं, क्योंकि पृथिवीवत् जड़देव हैं। इनमें समझने, बोलने, खाने, पीने, स्वयं चलने-फिरने आदि की शक्ति नहीं है। ये जड़ हैं। आप देखते हैं कि जो मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, कीट, पतंग, मत्स्य और अदृश्य सूक्ष्म जन्तु आदि हैं, वे सब स्वतन्त्र हैं। जहाँ चाहें वे जा सकते हैं। अपनी इच्छा के अनुसार इनकी गति और स्वक्रियाएँ होती हैं। ये जन्म लेते और मरते हैं। किन्तु सूर्यादि वैसे नहीं, वे अपने नियत स्थान से पदमात्र भी विचलित नहीं होते। ये सब आकर्षण शक्ति के आधार से नियत मार्ग पर स्थित हैं अथवा घूम रहे हैं। वायु नियत कारण के वश में हो बहता है, मेघादि भी वैसे ही हैं। यदि वे चेतन होते तो वे अवश्य बोलते क्योंकि हमारे साथ ये रहते हैं। अतः यदि चेतन होते तो हमसे अवश्य कुछ कहते और सुनते। अतः ये जड़ हैं। इनको यज्ञादि शुभ कर्मों में बुलाना बालक्रीड़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि मानवजगत् इसका विश्वासी है। ईदृग् विश्वास के कारण ही यह दुःखी है। अतः वेदान्त

कहता है कि यह कामना ही आप की व्यर्थ है। अतः अकर्त्तव्य है। श्रुति कहती है–

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। बृह० ३.७.३

जो पृथिवी में स्थित है। तथापि वह पृथिवी से अन्तर भी (बाह्य= बाहर) है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है, जिसका शरीर पृथिवी है, जो भीतर और बाहर रह कर पृथिवी को कार्य में लगा रहा है, वह यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है। इसी प्रकार–

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरः। इत्यादि। बृह० ३.७.५।।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः। इत्यादि। बृह० ३.७.९।।

जो अग्नि में स्थित है, तथापि वह अग्नि से बाहर भी है इत्यादि पूर्ववत्। जो सूर्य में स्थित है, तथापि वह सूर्य से बाहर भी है इत्यादि। इस अन्तर्यामि-ब्राह्मण में बतलाया गया है कि परमात्मा सब में व्यापक चेतन है और पृथिवी, सूर्य, अग्नि आदि अचेतन देव हैं। अतः ये किसी काल में उपास्य देव नहीं। अत एव गीता भी कहती है कि–

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।। भगवद्गीता ७.२०

विविध कामनाओं से जिनकी मति मारी गई है, वे उस-उस नियम को धारण कर अपनी मूढ़ प्रकृति के वश में होकर उस-उस देवता की आराधना करते हैं। यहाँ कहने का आशय यही है कि ये सब जड़ हैं। इनकी उपासना से कुछ लाभ नहीं। अतः चेतन परमात्मा की उपासना करो।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।। भगवद्गीता १८.६६

सर्व कर्मों को त्याग मुझ ईश्वर की शरण में आ। इत्यादि।

इसी हेतु सांख्यकारिका कहती है–

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।१।।

जैसे लौकिक उपायों से दुःख की निवृत्ति नहीं होती वैसे ही परम्परागत कल्पित कर्मों से भी दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उस कल्पना में भी अशुद्धि, क्षय और अतिशय दिखलाये गये हैं। काली, दुर्गा आदि देवियों के लिये बकरों की हिंसा करना अशुद्धि है। कैलाश, वैकुण्ठ आदि लोकों में जा, वहाँ पुण्यफल भोग पुनः नीचे गिरना उस फल का क्षय है। और कैलाश से वैकुण्ठ

उत्तम, उससे गोलोक उत्तम, उससे भगवती का स्थान उत्तम इस प्रकार अतिशय का वर्णन होने से दुःख का कारण ही है। अतः तद्विपरीत ही श्रेयमार्ग है। वह यह कि व्यक्त जो यह कार्यभूत सम्पूर्ण जगत्, अव्यक्त जो इसका कारण प्रधान और ज्ञ जो यह आत्मा इन तीनों के विज्ञान से ही मंगल हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः विद्वानो ! विवेक करो। देखो, क्या ये सूर्य, चन्द्रादि कोई चेतन देव हैं ? ब्रह्मा, विष्णु आदि देव कहाँ हैं ? लोक जिस ओर जा रहा है, उसी ओर विद्वानों को जाना उचित नहीं क्योंकि विद्वान् पुरुष मार्ग दिखलाने वाले होते हैं। यदि वे अज्ञानियों के भय के वश्य हों, अथवा लोभ के वशीभूत हों, किंवा उपेक्षाबुद्धि के कारण उसी अन्ध परम्परा के प्रवाह में बह चलें तो कल्याण का मार्ग नष्ट हो जायेगा, हो गया, और हो रहा है। अतः जिससे मनुष्योद्धार हो, वह करो। श्रुति कहती है—

यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म ....।।इत्यादि। केनोपनिषद् १.४-८

जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, जिसने वाणी को प्रकाशित किया है, उसी को तू ब्रह्म जान, किन्तु जिसको ये लोग पूज रहे हैं, वह यह ब्रह्म नहीं है। मन से जिसका मनन नहीं होता, जिसने मन का मनन किया है, उसी को तू ब्रह्म जान, किन्तु जिसको ये लोग पूज रहे हैं, वह यह ब्रह्म नहीं इत्यादि। यहाँ विस्पष्ट रूप यह श्रुति गतानुगतिकता का निषेध करती है अर्थात् अज्ञ पुरुषों के अनुसार चलना सर्वथा त्याज्य है। यज्ञ को लक्ष्य कर श्रुति कहती है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति।।१।।
अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ति।।२।।
इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वाविशन्ति।।३।।
मुण्डकोपनिषद् १.२.७,९,१०।।

अर्थ— यज्ञरूप नौकाएं अदृढ़ हैं जिनको होता, अध्वर्यु, उद्गाता, यजमान और पुरोहित आदि अष्टादश पुरुष चलाते हैं और तुच्छ हैं। जो मूढ़ इसी को श्रेय मान आनन्दित होते हैं। वे सर्वदा जन्म लेकर जरावस्था और मृत्यु को पाते

हैं।।१।। अनेक अविद्याओं में वर्त्तमान रहने पर भी जो अपने को कृतार्थ समझते हैं, वे बालक हैं। जिस कारण रागवश कर्मकाण्डी उस तत्त्व को नहीं जानते, वे कर्मफल भोगकर पुनः आतुर हो नीचे गिरते हैं।।२।। जो मूढ़ जन यज्ञादि कर्मों को और कूप, तडागादि को ही श्रेय समझते हैं, वे शुभ स्वर्ग को भोग, पश्चात् हीनतर योनियों में प्रवेश करते हैं।।३।। इत्यादि। गीता भी अनेक स्थलों में द्रव्यमय यज्ञ का बहुत तिरस्कार करती है। यथा—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गगतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।।१।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२।।
भगवद्गीता ९.२०,२१

अर्थ— वेदोक्त कर्म में तत्पर जन यज्ञों से मुझको ही पूज, सोमपान कर, निष्पाप हो, स्वर्ग की प्रार्थना करते हैं। वे पवित्र इन्द्रलोक पाकर वहाँ दिव्य भोग भोगते हैं। वहाँ विशाल स्वर्ग लोक को भोग, पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार कामासक्त याज्ञिक पुरुष सर्वदा गमनागमन के चक्र में पड़े रहते हैं।

इस प्रकार यज्ञफलों को विनाशी बतला आगे श्रीकृष्ण कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।१।।
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२।।
भगवद्गीता ९.२३,२४

अर्थ— जो जन अन्यान्य इन्द्रादि देवों का श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं, हे कौन्तेय ! वे भी मुझको ही पूजते हैं क्योंकि मैं ही सबका आत्मा हूँ, तथापि वह अविधिपूर्वक कर्म है।।१।। मैं यज्ञों का भोक्ता और [स्वामी] हूँ किन्तु वे याज्ञिक मुझको नहीं जानते। इस हेतु वे गिरते रहते हैं।

यहाँ विस्पष्ट रूप से दिखलाते हैं कि वे यज्ञपरायण पुरुष अज्ञ हैं। इस कारण अपने देवों के सेवक बन पूजन करते हैं। ईश्वर का बोध उन्हें नहीं है, अतः ये दुःखभागी हैं इत्यादि। पुनः—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।१।।

भगवद्गीता ४.३३

अर्थ– स्रुव, चरु, पुरोडाश, घृत आदि द्रव्यसहित यज्ञ से श्रवण-मनन-निदिध्यासनयुक्त ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान होने पर सर्व कर्म समाप्त हो जाते हैं। पुनः–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। भगवद्गीता २.४५

इत्यादि स्थलों में एक प्रकार से यज्ञों की तुच्छता ही दिखलाते हैं। अब शंका के प्रत्येक अंश का समाधान इस प्रकार है– १. अग्नि, वायु, सविता, इन्द्र, विष्णु आदि देव कुछ जड़, कुछ कल्पित होने के कारण इनकी प्रसन्नता के लिए यज्ञ करना सर्वथा अनुचित, निरर्थक और बालक्रीड़ावत् है। वास्तविक यज्ञ वह है जिसमें केवल परमदेव की ही उपासना हो क्योंकि वही एक सबका आत्मा है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। यजुः० ७.४२।।

यह ब्रह्म ही जंगम और स्थावर का आत्मा है।

कामनारहित कर्म

निष्काम कर्म कोई होता है या नहीं इस पर स्वल्प विचार यह है। हम प्रतिदिन उन उद्भिज्ज, अण्डज और जरायुज जीवों में निष्काम कर्म को अच्छी तरह से देख रहे हैं। फलदाता आम्र, लीची, कदली, द्राक्षा और नारिकेल आदि महीरुह किस कामना से नाना स्वादु फल दे रहे हैं। वे मालती, चम्पा, गुलाब और चमेली आदि मनोहर कुसुम किस अभिप्राय से सुगन्ध फैला रहे हैं। कोकिलों की मधुर ध्वनि किस उद्देश्य से मानवहृदय को उल्लासित और प्रमुदित करती है। गौ, महिषी, अविका आदि किस वाञ्छा से इतना अधिक पयः प्रदान करती हैं। निपुण्यता ये परीक्षा करने पर भी कोई उनका फलाभिसन्धि प्रतीत नहीं होता। जब इन अज्ञों के कर्म निष्काम हो रहे हैं, तो मनुष्यों का कर्म कामनारहित क्यों न होना चाहिए ? यदि ये नहीं करते हैं तो उनका यह अज्ञान है। हम देखते हैं कि स्वभावतः इस शरीर में अनेक कर्म निष्काम हो रहे हैं। कभी-कभी किसी चीज को खोदने, देह हिलाने और हाथ फैंकने आदि कर्म निष्प्रयोजन ही करने लग जाते हैं। जब अज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म होते हैं, तब ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म क्यों न करें ? बहुत से महात्मा ऐसे देखे भी जाते हैं। किन्तु मेरा केवल निष्काम कर्म से प्रयोजन नहीं। अज्ञानावस्था में भले ही सकाम कर्म करें, किन्तु मेरा अभिप्राय व्यर्थ कर्म के निषेध से है। जब यह आत्मा सर्व प्रकार से परिपूर्ण है, तब किस उद्देश्य से कर्म करेगा। अतः गीता कहती है कि–

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। भगवद्गीता ४.३३

जब तक वैसा ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक भी फल के उद्देश्य से विद्वान् को कर्म करना उचित नहीं। कृष्ण कहते हैं–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। भगवद्गीता २.४७ इत्यादि।

अब इतने से विद्वान् समझ सकते हैं कि वेदान्त का प्रयोजन और श्रवण आदि किस प्रकार के कर्म हैं। इन सबका आगे भी निरूपण रहेगा। अतः यहाँ ही विराम करते हैं।

निषिद्ध कर्म

निषिद्धकर्म– हिंसा, चौर्य, लम्पटता, अन्य देवों की उपासना आदि कर्म करने वाले इसके अधिकारी नहीं।

शंका– विधि-निषेध का परिज्ञान किस प्रकार है, जब[कि] इसी भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायी ग्रन्थों में अनेक भिन्नता पाते हैं। जिसका एक सम्प्रदाय निषेध करता है, उसी का विधान दूसरा करता है। वैष्णव समाज हिंसक के पीछे लाठी लेकर दौड़ता है, किन्तु तान्त्रिक महोदय कलकत्ते में काली [को] और विन्ध्याचल में भगवती को अपने प्रत्येक कर्म में देवी-देव को छागदान दे-दे खूब ही उनका शिर काटते और खाते हैं। एक आचारी वैष्णव यदि कहीं लिंगमय शिव का दर्शन भी पा ले, तो वह प्रायश्चित्त करेगा। इसी प्रकार कोई भी वैष्णव किसी अवस्था में भस्म धारण न करेगा। एवं हिन्दू, मुसलमान और क्रिस्तान आदिकों में महान् अन्तर पाते हैं। वर्त्तमान काल में यदि हिन्दू किसी यवनादिक का पानी ज्ञान या अज्ञान से पीले, तो वह प्रायश्चित्ती होगा। किन्तु तद्विपरीत यवनादिकों में स्पर्शदोष का लेश भी नहीं। इत्यादि सन्देह जागृत होते हैं। इनका क्या उत्तर है ?

समाधान– यद्यपि ईश्वर प्रत्येक मनुष्य में एक विवेक-ज्योति देता है। उसको जो उत्तम रीति से काम में लाता है, उसको स्वयं विधि-निषेध प्रतीत होने लगता है। किन्तु ऐसे विज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, सन्धानी बहुत ही विरल हैं। अतः निर्णय की अपेक्षा होती है। वह यह है कि जिससे निज का और दूसरे का हित और हानि हो, वह क्रमशः विधि और निषेध है। इसी को विवेकी पुरुष सर्वदा लिखते आए हैं। उनका ही लेख धर्मशास्त्र, न्यायव्यवस्था और अन्यान्य शास्त्र नाम से जगत् में प्रसिद्ध है। तथापि सन्दिग्धावस्था में वैज्ञानिक, तार्किक, हैतुक, धर्म-तत्त्वज्ञ, निरपेक्ष, पक्षपातशून्य, साम्यदर्शी, सत्यवक्ता आचार्य, राजा और सामयिक बड़े विद्वानों– इन सब की परिषद् हो। उससे जो निर्णय हो, उसी को लोग विधि और निषेध मानें। इस रीति पर जगत् के विरोध का उपशमन होकर सुख का बीज सुषिक्त होता रहेगा। वेदान्त के निकट सर्व दोषों से रहित हो, जो जन आवेगा, वह स्वकीय और परकीय दोनों हितों का साधक होगा।। इति संक्षेपतः।।

विषयनिरूपण

ब्रह्म, जीव और प्रधान (जड़ जगत् का कारण) ये तीन इस त्रैतादर्श के विषय हैं। यद्यपि मुख्य विषय ब्रह्म और जीव का निरूपण करना है, क्योंकि प्रकृति का निरूपण करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, तथापि प्रकृति का भी संक्षेप से निरूपण अवश्य रहेगा। प्रकृति के निरूपण में बहुत सी शाखाएं उपस्थित हो जाती हैं। प्रकृत्यंगभूत एक पृथिवी के ही उद्देश्य से यदि शास्त्र लिखा जाय, तो वही केवल कई सौ पृष्ठों में पूर्ण होगा। तथापि प्रकृति के ज्ञान विना ब्रह्म और जीव का भी पदार्थबोध न होगा। अतः न्याय-वैशेषिक और सांख्यादि शास्त्रों के अनुसार इस जड़-जगत् का अति स्वल्प निरूपण होगा।

प्रयोजननिरूपण

अज्ञान सहित अनर्थ की निवृत्ति और निरतिशय ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही इस शास्त्र का प्रयोजन है। जिस वस्तु का अत्यन्त अभिलाषी पुरुष हो, वही अत्यन्त पुरुषार्थ, परमपुरुषार्थ और परम प्रयोजन है। वह मोक्षस्वरूप है। अतः मोक्ष ही इसका परम प्रयोजन है। वेदान्तपरिभाषा में धर्मराजाध्वरीन्द्र के कथन का सार यह है कि बोध होने पर जिस वस्तु की कामना हो, वह प्रयोजन है। वह दो प्रकार का है – पहला मुख्य और दूसरा गौण। सुख और दुःखाभाव ये दोनों मुख्य प्रयोजन हैं। इन से भिन्न साधन गौण प्रयोजन है। सुख भी दो प्रकार का है– १. सातिशय और २. निरतिशय। सांसारिक विषयों से रञ्जित अन्तःकरण की वृत्तियों के तारतम्य से जनित जो उच्चावच आनन्दों का लेश, वह सातिशय सुख है अर्थात् सांसारिक सुख का नाम सातिशय सुख है क्योंकि श्रुति कहती है कि–

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।। बृहदा० ४.३.३२

अर्थात् – इसी आनन्द की मात्रा को लेकर ये प्राणी जीते हैं। और निरतिशय सुख ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है क्योंकि श्रुति कहती है–

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्तिरीय० ३.६।।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।। बृहदा० ३.९.२८ इत्यादि।।

अर्थात्– ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है इत्यादि श्रुतियों से प्रतीत होता है कि आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्ष है। किन्तु ब्रह्म लोक और अन्यलोक की प्राप्ति मोक्ष नहीं। अथवा उस-उस लोक के विषयों को भोगना भी मोक्ष नहीं, क्योंकि वह कर्मजन्य होने के कारण अनित्य है।

शंका– आप कहते हैं कि जन्य वस्तु (जिसकी उत्पत्ति हो वह जन्य है) घटपटादिवत् अनित्य होती है। जिस हेतु लोकान्तरप्राप्ति कर्मजन्य है, इस हेतु

वह मोक्ष भी नहीं किन्तु आपके मत में भी आनन्द की प्राप्ति और अनर्थ की निवृत्ति मोक्ष कही जाती है। अतः यह भी जन्य ही है, क्योंकि अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की निवृत्ति होती है। इससे सिद्ध है कि प्रथम इस जीव को आनन्द की प्राप्ति नहीं थी, किन्तु दुःख की प्राप्ति थी। जब साधनों से सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति होती है, तब मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मोक्ष भी जन्य ही है।

समाधान– श्रुतियों में बारम्बार वर्णन आता है कि अन्यान्यलोक सभी विनश्वर हैं और उनमें सातिशय है, किन्तु ब्रह्म ही एक वस्तु नित्य और निर्विकार है। यद्यपि कर्मों से और ज्ञान से इसकी प्राप्ति होती है, तथापि यह अन्यान्य कर्म के समान नहीं। वास्तव में यदि विचार किया जाय तो जीव को ब्रह्म सदैव प्राप्त ही है, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है। श्रुति कहती है कि जीव में भी ब्रह्म व्यापक है। कोई परमाणु ऐसा नहीं जहाँ ब्रह्म न हो। सर्वशास्त्रों का यही सिद्धान्त है। जब ब्रह्म जीव को प्राप्त ही है तो उसका प्राप्त करना ही क्या ? तथापि कहा जाता है कि ब्रह्म की प्राप्ति करना जीव का मुख्य उद्देश्य है। और वास्तव में इसे प्राप्त करना भी है, क्योंकि जीव इतना मन्दातिमन्द है कि प्राप्त वस्तु को भी अप्राप्त समझता है और वास्तव में उसको जानता भी नहीं। मान लीजिये कि पृथिवी हम जीवों को प्राप्त है किन्तु इसके सम्बन्ध में हम क्या जानते हैं ? यदि कुछ जानते भी हैं तो वह अत्यन्त स्वल्प ज्ञान है। ज्यों-ज्यों विज्ञानशास्त्र द्वारा पृथिवी के भिन्न-भिन्न तत्त्वों को जानने लगते हैं, त्यों-त्यों ज्ञान का विस्तार होता चला जाता है। पार्थिव वस्तुओं मे आकर्षण शक्ति और विद्युदादिशक्ति भी विद्यमान हैं, तथापि इनका ज्ञान हम जीवों को कुछ भी नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म विषय भी है। साधन द्वारा उसका ज्ञान विस्तृत होता जाता है। और जितना ही ज्ञान का विस्तार होता है, उतना ही आनन्द बढ़ता जाता है। अतः यह मानसिक व्यापारजन्य है, वास्तव में कर्मजन्य नहीं। ऐसे-ऐसे विषयों का निरूपण इस ग्रन्थ में आगे अधिक रहेगा।

सम्बन्धनिरूपण

जीव, ब्रह्म और प्रकृति और तत्प्रतिपादक उपनिषदादि प्रमाण का बोध्य-बोधक भाव सम्बन्ध है। यह समझने की वार्त्ता है। समझकर स्वयं सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। यथा ग्रन्थ जो उपनिषदादि और विषय जो ब्रह्म, जीव और प्रकृति इन तीनों में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। ग्रन्थ प्रतिपादक होता है और विषय प्रतिपाद्य होता है। इसी को निरूप्य-निरूपक भाव, व्याख्यातृ-व्याख्येय भाव आदि सम्बन्ध भी कह सकते हैं। अधिकारी और फल का प्राप्य-प्रापक भाव सम्बन्ध होता

है, क्योंकि फल प्राप्य अर्थात् पाने योग्य है और अधिकारी प्रापक (पाने वाला) है। अधिकारी और विचार का कर्त्तृ-कर्त्तव्य भाव सम्बन्ध होता है, क्योंकि विचार कर्त्तव्य है और अधिकारी कर्त्ता है। ग्रन्थ और ज्ञान का जन्य-जनक भाव सम्बन्ध है, क्योंकि ज्ञान जन्य (उत्पन्न होने वाला) है और ग्रन्थ जनक उत्पन्न करने वाला है।

ज्ञान के अष्ट साधन और फल

विवेक, विराग, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और **''तत्त्वमसि''** पद के अर्थ का शोधन ये आठ ज्ञान के साधन हैं। इनमें से प्रत्येक एक से एक उत्तम साधन हैं। किसी एक वस्तु में सब प्रकार से चित्तवृत्ति से लग जाना ही निदिध्यासन है। इसी का नाम समाधि भी है। लोग वेदान्त का आशय नहीं समझते हैं। इसकी प्रवृत्ति आत्मबोध के लिये है। आत्मबोध स्वाभाविक है। इसको भी अनेक आचार्यों ने कृत्रिम बना दिया हैं लोक में देखते हैं कि अति मूर्ख जन मिथ्या ध्यान करते-करते समझ लेते हैं कि मेरी देह पर भूत आ गया है, भगवती मेरे शिर पर बैठी है। इसके पश्चात् वह ऊटपटांग बकने लगता है। उसके चारों तरफ ज्ञानशून्य लोग इकट्ठे हो जाते हैं भूतावेशी पुरुष से नाना वर, आशीर्वाद, नैरोग्य, मारण, मोहन, धन-धान्य, पुत्र और कलत्र आदि पदार्थ मांगते हैं। वह भूताध्यासी भी मनमाना जो चाहता है, वैसा लोगों को उत्तर देता जाता है। मूढातिमूढ जन इसको सत्य ही समझते हैं। इसी प्रकार कोई-कोई अज्ञानी वास्तव में आत्मप्रकाश न पाकर **''अहं ब्रह्मास्मि''** कहने लगते हैं। उनका अन्तःकरण राग-द्वेष से पूर्ण रहता है। भेद-ज्ञान इतना रहता है कि किसी को ब्राह्मण और किसी को शूद्र, किसी स्थान को परम पवित्र और किसी को अपवित्र मानते हैं। तथापि **''अहं ब्रह्मास्मि''** ही चिन्तन करते हैं। किन्तु ज्ञानी में भेद का लेश भी नहीं रहता है। और न उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्यों के कुछ नियम होते हैं। यह परमहंस आदि नाम से शास्त्र में उक्त है। ऐसे कोटियों में एक- आध ही होता है। सृष्टि के आदि से अब तक वामदेव, जनक, शुक आदि अति स्वल्प ही पुरुष इस पद तक पहुँचे हैं। इतने लेख से मेरा आशय यह है कि भूताध्यासी के समान मिथ्याज्ञानी न बन जायं और उससे निज और पर की हानि न कर बैठें, किन्तु वास्तव में ज्ञानप्राप्ति का पूर्ण उद्योग करें। इसके लिये प्रथम व्यावहारिक पदार्थों का विशेष ज्ञान होना चाहिए। वह ज्ञान उक्त साधनों से शीघ्र होता है। जिन-जिन महापुरुषों को ये साधन प्राप्त हुए हैं। वे इस जगत् के परमोपयोगी हुए हैं। उनके चरित्र के अध्ययन से इतर जन पवित्र होते हैं। उनके ग्रन्थों के पठन से विद्वान् बनते हैं। इनमें जब निदिध्यासन की प्रबलता होती है, तो उसकी आत्मा से ज्ञान

की धारा निकलने लगती है। जिसमें जितना समाधि होता है उतना ही वह तत्त्व का प्रकाश कर सकता है और जान सकता है। वेदान्त के पक्ष में ही उदाहरण लीजिये। वह यह है– संस्कृत में षट्शास्त्रों की महामहिमा है, परन्तु वेदान्त के किसी ग्रन्थ को पढ़िये उसमें उन पाँचों के मन्तव्यों का खण्डन रहेगा। आप केवल निश्चलदास जी कृत विचार-सागर के सप्ततरंग को ही पढ़ जाइए। उसी से इस कथन की सत्यता आप को प्रतीत होगी। तब उससे सिद्ध हुआ कि कपिल आदि की अपेक्षा वेदान्तकर्त्ता व्यास ने अधिक समाहित होने के कारण तत्त्वों को अधिक समझा और तदनुसार उपनिषदों के तत्त्वों को प्रकाशित किया। इसी प्रकार यद्यपि वेदान्तसूत्र पर शंकराचार्य कृत भाष्य, रामानुजभाष्य, मध्वभाष्य, भास्कराचार्य कृत भाष्य, नीलकण्ठभाष्य, विष्णुस्वामी कृत भाष्य और विज्ञानेन्द्र भिक्षु कृत भाष्य आदि अनेक हैं। किन्तु प्रसिद्ध शांकरभाष्य है और उसी की प्रशंसा भी सब करते हैं। इसका कारण क्या ? निःसन्देह विवेक-वैराग्य आदि ही इसका मुख्य हेतु है।

शास्त्र आदि वस्तु क्या है

यह निर्विवाद है कि इन सब शास्त्रों, व्याकरण, न्याय, मनुस्मृति, महाभारत और वाल्मीकीय रामायण आदि संस्कृत ग्रन्थों के कर्त्ता मनुष्य ही थे और वे हमारे सदृश ही थे। तब इनमें कौन सी विशेषता थी कि वे शास्त्रकार हुए। विशेषता गवेषणीय है। अन्वेषण से यह सिद्ध होगा कि किसी कारणवश उनमें ज्ञानसाधन विवेकादि प्राप्त हुए। उसी का फल ये शास्त्र हैं। एक-एक महापुरुष ने जो कुछ अनुभव किया उसी को उपकारार्थ लेखबद्ध भी कर दिया। अतः उन आचार्यों के अन्तःकरण का विकास ही बाहर निकल कर मानों शास्त्ररूप में परिणत हुआ। ज्ञानसाधनों से जिसकी जैसी और जितनी उत्तम वृत्ति बनी, वैसा ही और उतना ही उनका उत्तम ग्रन्थ हुआ। इस कारण प्रत्येक शास्त्र में तारतम्य और भेद भी होना आवश्यक है। किन्तु उस भेद के कारण वे निन्द्य नहीं हैं। उन्होंने अपने अनुभव के अनुसार वैसा लिखा। अब आप उनके ग्रन्थों को निज साधनों के बल से उत्तरोत्तर बढ़ाते जायें इसमें कोई क्षति नहीं। पूर्वाचार्यों को देव, अवतार और सिद्ध मान लेना भी अवनति का कारण है। वे भी मनुष्य थे। हम भी मनुष्य हैं। उन्होंने जो कार्य किये उन्हें हम भी कर सकते हैं। ऐसी ही धारणा रख कर साधनों में प्रवृत्त हों, कार्य अवश्य सिद्ध होगा। यदि ऐसी धारणा न मानी जाय, तो शास्त्रोपदेश ही व्यर्थ हो जायगा क्योंकि आचार्य कहते हैं कि हमारी प्रणाली पर चलने से तुम भी तत्त्वज्ञानी होगे। अतः साधनसम्पन्न होने से प्रत्येक मनुष्य ग्रन्थकर्त्ता बन सकता है।

अपेक्षित केवल साधन हैं

मनन का फल

एक यूरोप के विद्वान् ने फल को नीचे गिरते देख मनन कर परमोपयोगी आकर्षण शास्त्र का प्रकाश किया। किसी ने पाक-समय ढक्कन को अनल की गर्मी से ऊपर उठता देख यह रेलगाड़ी रूप महाश्चर्य व्यापार रच दिया। किसी ने आकाशस्थ नक्षत्र को विचलित देख-देख यह पृथिवी भी गतिमती है, स्थिर नहीं, यह सिद्ध किया। बुद्धदेव जी एक संन्यासी को मुदित देख परम वैराग्यवान् हो इस जगत् के कोटियों पुरुषों के उपदेष्टा हुए और यहाँ तक कि वे साक्षात् ईश्वर ही माने गये। दयानन्द जी शिवप्रस्तर पर चूहे को चढ़ते देख पौराणिक धर्म का मिथ्यात्व प्रकट कर आचार्य बने। इसी प्रकार शतशः पुरुष हुए हैं और उनका जो-जो अनुभव है, वही एक-एक शास्त्र है। अतः उस-उस शास्त्र को एक-एक विकास समझ कर अध्ययन करना चाहिए और उससे अपना अनुभव अधिक बढ़ाना उचित है। तब ही मननादिक सफल होते जायेंगे।

'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस जनश्रुति के अनुसार सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, यदि पूर्ण अभ्यास किया जाय। केवल प्राचीन आचार्यों के ही उपदेश को परम प्रमाण मानना और नवीनों का तिरस्कार करना, यह भी अन्ध परमपरा ही है। ईर्ष्यालु, मूर्ख और खल जन सदा प्रयत्न में रहते हैं कि हम किसी को प्रतिष्ठा न देवेंगे, किन्तु इनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है। तुलसीदास का रामायण इसमें प्रमाण है। वह किसी के रोकने से न रुक सका। गृह-गृह में उसको लोग पूजने और पढ़ने लगे। पाणिनि के पूर्व अनेक वैयाकरण और उनके व्याकरण विद्यमान थे, किन्तु अष्टाध्यायी के प्रकाश के अनन्तर सब ही व्याकरण लुप्तप्राय हो गये, जिनका अब तक दर्शन भी हम लोग नहीं पाते हैं। यह **''उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्''** का अत्युत्तम उदाहरण है।

बहिरंगसाधन

बहिरंग साधन बहुविध हैं– यथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ये पाँच यम; शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम; ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भौतियज्ञ और मनुष्ययज्ञ ये पाँच महायज्ञ; दर्शेष्टि, पूर्णमासेष्टि, आग्रायणेष्टि, अग्निष्टोम, अश्वमेध, ज्योतिष्टोम आदि विविध वैदिकयज्ञ; मातृ-पितृ-आचार्यादिसेवन तीर्थ, व्रत, सम्प्रदाय और आचार्योपदेश आदि; गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, उपनयन और विवाह इत्यादि शतशः बहिरंग साधन विद्यमान हैं और लोग अधिकतर इन्हीं बहिरंग साधनों में लिप्त और तत्पर रह जाते हैं क्योंकि इनसे समाज में कीर्त्ति, प्रशंसा, नाम और प्रतिष्ठा होती है और देखने में भी बहुत मनोहर प्रतीत होते हैं।

बहिरंग साधन पर विचार

जिस हेतु बहिरंग-साधनों की इयत्ता नहीं है, इन पर अनेक विवाद उपस्थित हो जाते हैं। अतः इस विषय का वेदान्त से जितना सम्बन्ध हो सकता है, उतना भी अति संक्षेपरूप से यहाँ निर्णय करना आवश्यक है। इसी बाह्य साधन के पोषक आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, कात्यायन श्रौतसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र, इसी प्रकार गृह्यसूत्र, शतपथ, ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थ, अष्टादश पुराण, तन्त्र, महाभारत, रामायण, निर्णयसिन्धु आदि सहस्रशः ग्रन्थ यहाँ विद्यमान हैं। द्युलोकस्थ सूर्य से लेकर पातालस्थ नाम तक असंख्य देवगण पूजे जाते हैं। तीर्थ भी असंख्य हैं। गंगा, गोदावरी, कृष्णा, गंगासंगम, जगन्नाथ, द्वारका, रामेश्वर, हरद्वार आदि और इनके अतिरिक्त ग्राम-ग्राम में तीर्थ हैं। सम्प्रदाय भी बहुत हैं– वैष्णव, शाक्त, शैव, गाणपत्य, सौर, रामानुजीय वैष्णव, वल्लभीयवैष्णव इत्यादि। मैं कहाँ तक उनके नाम लिखूँ। यदि सब के नाममात्र ही लिखे जायँ तो उनसे एक महापोथा बन जायगा। यहाँ इस विषय में वेदान्त का क्या मत है, वह दिखलाना है, क्योंकि इस विषय में अनेक भ्रम उत्पन्न कर दिए गये हैं जिनसे तत्त्व गुप्त हो गया और ब्रह्मोपासना जगत् से उठ गई है।

मनुष्य क्या है ?

यद्यपि **"तत्त्वमसि"** (छा॰ उप॰ ६.८.७) वह ब्रह्म तू है, **"अहं ब्रह्मास्मि"** (बृ॰ उप॰ १.४.१०) मैं ब्रह्म हूँ। **"अयमात्मा ब्रह्म"** (बृ॰ उ॰ २.५.१९) यह जीव ब्रह्म है, **"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति''** (मा॰ सं॰ ३१.१८) उसको जान कर ही मोक्ष पाता है। **"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"** (कठ॰ उप॰ ४.१०) मृत्यु से मृत्यु को पाता रहता है जो यहाँ विभिन्नता देखता है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।। ईशा॰ ७

जिस विज्ञानी और एकत्वदर्शी का सर्व प्राणी आत्मा होता है, वहाँ क्या शोक और क्या मोह, **"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते"** (केन॰ उप॰ १.५) जिसकी उपासना ये अज्ञानी जन कर रहे हैं वह ब्रह्म नहीं हैं, तू उसको ब्रह्म जान जो सब इन्द्रियों से परे है इत्यादि वेदान्त के उच्च सिद्धान्तों की ओर न जाकर प्रथम तुम यदि 'मनुष्य क्या है', इसी को अच्छी तरह से जान लो तो बहिरंग साधनों की सत्यता और असत्यता का पता बहुत शीघ्र लग सकता है।

अतः इस पर कुछ मीमांसा करो।

मनुष्य और देवगण

प्रथम यह विवेक-ज्योति से देखो कि मनुष्य श्रेष्ठ [है] अथवा देव। निःसन्देह मनुष्य ही श्रेष्ठ है। (क). क्योंकि सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, गंगा, गोदावरी और पृथिवी आदि देव ज्ञेयमात्र और अचेतन हैं, मनुष्य तद्विपरीत ज्ञाता और चेतन है। ज्ञेय से ज्ञाता और अचेतन से चेतन श्रेष्ठ होता है, यह ईश्वरीय नियम है यथा ज्ञेय घट से मनुष्य श्रेष्ठ है। ये सूर्यादि देव न सुनें, न बोलें, न खायें, न पीवें, न इच्छा, न द्वेष, न प्रयत्न आदि इनमें हैं। हम मनुष्य इनके सब तत्त्वों को जानते हैं किन्तु वे हमारी एक बात भी नहीं जानते। अतः ये जड़ और ज्ञेय मात्र हैं। (ख) ये देव नियोज्य और मनुष्य नियोजक है। सर्वदा नियोज्य से नियोजक श्रेष्ठ होता है। सूर्य के ताप से जितना काम चाहते हैं उतना काम लेते हैं। बड़े-बड़े भवन बनाकर उसके ताप को रोक रखते हैं। वैज्ञानिक रीति से आजकल सूर्य का ताप पाक के काम में आता है अर्थात् सूर्यताप ईन्धन का काम दे रहा है। अग्नि से शतशः काम ले रहे हैं। गंगा नदी से विविध जल [प्रवाह (नहरें)] बनाकर क्षेत्र से क्षेत्र में पानी ले जाकर शस्य उत्पन्न कर रहे हैं। जहाँ चाहते वहीं इनका प्रयोग करते हैं इत्यादि। इस [प्रकार] देव नियोज्य और मनुष्य नियोजक है। (ग) देवगण भोग्य और मनुष्य भोक्ता है। भोग्य से भोक्ता श्रेष्ठ होता है। इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। गंगा जल हमारा पेय हैं। शीत-ऋतु में सूर्यताप से अपने शरीर को सेंकते हैं। अग्नि से नाना व्यञ्जन भोज्य बना कर उनका स्वाद लेते हैं। श्वास-प्रश्वास द्वारा जलवत् वायु भोज्य बन रहा है। अतः देव भोज्य और मनुष्य भोक्ता है। (घ) देवगण परतन्त्र और मनुष्य स्वतन्त्र है। अतः मनुष्य श्रेष्ठ है। सूर्य, चन्द्र, वायु आदि अपने नियत मार्ग से अणुमात्र भी विचलित नहीं हो सकते। गंगादि के जल वर्षाभाव से सूखने लगते हैं, किन्तु मनुष्य इस पृथिवी पर जहाँ चाहे वहाँ गमनागमन कर सकता है, आकाश में भी विमान द्वारा उड़ा करता है। इत्यादि कारणवश देवापेक्षया मनुष्य श्रेष्ठ है। ये देव जड़ हैं, इस हेतु इनके नाम पर जो-जो कर्म किये जाते हैं, वे सर्वथा व्यर्थ बौर शिशु-क्रीड़ा हैं। जो ये ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, काली, दुर्गा, इन्द्र, वरुण, मन्मथ आदि पौराणिक देव हैं, वे कल्पित हैं अर्थात् मनुष्यों ने उन्हें अपने मन से बनाया है। सूर्य के स्थान में विष्णु को, वायु के स्थान में ब्रह्मा को और अग्नि के स्थान में महादेव बनाये गए हैं। वास्तव में ये देव ब्रह्माण्ड में कहीं विद्यमान नहीं हैं । शशश्रृंग समान इनका अत्यन्ताभाव है। इनके काल्पनिकत्व की सिद्धि में

"त्रिदेवनिर्णय"[१] नाम का बृहत् ग्रन्थ बनाया गया है जिसके अध्ययन से निर्विवाद उनका कल्पितत्व सिद्ध होता है। जो ये नाग, कूर्म, नीलकण्ठ, तुलसी, अश्वत्थ आदि देव माने जाते हैं, वे मनुष्यों के दासवत् नियोज्य हैं, यह प्रत्यक्ष है। मैं कहाँ तक लिखूँ ? मनुष्य निज महत्त्व नहीं जानता। मनुष्यो ! स्वकीय आत्मा का उद्धार करो। आकाशस्थ सूर्य से लेकर नाग तक की जो तुम पूजा कर रहे हो, वह केवल तुम्हारा अज्ञान है। अतः जितने कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं, उनका वही भाग मन्तव्य है जितना परमात्मा से सम्बन्ध रखता है। इस कारण अपने को जान निष्फल कर्म त्याग ईश्वर की ही उपासना करो।

सर्वलोकमय मनुष्य

भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महलोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ये सात ऊपर के लोक और अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल ये सात नीचे के लोक, दोनों मिलाकर चौदह लोक, कहीं बाहर के लोक नहीं हैं। यह विश्व ब्रह्माण्ड का वर्णन नहीं, किन्तु मनुष्य शरीर का ही वर्णन है। इस मनुष्य शरीर में ही ये चौदह भुवन हैं यथा दो नयन, दो कर्ण, दो नासिकाएँ, एक मुख। यही सात ऊपर के भूर्लोक आदि लोक है और हस्त, दो चरण, एक मलेन्द्रिय, एक मूत्रेन्द्रिय और एक मध्य शरीर ये सात अतल आदि नीचे के लोक हैं क्योंकि इस असीम जगत् को चौदह भागों में बांटना न यौक्तिक है और न प्रामाणिक है। जब पुराण भी कहता है कि ब्रह्म को मानो। एक-एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं। तब इसकी सीमा कहाँ ? पुराणों का भी चतुर्दश भुवनों से यह शरीर ही अपेक्षित है क्योंकि इस देह में चौदह भाग प्रत्यक्ष हैं। शिर में नेत्र आदि सात ऊपर के लोक पवित्र इसलिए कहलाते हैं कि यहाँ से ही सर्वज्ञान का स्रोत निकलता है और हस्त, चरण आदि नीचे के लोक अधम इसलिये कहाते हैं कि इनसे ही पापकर्म भी करते हैं। जिस हेतु यह शरीर चतुर्दश भागों में विभक्त है, यह निःसन्देह है। अतः यह देह ही चतुर्दश भुवनमय है, अन्य नहीं। श्रुतियों में भी इसको बहुत प्रकार से दिखलाया है। यहाँ इसका सहस्रांश भी नहीं लिख सकता क्योंकि ग्रन्थ बढ़ बहुत जायगा, तथापि दो-एक बातें ये हैं:—

सप्त ऋषि

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशोनिहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना।।

१. लेखक का यह ग्रन्थ अनेक बार प्रकाशित हो चुका है।

(बृह० उप० २.२.३)

इस श्रुति की व्याख्या में स्वयं श्रुति कहती है कि से नयन आदि शिरस्थ सात इन्द्रियाँ ही सप्त ऋषि हैं, दोनों कर्ण गौतम और भरद्वाज हैं, दोनों नयन विश्वामित्र और यमदग्नि हैं, दोनों नासिकाएँ वसिष्ठ और कश्यप हैं और मुख अत्रि ऋषि हैं[1]। नयनादि इन्द्रिय इसलिये ऋषि कहाते हैं कि इनसे सदसद्विवेक उत्पन्न होता है। पुनः इसकी पोषक अनेक श्रुतियाँ हैं। यथा–

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। (मा० सं० ३४.५५)

इत्यादि इस शरीर में सात ऋषि प्रतिष्ठित हैं।

सप्त शीर्षण्या वै प्राणाः। इत्यादि

शिरस्थ सात प्राण हैं। यहाँ प्राण शब्द से नयन आदि सप्त इन्द्रियों का ग्रहण है।

सप्त होता

यही सात होता कहाते हैं यथा **मनुःसमिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।** (मनुः) मन्ता, बोद्धा यह जीवात्मा मन और नयन आदि सप्त होताओं के साथ प्रतिदिन इस शरीर में होम कर रहा है। **"येन यज्ञस्तायते सप्तहोता"** (मा० सं० ३४.४) इत्यादि अनेकशः इसके प्रमाण हैं।

सप्त विप्र

सप्त विप्र भी यही नयनादिक कहाते हैं यथा–

स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः। (ऋ० १.६२.४) इत्यादि।

सप्त सिन्धु

ये ही सप्त समुद्र, सप्त सिन्धु, सप्त सागर, सप्त द्वीप आदि नामों से पुकारे जाते हैं। यथा–

यो हत्वाऽहिमरिणात् सप्त सिन्धून्। (ऋ० २.१२.३)

अवासृजः सर्त्तवे सप्त सिन्धून्। (ऋ० २.१२.१२) इत्यादि।

सप्त नदियाँ

इन्हीं नयनादिकों को सप्त नदियाँ कहते हैं।

"अस्य श्रवो नद्यः सप्त बिभ्रति" (ऋ० २.१०२.२) इत्यादि। इसके यश को ये सात नदियाँ दिखलाती हैं। इनके ही नाम गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, असिक्नी और वितस्ता हैं। मैं ग्रन्थविस्तरभय से यहाँ अधिक लिखना नहीं

१. द्र०– बृ० उप० २.२.४।

चाहता। आप देखें कि सूर्य भी सप्तरश्मि, सप्तकिरण, सप्तमयूख, सप्ताश्व आदि नामों से कहा जाता है। जिस हेतु सूर्य के किरणों में सात प्रकार के लाल आदि वर्ण हैं अतः यह सप्ताश्व आदि नामों से विख्यात है। सूर्य में सात प्रकार के नयन आदि इन्द्रियों को देख वेद और लोक नाना नाम रखते हैं– सप्तलोक, सप्तसागर, सप्तपर्वत, सप्तनदियाँ, सप्तऋषि, सप्तप्राण, सप्त-असुर इत्यादि। पश्चात् इसके अनुसार अनेक सप्तकगण कल्पित होते गये। इसी के नाम के अनुसार सप्त नरक भी प्रसिद्ध किये गये। इसके अतिरिक्त वेद के सप्त छन्द, व्याकरण की सप्त विभक्तियाँ, न्याय और वैशेषिक के सप्त पदार्थ, ज्योतिष के सप्त दिन, गान के सप्त स्वर, कर्मकाण्ड के सप्त [हविर्यज्ञ, सप्त सोम] यज्ञ और सप्त पाक यज्ञ, वैद्यक के सप्त धातु और सप्त उपधातु, तन्त्र की सप्त माताएँ और अग्नि की सप्त ज्वालाएँ इत्यादि। अनेक सप्तकों से संस्कृत साहित्य भरपूर हो गया। जिस हेतु नयन आदि एक सप्तक और चरणादिक द्वितीय सप्तक इस शरीर में वास्तवरूप से विद्यमान हैं और इनसे शुभाशुभ दोनों कार्य भी सिद्ध होते हैं, अन्ततः इसी चतुर्दशभुवनमय देहव्यूह से मुक्ति भी प्राप्त होती है, अतः इनके नाना वर्णन, विविध माहात्म्य, अनेक व्याख्यान [हुए] और भूरि-भूरि इतिहास पुराण इनके सम्बन्ध में बनते चले गये। पश्चात् इस तत्त्व को न समझ अज्ञान वश इस अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड को चतुर्दश भुवनमय ही मानने लगे। यह भ्रममात्र है। विद्वानो ! ऐसा पवित्र शरीर जब तुम को दिया गया है, तब भी इधर-उधर तुम भटकते फिरते हो। यह कैसा आश्चर्य प्रमाद और कैसी माया है !!

सर्वदेवमय नरशरीर

यह मानव शरीर केवल सर्वलोकमय ही नहीं किन्तु सर्वदेवमय भी है। श्रुति कहती है कि–

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद् वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वा (ऐ० उ० २.४) इत्यादि। अग्नि देव वाणी होकर मनुष्य-शरीर के मुख में प्रविष्ट हुए। वायु प्राण होकर नासिकाओं में, आदित्य नयन होकर नेत्रों में, दिशाएँ श्रोत्र होकर कर्णों में, ओषधि और व्यास्पति लोम होकर त्वचा में, चन्द्रमा मन होकर हृदय मे, मृत्यु अपान वायु होकर नाभि में और जलदेव रेतः होकर प्रजनन इन्द्रिय में प्रविष्ट हुए।

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः (ऐ० उ० ५.३) इत्यादि। यह हृदय ही ब्रह्म (श्रेष्ठ) है। यही इन्द्र, यही प्रजापति और यही सर्वदेव है। इत्यादि श्रुति द्वारा सिद्ध है कि यह नरशरीर सर्वदेवमय है और इसमें ज्ञानमय आत्मा है। तब इसे छोड़ और याथातथ्य न जान जड़ देवों के उद्देश से कर्म करना केवल

अज्ञान नहीं तो क्या है ? अतः अज्ञान से ज्ञान की ओर, कर्म से श्रवणत्रय की ओर, अनात्मा से आत्मा की ओर, भेद से अभेद की ओर, अशान्ति से शान्ति की ओर आना इत्यादि वेद की शिक्षा होती है। संस्कृत साहित्य के तत्त्वानुसन्धान से भी यह नरशरीर सर्वदेवमय सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में केवल इन्द्र शब्द के ऊपर विचार करने से सर्वार्थ विदित हो जाता है।

इन्द्र शब्द

उपनिषत्तत्त्ववित् जान सकते हैं कि इन्द्र नाम इस जीवात्मा का है। १. नयनादिकों को इसलिए इन्द्रिय कहते हैं कि इन्द्र (जीवात्मा) इनका पोषक है। अथवा नयनादि द्वारा जीवात्मा का अस्तित्व प्रतीत होता है। अतः यह इन्द्र कहाता है इसी शब्द से व्याकरणानुसार इन्द्रिय शब्द बनता है। २. द्वितीय नाम इसका मरुत्वान् है। यह भी इसी अर्थ का सूचक है क्योंकि मरुत् इसके साथी हैं। यह महाभारत और पुराणादिकों में अतिविस्तृत और विख्यात कथा है। इसका सार यह है कि दिति ने कश्यप से वर पाया था कि तेरा एक सन्तान इन्द्र घातक होगा। इन्द्र ने यह सुन दिति के उदर में पैठ गर्भस्थ बालक को सात टुकडे कर पुनः एक-एक को सात-सात टुकड़े किए। इस प्रकार वे उनंचास हो गए। कई ग्रन्थों में सात खण्डों का वर्णन है। इस क्रिया से दिति प्रत्युत प्रसन्न हुई और इन्द्र से कहा कि मेरे इन पुत्रों को आप अपने साथ ही रखें। जिस हेतु काटने के समय उस बालक से इन्द्र ने कहा था कि **"मा रोदीः"** मत रो, इस कारण इसका नाम मरुत् हुआ और इन्द्र मरुत्त्वान् हुआ। यह वर्णन जीवात्मा का ही है क्योंकि अखण्ड और समष्टि जगत् का नाम **"अदिति"** है और खण्ड और व्यष्टि शरीर का नाम **"दिति"** है। **"दो अवखण्डने"** खण्डनार्थक दो धातु से दिति बनता है। जिस हेतु प्रत्येक शरीर समष्टि जगत् का एक-एक खण्ड है, अतः यह शरीर ही दिति है। जिसका सर्वदा नाश होता रहता है और सम्पूर्ण जगत् अदिति अर्थात् अखण्ड और अविनश्वर है। अब इस आख्यायिका का भाव समझ सकते हैं। दिति जो यह खण्डात्मक शरीर है, उसमें जब यह जीव प्रवेश करता है, तब एक गर्भ, दो नयन, दो कान, दो नाकें और एक मुख इस प्रकार सात भागों में विभक्त है। पुनः एक इन्द्रिय के सात-सात व्यापार होते हैं। अतः से ७ अथवा ७ x ७ = ४९ होते हैं।

शतक्रतु

इन्द्र का शतक्रतु यह नाम भी इसी अर्थ का द्योतक है क्योंकि शत= अनेक अथवा एक सौ क्रतु= कर्म यज्ञ हों जिसके, वह शतक्रतु **"शतायुर्वै पुरुषः"** **"पश्येम शरदः शतम्"** (यजु॰३६.२४) **"जिजीविषेच्छतं समाः"** (यजु॰ ४०.२)

इत्यादि श्रुति प्रमाणों से मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी गई है। ये ही सौ वर्ष सौ कर्म (यज्ञ) हैं। उत्तम पुण्यवान् मनुष्य के आयु का एक-एक वर्ष मानो एक-एक यज्ञ है। जिसके ये सौ वर्ष यज्ञवत् पवित्र कर्मों में बीतते हैं, वही जीव वास्तव में इन्द्र है। मनुष्य का एक-एक वर्ष एक-एक यज्ञ है। इसको यहाँ ही आगे देखिये। अतः पुराणों में कहा गया है कि जो सौ यज्ञ करता है, वही इन्द्र होता है। विधिपूर्वक न कोई सौ यज्ञ करता है और न कोई इन्द्र बनता है। [यह कहना] ठीक है क्योंकि सौ वर्षों में अनेक विघ्न होते रहते हैं। सम्पूर्ण आयु का निष्पाप बीतना अत्यन्त कठिन है। यदि शतक्रतु शब्द का अर्थ केवल अनेककर्मा रहता, तो इन्द्र में ही यह विशेषता क्यों होती, क्योंकि सब ही देव अनेक कर्मा हैं अतः यह मानव शरीरधारी जीवात्मा का नाम है।

शची आदि नाम

इसी प्रकार शची नाम क्रिया और यज्ञ का है। जीवात्मा का लक्षण ही क्रिया और बुद्धि है। अतः यह शची इन्द्र की स्त्री मानी गई। यह हृदय ही नन्दनवन है। जहाँ से समग्र आनन्द का स्रोत निकलता है। शरीरस्थ नाड़ियाँ अप्सराएँ हैं। उनमें रहकर यह जीवात्मा क्रीड़ा करता है। इन्द्र का घोड़ा **"उच्चैःश्रवाः"** है। यह शरीर ही "उच्चैःश्रवा" है क्योंकि इस मानवशरीर का ही यश उच्च है। श्रव= यशः, उच्चैः= उच्च। यह शरीर ही ऐरावत हाथी है क्योंकि यह अन्नमय वा अन्नों से पुष्ट होता है। इरा=अन्न। इस प्रकार जितना विचार करते हैं उतना ही प्रतीत होता है कि इन्द्र नाम जीवात्मा का है। यही देवों का स्वामी है। इस कारण भी यह नरशरीर सर्वदेवमय है। तब किस आशय से यह जीव अन्य जड़ की उपासना करे ? अतः मनुष्यो ! तुम प्रथम अपने शरीरसहित अपनी उच्चता का परिचय करो। सर्वबाह्य देवों की ओर से निज आत्मा देव की ओर आओ, यह वेदान्त की शिक्षा है।

सर्वयज्ञमय

पुरुषो वाव यज्ञः। तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि (छा॰ उप॰ ३.१६.१) इत्यादि छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन आता है कि पुरुष ही यज्ञ है। प्रत्येक यज्ञ[१] के प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन ये तीन सवन होते हैं। प्रातःसवन में मुख्य चौबीस अक्षरों का गायत्रीछन्द और वसु देवता, माध्यन्दिनसवन में चवालीस अक्षरों का त्रिष्टुप्छन्द और रुद्र देवता और तृतीयसवन में अड़तालीस अक्षरों का जगतीछन्द और आदित्य देवता होते हैं। अब यहाँ उपनिषद् कहती है कि पुरुष

१. यज्ञ शब्द यहाँ सोम यज्ञ के लिए प्रयुक्त हुआ है।

की चौबीस वर्ष तक आयु प्रातःसवन है। यही चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री है और इसके प्राण ही वसु[1] हैं। इसके पश्चात् चवालीस वर्ष तक आयु माध्यन्दिनसवन है और ये ही त्रिष्टुप्छन्द है और प्राण ही रुद्रदेव है। इसके ऊपर अड़तालीस वर्ष तक आयु तृतीय[2] सवन और जगतीछन्द है और प्राण ही आदित्य हैं। ये सब मिलकर एक सौ सोलह वर्ष होते है। इसका आशय भी विस्पष्ट है। जैसे यज्ञ में सत्य व्रत, इन्द्रियसाधन, मितभषण, मितभोजन, अक्रोध आदि नियम पालने होते हैं, तद्वत् आयु के प्रत्येक क्षण को यज्ञ समझ कर पवित्रता से बितावे। केवल कल्पित-कल्पित यज्ञों में सत्यभाषणादि नियम न पाले, किन्तु प्रतिक्षण उन नियमों को धारण करे। इससे आत्मकल्याण और जगन्मंगल की सम्भावना है।

शंका– तब क्या कर्म करना उचित नहीं ?

समाधान– कर्म अवश्य करना उचित है, किन्तु जड़ देवों के उद्देश से शिशु-क्रीड़ा न करे। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, गुणकीर्त्तन और उपनिषदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि कर्म और नित्य नैमित्तिक आदि भी उसी परमात्मा चेतन देव के उद्देश से सर्व शुभ कर्म करे।

शंका– लोग कहते हैं कि सूर्य, अग्नि और वायु आदि जड़ हैं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इनके अधिष्ठातृदेव कोई चेतन है, उनसे ही उपासकों को फल मिलता है।

समाधान– यदि इनके कोई अधिष्ठातृदेव चेतन हों, तो वे भी चेतन ही समझे जायेंगे। तब वे चेतनवत् व्यवहार क्यों नहीं करते। जब गंगा के ऊपर जहाज चलते हैं, तो वे देव क्यों नहीं बोल उठते हैं। जब यवन, मुसलमान और क्रिस्तान आदि इनके उदर से मत्स्यघात करते हैं, तब वे मना क्यों नहीं करते और जैसे चेतन मत्स्यादि का भोजन अनुचित और हत्या मानी जाती है, वैसे ही जलदेव के पीने से हत्या क्यों न समझी जाय ? जब मुसलमान पीपल काटते हैं, तब वे चेतन देव कहाँ भाग जाते हैं ? और भी क्या अधिष्ठातृदेव कुछ थोड़े ही पदार्थ के माने गए हैं या सब के ? प्रथम पक्ष के संकोच करने में कोई प्रमाण नहीं। द्वितीय पक्ष में यव, गेहूँ, आम्र आदिकों को क्यों खाते हैं। विद्वानो ! जैसे पृथिवी, अग्नि, जल, और वायु आदिकों को प्रत्यक्ष ही जड़ देखते हैं, इनको मनुष्यादिवत् चेतन मानना अज्ञान है, तद्वत् सूर्यादि देव भी हैं। इन कुसंस्कारों को त्याग एक ईश्वर की शरण में आना वेदान्त सिखलाता है। वही एक परम देव सब का अधिष्ठातृ देव है दूसरा नहीं।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'' (यजु॰ ७.४२)

१. हस्तलेख में 'वस्तु' पाठ है। २. हस्तलेख में 'सायम्' पाठ है।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।। यजु॰ ३२.६

अद्वैतानुबन्धचतुष्टयसमीक्षा

अद्वैतवाद आदि से अन्त तक मिथ्या [है] और तर्काभासों से युक्त है क्योकि इसमें प्रथम माया ही मिथ्या और अनिर्वचनीया है। ये अपने को अद्वैती कहते हुए भी तीन ईश्वर मानते हैं। एक, शुद्ध ब्रह्म मायारहित, दूसरा, मायोपहित ब्रह्म जिसको ईश्वर कहते हैं, तीसरा, अविद्योपहित ब्रह्म जिसको जीव कहते हैं। यद्यपि माया भी एक ही है, तो भी यह अनेक है क्योंकि जो माया ईश्वर की उपाधि है, वही माया जीव की भी उपाधि है। किन्तु जब वह जीव की उपाधि होती है तब उसका नाम अविद्या होता है। यदि माया और अद्यिया दोनों एक हों तो जैसे मायोपाधिक ईश्वर सर्वकर्त्ता, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है, वैसा ही जीव भी होवे क्योंकि दोनों की उपाधियाँ एक ही हैं। इस हेतु माया और अविद्या एक नहीं किन्तु दो वस्तुएँ सिद्ध होती हैं। इत्यादि-इत्यादि शतशः, सहस्रशः परिभाषाओं की कल्पना कर वेदान्ती अपने मायाजाल में लोगों को फंसा कर धर्म कर्म से भ्रष्ट कर रहे हैं। इस हेतु [इस] कल्पित मत की निस्सारता दिखलानी भी आवश्यक प्रतीत होती है। यहाँ उत्तर प्रत्युत्तर रूप से प्रकृत विषय का दिग्दर्शन कराया जाता है।

त्रैती– आप के सिद्धान्त में वस्तु एक है वा अनेक ?

अद्वैती– एक है जिसको ब्रह्म कहते हैं।

त्रैती– यदि एक ही वस्तु है, आप के मत में ब्रह्म किसकी जिज्ञासा करेगा ? जिज्ञासा वहाँ होती है, जहाँ जिज्ञास्य वस्तुएँ और जिज्ञासिता अनेक हों। जब एक ही वस्तु है, तब जिज्ञास्य के अभाव से अधिकारी आदि कोई भी आप के मत में सिद्ध नहीं हो सकता।

अद्वैती– यद्यपि हमारे सिद्धान्त में परमार्थ वस्तु एक ही है जिसको ब्रह्म कहते हैं, तथापि वह निज अनादि अज्ञानवश महाभ्रम में पड़ कर जीव बन जाता है और अपने को अज्ञानी, अकिञ्चन, कर्त्ता, भोक्ता इत्यादि समझने लगता है। इस हेतु भ्रान्त ब्रह्म के लिये जिज्ञासा आदि की सम्भावना है।

त्रैती– लीजिये, मैं अभी कह चुका हूँ कि ये वेदान्ती अपने पक्ष को गिरते हुए देख झट से एक न एक कल्पना कर लेते हैं। यहाँ दूसरे अज्ञान की कल्पना कर ली। कहिए ? अद्वैती महाशय ! तब तो परमार्थ वस्तु एक ब्रह्म ही न रहा, किन्तु दूसरा अज्ञान भी घुस पड़ा। तो अब आप अद्वैती न रह कर द्वैती बन गये। एवमस्तु, जब ब्रह्म ही अपने अज्ञानवश भ्रान्त हो गया, तब उसको शिक्षा देने

वाला दूसरा कहाँ से अवेगा ? इसका उत्तर दीजिये।

अद्वैती– वेद, शास्त्र, आचार्य, गुरु आदि उसके शिक्षक होंगे।

त्रैती– विद्वन् ! क्या अज्ञानवत् आप के मत में वेदादि भी अनादि हैं ? यदि वे अनादि नहीं तो ब्रह्म को भ्रान्त होने के पश्चात् ही उस भ्रान्त ब्रह्म ने वेदादि शास्त्र बनाये और आचार्य, गुरु आदिकों की भी कल्पना कर ली। इस हेतु आप के मत में वेदादिक शास्त्र और आचार्यप्रभृति सब ही भ्रान्त सिद्ध होते हैं। तो भ्रान्त पुरुष को भ्रन्त[शास्त्र या आचार्य] उपदेश ही क्या करेगा और उससे ज्ञान ही क्या होगा ? इसलिये आप का मत अतितुच्छ होने के कारण हेय है।

अद्वैती– अजी, हमारे मतानुसार न सृष्टि है, न हुई, न होगी। ये सब कल्पनामात्र हैं।

त्रैती– प्यारे भाइयो ! आप यह तो विचार करें कि यह सृष्टि त्रिकाल में मिथ्या है, यह ज्ञान ही आप को कैसे हुआ। क्या ज्ञान और ज्ञेय आपके सिद्धान्त में दो वस्तुएँ हैं ? एवमस्तु, ये सब भी आप की माया है। आप कहते हैं कि **"अहं ब्रह्मास्मि"** (बृ॰ उप॰ १.४.१०), **"तत्त्वमसि"** (छा॰ उप॰ ६.८.७), **"अयमात्मा ब्रह्म"** (बृ॰ उप॰ २.५.२९) इत्यादि वेदवाक्यों के श्रवण से जीव को निजस्वरूप ब्रह्मभाव प्रतीत होने लगता है। यह भी नहीं हो सकता क्योंकि जिस अज्ञान ने ब्रह्म को दबा कर जीव बना दिया है, वह स्वयं अपने को कैसे मार सकता है ? क्योंकि विचारिए तो ! कि भ्रान्त ब्रह्म ने **"अहं ब्रह्मास्मि"** इत्यादि वाक्यों को बनाया तो इस वाक्य के बनाने वाला वास्तव में अज्ञान है न कि ब्रह्म। अपने कार्य से कारण की कभी हानि नहीं होती। कर्त्ता पुरुष अपने कार्य से सदैव बलिष्ठ हुआ करता है। इस हेतु **"अहं ब्रह्मास्मि"** इत्यादि वाक्य के श्रवण से भी मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती।

अद्वैती– त्रैती महाशय ! हम तीन संज्ञाएं मानते हैं– व्यावहारिक सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता। पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म ही है। शुक्ति में रजत भ्रमादिक की प्रातिभासिक सत्ता है और आकाशादिक निखिल वस्तुओं की व्यावहारिक सत्ता है। इस कारण हमारे मत में व्यवहार को लेकर सकल शास्त्रादिकों की प्रवृत्ति है, अन्यथा कुछ नहीं है।

त्रैती– अब आप तीसरी कल्पना व्यावहारिक [सत्ता] की करते हैं। मैं तो यह पूछता हूँ कि ये सकल व्यवहार भी भ्रान्त ब्रह्म ने ही बनाये हैं, तब तो फिर वही बात आती है कि भ्रान्त से भ्रान्त का बोध कैसे ? और इस व्यावहारिक भ्रान्ति के बनाने वाला अज्ञान इतना प्रबल है कि ब्रह्म को भी वह नचाया करता है। तब वह अपने को नष्ट होते हुए कैसे देख सकता है ? इस हेतु वेदविरुद्ध होने से

आप का मत सदैव उपेक्षणीय है। और भी सुनिए। जब तक अज्ञान का नाश न होगा, तब तक जीव अपने को ब्रह्म भी नहीं समझ सकता। तब मैं यहाँ पूछता हूँ कि अज्ञान कोई द्रव्य है या अद्रव्य ?

अद्वैती–अज्ञान एक द्रव्य है।

त्रैती– ज्ञान द्रव्य है या अद्रव्य ?

अद्वैती– ज्ञान भी एक द्रव्य है।

त्रैती– तो अज्ञान और ज्ञान कौन द्रव्य हैं ?

अद्वैती– अज्ञान वह द्रव्य है जिससे यह जड़ पदार्थ बने हुए हैं और ज्ञान वह वस्तु है जिसको ब्रह्म कहते हैं। और इसी अज्ञान के नाम हमारे शास्त्र में माया, प्रकृति, जड़ जगत् का उपादान कारण, ईश्वर की उपाधि अविद्या, जीव की उपाधि, तम, भ्रम, अचेतन इत्यादि हैं और ज्ञान के नाम ब्रह्म, चेतन, ईश्वर, जीव, शुद्ध, सच्चिदानन्द, ओ३म् इत्यादिक शतशः हैं।

त्रैती– जिस व्यवहार को देखकर आपको ईदृग् बोध होता है, उसको तो आप मिथ्या कहते हैं और जिसका बोध किञ्चित् मात्र भी नहीं, उसको परमार्थ कहते हैं। यह कैसा आश्चर्य भाई ! आप जगत् में अनुभव कर ही तीन संज्ञाएं स्थिर करते हैं। आप देखते हैं कि आकाशादिक समूह एक वस्तु है। रज्जुसर्प भ्रान्ति भी दूसरी वस्तु है और दोनों का नियन्ता कोई तृतीय वस्तु परमार्थ है जिसको आप ब्रह्म कहते हैं। हम भी तो यही कहते हैं कि इन तीनों को सत्य ही मानें।

अद्वैती– इन तीनों को यदि हम सत्य ही मानें तो मुक्ति कदापि नहीं होगी।

त्रैती– जैसे समुद्र में डूबता हुआ पुरुष तृण की भी सहायता लेना चाहता है, उसी तरह आप मुक्ति आदि की सहायता लेकर नाना शाखा बढ़ाते रहते हैं। यह तो आपने स्वीकार कर लिया कि अज्ञान और ज्ञान दोनों ही द्रव्य हैं। प्रथम इस पर विचार कर लीजिये, तब अन्यान्य विषय उपस्थित कीजियेगा। द्रव्य से द्रव्य का नाश नहीं होता, यह हम व्यवहार में देखते हैं। तब ज्ञानरूप द्रव्य से अज्ञानरूप द्रव्य का नाश न होने से आपके पक्ष में कदापि मुक्ति आदि भी सिद्ध नहीं हो सकते।

अद्वैती– अग्निरूप द्रव्य से जलरूप द्रव्य का नाश तो देखते हैं।

त्रैती– जल का नाश नहीं होता किन्तु इसके रूप बदलते हैं। जल के तीन रूप व्यवहार में देखते हैं– एक तरल जो पीने वाले जल का रूप है, दूसरा बाष्प जो उष्ण होते हुए जल से धूम सा निकलता है, तीसरा ठोस जो बर्फादिक

का होता है।

इन तीन रूपों में जल सदा बना रहता है, किन्तु जल का एक परमाणु भी कदापि नष्ट नहीं होता। देखिए ! तालाब, नदी, समुद्र आदि से बाष्प होकर मेघरूप में जल परिणत हो जाता है और पुनः अपने स्वरूप में आ जाता है। इसलिए द्रव्य से द्रव्य का नाश नहीं होता। अतः आप के सिद्धान्त में ज्ञानरूप ब्रह्म से अज्ञानरूप माया का भी कभी नाश नहीं हो सकता। इसलिए मुक्ति भी कभी सिद्ध नहीं हो सकती। इत्यादि अनेक दोष आपके मत में अनिवार्य हैं।

अद्वैती– जल से पिपासा की [निवृत्ति][१] अन्न से क्षुधा [की निवृत्ति होती है ?

त्रैती– क्षुधा, पिपासा][१] आदि धर्म हैं, द्रव्य नहीं और जल और अन्नादिक द्रव्य हैं। इस हेतु द्रव्य से अद्रव्य का नाश होना ठीक ही है।

अद्वैती– मैं नम्रता से यह पूछना चाहता हूँ कि आपके सिद्धान्त में ज्ञान से अज्ञान के नाश की क्या प्रक्रिया है ?

त्रैती– हम ज्ञान और अज्ञान दोनों को जीव के धर्म मानते हैं। द्रव्य नहीं। एक प्रबल धर्म दूसरे धर्म को दबा देता है किन्तु सर्वथा उसका उच्छेद नहीं करता। जैसे पिपासा को जल दबा देता है किन्तु नाश नहीं करता। क्योंकि सर्वदा पिपासा भी बनी ही रहती है और पानी पी-पी कर दबती भी जाती है किन्तु कभी ऐसा नहीं देखा गया कि एक बार जल के पीने से पुनः पिपासा दूसरी बार न लगे। इसी प्रकार भ्रमस्थल की भी बात है। जिस मनुष्य को रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हुई है और पश्चात् मिट भी गई है तो क्या उसको पुनः-पुनः होती रहेगी। प्रवाहरूप से भ्रान्ति भी अनादि और अनन्त है। हमारे मत में वस्तु के तिरोभाव और आविर्भाव दो धर्म सदा होते रहते हैं। अभाव नहीं।

अद्वैती– कहीं भाव से अभाव और अभाव से भाव भी देखते हैं, जैसे शिशु में कामादिक धर्मों का अभाव रहता है। यौवनावस्था में कामादिक का भाव देखते हैं। पुनः वृद्धावस्था में उसका अभाव हो जाता है।

त्रैती– विद्वन् ! आपने इस विषय को अच्छी तरह से विचारा नहीं। आप केवल कल्पना करते रहते हैं। किन्तु हम वस्तुस्थिति बतलाते हैं। देखिए ! जैसे बीज में अंकुर पल्लव शाखा आदि नहीं दीखते, किन्तु संयोगवश उसी बीज से अंकुरपल्लवा- दिक होने लगते हैं और प्रत्यक्षतया दीखते हैं, तद्वत् शैशवावस्था में कामादिक तिरोहित रहते हैं, यौवनावस्था में आविर्भूत होते हैं, पुनः जरावस्था में तिरोहित हो जाते हैं। यही वस्तु की स्थिति है। अभाव से भाव अथवा भाव से

१. हस्तलेख में कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं है।

अभाव कदापि नहीं होता।

अद्वैती– तब आप के पक्ष में मुक्ति भी तो अनित्य ही सिद्ध होगी।

त्रैती– हाँ, हमारे पक्ष में मुक्ति भी अनित्य ही है। क्या आप के पक्ष में मुक्ति नित्य सिद्ध है ? कदापि नहीं। अभी हमने कहा है कि आप के पक्ष में अज्ञान का कदापि नाश नहीं हो सकता और देखते भी हैं कि नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्द ब्रह्म भी अनन्त जीव होकर नाना क्लेश पा रहा है और यह कब तक इस दशा में बना रहेगा, इसका निश्चय इस वर्त्तमान काल में कौन कर सकेगा। जब अनन्त काल से सृष्टि चली आती है, अब तक जीव रूप ब्रह्म को अपने स्वरूप का बोध नहीं हुआ तो भविष्यत् काल में अपने स्वरूप का जीव को बोध हो जायेगा और इस सृष्टि का सदैव काल के लिये उच्छेद हो जायेगा, इसकी कौन सी आशा है।

अद्वैती– तब आप के सिद्धान्त में भी पूजा, पाठ, उपासना, धर्म, अधर्म, व्यर्थ ही है क्योंकि यह जीव कभी नित्य मुक्त तो होगा नहीं तो मुक्ति के लिये चेष्टा करना और साधनसम्पन्न होना इत्यादि सभी व्यर्थ हैं।

त्रैती– इस गूढ़ रहस्य पर आप विचार करें। जब क्षणिक सुख के लिए संसार में हम जीव कृषि, वाणिज्य विद्योपार्जन आदि करते हैं, तो जो सुख अर्बो-खर्बों वर्ष तक एक रस रह सकता है उसकी [प्राप्ति के लिए] चेष्टा न करें, यह कितनी मूर्खता की बात है। हम मनुष्यों की आयु प्रायः सौ वर्ष की होती है। इतने ही काल तक हम इस पृथ्वी पर रहते हैं। इतने काल के लिए हम मनुष्यों ने कितना प्रकाण्ड व्यापार कर रखा है। सुख के लिए ही लाखों कचहरियाँ, लक्षों पाठशालाएँ, लाखों विधिनिषेधशास्त्र, लाखों उपदेशक और अन्यान्य चिकित्सालय आदि कर रखे हैं। इसी क्षणिक सुख की प्राप्ति के लिए कभी-कभी कैसा महाभयंकर संग्राम रचना पड़ता है। तब जो सुख कोटियों वर्षों तक एक रूप में रह सकता है, उसके लिए चेष्टा और साधनसम्पन्न क्यों न होना चाहिए ?

इसलिए आप लोगों के अद्वैत मत में ही किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि हम सब जीव ब्रह्म हैं फिर साधनों की आवश्यकता ही क्या ? एवमस्तु, अद्वैतवाद में न अधिकारी, न विषय, न प्रयोजन और न मुक्ति आदि किसी की सिद्ध हो सकती है। यहाँ संक्षेप से यह विषय दिखलाया गया है। आगे स्थल-स्थल में इस अद्वैत मत की निस्सारता दिखलाई जायेगी। धर्मसिद्धि के लिए उपास्य ब्रह्म, उपासक जीवात्मा और यह दृश्यमान जड़ जगत् तीनों मन्तव्य होंगे।

हमने इस प्रकरण में यह विस्पष्ट कर दिखलाया कि माया अथवा अज्ञान

ब्रह्म से भी अधिकता बलवान् है क्योंकि बलिष्ठ ही निर्बल को दबाता है। अतः ब्रह्मरूप निर्बल ज्ञान मायारूप सबल अज्ञान का उच्छेद करने में कदापि समर्थ न होगा। इस हेतु अज्ञान के नाश के लिये प्रयत्न करना मायावाद में सर्वथा व्यर्थ है।

और भी, जब शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्म अज्ञानोपहित होता है, तब ही वह अज्ञानसहित ब्रह्म ईश्वर नाम वाला होकर इस सृष्टि को और वेदादिक शास्त्रों को रचता है। तब जैसे यह सृष्टि भ्रम अथवा अज्ञान संयुक्त है, वैसे ही वेदादिक शास्त्र भी अज्ञानमिश्रित है। तब अज्ञानमय वेद-वाक्यों से ज्ञान की उपलब्धि की कौन सी आशा है ?

और भी, जब सकल जीव अज्ञानमय हैं, तब किसके उपदेश से किसका उद्धार होगा ? अन्धा अन्धे को रास्ता नहीं बतला सकता। इस हेतु वेदान्त मत में अधिकारी की सिद्धि नहीं हो सकती है। एवमस्तु। हम थोड़ी देर के लिए इस मत में अधिकारी मान सकते हैं, तो प्रष्टव्य यहाँ यह है कि ये जीव ब्रह्म हैं इसमें तो सन्देह नहीं, तब अपना स्वरूप ब्रह्म इसको प्राप्त ही है। प्राप्त की प्राप्ति क्या ? और इस जीव में दुःख का लेश भी नहीं। तब दुःख भी परिहृत ही है। पुनः परिहृत का परिहार क्या ?

अद्वैती– प्राप्त की प्राप्ति भी संसार में देखते हैं, जैसे कोई भ्रान्त पुरुष अपने शिर पर अंगपोछा रखे हुए भी लोगों से पूछ रहा है कि मेरा अंगपोछा कहाँ है ? दूसरा हंसकर कहता है कि अरे, तू बड़ा मूर्ख है, अंगपोछा तो तेरे शिर पर है, और तू इधर-उधर खोजता फिरता है ! किसी ने ठीक ही कहा है कि 'बगल में छोरा और गांव में ढिंढोरा'। यहाँ प्राप्त अंगपोछा को ही पाकर वह भ्रान्त पुरुष प्रसन्न हो जाता है। यहाँ प्राप्त की प्राप्ति देखते हैं। परिहृत का परिहार भी देखा जाता है, जैसे किसी पुरुष के पैर में महान्धकार रात्रि में रस्सी लिपट जाती है, तो वह चिल्ला उठता है कि मेरे पैर में साँप लिपट रहा है। उसकी इस चिल्लाहट को सुनकर अन्यान्य पुरुष दीप लेकर दौड़कर आते हैं और रस्सी को देख कहते हैं कि तुझे सर्प का भ्रम हो गया, यह तो रस्सी है। यहाँ परिहृत का परिहार देखते हैं। इस हेतु हमारे पक्ष में यह जीव स्वयं ब्रह्मरूप और क्लेशादि रहित है। उपदेशादि का प्रयोजन नहीं। तथापि भ्रम के कारण प्राप्त की प्राप्ति और परिहृत का परिहार होता है।

त्रैती– आपने अच्छे उदाहरण बतलाये। अज्ञानी जीव को ऐसा भ्रम भले ही हुआ करे और भ्रम भी तब होता है जब अन्धकार और अन्यान्य भ्रमस्थल में अन्यान्य कारण हों। जो ब्रह्म अन्धकाररहित, प्रकाशस्वरूप और त्रिकालज्ञ है उसे

ऐसा भ्रम ही क्यों हो ? यदि भ्रम हो भी जाये, तो झट से अपने स्वरूप को पहचान जाय। परन्तु इस लोक में ऐसा एक भी जीव नहीं दीखता। तब जीव को ब्रह्म कहना अथवा आनन्दस्वरूप मानना सर्वथा काल्पनिक बात है। हाँ, आनन्दादिकों का तारतम्य अवश्य देखते हैं, किन्तु इस शरीर में निःक्लेश जीवात्मा नहीं देखा गया है। जो जीवन्मुक्त परमहंस कहलाते हैं, उन्हें भी क्षुधा, पिपासा नहीं छोड़तीं। वे चाहे हठवश अपनी क्षुधा, पिपासा को प्रकट न करें, हठवश खानपान छोड़ बैठें, यह दूसरी बात है। किन्तु देखते हैं जो खानपान छोड़ देते हैं, वे थोड़े ही दिनों में पञ्चत्व को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए मालूम होता है कि इस शरीर के साथ विद्यमान जीव सर्वथा निष्क्लेश नहीं होता। और भी, आप दो-चार सहस्र ज्ञानी पुरुषों को भी एकत्रित कर उपदेश दीजिये कि आप सब ब्रह्म हैं, यह आत्मा ब्रह्म है और सब कोई कहें कि 'अहं ब्रह्मास्मि' तो क्या वे ज्ञानी पुरुष भी अपने को ब्रह्म समझने लग जाते हैं ? कदापि नहीं। उनमें एक भी जीव अपने को ब्रह्म नहीं कहता। इस हेतु विवर्त्तवाद में अधिकारी की सिद्धि नहीं। इसी प्रकार विषय और प्रयोजन की सिद्धि भी इस मत में नहीं हो सकती, क्योंकि निश्चलदास लिखते हैं कि "जीव ब्रह्म की एकता या (इस) ग्रन्थ[१] का विषय" यह उनका कथन उचित नहीं। जीव ब्रह्म की एकता किसी अवस्था में नहीं हो सकती, क्योंकि जीव अशुद्ध, अल्पज्ञ, कर्मभोक्ता, नाना क्लेश और सुख संयुक्त है, उसके विरुद्ध ब्रह्म शुद्ध, सर्वज्ञ, कर्मफलप्रद, निष्क्लेश और सर्वथा मुक्तस्वरूप है। इस ग्रन्थ के आगे के प्रकरण देखिये। इसी प्रकार निश्चलदास प्रयोजन वर्णन करते हैं कि प्रपञ्चसहित अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति इस ग्रन्थ का परम प्रयोजन है। यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रपञ्च की निवृत्ति कदापि नहीं होती। इत्यादि विषय संक्षेप से यहाँ दिखलाए गए हैं।

इति श्री शिवशंकरप्रणीते[२] त्रैतसिद्धान्तादर्शे अनुबन्धचतुष्टयादर्शः समाप्तः।।२।।



१. विचारसागर। २. हस्तलेख में 'शिवशंकरकृते' पाठ है।

ब्रह्मास्तित्वादि-आदर्श

अभी आपने कहा है कि ब्रह्म, जीव, प्रकृति का ज्ञान इस ग्रन्थ का विषय है और सुख की निवृत्ति और ब्रह्म की प्राप्ति इसका प्रयोजन है। प्रथम यह प्रष्टव्य है कि ब्रह्म क्या कोई वस्तु है ? यदि नहीं, तो मूल के न रहने से धर्माधर्मादि की व्यवस्था ही व्यर्थ है। यदि है, तो वह कैसा है ? उससे हम लोगों का क्या हानि-लाभ है ? उसके स्वरूप, गुण इत्यादि क्या हैं ? इत्यादि विवेचना प्रथम आवश्यक है।

समाधान– ब्रह्म है, इसमें अनेक हेतु हो सकते हैं– १. अनन्तभेद रचना, २. आश्चर्य रचना, ३. प्रत्येक वस्तु में विज्ञान, ४. कौशल, ५. क्रमनिबन्ध, ६. शासन इत्यादि।

भेदकारणतादर्श

अनन्तभेद रचना ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध कर रही है। इसके साथ अभेदवादी नवीन वेदान्तियों का निराकरण और ब्रह्म का अस्तित्व-प्रदर्शन दोनों रहेंगे। इसको ध्यान से पढ़िये।

दोहा

धन्य-धन्य जगदीश ने, रचे विविध अभेद।
जिन्हें विचार सुजानि के, मिट जाते सब खेद।।१।।
देता भेद प्रमोद को, जी में हर्ष विकाश।
अभेदवादक अन्ध हैं, उनमें मन्द प्रकाश।।२।।
प्रकृतिसिद्ध ये भेद हैं, कृत्रिम हीन अभेद।
देखो प्रभु की सृष्टि को, जिसमें बहुविध भेद।।३।।

व्याख्या– वैदान्तिक विद्वान् ब्रह्म, जीव, प्रकृति में भेद नहीं मानते। वे अभेदवादी, अनिर्वचनीयतावादी और अद्वैतवादी इत्यादि नामों से प्रख्यात हैं। अद्वैतवाद के शतशः बड़े-बड़े ग्रन्थ संस्कृत और अन्य भाषा में पाये जाते हैं किन्तु यहाँ विचार उपस्थित होता है कि उनमें अभेद ज्ञान कहाँ से आया। जब वे अपने चारों ओर भेद ही भेद देख रहे हैं, तब उन्हें क्या किसी विलक्षण, दिव्य चक्षु से, अथवा किसी अलौकिक अञ्जन के लगाने से, यद्वा किसी मन्त्र की सिद्धि से, यद्वा योगविभूतियों की उपलब्धि से, यद्वा परम देवता की अनुकम्पा से, यद्वा श्रुतियों से अभेद दर्शन होता है। अतः मैं यहाँ केवल अतिसंक्षेप से भेदों का

दिग्दर्शन दिखलाता हूँ।

प्रभु ने इस जगत् को अनन्त भेदों से ही अलंकृत किया है। यह इसमें अस्तित्व का प्रथम हेतु है। इसी हेतु इसको महामहाद्भुत् आश्चर्य, परमविज्ञानी, और सर्वशक्तिसम्पन्न महाशिल्पी कहते हैं। यदि ईश्वर भेदों को नहीं रचता तो उसको हम लोग ईश्वर नहीं समझते। तब उस ब्रह्म में हमारी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम न होता। उसको सर्वशक्तिमान् नहीं समझते। महान् जानकर उसकी स्तुति, प्रार्थना, आराधना, पूजा, पाठ नहीं करते। उसको हम सबसे महान् क्यों समझते हैं ? निस्सन्देह उसकी योग्यता के कारण उसको सर्वमहान् समझते हैं। वह योग्यता अनन्तभेद रचना से, महाद्भुत रचना से, सूक्ष्मातिसूक्ष्म रचना और मानवबुद्ध्यगम्य रचना से प्रकट होती है। भेदरचना ही इनमें मुख्य है। देखिये ! यहाँ ही सहस्रों भेदों के पशु, पक्षी, पतंग, मत्स्य वनस्पति, वृक्ष, लता, औषधि आदि विद्यमान हैं। एक सरीसृप सर्पजाति में ही कितने भेद प्राणियों को सभय कर रहे हैं। ऊपर जब दखते है तो वहाँ भी भेदों के आनन्त्य से मानव जाति की प्रतिभा चकित हो जाती है। कितने प्रकार के सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह और उपग्रह हैं। उनकी गणना कौन विद्वान् कर सकता है। निस्सन्देह, ये जो ब्रह्म की विभिन्न रचनाएँ हैं, वे मनुष्य के हृदयपटल पर गम्भीर भाव और आदर खचित कर देती हैं। जब प्रचण्ड अम्बर-मणि की किरणों से चराचर संतप्त होने लगते हैं, तब उससे वारिद के आगमन से किस प्रकार प्रफुल्लित हो प्राणप्रवाह को पाते हैं। थोड़े ही दिनों में अनन्त भेदों के उद्भिज्जों से यही कैसे सुसज्जित हो जाती है। इससे फलित यह होता है कि ब्रह्म के महत्त्व का प्रधान कारण भेदरचना है। भेद रचना ही प्रतिक्षण, प्रतिदिन, प्रति-ऋतु और प्रतिवर्ष मनुष्य को परम आह्लाद देती है और ईश्वर की ओर खैंचती है।

इसी प्रकार सूर्य समान महाकार वस्तुओं को वही बना सकता है ! भिन्न स्थानों में उन्हें स्थापित कर कैसी चिन्त्य सृष्टि रचकर हम जीवों को अपना महत्त्व दिखला रहा है। जितना-जितना मानव रचना का अध्ययन करता जायेगा उतना-उतना उस ब्रह्म में गौरव बढ़ता जायेगा। यहाँ कुछ संक्षेप से क्रमपूर्वक रचना-विभेद दिखलाता हूँ। आस्तिक ग्रन्थों का प्रयोजन यह है कि ईश्वर में श्रद्धा भक्तिपूर्वक सदाचार की वृद्धि और मनुष्य का कल्याण हो।

नैयायिक और वैशेषिक मत में १. पृथिवी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल, ७. दिशा, ८. आत्मा और ९. मन ये नौ द्रव्य हैं। उनको पामर जन भी देखते हैं और अनुभव करते हैं। उन नव द्रव्यों में पृथिवी, जल और तेज इन तीनों को आंखों से देखते हैं। स्पर्श द्वारा वायु को प्रत्यक्ष करते हैं। जब वेग

से वायु चलता है, तब वृक्षों के ऊपर उसका अतिशय प्रभाव प्रतीत होता है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन का अनुभव आप सर्वदैव करते हैं। इन नवों में परस्पर अद्भुत भेद आप देखते हैं। पृथिवी से अगण्य उद्भिज्ज पदार्थ उत्पन्न होते हैं। पृथिवी से सर्वथा विभिन्न जल है। यदि जल न हो तो एक वस्तु भी भूमि में उत्पन्न नहीं हो सकती। जल से विलक्षण तेज है। उस जल को भी सूर्यरूप तेज सोखता रहता है। उससे विभिन्न वायु है, जिसके बिना किसी चेतन वस्तु की सत्ता नहीं रह सकती। प्रायः भारतवर्ष के सब ही सिद्धान्ती मानते हैं कि जैसे पाँच ज्ञानेन्द्रियों के भिन्न-भिन्न पाँच विषय नियत हैं। चक्षु का रूप, घ्राण का गन्ध, कर्ण का शब्द, रसना का रस, त्वचा का स्पर्श विषय है। अन्ध पुरुष को कदापि भी कर्णेन्द्रिय इत्यादियों से श्वेतादि रूपों का बोध नहीं हो सकता। घ्राणेन्द्रियरहित पुरुष को इतरेन्द्रियों से गन्ध ग्रहण नहीं होता। इस प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के पञ्च विषय नियत हैं। वैसे ही पञ्च पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश महाभूतों के पञ्च, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द नियत हैं। इन्हीं पञ्च गुणों से वे पृथिव्यादि पञ्च महाभूत पृथक्-पृथक सिद्ध होते है। गन्ध गुण केवल पृथिवी ही का है। जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श, और आकाश का शब्द है। इससे सिद्ध है कि ये पाँचों महाभूत परस्पर चक्षु-रिन्द्रियादिवत् बहुत ही भेद वाले हैं। यदि पृथिवी न होती तो जगत् में गन्ध भी न होता। इसी प्रकार यदि जल न होता तो कदापि भी रस की सत्ता नहीं होती। यहाँ मैं न्याय शास्त्र का सिद्धान्त नहीं लिखने बैठा हूँ, किन्तु दिग्दर्शनमात्र ही कराता हूँ। इस प्रकार अनन्त भेद रहते हुए कोई अभेद ही बतलावें तो निस्सन्देह, वे उन्मत्त और बालकवत् उपेक्ष्य हैं। अब आगे गुणों का भेद देखिये।

गुण भेद

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म संस्कार ये चौबीस गुण हैं। इन चौबीसों में सजातीय और विजातीय भेद हैं। यद्यपि रूप के भेद भी अनन्त हैं, तथापि शुक्ल (श्वेत), नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र इन भेदों से रूप सात कहे जाते हैं। अब एक-एक रंग के कितने-कितने भेद हैं, इसका निर्णय करना कठिन है। इस पृथिवी पर हरित वर्ण की बाहुल्य से अधिकता पाई जाती है। इसलिए इसके दो-चार उदाहरणों को ही देखकर ईश्वर के रचना-कौशल पर विचार कीजिये। आम, कटहल, केला, धान, सीसम, बांस, नींबू, दूर्वा आदिकों के पत्ते हरे होते हैं किन्तु सब में यत्किञ्चित् भेद का बोध प्रत्यक्षतया है। इसी प्रकार काक, पिक, नीलकण्ठ,

महिष, चींटी इत्यादि कृष्ण और श्याम होते हैं। इनमें परस्पर भेद प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार अन्यान्य रूपों की विलक्षणता का अध्ययन कीजिये और ईश्वर की लीला देखिए। पुनः रस भी अगण्य हैं, तथापि मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से छह प्रकार के माने गये हैं क्या कोई शिल्पी रसों के पारस्परिक भेदों को और उनके आनन्त्य को सहस्रों उपायों से मिटा सकता है ? आम, लीची, केला, अंगूर, सेव, अमरूद, दाख, ईख, छोहारा इत्यादि मधुर पदार्थ हैं किन्तु क्या इनमें एक ही प्रकार का माधुर्य है ? कदापि नहीं। सब में भिन्न-भिन्न मधुरता का बोध पामर जनों को भी होता है। इसी प्रकार बेला, चमेली, चम्पा, परिपक्व आम, कदली, केसर, कस्तूरी, बालछड़ इत्यादिक पदार्थों में भी भिन्न-भिन्न सुगन्ध पाये जाते हैं।

देखा गया है कि अन्ध पुरुष छूकर व्यक्ति का बोध कर लेते हैं। गति, शब्द, आकृति, मुखच्छवि इत्यादिकों में आश्चर्य भेद विद्यमान है। सूक्ष्म दृष्टि से यदि आप देखेंगे तो प्रत्येक व्यक्ति की गति में भेद पावेंगे। प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न रीति से चलता है। मनुष्य की गति से भी इतर मनुष्य उसको पहचान लेते हैं। महान्धकार में मनुष्य भाषण से पहचाना जाता है। पशु, पक्षी, सर्प, पतंगादियों में भिन्न-भिन्न भाषण प्रकार हैं। लाखों आदमियों की सभा में पञ्चवर्षीय बालक भी अपने परिचित जनकादिक को पहचान लेता है क्योंकि लाखों सभास्थ पुरुषों की मुखच्छवियों में एक-एक विशेष है जो प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न करके दर्शाता है। निस्सन्देह इतनी भेद-रचनाएँ ईश्वर को अनायास सिद्ध कर रही हैं। इसी प्रकार गुणों के अन्यान्य भेदों को अध्ययन कर देखिए कि अद्भुत कौशल उस-उस पदार्थ में है।

कर्म पाँच प्रकार का है, उत्क्षेपण= ऊपर फेंकना, अपक्षेपण= नीचे फेंकना, आकुञ्चन= समेटना, प्रसारण= फैलना, और गमन= जाना। कहाँ तक भेद बतलाया जाय। सूक्ष्म दृष्टि से यदि देखिए, तो प्रत्येक स्थावर, जंगम की गति में भी बड़ी ही विलक्षणता है। तालादि वृक्ष का प्रसारण अथवा ऊर्ध्व गमन जिस रीति से होता है उसी रीति पर अन्यान्य वृक्षों का नहीं। जिस मनोहर गति से आकाश में कारण्डव विहग गण उड़ते हैं, उस सौन्दर्य को काक पक्षी अपनी गति में नहीं दिखला सकते। पारावत, हारीत इत्यादि प्रत्येक खग की गति में विलक्षणता है। इसी प्रकार सिंह जैसे चलते हैं, वैसे हरिण नहीं। हाथी की जैसी गति होती है वैसी तुरंग की नहीं। इत्यादि-इत्यादि केवल गति का ही अध्ययन कीजिये। वह परमेश्वर के अस्तित्व को आपके हृदय पर खचित कर देगा।

सामान्य नाम जाति का है। जातियों के आनन्त्य का वर्णन संक्षेप से पूर्व

में दिखलाया गया है। विशेष का भी वर्णन इसी प्रसंग में हो गया है। विशेष वह धर्म है जो एक से दूसरे को भिन्न-भिन्न कर बतलाता है। पृथिवी पर जितनी मनुष्य जातियाँ हैं, उन सब में एक न एक पृथक्त्व है। इसी का नाम विशेष है।

यहाँ न्याय शास्त्र के सम्पूर्ण प्रकरणों का उल्लेख करना अभीष्ट नहीं, किन्तु केवल यह दिखलाना है कि ईश्वर भेद का रचयिता है और यहीं भेद उसके अस्तित्व को भी सिद्ध कर रहा है।

इसी प्रसंग में संक्षेपतः वेदान्त शास्त्र से भी भेद बतलाये जाते हैं, क्योंकि नवीन वेदान्ती कहते हैं कि जीव और ईश्वर में भेद नहीं।

भेदव्यपदेशाच्च। (वेदान्तसूत्र ११.१.१७)

यहाँ स्वयं सूत्रकार संसारी जीव और ब्रह्म में भेद दर्शाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के आनन्दमयाधिकार में कहा गया है कि–

रसौ वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। (तै॰ २.६)

वह परमात्मा रसमय है। यह जीव उसको प्राप्त करके आनन्दी हो जाता है। यहाँ जीव लब्धा अर्थात् पाने वाला है और ब्रह्म लब्धव्य है। यदि जीव ब्रह्म होता, तो लब्धा ही लब्धव्य कैसे होता ? अतः यह श्रुति जीवात्मा का लब्धृभाव और आनन्दमय ब्रह्म की लभ्यता दिखलाती हुई भेद को ही सिद्ध करती है। पुनः–

भेदव्यपदेशाच्चान्यः। (वे॰ २.१.२१)

आदित्यादि जड़ समूह से भी ईश्वर अन्य है क्योंकि श्रुति ही भेद को दिखलाती है। यथा–

य आदित्ये तिष्ठन्नदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। (बृह॰ उप॰ ३.७.९)

अर्थ– जो आदित्य में रहता हुआ आदित्य से भिन्न है, जिसको आदित्य नहीं जानता, जिसका आदित्य शरीर है, जो अन्तर होकर आदित्य का शासन करता है, वह तेरा आत्मा (परमात्मा) अन्तर्यामी और अमृत है। यहाँ आदित्य से ज्ञेय परमात्मा भिन्न है, यह विस्पष्ट रूप से कहा गया है। पुनः–

शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते। (वे॰ १०.२०.२०)

अर्थ– (उभये) काण्व शाखा वाले और माध्यन्दिन शाखा वाले दोनों अन्तर्यामी परमात्मा से भिन्न जीव को परमात्मा का अधिष्ठान कहते हैं। यथा–

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। (बृह॰ उप॰ ३.७.२२)

यह काण्वशाखी का वचन है। और–

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। यह माध्यन्दिन का वचन है।

अर्थ– जो विज्ञान में रहता हुआ विज्ञान से भिन्न है, जिसको विज्ञान नहीं जानता, जिसका विज्ञान शरीर है, जो विज्ञान का भिन्न होकर शासन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है।

जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा से भिन्न है, जिसको आत्मा नहीं जानता, जिसका शरीर आत्मा है, जो भिन्न होकर आत्मा का शासन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है।

विज्ञान शब्द से शरीर-जीवात्मा का ग्रहण है क्योंकि यह आत्मा विज्ञानमय है। और आत्मा शब्द जीवात्मा का वाचक है यह प्रसिद्ध है। इससे सिद्ध है कि जीवात्मा से भिन्न कोई अन्तर्यामी है।

जीव और ईश्वर में भेद

पूर्वोक्त लेख से ईश्वर से भिन्न जीवात्मा की सिद्धि संक्षेप से दिखलाई गई है। जैसे यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर का अधिष्ठान है, वैसे ही जीवात्मा भी। अब वक्ष्यमाण लेख में यह दिखलाना चाहते हैं कि इस सृष्टि की विचित्रता क्यों होती है। इस सम्बन्ध में सूत्रकार और भाष्यकार की सम्मति यहाँ लिखी जाती है। और इस लेख में सृष्टि, जीवात्मा और ईश्वर इन तीनों का अनादित्व सिद्ध किया जायेगा। सूत्रकार कहते हैं, यथा–

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति। (वे॰ २.१.३४)

ईश्वर इस जगत् का जन्मदाता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता है। इस मन्तव्य पर स्थूणानिखननन्याय[१] से प्रतिज्ञात अर्थ के दृढीकरणार्थ पुनः आक्षेप किया जाता है। यथा– ईश्वर इस जगत् का कारण सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि यदि ईश्वर इस जगत् कारण हो, तो उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष लगेंगे क्योंकि वह किन्हीं देवादिकों को अत्यन्त सुखी बनाता है और किन्हीं पश्वादिकों को दुःखभागी और किन्हीं मनुष्यादिकों को मध्यम भोग वाले बनाता है। इस हेतु ऐसी विषमा सृष्टि को बनाता हुआ ईश्वर भी साधारण जन के समान राग-द्वेष वाला सिद्ध होगा। किन्तु श्रुति, स्मृति और पुराणादिकों में वह शुद्ध और निर्मल कहा गया है। तब वह विषमा सृष्टि क्यों रचता ? और जीवों की सृष्टि पर विचार करने से अत्यन्त घृणा होती है। कोई जीव अत्यन्त क्रूर, सर्वथा दयाहीन है। वे

१. खूंटे को भूमि में सुदृढतया गाड़ने के लिए उचित गहरा गड्ढा खोदकर, खूंटे को उसमें डालकर बार-बार हिलाकर मिट्टी डाली जाती है और मिट्टी को दबाया जाता है। इसी दृष्टान्त को स्थूणानिखनन न्याय कहा जाता है।

सिंहादिक अन्यान्य निर्दोष जीवों को किस क्रूरता के साथ मार कर खा जाते हैं। कोई जीव पदविहीन है। एक-एक पक्षी एकाध घण्टे में सहस्रशः सूक्ष्म कीड़ों को खा जाता है। कोई उलूकादि जीव दिवान्ध और अत्यन्त शोचनीय अवस्थासम्पन्न है। डालों से अपने पैरों को बांधकर उल्टे टंगे रहते हैं। इतर बहुत से रात्र्यन्ध हैं। इस प्रकार विषम और घृणामय जगत् को रचते हुए में वैषम्य और नैर्घृण्य के दोष लगते हैं। इस आक्षेप के उत्तर में कहा जाता है कि यह सृष्टि सापेक्ष है यदि निरपेक्ष केवल ईश्वर विषमा सृष्टि रचता तो वैषम्य और नैर्घृण्य दो दोष लगते। निरपेक्ष ईश्वर का निर्मातृत्व नहीं मानते क्योंकि सापेक्ष ईश्वर विषमा सृष्टि रचता है। क्या अपेक्षा करता है ? इस आशंका के उत्तर में कहते हैं कि वह धर्माधर्म की अपेक्षा करता है।

इस हेतु सृज्यमान प्राणियों के धर्माधर्म के कारण विषमा सृष्टि होती है। इसमें ईश्वर का अपराध नहीं। ईश्वर पर्जन्यवत् द्रष्टव्य है। पर्जन्य नाम मेघ का है। जैसे व्रीहि यवादि की सृष्टि में पर्जन्य साधारण कारण होता है, किन्तु व्रीहि यवादिकों की विषमता में उस-उस बीजगत असाधारण कारण ही समर्थ होते हैं। अर्थात् यदि वर्षा न हो तो किसी उद्भिज्ज की उत्पत्ति न हो, इस हेतु से वर्षा सकल उद्भिज्जों के प्रति साधारण कारण है, किन्तु कोई कटु, कोई मधुर, कोई अत्यन्त दुर्गन्धि और कोई लता अत्यन्त अग्राह्य क्यों होती है ? एक ही क्षेत्र में गेहूँ यवादि मधुर, तम्बाकू और अफीम आदि अतितीक्ष्ण और धनिया मिर्च इत्यादिक मध्यम श्रेणी के व्रीहि क्यों होते हैं ? निस्सन्देह इस विषमता का कारण बीजों के अपने-अपने असाधारण अचिन्त्य सामर्थ्य हैं। इसी प्रकार ईश्वर भी मनुष्यादि सृष्टि में साधारण कारण है। किन्तु मनुष्यादि की विषमता में तत्तत् जीवगत ही असाधारण कर्म कारण होते हैं। इस हेतु ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं हो सकता। सापेक्ष ईश्वर अधम, मध्यम और उत्तम संसार रचता है, यह कैसे ज्ञात होता है ? इस पर श्रुति कहती है, यथा–

एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्ये उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते इति। (कौ॰ ब्रा॰ ३.८)

अर्थ– यही साधु कर्म उसको करवाता है जिसको इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है। निश्चय यही उससे असाधु कर्म कराता है जिसको नीचे ले जाना चाहता है। पुनः–

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। (बृ॰ उप॰ ३०.२०.१३)

अर्थ– पुण्य कर्म से पुण्यवान् और पाप कर्म से पापी होता है। इससे सिद्ध है कि ईश्वर सापेक्ष होकर सृष्टि रचता है।

किसी सभा में नियुक्त कोई सभ्य युक्तवादी को कहे कि तू युक्तवादी है और अयुक्तवादी को अयुक्तवादी है। अथवा कोई सभापति युक्तवादी के ऊपर अनुग्रह अयुक्तवादी के ऊपर निग्रह करे तो उस सभ्य अथवा सभापति को कोई भी न कहेगा कि ये एक के प्रेमी और दूसरे के द्वेषी हैं; किन्तु ये मध्यस्थ हैं। ये वीतरागद्वेष हैं, ऐसा ही कहेगा। तद्वत् पुण्यकर्मा के ऊपर अनुग्रह और पापकर्मा के ऊपर निग्रह करता हुआ परमेश्वर मध्यस्थ ही कहलायेगा, अमध्यस्थ नहीं। यदि अकल्याणकारी के ऊपर कृपा और कल्याणकारी को दण्ड देवे, तो यह अमध्यस्थ कहलावेगा। ऐसा ईश्वर में नहीं। इस हेतु वैषम्य दोष नहीं। और इसी कारण समस्त प्राणियों का संहार करते हुए परमेश्वर में नैर्घृण्य दोष नहीं, क्योंकि प्राणियों के कर्मों के फलों का निरोध करने का वह समय उपस्थित होता है। उसका यदि उल्लंघन करे तो वह अयुक्तकारी होगा। आशय इसका यह है कि जब प्राणिवर्ग अपने-अपने कर्मों का फल पा चुके, तो उस अवस्था में सृष्टि का संहार कर लेना ही उचित होगा। जैसे यदि सकल अपराधी जेल में दण्ड भोग चुकें, अब कोई दण्ड भोगने वाला न रहे, इस अवस्था में जेल के रखने की आवश्यकता ही क्या ? इसी दृष्टान्तानुसार ईश्वर द्रष्टव्य है। कर्मापेक्षा में ईश्वर के एश्वर्य का व्याघात नहीं होता, क्योंकि सेवादि कर्मों के भेद की अपेक्षा से फलभेदप्रद प्रभु अप्रभु नहीं होता। यदि कहो कि **"एष ह्येव साधु कर्म कारयति"** इस श्रुति से ईश्वर ही द्वेष और पक्षपात से साधु और असाधु कर्म कराकर स्वर्ग वा नरक में प्राणियों को ले जाता है, इस हेतु वैषम्य दोष प्रसंग से ईश्वर इस जगत् का कारण नहीं हो सकता। ऐसा करना उचित नहीं क्योंकि इसमें विरोध होगा। क्योंकि ईश्वर कर्म करवा कर प्रणियों को सुखी, दुःखी बनाता है, यह श्रुति से प्रतीत हेता है। इस हेतु वह सृष्टि नहीं रचता, यह विरुद्ध बात है। यहाँ वैषम्यमात्र नहीं कहते और न ईश्वरकारणत्व का निषेध करते हैं। इससे क्या ? इससे यह सिद्ध होता है कि बहुत सी श्रुतियाँ वासना-सहित क्लेशों का परामर्श नहीं करतीं। उन श्रुतियों के अनुग्रह के लिये ऊपर और नीचे ले जाने की बात कही गई है। वह भी तज्जातीय पूर्व कर्मों के अभ्यासवश प्रणियों का ऊर्ध्व अथवा अधोगमन होता है। क्योंकि कहा गया है। –

जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यस्यते[१] नरः।।[२]

जिस दान, अध्ययन, तप का अभ्यास जन्म-जन्म करता है, उसी अभ्यास योग से पुनः-पुनः उसी का अभ्यास करता रहता है। सृष्टि के तात्त्विकत्व का

१. हस्तलेख में 'तच्चैवाभ्यस्ते' पाठ है। २. श्लोक का मूल अज्ञात है।

स्वीकार कर यह कहा गया है, किन्तु सृष्टि अनिर्वाच्या है, यह भी भूलना नहीं चाहिए।

पुनः शंका इस विषय में होती है कि सृष्टि के पूर्व कोई विभाग नहीं था। इसलिए कोई कर्म भी न था जिसकी अपेक्षा से विषमा सृष्टि हो क्योंकि सृष्टि के पश्चात् शरीरादि विभाग होता और तदपेक्ष कर्म होता है, कर्मों की अपेक्षा से शरीरादि विभाग होता है। इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष भी प्राप्त होगा। इस कारण विभाग के पूर्व वैचित्र्यनिमित्तक कर्म के अभाव से ही तुल्य सृष्टि होनी चाहिए इत्यादि शंका के निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं। यथा–

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्। (वे॰ २.१.३५)

पूर्वोक्त दोष तब होगा जब संसार आदिमान् मान लिया जाय, किन्तु संसार अनादि है। इस हेतु बीजांकुर न्यायवत् हेतुहेतुमद्भाव से कर्म और सर्गवैषम्य की प्रवृत्ति में कोई विरोध नहीं। भाव यह है कि सृष्टि के पूर्व वर्त्तमान कालीन के समान देवता मनुष्यादि प्राणियों तथा सूर्यादि देवों के भिन्न-भिन्न विभाग नहीं थे। जीव और प्रकृत जगत् में कोई भेद नहीं था। सकल जीव एक ही अवस्था में प्रसुप्तवत् विद्यमान थे। कोई यज्ञादिक व्यापार भी न थे। ऐसी अचिन्त्य अवस्था में जब परमात्मा मानो निष्क्रिय था, जीव भी वैसे ही थे, तब किस कर्म की अपेक्षा से परमात्मा ने विषमा सृष्टि बनाई ? ऐसी आशंका स्वभावतः मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होती है। इस पर सूत्रकार उत्तर देते हैं कि यह संसार जब अनादि है, तब ऐसी शंका नहीं हो सकती है। इसमें बीजांकुर दृष्टान्त है। यह तो प्रत्यक्ष देखते हैं कि बीज से अंकुर होता है और जब अंकुर हो तब बीज हो, तो प्रथम बीज हुआ अथवा अंकुर हुआ, इसका निर्णय करना अतिकठिन है। इसी प्रकार सृष्टि और कर्म हैं। सृष्टि हो तत्पश्चात् कर्म हो और कर्म हो तत्पश्चात् सृष्टि हो। बिना कर्म के सृष्टि हो ही नहीं सकती और कर्म बिना सृष्टि नहीं। तब यही कहा जायेगा कि सृष्टि अनादि है। इस प्रकार जैसे अंकुर का हेतु बीज है और बीज का हेतु अंकुर है और ये दोनों साथ ही साथ चलते हैं, तद्वत् सृष्टि और कर्म को जानो। इति संक्षेपतः।

संसार अनादि है इसमें और युक्ति है। यदि संसार आदिमान् मान लिया जाय तब अकृताभ्यागम दोष प्राप्त होगा। जो कर्म कभी न किया, उसके फल की प्राप्ति का नाम अकृताभ्यागम है। काई जीव उत्तम और निकृष्ट बना दिये जाएं, यह एक प्रकार से ईश्वर का अन्याय सिद्ध होगा। यदि कोई उन्मत्त राजा अपराध के बिना ही किसी को जेल दे देवे और किसी को बहुत सा धन देवे, तो वह राजा प्रजा में उपेक्ष्य होगा। इसी प्रकार यदि संसार आदिमान् मान लिया

जाय, तब सकल दोष आ जाते हैं किन्तु संसार को अनादि मान लेवें तो बीजांकुर न्यायवत् कोई दोष प्राप्त नहीं होता। संसार का अनादित्व श्रुति और स्मृति में देखा जाता है। श्रुति यह है–

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। (ऋ॰ १०.१९०.३)

पूर्ववत् ही परमात्मा सूर्य चन्द्र इत्यादि को बनाया करता है। और स्मृति यह है–

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।

(भगवद्गीता १५.३)

न इसका रूप है, न आदि और न अन्त पाया जाता है।

इतने लेख से सिद्ध हुआ कि ब्रह्म, जीव और प्रकृति ये तीनों अनादि हैं। जब ये तीनों अनादि हैं, तो इनमें परस्पर भेद भी आवश्यक हैं। यदि परस्पर भेद न होता, तो वे तीन पदार्थ ही क्यों कहलाते। इसलिए अद्वैतवाद सर्वथा वेदान्त शास्त्र से ही खण्डित हो जाता है। आगे स्थान-स्थान में इसका निराकरण दिखलाया जायेगा।

आश्चर्य रचना

यह आश्चर्य रचना भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर रही है। यद्यपि यह एक-एक हेतु ऐसा है जिस पर एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है, तथापि इस-इस हेतु के ऊपर केवल दिग्दर्शन मात्र करवाया जाता है। प्रथम यह पृथिवी ही आश्चर्यजनक है और बहुत ही लम्बी, चौड़ी और ऊँची है। इतनी बृहती पृथिवी भी बड़े ही वेग से दौड़ रही है, निराधार आकाश में सूर्य के चारों तरफ घूम रही है। यह कैसी आश्चर्य रचना है ? अब ऊपर देखिये ! इस पृथिवी से तेरह लक्ष गुणित यह भास्कर बड़ा है। कई लक्ष कोस सूर्य के दूरस्थ रहने पर भी जिसकी ज्योति और गर्मी इस पृथिवी को कहीं उर्वरा और कहीं मरुभूमि बना रही है। वह भूमि का प्राणाधिदेव महान् सूर्य भी आकाश में निराधार चक्र लगा रहा है। इस सूर्य के समान कोटियों सूर्य इस आकाश में विद्यमान हैं। इसका कहीं अन्त नहीं पाया जाता। ज्योतिषियों ने निश्चय किया है कि प्रतिपल प्रकाश[१] की गति [तिरानवें हजार][२] कोश है। वे ज्योतिषी कहते हैं कि कोई-कोई सूर्य इतने दूरस्थ हैं कि यदि उनका प्रकाश इस पृथिवी की ओर चले तो कई लाख वर्षों के पश्चात् वह प्रकाश इस पृथिवी पर आवेगा। इतने ही से आप इस जगत् की आश्चर्य रचना का अनुमान कीजिये। क्या यह अकस्मात् हो सकती है ? क्या

१. हस्तलेख में 'आकाश' पाठ है। २. हस्तलेख में कोष्ठान्तर्गत स्थान रिक्त है। हमने दो मील का एक कोश मानकर पूर्त्ति की है।

इसको कोई जीव बना सकता है ? कदापि नहीं।

प्रत्येक वस्तु में विज्ञान

यह विज्ञान भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध कर रहा है। साधारण मनुष्य अपनी जाति को ही विज्ञानवती समझते हैं किन्तु यदि वे ध्यान से देखें तो प्रत्येक जीव विज्ञान से परिपूर्ण है। मधुकर किस विज्ञानशास्त्र के बल से कुसुमों का रस ले उत्तम मधु बनाता है और किस कारीगरी के साथ अपना गृह बनाता है। मैं कह सकता हूँ कि अत्यन्त कुशल शिल्पी ही इसके भवन का अनुकरण कर सकते हैं। ऊर्णनाभ (मकड़ी) का विज्ञान तो अतिप्रसिद्ध है। अपने ही पेट से सूत्र निकाल-निकाल कर कैसा उत्तम जाल रच देता है। यदि किसी मकड़ी को आप अपनी अंगुली पर बैठा लें और उसको धीरे से गिराने की आप चेष्टा करें तो वह कदापि भूमि पर नहीं गिरेगी किन्तु अंगुली में अद्भुत कुशलता से सूत को साटकर उसी सूत के आधार पर नीचे लटक जायेगी। इसके जाल अनेक प्रकार के होते हैं। यदि मकड़ी की सृष्टि इस जगत् में न होती, तो नवीन वेदान्तियों को ईश्वर में अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता का दृष्टान्त न मिलने से कदाचित् वे अद्वैतवाद की सिद्धि न कर सकते। इसका भाव है कि मकड़ी अपने जाल का निमित्त और उपादान कारण दोनों है, क्योंकि अपने शरीर से ही सूत निकाल कर वह जाल रचती है। इसलिए वह जाल का स्वयं उपादान कारण होती है और कुम्भकारादिवत् जाल को रचती है। इसलिए वह जाल का निमित्त कारण भी है। इसी दृष्टान्त को लेकर नव्य वेदान्ती कहते हैं कि वह ईश्वर अपने शरीर से ही सामग्री लेकर इस सृष्टि को बनाता है इस हेतु इस सृष्टि का उपादान और निमित्त दोनों ईश्वर ही है। मानो, अद्वैतवादियों के लिए ब्रह्म ने एक दृष्टान्त पहले से बना रखा था। इसी प्रकार पिपीलिका आदियों का उदाहरण लीजिए। अणुतम कीट में भी अपने पालन-पोषण का चमत्कृत विज्ञान देखा जाता है। आधुनिक डॉक्टर निश्चयपूर्वक और यन्त्र द्वारा दिखलाकर कहते हैं कि जब हैजे इत्यादि के अत्यन्त सूक्ष्म कीट इस मानव शरीर में प्रवेश करने लगते हैं तब मानव शरीर के कीटों के साथ उन्हें घोर संग्राम करना पड़ता है। यदि वे संग्राम में विजयी होते हैं, तो उस मनुष्य को क्षति पहुँचा सकते हैं। कोई-कोई पक्षी ऐसे विज्ञानी देखे गए हैं कि अपनी बोली को करीब चार सौ नादों में बना सकते हैं। पक्षियों में स्मरणशक्ति भी बहुत ही आश्चर्यजनक है। उन्हें स्मरण रहता है कि अमुक ऋतु में अमुक स्थान पर पुष्कल भोजन प्राप्त होगा। इस हेतु ऋतु-ऋतु में नवीन-नवीन विहगों का दर्शन कहीं-कहीं बराबर होता रहता है। हमारे देश में खञ्जन कुछ काल के लिए आता है और पुनः बहुत दिनों के लिए प्रस्थान कर जाता है। वर्षा ऋतु में भूरि-भूरि

नये-नये खग हमारे देश में देखे जाते हैं। वर्षा के पश्चात् पुनः वे यहाँ से लुप्त हो जाते हैं। पक्षीगण बड़ी कुशलता से अण्डा देने के लिए कोटर अथवा नीड़ (घोंसला) बना लेते हैं और अण्डे को सेकर बच्चे को निकाल पोषण कर अपने कार्य में दक्ष बना छोड़ते हैं। इन जंगमजीवों में ही विज्ञान नहीं पाया जाता किन्तु स्थावर वृक्षादिकों में भी विज्ञान की मात्रा का वर्णन वनस्पतिशास्त्रवित् बतलाते हैं। यदि मनुष्य की ओर ध्यान देवें तो इस जाति का विज्ञान भी आश्चर्यजनक है। इस विज्ञान का दाता कौन ? निश्चय से इसका दाता भी ब्रह्म ही है।

कौशल

कौशल भी ईश्वर का अस्तित्व दिखला रहा है। प्रथम अपने शरीररूप यन्त्र की कुशलता देखिये ! जब हम खाद्य वस्तु पेट में रख देते हैं, तो कैसे अद्भुत यन्त्र द्वारा वह खाद्य नाना रूपों में परिणत होने लगता है। उसी से रक्त, मज्जा, मांस, अस्थि, चर्म लोम आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएं बनने लग जाती हैं। उसी से कैसे उत्तम इन्द्रियों की वृद्धि होने लगती है। इस कौशल का वर्णन कौन कर सकता है ?

एक क्षेत्र में आप पांच प्रकार के बीज कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर इत्यादि बोएं। अब इनमें क्या आश्चर्य कौशल है कि अपने वायुमण्डल से और उतनी ही जगह से रस खैंच कर उतने ही प्रकार के फल-फूल बन जाएं ! क्या आप उस क्षेत्र में अथवा वायुमण्डल में कटु, तिक्तादिकों का कुछ भी अनुभव करते हैं ? क्या पृथिवी के उस क्षेत्र में सम्पूर्ण एक ही से रस हैं या भिन्न-भिन्न ? निस्सन्देह उस क्षेत्र की रेणुओं का रस प्रायः समान है। वायुमण्डल भी समान है। तब उस-उस बीज में कौन सी कुशलता विद्यमान है कि एक ही क्षेत्र में पांच प्रकार के रस अदृश्य रूप में तैयार हो रहे हैं ? कैसा अद्भुत यन्त्र आकाश में परमात्मा ने स्थापित कर दिया है कि जिसकी गर्मी से समुद्र का जल, वाष्प हो-होकर मेघ बनता जाता है और मेघ दौड़-दौड़कर पृथिवी पर जल सींचता रहता है। क्या इत्यादि अनन्त कौशल आपके हृदयपटल पर ब्रह्मास्तित्व खचित नहीं कर देता?

क्रमनिबन्ध

यह भी ईश्वरास्तित्व प्रदर्शक है। देखते हैं, बीज से प्रथम अंकुर, तब क्रमपूर्वक पल्लव, शाखा, पुष्प और फल होते रहते हैं। क्रमपूर्वक रज वीर्य का संयोग, वृद्धि, बच्चों की उत्पत्ति और शनैः-शनैः अवयवों की वृद्धि, शैशव, तारुण्य और वार्द्धक्य होता रहता है। क्रमपूर्वक सूर्योदय और ऋतुपरिवर्त्तन होते रहते हैं। यह क्रमनिबन्ध स्वाभाविक नहीं हो सकता। इसका कोई चेतन कर्त्ता अवश्य है,

जो ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है।

शासन

शासन भी ईश्वर के अस्तित्व को अच्छी तरह से दिखला रहा है। सूर्य में गिरकर पृथ्वी भस्म क्यों नहीं हो जाती ? ये अनन्त नक्षत्र परस्पर टकरा-टकराकर चूर्ण क्यों नहीं हो जाते ? क्योंकर यह भूमि कोटियों वस्तुओं को प्रतिक्षण उत्पन्न करती रहती है ? क्योंकर सूर्य से ताप प्राप्त कर सब प्राणी अपने अस्तित्व को बना रहे हैं ? निस्सन्देह इसमें उसी परमात्मदेव का महान् शासन है जिससे यथास्थान यथायोग्य कार्य हो रहे हैं। अत एव श्रुति कहती है कि–

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्त्ता अहोरात्राण्यर्द्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नदयः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां याञ्च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः।। (बृह॰ उप॰ ३.८.९)

अर्थ– याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि हे गार्गि ! इसी अविनाशी, नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विधृत हैं। इसी अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि ! द्युलोक और पृथ्वी स्थित हैं। हे गार्गि ! इसी अविनाशी के प्रशासन में निमेष, मुहूर्त्त, अहोरात्र, अर्द्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर इत्यादि नियमबद्ध हैं। इसी अविनाशी के प्रशासन में हे गार्गि ! पूर्व की ओर नदियाँ बह रही हैं। श्वेत पर्वतों से पश्चिम की ओर नदियाँ जा रही हैं। इसी अविनाशी के प्रशासन में दानदाता, यजमान, देव, पितर आदि सब ही निबद्ध हैं। और भी–

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्।।
नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।
(कठोप॰ २.१२.१३)

अर्थ– सर्वभूतों के अन्तरात्मा, एक और सब को अपने वश में रखने वाला जो परमात्मा एक रूप को बहुत बनाता है उसको जो धीर पुरुष अपने आत्मा के अन्तर्गत देखते हैं, उन्हें सदा स्थायी सुख प्राप्त होता है अन्यों को नहीं। जो अनित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन, बहुतों में एक होकर सबकी कामनाओं को बनाता है, उसको जो धीर पुरुष अपने आत्मा के अन्तर्गत देखते हैं, उन्हें शाश्वती

(सर्वदा रहने वाली) शान्ति प्राप्त होती है, इतर जनों को नहीं।

इसके अतिरिक्त परमेश्वर के अस्तित्व को और भी अन्यान्य वस्तुएं दिखला रही हैं, जिनको अभी दिखलाऊँगा। इतने पूर्वोक्त लेख में कार्य से कारण का अनुमान होता है, यह संक्षेप से सिद्ध किया गया है। इस आश्चर्य भेदादि रचनाओं को चेतन बिना अन्य कोई नहीं बना सकता। जड़ प्रकृति में रचनात्मिकता शक्ति नहीं। चेतन आत्मा में भी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता नहीं, जिससे वह इस जगत् को बना सके। इस हेतु [जैसे] अष्टाध्यायी प्रभृति ग्रन्थों को देखने से उसके कर्त्ता का अनुभव साधारण जन भी कर लेता है, तद्वत् इस अद्भुत जगत् को देख इसके कर्त्ता ब्रह्म का भी अनुमान होता है। इसी हेतु जहाँ-जहाँ ब्रह्म कौन है ? ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वहाँ-वहाँ जगत्कर्तृत्वरूप से ही इसका निर्देश किया जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में जब भृगु अपने पितर वरुण के निकट जाकर जिज्ञासा करते हैं कि मुझको ब्रह्म बतलावें, तब वरुण इस प्रकार उत्तर देते हैं। यथा–

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। (तै॰ उप॰ ३.१)

अर्थ– निश्चय, जिससे भूत उत्पन्न होते हैं और होकर जिससे जीते हैं और मरने के पश्चात् जिसमें प्रविष्ट होते हैं, उसकी जिज्ञासा कर। वह ब्रह्म है।

इसी हेतु बादरायण व्यास भी अपने अद्भुत वेदान्त शास्त्र को रचते हुए प्रथम **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"** इस सूत्र का प्रणयन करते हैं। अर्थात् ब्रह्म की जिज्ञासा कर्त्तव्य है। इस पर शंका होती है कि ब्रह्म किसको कहते हैं ? इसके उत्तर में **"जन्माद्यस्य यतः"** इस द्वितीय सूत्र को रचते हैं। इसका अर्थ यह है (अस्य) इस दृश्यमान जगत् का (यतः) जिससे (जन्मादि) जन्म, स्थिति और संहार होता रहता है, उसे ब्रह्म कहते हैं। यहाँ भी कार्य के निर्देश से ही ब्रह्म का निर्धारण किया गया है।

अब यदि ब्रह्म कोई वस्तु न होता, तो सृष्टि के आदि से आज तक लोगों को उसकी ओर प्रवृत्ति क्योंकर होती ? इतने धर्मग्रन्थ वेद, पुराण, कुरान, बाइबिल, ज़न्दावस्था क्योंकर बनते ? उसकी प्राप्ति के लिए ऋषि, मुनि, तपस्वी, योगी प्रभृति कठोर तप, व्रत, नियमों को क्योंकर धारण करते ? क्या ये धर्मग्रन्थ केवल आडम्बर और धोखा देने वाले ही हैं ? क्या वे निःस्वार्थ ऋषिगण वञ्चक ही थे, जो सदा अवस्तु ब्रह्म की शिक्षा देते रहे ? समस्त जीवों की ब्रह्म की ओर स्वाभाविकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः ब्रह्म एक निश्चित वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं।

कारणतादर्श

कारण दो प्रकार का है। एक उपादान और दूसरा निमित्त। जिससे कार्य बनता है, जिसके बिना कार्य की स्थिति नहीं हो सकती, जिसका प्रवेश कार्य में हो, उसको उपादान कारण कहते हैं। जैसे मृत्तिका से घट बनता है। सुवर्ण से कुण्डलादि बनते हैं। यहाँ मृत्तिका और सुवर्ण घट और कुण्डलादिक का उपादान कारण है। क्योंकि मृत्तिका के बिना घट नहीं बन सकता, घटरूप कार्य में मृत्तिका का प्रवेश है और मृत्तिका के बिना घट की स्थिति भी नहीं हो सकती, इस हेतु घट का उपादान कारण मृत्तिका है। इसी प्रकार कुण्डलादिकों का उपादान कारण सुवर्ण है। और उपादान कारण से भिन्न जिसका कार्य में तो प्रवेश हो नहीं किन्तु जिसके व्यापार के बिना कार्य न बने, उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे घट का निमित्त कारण कुम्भकार और कुण्डल का निमित्त कारण स्वर्णकार है। क्योंकि यदि कुम्भकार और स्वर्णकार का व्यापार न हो तो घट और कुण्डल नहीं बन सकते। वे चक्र, मिट्टी, जल, सूत्र, अग्नि, धौंकनी आदि सामग्री लेकर घट और कुण्डलादिक बनाते हैं।

अब प्रश्न होता है कि यदि इस जगत् का कारण ब्रह्म है तो वह केवल उपादान अथवा केवल निमित्त कारण है अथवा दोनों। इसके समाधान में कहा जाता है कि इस जड़ जगत् का ब्रह्म केवल निमित्त कारण है, उपादान नहीं। क्योंकि निष्प्रयोजनत्व, विलक्षणत्व, कृत्स्नप्रसक्ति, भोक्तृभोग्यविभाग, हिताकरणादि दोष इत्यादि हेतु ब्रह्म की उपादान-कारणता का प्रतिषेध कर रहे हैं।

१. निष्प्रयोजनत्व

स्वयं ब्रह्म को उपादान और निमित्त दोनों होने का प्रयोजन ही क्या हुआ? क्या व्यक्त सृष्टि के पूर्व सामग्री नहीं थी कि जिसके लिए उसको स्वयं ही उपादान भी बनना पड़े ? क्या सांख्याभिमत उस समय विद्यमान प्रकृति नहीं थी? अथवा अद्वैतेष्ट अनादि माया क्या कहीं चली गई थी ? यद्वा कणाद और गौतम के इष्ट परमाणु विद्यमान न थे ? यदि प्रकृति, माया और परमाणु इनमें से किसी एक का भी भाव था, तब उसी को लेकर सृष्टि न रच अपने निरवयव शरीर से ही सृष्टि रचने के उद्योग में पड़कर ब्रह्म कौन सा प्रयोजन देखता था ? और जब वह ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्यतृप्त, सर्वरस, सर्वगन्ध, सर्वनियन्ता और सर्वस्वामी इत्यादि नामों का वाच्य होता है तब किस प्रयोजन के लिए वह स्वयं उपादान कारण बने ? यदि कहें कि सर्वशक्तिपरिपूर्ण ब्रह्म क्यों बाह्य साधनों की अपेक्षा करे, जब उसमें सर्व शक्तियाँ विद्यमान हैं तब उसी से वह क्यों नहीं सृष्टि

रच ले ? देखिये ! श्रेष्ठी यद्वा सम्राट् के अपने ही गृह में सर्व सामग्रियाँ विद्यमान हैं, तो वे दूसरों की सामग्रियों की आकांक्षा क्यों करेंगे ! जब क्षुद्रजन्तु तन्तुवाय कीट भी बाह्य साधन की अपेक्षा न कर अपने उदर से ही सूत्र निकाल मञ्जुल जाल रच उस पर विलास करता है, तो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ परमात्मा क्यों नहीं अपने ही उदर से सर्व सामग्रियों को निकाल सृष्टि रच ले ! बाह्य साधन की अपेक्षा वह क्यों करे ! असमर्थ और अपरिपूर्ण जन बाह्य सामग्री की अपेक्षा करता है, [परिपूर्ण और समर्थ नहीं]। इस हेतु वह [ब्रह्म] स्वयं उपादान और निमित्त कारण हो सकता है।

उत्तर पक्ष– आपके दृष्टान्त विषम हैं क्योंकि दार्ष्टान्तिक ब्रह्म में वे संघटित नहीं हो सकते। विचार कीजिये ! श्रेष्ठी और सम्राट् प्रभृतियों को सामग्रीसम्पन्न होने का कुछ प्रयोजन है क्योंकि धनसम्पन्नता ही उनको श्रेष्ठी अथवा सम्राट् बनाती है। यदि उन्हें धनसम्पन्नता न हो, तो [उन्हें] कौन सम्राट् और श्रेष्ठी कहेगा ? ब्रह्म वैसा नहीं। उसको न किसी की प्रशंसा या न किसी की निन्दा की आकांक्षा है, क्योंकि वह सर्वदा एकरस और अविकारी है। इसी प्रकार यदि ऊर्णनाभ (मकड़ी) स्वजाल न रचे तो उसका निर्वाह होना कठिन है। निस्सन्देह वह जीवनयात्रा के लिए जाल रचती है। इस हेतु सम्राट् प्रभृतियों का कोई न कोई प्रयोजन देखा जाता है। मैं तो यह पूछता हूँ कि ब्रह्म का कौन सा आवश्यक प्रयोजन उपस्थित होता है कि वह स्वयं जगद्रूप में परिणत होकर अपने शुद्ध स्वरूप का ही उच्छेद कर देता है।

पूर्वपक्ष– निष्प्रयोजन भी बहुत से कर्म होते रहते हैं। जैसे प्रतिक्षण श्वास-प्रश्वास निष्प्रयोजन ही चलते रहते हैं। निमेषोन्मेष होने का कौन सा प्रयोजन है? समुद्र में सर्वदैव निरर्थक ही तरंगें होती रहती हैं। निष्प्रयोजन ही वायु में स्पन्दन होता रहता है इत्यादि निष्प्रयोजनता में अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं। तद्वत् निजस्वभाववश निष्प्रयोजन ही ब्रह्म सृष्टि रचा करे और बाह्य सामग्री की भी अपेक्षा न करे।

उत्तरपक्ष– श्वासप्रश्वास प्रभृतियों के प्रतिक्षण चलने का जीवनधारण करना मुख्य प्रयोजन है। यदि प्राणियों में श्वासोच्छ्वास अर्थात् भीतर और बाहर प्राणवायु न आते-जाते रहें, तो जीवन नहीं रह सकता। समुद्र में यदि तरंगें न होती रहें तो उसका जल अतिशय हानिकारक हो, सर्व प्राणियों के लिए विष हो जाये। समीरण यदि प्रतिक्षण न चलता रहे तो प्राणियों की गतिस्थिति में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जायें। इस हेतु जगत् में कोई भी निष्प्रयोजन कर्म नहीं होते। हों भी, तो वे अज्ञानकृत हो सकते हैं, किन्तु ईश्वर तद्विपरीत सर्वज्ञ,

निखिलप्रयोजनवित् होने से निरर्थक किसी कर्म को क्यों करे ?

पूर्वपक्ष– यद्यपि ईश्वर का निज प्रयोजन कोई नहीं, तथापि एकलीलावह रहे और उससे अपनी विभूति प्रकट करे। और भी, जीवों को कर्मफल भोगने के लिए भी तदनुसारिणी सृष्टि रचे।

उत्तरपक्ष– अपनी लीला के लिए यदि वह सृष्टि रचे, तो लीला भी उसका एक प्रयोजन हुआ, किन्तु नित्यतृप्त को किसी वस्तु का प्रयोजन नहीं। इसलिए जो कोई इस सृष्टि को ईश्वरी लीला मात्र समझते हैं, वे वास्तविक तत्त्व को नहीं जानते। और भी, ईश्वर की यह सृष्टि लीला हो और जीवों को अतिशय क्लेश हो, यह कैसी बात है ! विहगों का प्राण जाय और बच्चों का खिलौना हो, इस अन्धपरम्परा न्याय की यहाँ प्रवृत्ति होगी। जब इस जगत् में नाना क्लेश, कहीं अतिशय भयंकर महामारी आदि रोग, कहीं अरण्यादिकों में प्रकाण्ड हत्याओं का दृश्य, कहीं असमर्थता का घोर दुःख, कहीं शूकरादिक निकृष्ट योनियों की निकृष्ट प्रवृत्तियों का दर्शन, जन्म-मरण इत्यादि-इत्यादि विविध व्यापार जीवों को अतिक्लेशकर दिखते हैं, तब इसको ईश्वर की लीला कहें, यह कैसी बात है ! इस हेतु लीला उसका प्रयोजन नहीं होता। अब जीवात्मा को कर्मफल भुगाने के लिए सृष्टि हो यह जो आपका कथन है, वह ठीक है किन्तु इसके लिए वह स्वयं जगद्रूप में परिणत हो इसका क्या प्रयोजन ? जीवात्मा अनादि पदार्थ है। जीवों को ईश्वर नहीं बनाता। वे जीव सदा से ब्रह्मवत् ही चले आते हैं अर्थात् वे जीव अनादि और अनन्त हैं। और इस कार्य जड़ जगत् का उपादान कारण भी ब्रह्मवत् ही अनादि है, ऐसा श्रुति कहती है। तब अनादि और अनन्त जीवों के लिए तत्सदृश प्रकृति को लेकर ही सृष्टिरचना में ईश्वर क्यों न प्रवृत्त हो ? स्वयम् अशुद्ध जगद्रूप में परिणत हो कौन सा सुख जीवों को वह पहुँचावेगा ? क्योंकि जीव अपने-अपने कर्मानुसार फल भोगेंगे। मिट्टी रहते हुए कौन सा बुद्धिमान् कुम्भकार अपने देह से मिट्टी निकाल घट बनाने लग जाता है। और भी, प्रकृति अथवा माया अथवा परमाणु भी तो ब्रह्म के शरीरवत् ही हैं क्योंकि इनमें वह ब्रह्म व्याप्त है। तब उनसे ही सृष्टि क्यों न रचे ? तथापि हम मान लेते हैं कि अपने शरीर से वह ब्रह्म सृष्टि रचे अथवा स्वयं जगद्रूप में परिणत हो जाय, तथापि मायावाद की पुष्टि नहीं हो सकती क्योंकि विलक्षणत्वादि अनेक हेतु विद्यमान हैं जो ब्रह्म की उपादानकारणता का प्रतिषेध कर रहे हैं।

२. विलक्षणत्व

यह विचारने की बात है। प्रायः जगत् में देखते हैं कि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य भी होता है। जैसी मृत्तिका है, तत्समान ही किञ्चित्-किञ्चित् परिवर्त्तन के साथ घट, ईंट, पत्थर बनते हैं। सुवर्ण के समान ही कुण्डल, वलय आदि होते हैं। बीज पल्लव, पुष्प, फल आदि विलक्षण होते हुए भी अन्त में अपने समान ही बीज पैदा करते हैं। इसी प्रकार जगत् के निखिल पदार्थों को देखिये। प्रायः कारण के समान कार्य होते हैं। ईश्वर चेतन, शुद्ध, दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, कर्त्ता, धर्त्ता आदिक है। यदि वही सृष्टिरूप में परिणत होता, तो जगत् भी शुद्ध, चेतन आदि होता। किन्तु जगत् और ब्रह्म में बड़ी विलक्षणता पाते हैं। यह जगत् अशुद्ध, अचेतन, ज्ञानहीन इत्यादिक है। तब इसका उपादान ब्रह्म कैसे माना जाय, क्योंकि अपने उपादान कारण के समान ही कार्य होते हैं। यह अधिक दृष्टान्तों से अभी कहा है।

पूर्वपक्ष– विलक्षण परिणाम भी देखते हैं। इस चेतन शरीर से जड़ केश, नख उत्पन्न होते रहते हैं। जड़ गोमय से विलक्षण वृश्चिक उत्पन्न होता है। सड़े हुए जड़ पदार्थों से सहस्रशः कीड़े-मकोड़े उत्पन्न होते ही रहते हैं। अजी ! मुझको जड़-चेतन में कुछ भी भिन्नता नहीं दीखती। मैं सब वस्तुओं को चेतन ही समझ रहा हूँ। कोई भी अचेतन वस्तु नहीं। चेतनाचेतन विभाग केवल अज्ञ पुरुषों के लिए है। यदि कहें कि मृत्यु के पश्चात् यह शरीर अचेतन नहीं हो जाता ! शुष्क काष्ठ और लोष्ठ आदि चेतनत्वविहीन ही हैं। ये पञ्च भूत– पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश अचेतन ही हैं। तब आपको चेतनाचेतन विभाग क्यों नहीं सूझता? अजी, मुझको तो नहीं सूझता क्योंकि मृत शरीर को भी मैं चेतन ही मानता हूँ, क्योंकि जैसे चलती हुई घड़ी को चेतन और बन्द घड़ी को अचेतन कहें, यह कैसे हो सकता है ? वैसे ही यह शरीर घड़ी के समान एक यन्त्र है। इसमें नाना नाड़ी, नसरूप सूइयाँ लगी हुई चल रही हैं। उनमें से एक के बिगड़ने से भी इस शरीर की गति बन्द हो जाती है। तब इसी को मूर्ख जन मृत मान लेते हैं। अतः मैं कहता हूँ कि यन्त्र के बिगड़ने से इसकी दशा में परिवर्त्तन अवश्य हुआ है, किन्तु पूर्ववत् ही चेतन अथवा अचेतन बना हुआ है। इसी प्रकार काष्ठ, लोष्ठादिक में भी चेतनता सुषुप्तिरूप में अथवा अव्यक्त दशा में विद्यमान है। एवं आकाशादिक पञ्च भूत भी चेतन ही हैं। हम जीवों को इनमें चेतनता का बोध नहीं होता। यदि वे चेतन न होते, तो उनके संयोग से बने हुए देह चेतन कैसे होते ?

उत्तरपक्ष– आप की शंका बहुत लम्बी हो गई। प्रथम समाधान सुन लीजिये, तब आगे पुनः अपना भाषण कीजियेगा। चेतन का लक्षण क्या है ? निस्सन्देह, जिसमें इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, दया, क्रूरता, स्वार्थ, वञ्चकता इत्यादिक धर्म हों उसे चेतन कहते हैं। अब विचार कीजिये कि [क्या] शव (मृत), प्रस्तर, काष्ठ, लोष्ठ और आकाशादिकों में इच्छा, द्वेषादि धर्म विद्यमान

हैं ? यदि नहीं, तो वे चेतन भी नहीं कहला सकते। और भी सुनिये– चेतन सदैव स्वतन्त्र हुआ करते हैं, अपने शरीर को बाह्य सामग्रियों से पुष्ट करते हैं और कुछ भागों को त्यागते भी हैं और अन्तातोगत्वा असमर्थ होकर इस शरीर को छोड़ना भी पड़ता है। देखिये, सूक्ष्म से सूक्ष्म कीट स्वतन्त्रता से विचरण करता है। बाहर से सामग्री लेकर शरीर को पालता और पुनः मल-मूत्रादिक को उससे निकालता है। यद्यपि वृक्षादिक जीव इतस्ततः गमनागमनादि में स्वतन्त्र नहीं, तथापि वे बाहर से सामग्री अपने पोषण[१] के लिए खैंचते रहते हैं और पुष्ट हो-होकर अपने से पत्र, पुष्प, फलादिक उत्तमोत्तम पदार्थ त्यागते रहते हैं। क्या वह पूर्वोक्त लक्षण मृतकाय, प्रस्तर, आकाशादिक में घटता है ? तब हम उन्हें चेतन कैसे मानें ? घड़ी का दृष्टान्त भी असंगत है, क्योंकि सामग्रियों को एकत्रित कर घड़ी बनाते हैं। घड़ी घटती और बढ़ती नहीं, किन्तु अस्मदादिकों का शरीर अत्यन्त सूक्ष्म बीज और शुक्र, शोणित से बढ़ते-बढ़ते इतना बड़ा होता है। क्रमशः इसमें उपचय और अपचय देखते हैं। एतत्समान घड़ी नहीं। अतः घड़ी का दृष्टान्त अदृष्टान्त है।

पूर्वपक्ष– यह कहना आपका ठीक नहीं। आप चेतन का जो लक्षण करते हैं, वह ठीक नहीं। देखिए, इस जगत् में एक कोष्ठ जीव से लेकर कोटियों कोष्ठक जीव विद्यमान हैं। भाव इसका यह है कि कोई जीव इतना सूक्ष्म है कि एक कोष्ठ से वह बना हुआ है और कोई हस्त्यादिक जीव कोटियों कोष्ठों से बने हैं। इनमें बहुत तारतम्य पाया जाता है। देखिए, मनुष्य चेतन सम्यक् भाषण करता है, विवेक द्वारा सामाजिक प्रबन्ध रचकर सुखी होता है, किन्तु पशु की चेतनता में यह शक्ति नहीं। इन सब से भी वृक्षादिक की चेतनता में अत्यन्त भेद है। वे वृक्षादिक प्रत्यक्ष रूप से सुख-दुःख प्रकट नहीं कर सकते। एक कोष्ठक जीव में झटिति चेतनता की प्रतीति नहीं होती। अब इस [एक] कोष्ठक जीव की अपेक्षा से प्रस्तरादिक में कुछ भी हम लोगों की दृष्टि से चेतनता का भान नहीं होता, किन्तु उसमें चैतन्य है। इसी प्रकार पञ्च भूत चेतन हैं क्योंकि उनमें से एक पृथिवी स्त्रीजाति के समान अनन्त जीवों को उत्पन्न कर रही है। तब इसको अचेतन कैसे कहें क्योंकि यह भी विलक्षण रीति से जीवों को उत्पन्न करती है। केवल इसमें बीज बोने से ही यह वस्तुओं को उत्पन्न नहीं करती। वैज्ञानिकों ने देखा है कि जो भूभाग लाखों वर्षों से समुद्र जल के भीतर पड़ा था, जल के हट जाने से [उसमें] सब पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं।

और भी विज्ञान शास्त्र से यह सिद्ध है कि यह पृथिवी सूर्यवत् जल रही

१. हस्तलेख में 'लोग' पाठ है।

थी, धीरे-धीरे शीतल हुई है। अब आप समझ सकते हैं कि जब यह पृथिवी अग्निमय थी, तब इसके बीज जल गए होंगे, इसमें सन्देह नहीं। तब इसमें बीज कहाँ से आए ? इस शंका का उत्तर आप क्या दे सकेंगे ? इस हेतु मैं कहता हूँ कि सब वस्तु ही चेतन हैं। जिस समय यह पृथिवी जल रही थी, उस समय भी यह चेतन थी, अब भी चेतन है। इस पृथिवीरूप चेतन वस्तु से उद्भिज्ज चेतन उत्पन्न होते रहते हैं। यदि कहें कि पृथिवी में वृद्धि या ह्रास नहीं देखते, किन्तु उद्भिज्जों में वे दोनों पाये जाते हैं। इस हेतु उद्भिज्जों का कारण पृथिवी नहीं। यह आपका कथन युक्त नहीं। सकलबीजमयी ही यह पृथिवी है। उसी से यह विलक्षण उद्भिज्ज उत्पन्न होते हैं क्योंकि वस्तुपरिणाम बहुत ही आश्चर्यजनक होता है। देखिए, तेल, बत्ती और अग्नि के संयोग से तेल भी धूमरूप में ही परिणत हो जाता है, अर्थात् तेल कुछ धूमरूप में और कुछ अग्निरूप में बदलता रहता है। यहाँ तेल से कैसा विलक्षण अग्निरूप परिणाम है। एक ही भोज्य वस्तु के परिणाम रक्त, मज्जा, मांस, अस्थि, रज, वीर्य, केश और नखादिक हैं। ये सब ही एक से एक विलक्षण हैं। इसी प्रकार पृथिवी का विलक्षण परिणाम उद्भिज्जादि हैं। इस हेतु यह सम्पूर्ण जगत् ही चेतन है, अचेतन नहीं।

उत्तरपक्ष– आपका कथन युक्तियुक्त नहीं। यदि सभी चेतन हों, तो इनमें अनेक दोष प्राप्त होंगे।

क– उपकार्योपकारकभाव की सिद्धि न होगी। ये सकल जड़ पदार्थ चेतन के उपकारक हैं और चेतन उपकार्य हैं। चेतन को जड़ पदार्थों से उपकार पहुँचता है। इस हेतु चेतन उपकार्य और जड़ उपकारक हैं। उपकारक को यहाँ उपकरण भी कह सकते हैं। इस दृष्टान्तानुसार दार्ष्टान्तिक जीवात्मा लीजिये। जड़ वस्तुओं को लेकर यह चेतन जीव अपने शरीर को पुष्ट करता है और पोषण में एक जड़ दूसरे जड़ के सहायक होते हैं। जड़ शरीर के सहायक अन्नादिक जड़ पदार्थ होते हैं। यदि ये दोनों एक ही हों, तो उपकार्योपकारकभाव नहीं बनता।

ख– यह सम्पूर्ण जगत् चेतन नहीं क्योंकि यहाँ लौकिक दृष्टान्त अवश्य ग्रहीतव्य है। लोक में देखते हैं कि सकल चेतन स्वतन्त्र हैं। स्वातन्त्र्य इसका मुख्य गुण है। अतिक्षुद्र जन्तु भी स्वेच्छानुसार गमनागमन करता है। इस दृष्टान्तानुसार यदि सकल जगत् ही चेतन हो, तब कोई चेतन अत्यन्त क्षुद्र कीट आदिक क्यों बन जाय ? क्यों कोई चेतन अतिक्षुद्र जन्तु मूषक, शशकादि बनकर बिडाल और व्याघ्रादि का भक्ष्य बन जाय ? और क्यों कुछ चेतन सिंहादिवत् परम बलिष्ठ जीव बनकर स्वयं भक्षक बन जायँ ? इस हेतु यह सम्पूर्ण जगत् चेतन

नहीं।

ग– यदि सम्पूर्ण जगत् चेतन हो, तो शरीर के निखिल अगण्य परमाणु जो चेतन नहीं हैं, तो इनमें घोर संग्राम उत्पन्न क्यों नहीं होता और स्वतन्त्र होने के कारण प्रत्येक परमाणु सदैव पृथक् ही क्यों नहीं रहता ? कोई भी चेतन शरीरवत् मिलकर एकरूप नहीं हो जाते। परस्पर मनुष्य भी सदैव भिन्न-भिन्न रहता है। मनुष्य, व्याघ्रादि मिलकर एकरूप में परिणत कदापि नहीं होते। इसलिए सकल परमाणु चेतन नहीं।

घ– यदि सब ही चेतन हों, तो धर्माधर्मादि व्यवस्था भी सिद्ध नहीं होगी। जीवित गुरुजनों पर यदि पुत्रादिक प्रहार करे तो वह पापिष्ठ समझा जाता है, किन्तु मृत गुरुजनों को जला देने से कोई भी पापी नहीं माना जाता। यदि सभी चेतन हों, तो गुरुजनों के जलाने से पुत्रादिक अवश्य पापी हो जाय। इसी प्रकार भोग्यभोक्तृभाव इत्यादिक दृश्यमान व्यवहार की सिद्धि भी न होगी।

पूर्वपक्ष– हमने अभी तक युक्ति द्वारा जगत् का चेतनत्व दिखलाया और इसका निराकरण आप करते गए। मैं अब इस पक्ष को त्याग दूसरे ही पक्ष का ग्रहण करता हूँ जिसका समाधान कदाचित् आप न कर सकेंगे। श्रुति कहती है– **"मृदब्रवीत्", "आपोऽब्रुवन्"** (श॰ ब्रा॰ ६.१.३.२,४) **"तत्तेज ऐक्षत", "ता आप ऐक्षन्त"** (छा॰ उप॰ ६.२.३.४) **"ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः।"** (बृ॰ उप॰ ६.१.७) **"ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति"** (बृ॰ उप॰ १.३.२)।

यहाँ पञ्चभूत और इन्द्रियों की चेतनता देखते हैं। श्रुतिवाक्यों का यह अर्थ है– मिट्टी (पृथिवी) बोली। जल बोला। उस तेज ने देखा। उस जल ने देखा। इत्यादिक वाक्य पञ्चमहाभूतों का चेतनत्व सिद्ध कर रहे हैं। और– वे ये प्राण अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करते हुए ब्रह्म के निकट पहुँचे। उन्होंने वाणी से कहा तू हमारे लिए गान कर। इत्यादि वाक्य इन्द्रियविषयक चेतनत्व दिखला रहे हैं। और भी सुनिये, चारों मन्त्रभाग इसी को सिद्ध कर रहे हैं। यथा–

अग्न आ याहि वीतये (साम॰ १.१.१)= हे अग्ने ! रक्षा के लिए तू आ। **वायवा याहि** (ऋ॰ १.२.१)= हे वायो ! तू आ। **अग्ने व्रतपते** (यजुः॰ १.५)= हे अग्ने, हे व्रतपते ! मेरे व्रत के रखने में सहायता कर। **विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव**= हे सूर्यदेव ! मेरे सकल पापों को दूर कर। **इन्द्र सोमं पिब** (ऋ॰ १.१५.१)= हे इन्द्र ! सोम पियो। इत्यादि प्रकार के वाक्यों से सम्पूर्ण चारों वेद भरे हुए हैं। पृथिवी, अप, तेज, वायु, रथ, बाण, ज्या इत्यादि-इत्यादिकों का वर्णन चेतन के समान ही वेद में आता है। जब वेद, ब्राह्मण और उपनिषदादिक इनको चेतन मानते हैं, तब आप इनकी चेतनता का खण्डन कैसे करते हैं ? इसी प्रकार **"इमे मे गंगे यमुने"** (ऋ॰ १०.१५.५)= हे गंगे, हे यमुने ! मेरे स्तोत्र को आप सुनिये। इत्यादि वाक्य गंगा प्रभृति नदियों की चेतनता का प्रतिपादन करते हैं। मैं कहाँ तक वर्णन करूँ। स्वयं वेदादि शास्त्र और मीमांसा का निर्णय पढ़कर देखिये। और भी, यदि अग्न्यादिक चेतन न हों, तो समस्त वैदिक कर्म नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ, क्योंकि इन्हीं अग्नि, वायु, इन्द्र और गंगा प्रभृति देवों के उद्देश्य से सकल वैदिक अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय इत्यादि शतशः यज्ञ किये जाते हैं और इन्हीं देवों के नाम पर यज्ञ में भाग रखे जाते हैं। अग्निहोत्र के समय उस-उस देवता का ध्यान कर अग्नि में द्रव्य का त्याग होता है। आजकल भी तदनुसार ही काली, दुर्गा, विष्णु, महादेव, गंगा, यमुना इत्यादिकों की पूजा होती है और इनको भाग दिया जाता है। अब तक भगवती के उद्देश्य से छागबलिदानादिक विष्णु के उद्देश्य से निरामिष नाना भोग रखे जाते हैं। आपके कथनानुसार ये सब व्यर्थ हो जायेंगे। प्रथम इसका उत्तर दीजिये।

उत्तरपक्ष– आप अपने जानते प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, किन्तु मैं इतना कहूँगा कि यह आपका दोष नहीं, भारतवर्षीय सकल विद्वानों का ही यह अपराध है। मैं पूछता हूँ क्या प्रत्यक्ष का भी अपलाप श्रुतियाँ करती हैं ? क्या इदानीन्तन पुरुष कभी कहीं पृथिव्यादिकों को बोलते हुए सुनते हैं ? हमने अथवा आपने कभी नदियों का भाषण अथवा सूर्यादिकों का चेतनवत् भोजनादिक व्यवहार देखा है ? कदापि नहीं। ये सूर्यादिक देव अनादि काल से चले आ रहे हैं। यदि वे भूतकाल में चेतनादिवत् व्यवहार करते होते, तो आज भी करते। यदि आज नहीं करते तो भूतकाल में इनका चेतनवत् व्यवहार था, हम इसको कैसे मान सकते हैं ? यदि आप कहें कि अपने शास्त्रों के द्वारा आप इसको मान सकते हैं, तो क्या वे शास्त्रकार इस बात को नहीं जानते थे कि भविष्यत् में ऐसे तार्किक होंगे जो प्रत्यक्षविरुद्ध मेरे सिद्धान्त को कदापि न मानेंगे। इस हेतु देवतादिक कोई भी चेतन नहीं। अब श्रुतियों की संगति लगाना मेरा कर्त्तव्य अवश्य है। विद्वन् ! लेख की अनेक शैलियाँ हुआ करती हैं। पञ्चतन्त्र और हितोपदेशादिक ग्रन्थों में पशु और विहगादिकों का मनुष्यादिवत् व्यवहार दिखला बालकों को शिक्षा दी गई है, न कि वहाँ पशु प्रभृतियों का सत्य इतिहास है।

कथाछलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते।

कथाओं के छल से बालकों की नीति यहाँ कही गई है। इसी प्रकार महाकवि कालिदास प्रभृति मधुकर आदि से कहते हैं कि रे मधुकर ! तू धन्य है। अयि कमलिनि ! तू धन्य है। जिस तेरे ऊपर सूर्य भी मोहित है और तू भी सूर्य की अविद्यमानता में मलिन होकर शोक करने लगती है। अयि रात्रि ! तेरे नायक

चन्द्रमा अति क्रूर और घातक हैं। देख ! हम विरहिणियों को दुःख[१] देने के लिए आ रहा है। इत्यादि। क्या कालिदासादिक यह समझते थे कि भ्रमर, कमलिनी और रात्रि आदि हमारी बातों को सुन रहे हैं ? कदापि नहीं। यह वर्णन करने की शैली है और यह शैली इसलिए है कि इससे विशेष प्रीति उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार वेद की भी वर्णनशैली आश्चर्यजनक है। वेदभगवान् सर्वत्र चेतनत्व का आरोप करके वर्णन करते हैं। भगवान् के निकट हम जीव बालक हैं। बालक को समझाने के लिए वेद में इस प्रकार की शैली का वर्णन आता है। वास्तव में वेदभगवान् अग्न्यादिकों को चेतन नहीं समझते हैं, इसमें अनेक हेतु हैं।

क– श्रद्धा, विश्वास, प्रीति, दान, दुर्भिक्ष इत्यादिक गुणों को भी चेतनवत् ही वर्णन करते हैं। हे श्रद्धे ! तू मेरे निकट आ। हे मेधे= बुद्धि ! मुझे मेधावी बना। हे दुर्भिक्ष ! तू यहाँ से भाग जा। इत्यादि। तो क्या वेदभगवान् श्रद्धा, दुर्भिक्ष दानादिकों को भी चेतन ही समझते हैं ? कदापि नहीं। पुराणों का तात्पर्य समझिये। यह तो आप अच्छी तरह जानते हैं कि स्त्रैणकाय जिसको मनमथ, अनंग, मार इत्यादि नामों से पुकारते हैं, केवल इस शरीर का एक धर्ममात्र है। यौवन अवस्था में इसका प्रादुर्भाव होता है। यह युवक पुरुषों के मन को पागल बना देता है। इसलिए इसका नाम मनमथ है। विरही और विरहिणी को क्लेश पहुँचाता है, इसलिए वह मार है। इसका कोई अंग नहीं, त्रिभुवन को व्याकुल कर रहा है, इसलिए यह अनंग है। इसके वसन्त, पुष्प, कोकिल, चन्द्र और स्त्री साथी और बाण हैं। यह कामदेव कभी-कभी सब परिवारों को साथ ले जितेन्द्रिय और तपस्वी महादेव और मुनियों के तप में विघ्न करने के लिए बड़ी वीरता से चढ़ाई करता है। मैं पूछता हूँ कि क्या पुराणकर्त्ता यथार्थरूप से कामदेव को एक चेतन देव समझते थे ? कदापि नहीं। इसी प्रकार सम्पत्ति-शोभावाचक लक्ष्मी का भी कैसा मनोहर दृश्य पुराण और काव्य बतला रहे हैं, किन्तु लक्ष्मी को पुराणकर्त्ता और कवि अचेतन अवश्य समझते थे। इसी प्रकार धर्माधर्मादिक में भी चेतनत्व का आरोप कर इस तत्त्व को न समझ लोग भ्रम में पड़े हुए हैं।

ख– यदि वेदभगवान् आकाशादिक महाभूत और सूर्यादि देवों को चेतन समझते, तो कदापि इनकी उत्पत्ति का वर्णन न करते क्योंकि चेतन की उत्पत्ति का वर्णन कहीं वेद में नहीं। वेद कहता है कि "**द्यावाभूमी जनयन्देव एकः**"(ऋ॰ १०.८१.३) द्युलोक और पृथिवीलोक को उत्पन्न करता हुआ एक देव है। पुनः "**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव**"(ऋ॰ १०.१२९.७) जिससे ये विविध सृष्टियाँ होती हैं। पुनः "**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**"(ऋ॰ १०.१९०.३) पूर्वकल्पवत् सूर्य-चन्द्रादिकों

१. हस्तलेख में 'देख' पाठ है।

को बनाया करता है। इसीलिए इसके नाम विश्वकर्मा, धाता, विधाता, जनिता और पितादिक आते हैं। और भी–

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म।। (तै॰ उप॰ ३.१)

जिससे ये भूत आकाशादिक जन्म लेते हैं और जन्म लेकर जिससे जीते हैं और जिसमें पुनः लीन हो जाते हैं उसकी जिज्ञासा कर। वह ब्रह्म है। पुनः– **तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।** (तै॰ उप॰ २.१) इत्यादि। उस इस परमात्मा से आकाश आविर्भूत होता है। इत्यादि। यदि ये सब चेतन होते, तो इन सबकी उत्पत्ति का वर्णन वेद में न होता।

ग– श्रुतियों के स्थल-स्थल में लिखा है कि ये सूर्यादिक चेतन नहीं। इनकी उपासना मत कर, किन्तु केवल ब्रह्म की उपासना कर। इसमें महाराज अश्वपति और उद्दालक आदि महाश्रौतियों का संवाद और महाराज अजातशत्रु और दृप्तवालाकि का संवाद अध्ययन कीजिये। अनुबन्धचतुष्टय में भी इसका कुछ वर्णन आया है। द्वितीय प्रसंग आपने यह रखा है कि वैदिक कर्म तब नष्ट हो जायेंगे। उत्तर में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि जिस रीति पर वर्त्तमान काल में अग्निष्टोमादि यज्ञ किये जाते हैं, वे सब ही अवैदिक हैं। इसी अवैदिकता को देखकर महाराज बुद्ध ने इनका खण्डन किया और धीरे-धीरे पुराण ने भी उन यज्ञों से श्रद्धा हटाकर लोगों को भक्तिमार्ग में लगाया। और यदि भगवती इत्यादिक देव देवियों को छागभाग देना वैदिक होता, तो रामानुज और वल्लभ आदि क्यों अहिंसात्मक वैष्णव धर्म चलाते ? विद्वन् ! वास्तव में इस समय यह भारतवर्ष ईश्वरोपासनारहित हो रहा है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि कल्पित देवों[१] की उपासना चलाकर एक प्रकार से लोगों को नास्तिक प्रायः बना दिया है।

एवमस्तु, चेतनत्वाचेतनत्व विचार में यह लम्बा लेख हो गया। मैं केवल चेतनत्वहेतु ही नहीं देता, किन्तु यदि जगत् ब्रह्मप्रकृतिक होता, तो यह[२] ज्ञान, विज्ञान, परोपकारिता और छलकपटराहित्य इत्यादिक गुणों से भी युक्त होता। ईश्वर के सब गुणों का दर्शन इसमें होता। इसके विपरीत[३] जैसे तेज और तिमिर में, यश और अपयश में, दुर्जन और सज्जन में, पृथिवी और आकाश में भेद है, तद्वत् इस जड़ जगत् और परमात्मा में महान् भेद है। प्रथम इस जगत् की अशुद्धि के ऊपर ध्यान कीजिये। योगिगण अपने शरीर से भी घृणा करने लग जाते हैं। साधारण तपस्वी जन गृहादिकों को अशुद्ध और अपवित्र समझ इनसे

१. हस्तलेख में 'विष्णु' पाठ है। २. हस्तलेख में 'इसमें' पाठ है। ३. हस्तलेख में 'इस हेतु' पाठ है।

घृणा कर किसी अरण्य अथवा गंगादि तट का आश्रय लेते हैं। गृहमार्जनादिक भी इसके अनेक उदाहरण हैं। राज्य की ओर से इसकी सफाई के अनेक प्रबन्ध किये जाते हैं। देखा गया है कि शुद्ध देश में अनेक रोग नहीं होते। अशुद्ध स्त्री जनों के संसर्ग से कितने कामी नाना क्लेश सह कर मरते रहते हैं। अतः यदि ब्रह्मकारणक यह जगत् होता, तो कदापि इसमें इतनी अशुद्धियाँ न होतीं। मानसिक अशुद्धियाँ भी अगण्य और अचिन्त्य हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक त्रिविध दुःख देखकर कौन इस जगत् को शुद्ध कह सकता है ?

इस सम्बन्ध में भामतीकार वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि–

प्रकृत्या सह सारूप्यं विकाराणामवस्थितम्।
जगद्ब्रह्मसरूपं च नेति नैतस्य विक्रिया।।
विशुद्धं चेतनं ब्रह्म जगज्जडमशुद्धिभाक्।
तेन प्रधानसारूप्यात्प्रधानस्यैव विक्रिया।।[१]

अर्थ– प्रकृति के साथ विकारों का सारूप्य है। जगत् और ब्रह्म का सारूप्य नहीं। इस हेतु ब्रह्म का विकार यह जगत् नहीं। ब्रह्म विशुद्ध और चेतन है। जगत् जड़ और अशुद्ध है। इस हेतु प्रधान (प्रकृति) के सारूप्य से प्रधान की ही यह जगत् प्रक्रिया है। इसको यों समझिये, एक ही स्त्री का काय पति, सपत्नी और स्त्रैण चैत्र को सुख, दुःख और विषाद देता है क्योंकि स्त्री का काय सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक है, इस हेतु पति को सुख, सपत्नी को दुःख और जार चैत्र को मोह उत्पन्न करता है। इससे सब भाव आ जाते हैं, अत एव सुख, दुःख, मोहात्मक होने से और स्वर्ग, नरकादि उच्चावच प्रपञ्च देखने से यह जगत् अशुद्ध और अचेतन है, परन्तु ब्रह्म चेतन और विशुद्ध है। अतः अशुद्ध अचेतन प्रधान का विकार जगत् हो सकता है न कि ब्रह्म का।

३. कृत्स्नप्रसक्ति

यह कृत्स्नप्रसक्ति भी ब्रह्मोपादान कारण का निषेध करती है। कृत्स्न नाम अखिल का है। यदि ब्रह्म जगद्रूप से परिणत हो, तो सम्पूर्ण ब्रह्म का ही परिणाम होगा क्योंकि ब्रह्म निरवयव कहा गया है। यदि ब्रह्म पृथिव्यादि के समान सावयव होता, तो इसका कुछ अंश जगद्रूप से परिणत होता और सम्पूर्ण उसका ज्यों का त्यों बना रहता। इस हेतु यदि सम्पूर्ण ब्रह्म ही जगत् हो जाय, तो ब्रह्म की सत्ता ही चली जाती है। जैसे मृत्तिका घटरूप में परिणत हो तत्सरूप ही हो जाती है, तो उसका मृत्तिकारूप अब नहीं है, तद्वत् ब्रह्म का अपना रूप परिवर्त्तित होकर

१. अन्वेष्टव्य हैं ?

जगद्रूप ही हो जायगा। यह महान् अनिष्ट है क्योंकि तब पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थनादिक विधायक शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। अयत्नसाध्य जगद्रूप ब्रह्म का प्रतिक्षण साक्षात्कार होता ही रहेगा। स्वयं भी उपासक अब ब्रह्मस्वरूप ही है, तब किसकी पूजा, पाठ यह जीव करे। इस हेतु ब्रह्म इस जगत् का उपादान कारण नहीं।

ब्रह्म के निरवयत्व में ये श्रुतियाँ हैं–

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। (श्वे. उप. ६.१९)

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। (मु. उप. २.१.२)

इदं महद् भूतम् अनन्तमपारं विज्ञानघन एव। (बृ. उप. २.४.१२)

स एष नेति नेत्यात्मा। (बृ. उप. ३.९.२६)

अस्थूलमनणु। (बृ. उप. ३.८.८)

वह ब्रह्म कलारहित, क्रियारहित, शान्त, निरवद्य और निरञ्जन है। यह पुरुष दिव्य और अमूर्त्त है। सब के बाहर और भीतर और अज है यह ब्रह्मरूप महाभूत, अनन्त, अपार और विज्ञानमय ही है। यह सूर्यादिक नहीं। यह अस्थूल और अनणु है, इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को निरवयव कह रही हैं। और भी, जगत् में सावयव वस्तु का परिणाम देखते हैं, निरवयव का नहीं। श्रुत्यादि से सिद्ध है कि ब्रह्म निरवयव है। तब उससे निरवयव ही जगत् होगा। यह ब्रह्मवत् अदृश्य अगोचर हो, किन्तु जगत् सावयव और इन्द्रियगोचर है, इस हेतु ब्रह्मप्रकृतिक जगत् नहीं। इस दोष की निवृत्ति के लिये ब्रह्म को सावयव ही मान लें, तो ब्रह्म के निरवयव की प्रतिपादक श्रुतियों का आप के ऊपर महाक्रोध होगा। इस हेतु भी ब्रह्म का विकार यह चेतन जगत् नहीं।

इस पर श्री शंकराचार्य कहते हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्म की प्रच्युति नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे ब्रह्म से इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय श्रुतियाँ कहती हैं, तद्वत् विकार से पृथक् भी ब्रह्म को गाती हैं। प्रकृति और विकार में भेद दिखलाने वाली श्रुतियाँ ये हैं।

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। (छा. उप. ६.३.२)

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। (छा. उप. ३.१२.६)

इसका अक्षरशः अर्थ यह है–

(सा+इयम्+देवता) उस इस देवता ने (ऐक्षत) देखा (हन्त+अहम्) कि मैं

(इमाः+तिस्रः+देवताः) इन तीनों देवताओं में (अनेन+जीवेन+आत्मना) इस जीवात्मा के साथ (अनुप्रविश्य) अनुप्रवेश करके (नामरूपे+व्याकरवाणि) नाम और रूप को विस्तृत करूँ।

(अस्य+तावान्+महिमा) यह सम्पूर्ण जगत् इतना इसकी महिमा है। (ततः+पूरुषः+ज्यायान्+च) पुरुष इससे अधिक है। (अस्य+सर्वा+भूतानि+पादः) सब भूत इसके एक अंश हैं। (अस्य+अमृतम्+त्रिपाद्) इसका अमृत स्वरूप तीन पाद (तीन अंश) (दिवि) द्युलोक में गुप्त हैं इत्यादि। और भी, कहा है कि–

सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति (छा॰ उप॰ ६.८.१)

हे सोम्य ! तब सद्रूप ब्रह्म से वह सम्पन्न होता है।

इत्यादि प्रमाण द्वारा अविकृत ही ब्रह्म रहता है ओर निरवयवत्व शब्द कोप भी हमारे पक्ष में नहीं क्योंकि शब्दमूलक ब्रह्म है, इन्द्रियादि प्रमाणों से गम्य मान नहीं। तब जैसा श्रुति कहे वैसा ही मानना चाहिए। सम्पूर्ण ब्रह्म की प्रच्युति नहीं होती और ब्रह्म निरवयव भी है। इन दोनों बातों को श्रुतियाँ बतलाती हैं। लोक में भी भारी, मनन और औषधि प्रभृतियों की महाशक्ति देखते हैं। उपदेश के बिना केवल तर्क से उनकी महिमा का बोध नहीं हो सकता, तो अचिन्त्यस्वभाव ब्रह्म की बात ही क्या ? अत एव पौराणिक कहते हैं:–

अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्[१]।।

अर्थ– अचिन्त्य जो पदार्थ है उनको तर्क से युक्त करना उचित नहीं। प्रकृति से जो परे है, वह अचिन्त्य का लक्षण है इत्यादि शंकराचार्य ने अपने भाष्य में कहा है।

उत्तर– शंकराचार्य का यह कथन कहाँ तक ठीक है, आप लोग स्वयं विचारें। इस लिये मैंने श्रुति के मन्त्रों का अर्थ अक्षरशः कर दिया है। श्रुति में कहा गया है कि इस जगत् में ब्रह्म का अनुप्रवेश है और इस की महिमा बहुत बड़ी है और इससे भिन्न है। यह मैं भी मानता हूँ। किन्तु इस से यह कहाँ सिद्ध हुआ कि यदि ब्रह्म निरवयव है, तो यह सम्पूर्ण रूप से परिणत नहीं हो सकता है। विकार से ब्रह्म पृथक् है, इसको सभी आस्तिक मानते हैं। प्रश्न तो यहाँ यह है कि यह विकाररूप जगत् ब्रह्म है वा नही ? इसमें अनेक तर्क दिखलाये गये हैं और दिखलाये जायेंगे कि यह जगत् ब्रह्मरूप नहीं। श्री शंकराचार्य जगत् के अस्तित्व का ही लोप करते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि जैसे स्वप्न में सृष्टि हुआ करती है, वैसे ही ब्रह्म में यह सृष्टि हो रही है। वास्तव में यह सृष्टि नहीं। यह

१. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २.१.२७ में उद्‌धृत।

कहाँ तक उचित है, इसे आप लोग स्वयं विचार करें। यदि निरवयव ब्रह्म है, तो उसका परिणाम न हो। यदि हो, तो सम्पूर्ण ही हो। इस हेतु किसी रूप से वह परिणत हो और किसी रूप से न हो तब सावयव ही ब्रह्म की कल्पना कर ली जाय, किन्तु सावयव ब्रह्म है नहीं। इस हेतु शांकर मत दुर्घट है।

इसमें श्री शंकराचार्य कहते हैं कि मेरे पक्ष मे दोष नहीं, क्योंकि रूपभेद को मैं अविद्या कल्पित मानता हूँ। अविद्या कल्पित रूप भेद से वस्तु सावयव नहीं होती, क्योंकि जिसका नेत्र तिमिरोपहत है, वह यदि एक चन्द्र को अनेक देखता है तो इससे चन्द्र अनेक नहीं हो जाता। इस हेतु अनिर्वचनीय अविद्या कल्पित रूप भेद से परिणामादि सर्व व्यवहार को ब्रह्म प्राप्त करता है, इसमें कोई दोष नहीं। पारमार्थिक रूप से ब्रह्म सर्व व्यवहारातीत और अपरिणत ही रहता है। वास्तव में विकार वचनों से बढ़ाया हुआ और अविद्या कल्पित है। इस हेतु ब्रह्म के निरवयवत्व का भी कोप नहीं होता।

उत्तर– यह रूप और नाम अविद्या कल्पित है और परमार्थ नहीं इसको भी तो श्रुति के द्वारा बतलावें। कौन सी ऐसी श्रुति है, जिसके द्वारा जगत् का मिथ्यात्व प्रतीत हो। जो जगत् प्रत्यक्ष दृश्यमान है, जिसमें सब व्यवहार हो रहे हैं, इसको केवल कल्पित और स्वप्नवत् मिथ्या कहना कितना साहस का काम है। ब्रह्म के एक गुण की भी इस जगत् में विद्यमानता न रहने पर भी साहस पूर्वक कहना कि यह जगत् ब्रह्म रूप ही है। यह अशुद्ध, स्थूल, दृश्यमान, कपटादियुक्त, अपवित्र, विज्ञानादिरहित जगत् कैसे ब्रह्म हो सकता है ? और इस शंका का क्या उत्तर देते हैं कि यदि यह जगत् ब्रह्म का परिणाम है तो ब्रह्म के अस्तित्व का ही नाश हो जाता है, जैसे दधि होने पर दूध का अस्तित्व नहीं रहता, अंकुर होने पर बीज नष्ट हो जाता है।

शंकराचार्य– मेरे मत में इसका उत्तर सहज है क्योंकि एक ही स्वप्न देखने वाले आत्मा में स्वरूप के उपमर्दन (विनाश) न होने पर भी अनेकाकार सृष्टि होती रहती है। वैसे ही ब्रह्म के स्वरूप का उपमर्दन न होने पर भी अनेकाकार सृष्टि होगी। श्रुति कहती है–

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। (बृ॰ उप॰ ४.३.१०)

स्वप्न में न रथ, न रथ चलाने वाले घोड़े और न मार्ग होते हैं, तो भी रथों, घाड़ों और मार्गों को स्वप्नद्रष्टा बना लेता है। लोक में भी देवादिक और मायावी प्रभृति अपने स्वरूप का उपमर्दन न करते हुए भी अनेक वस्तुएँ हाथी, घोड़े, प्रासाद और भोजनादिक बना लेते हैं। वैसे ही स्वरूप के उपमर्दन के बिना ही

ब्रह्म में सृष्टि हुआ करेगी। (वेदान्त २.१.२८ का भाष्य देखिये)

खण्डन— क्या दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों तुल्य हैं ? कदापि नहीं। जिस-जिस बाह्य पदार्थ को हम जीव देखते हैं, उसी-उसी का स्मरण अथवा प्रत्यक्षावलोकन स्वप्नावस्था में देखते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थ रहने से ही स्वप्न होगा, किन्तु दार्ष्टान्तिक ब्रह्म एक अद्वितीय शुद्ध है, और द्वितीय पदार्थ तो [है ही नहीं, तब] ब्रह्म में स्वप्न क्यों हो ? यदि स्वप्न हो भी, सर्वशक्तिमान् होने से झट से समझ ले कि मैं अनर्थ का स्वप्न देख रहा हूँ, और शीघ्रता से उस स्वप्न का उपसंहार कर ले। लौकिक दृष्टान्त से यदि आप इस जगत् को भी ब्रह्म में स्वप्न होना समझते हैं, तो उस स्वप्न से कभी क्लेशित हो रोदनादि व्यापार भी ब्रह्म करता होगा ! तब ब्रह्म की शुद्धता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता कहाँ रही? और ऐसे क्लेशादियुक्त ब्रह्म की उपासना से क्लेशयुक्त जीव का उद्धार कैसे हो सकता है ? पंक से पंक का प्रक्षालन नहीं होता। ब्रह्म में उपमर्दन हो, तथापि सक्लेश, अशुद्ध ही समझा जायेगा। अतः यह शांकर, अद्वैत मत सर्वत्र परित्याज्य है।

४. भोक्तृभोग्य विभाग

यह भोक्तृ-भोग्य विभाग सिद्ध कर रहा है कि इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म नहीं क्योंकि लोक में भोक्ता चेतन एक जीव है और शब्दादिक अनेक वस्तु उसके भोज्य हैं, जैसे भोक्ता देवदत्त और भोज्य ओदन है। इसी प्रकार यह और इन्द्रिय भोग के साधन हैं, यदि ब्रह्मकारणतावाद स्वीकार करें, तो इस विभाग का अभाव होगा क्योंकि भोक्ता भोग्यभाव को अथवा भोग्य भोक्तृभाव को प्राप्त होगा। इस प्रकार इतरेतराभावापत्ति होगी। अतः इस प्रसिद्ध विभाग का बाधन युक्त नहीं। और भी, जैसे इस वर्त्तमान काल में भोक्तृभोग्य भाव विद्यमान है, वैसे ही अतीत काल में था और भविष्यत् में रहेगा। इस हेतु प्रसिद्ध जो भोक्तृ-भोग्य विभाग उसके अभाव होने के कारण ब्रह्मोपादानकारणता का मानना उचित नहीं।

और भी, तब सकल व्यवहार ही काल्पनिक सिद्ध होंगे क्योंकि दण्ड्य चौरादिक और शासक नृपादिक दोनों एक ही होने से मानो, ब्रह्म, ब्रह्म को दण्ड दे रहा है। मानो ब्रह्म बालकवत् क्रीड़ा कर रहा है। नरक भी ब्रह्म और उसमें जाने वाले पापी भी ब्रह्म। स्वर्ग भी ब्रह्म और स्वर्गसुख के भोक्ता भी ब्रह्म। इस प्रकार के देखने से प्रतीत यही होगा कि वास्तव में यह जगत् काल्पनिक मात्र है और केवल ब्रह्म नाना रूप धारण कर कौतुक कर रहा है किन्तु नित्य तृप्त ब्रह्म का इस प्रकार की लीला करनें से कुछ प्रयोजन नहीं। अतः ब्रह्मकारणतावाद

सर्वथा अयुक्तकर है।

इनके उत्तर में श्री शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्मकारणतावाद स्वीकार करने पर भी भोक्तृभोग्य विभाग हो सकता है, जैसे "जलात्मकत्वेन" समुद्र एक है तथापि उसके विकार फेन, वीची, तरंग बुदबुदादि भिन्न भी हैं, और परस्पर इनका विभाग भी देखते हैं। इत्यादि। किन्तु यह कथन असंगत है क्योंकि यदि मैं अपने हाथ को सीधा करुँ या आकुञ्चित करुँ या मैं स्वयं दौड़ूँ अथवा मुझमें स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास निमेषोन्मेष होता रहे और शरीर की नाड़ियाँ बड़े वेग से चलती रहें तो क्या इससे मुझमें और मेरी क्रिया में वास्तविक विभाग समझा जायेगा ? क्या निश्चेष्ट और गतिमान् हाथ में समझा जायगा ? कदापि नहीं। इसी प्रकार समुद्र में गति के कारण यदि फेनादिक होते हैं तो समुद्र और फेनादिक में वास्तविक विभाग नहीं। किन्तु यहाँ भोक्ता और भोग्य में महान् विभाग है। एक देवदत्त खाद्य वस्तुओं को खाकर अपने में पचा लेता है। अतः शंकराचार्य का समाधान ठीक और युक्तकर नहीं।

५. हिताकारणादि दोष

इस प्रकरण में अति संक्षेप से मैं यह दिखलाना चाहता हूँ कि अद्वैतवाद के पक्ष में भी ब्रह्मोपादानकारणता युक्तियुक्त नहीं। देखिये ! अद्वैतवादी कहते हैं कि यह जीवात्मा ब्रह्म है और इसमें प्रमाण देते हैं कि **"तत्त्वमसि श्वेतकेतो"** (छा० उप० ६.८.७) हे श्वेतकेतो तू ब्रह्म है। यद्वा यह ब्रह्म ही जीवात्मा बना हुआ है और इसमें प्रमाण देते हैं कि **"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"** (तै० उप० २.६) इस जगत् को बना कर उसी में वह प्रविष्ट हुआ। इस श्रुति से यह सिद्ध है कि अविकृत स्रष्टा ब्रह्म कार्यानुप्रवेश से जीवभाव को प्राप्त है। पुनः **"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"** (छा० उप० ६.३.२) इस निज जीव से अनुप्रवेश कर मैं नाम और रूप को विस्तृत करुँ। यहाँ स्वयं परा देवता आत्म शब्द से जीव को लक्ष्य करती हुई ब्रह्म शरीर (शरीरस्थ जीव) भिन्न नहीं यह दिखलाती है। इस हेतु जो ब्रह्म का स्रष्टृत्व है, वह शरीर का ही है। अत एवं स्वतन्त्र कर्त्ता होकर यह जीवात्मा अपने लिये परम मनोज और क्लेशादिरहित सुखमय शरीर को ही बना कर उस में भोग-विलास करे। क्यों अपने क्लेशकारी, दुःखप्रद जन्म, मरण, जरा, रोग, नरकादि और हस्तपादादिरहित [होते हुए भी] शरीर को बना कर दुःख भोग रहा है। कोई भी अपरतन्त्र पुरुष अपने लिये बन्धनागार तैयार कर उसमें दुःख भोगने के लिये अनुप्रवेश नहीं करता। यह अत्यन्त निर्मल ब्रह्म अत्यन्त मलिन देह को कैसे प्राप्त होगा ? यदि अत्यन्त मलिन देह को बना भी ले, तो भी इसको दुःखमय जान जब चाहे तब छोड़ भी दे, और दूसरा अत्यन्त निर्मल

सुखप्रद शरीर बना ले और स्मरण करे कि इस विचित्र जगत् बिम्ब को मैंने रचा क्योंकि अज्ञ अति-अज्ञ पुरुष भी स्वरचित वस्तु को "मैंने यह रची है, ये मेरे कर्त्तव्य हैं" इत्यादि जानता और स्मरण करता है, और जैसे मायावी निजप्रसारित द्रव्यों को जब चाहता तब समेट लेता और फैला देता है, इसी प्रकार यह शारीर (जीवात्मा) भी जब चाहे तब इस सृष्टि का संहार और उपादान कर ले। किन्तु इसके विपरीत दुःखाकर निज शरीर का भी जब यह उपसंहार अथवा नवीन शरीर नहीं बना सकता है, तब कैसे माना जाय कि यह ब्रह्म ही है ? इस हेतु हितकारणादि न देखकर चेतन से जगत् प्रक्रिया मानना अन्याय्य है।

श्री शंकराचार्य **"अधिकन्तु भेदनिर्देशात्"** (वे॰ २.१.१२) इस सूत्र के आधार पर इस वक्ष्यमाण रीति से समाधान करते हैं– "जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ब्रह्म है, वह शारीर से अधिक अन्य है, अर्थात् वह जीव नहीं है। उस ब्रह्म को हम जगत् का स्रष्टा कहते हैं, उसमें हिताकारणादि दोष नहीं हो सकते, उसको न कुछ हितकर्त्तव्य [है] और [न] अहित परिहर्त्तव्य है, क्योंकि वह नित्य मुक्त स्वभाव स्वरूप है। उसका कहीं भी न ज्ञानप्रतिबन्ध है और न शक्तिप्रतिबन्ध है क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, किन्तु शरीर इस प्रकार का नहीं। उसमें हिताकारणादि दोष प्रसक्त हो सकते हैं, किन्तु उस शरीर को हम जगत्स्रष्टा नहीं मानते। यह कैसे आप कहते हैं, ऐसा कोई मुझसे पूछे तो मैं कहूँगा कि भेदनिर्देशात्– स्वयं श्रुतियाँ ब्रह्म और जीव में भेद का निर्देश करती हैं। इसलिए मैं ऐसा कहता हूँ। भेदनिर्देशक श्रुतियाँ ये हैं–

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
(बृ॰ उप॰ १.४.५)

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। (छा॰ उप॰ ८.७.१)

सता सोम्य सदा सम्पन्नो भवति। (छा॰ उप॰ ६.८.१)

शारीर आत्मा प्राज्ञेवात्मनान्वारूढः। (बृ॰ उप॰ ४.३.३५)

अरे मैत्रेयी ! आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य (समाध्यवस्था में ध्यातव्य) है। वह अन्वेष्टव्य है और वह विजिज्ञासितव्य है। हे सोम्य श्वेतकेतु ! तब यह जीव सद्रूप ब्रह्म से सम्पन्न होता है। यह शरीर आत्मा प्राज्ञ आत्मा से अन्वारूढ (परिपूर्ण) है।

यहाँ कर्त्ता और कर्मादि का भेदनिर्देश है। परमात्मा दर्शन, श्रवणादि का कर्म है और जीवात्मा दर्शन, श्रवणादि का कर्त्ता है। यह भेदनिर्देश ब्रह्म को जीव से पृथक् सिद्ध करता है। इस हेतु मैं जीव को जगत्स्रष्टा नहीं कहता। जब जीव जगत्कर्त्ता ही नहीं, तब वह अपने लिए हितकर शरीर कैसे बना सकता है ?"

इस प्रकार श्री शंकराचार्य ब्रह्म और जीव में श्रुतियों और सूत्रों के अनुरोध से भेद दिखलाते हैं, किन्तु इनको भेद अभीष्ट और मन्तव्य नहीं, इस हेतु असमञ्जस में पड़कर आगे लिखते हैं कि यदि मुझसे कोई पूछे कि कभी आप अभेद निर्देश और कभी भेदनिर्देश करते हैं, ये दोनों विरुद्ध भेदाभेद कैसे सम्भव हो सकते हैं ? इस पर शंकराचार्य कहते हैं कि मेरे पक्ष में कोई दोष नहीं क्योंकि आकाश, घटाकाश न्याय से भेदाभेद दोनों की सम्भावना है। और भी सुनिये, जब **"तत्त्वमसि"** इस प्रकार के वाक्य से अभेद प्रतिबोधित होता है, तब जीव का संसारित्व और ब्रह्म का स्रष्टृत्व दोनों दूर हो जाते हैं क्योंकि मिथ्या ज्ञान से विजृम्भित (प्रकाशित) जो समस्त भेदव्यवहार है, उसका सम्यक् ज्ञान से बाध हो जाता है। वहाँ कहाँ सृष्टि और कहाँ हिताकारणादि दोष ? क्योंकि यह संसार भ्रान्ति है, परमार्थ नहीं। क्योंकि अविद्यारूप ये नाम, रूप और कार्यकारण संघातोपाधि हैं। जब भेदव्यवहार अबाधित रहता है, तब ही **"सोऽन्वेष्टव्यः। स जिज्ञासितव्यः।"** इस प्रकार के वाक्य से ब्रह्म का जीव से भेदनिर्देश और अधिकत्व होता है, और तब हिताकारणादि दोष का निरोध भी होता है।

श्री शंकराचार्य का यह कथन कहाँ तक श्रुत्यनुकूल और प्रतिकूल है, आप लोग विचारें। जब श्रुत्यनुसार भेद प्रसिद्ध है, तब स्वकपोलकल्पना के बल से अभेद निर्देश करना सर्वथा अन्याय्य है। आकाश और घटाकाश का उदाहरण देना भी युक्तियुक्त नहीं क्योंकि एक ही महाकाश होता और दूसरा घटाकाश न होता तो यह उदाहरण ही न हो सकता। जिस हेतु ये दोनों भिन्न वस्तुएं हैं, तब ही यह दृष्टान्त दिया जाता है। किन्तु मैं यह श्री शंकराचार्य से पूछता हूँ कि जैसे महाकाश से घटाकाश में कोई भेद नहीं देखते अर्थात् जैसे महाकाश क्रियाशून्य है, वैसे ही घटाकाश भी है, तो क्या दार्ष्टान्तिक ब्रह्म और जीव में वैसा ही अभेद है ? कदापि नहीं। क्योंकि ब्रह्म सदा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप, स्वच्छ, निर्मल और सर्वशक्तिमान् है, और शरीर तद्विपरीत क्लेशमय, अशुद्ध और अल्पज्ञ है। यदि घटस्थानीय शरीर में उसी सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट का प्रवेश और वही जीव होता तो जीव में भी सर्वज्ञत्वादि गुण दिखते, परन्तु दिखते नहीं। इस हेतु कैसे कह सकें कि इस शरीररूप घट में महाकाशरूप ब्रह्म ही का प्रवेश है और वही जीव है। इस हेतु आकाश घटाकाश न्याय का दृष्टान्त अदृष्टान्त है।

उपसंहारदर्शन

यह उपसंहारदर्शन भी सिद्ध कर रहा है कि ब्रह्म इस जगत् का उपादान कारण नहीं। इस लोक में देखते हैं कि जब चेतन कुम्भकार और तक्षा आदि किसी काम को करने को उद्यत होते हैं, तब प्रथम मृत्तिका, दण्ड, चक्र, सूत्र,

बसूला, भाथी आदि सामग्री इकट्ठा कर साधनसम्पन्न हो कार्य करते हैं। तद्वत् चेतन ब्रह्म को भी जब तक सृष्टि करने के साधन न हों, तब तक वह सृष्टि कैसे बना सकता है ? इस हेतु भी ब्रह्मकारणतावाद प्रक्रिया अन्याय्य है।

अद्वैती– जैसे लोक में देखते हैं कि दूध और जल बाह्य साधन को न लेकर स्वयमेव दधि और हिम में परिणत हो जाता है, तद्वत् यह असहाय[1] ब्रह्म भी अन्य साधनों की अपेक्षा न कर जगद्रूप में परिणत हो जाता है।

त्रैती– क्षीरादिक को भी औष्ण्यादिक बाह्य साधन की अपेक्षा होती है। यदि अधिक शैत्य न हो तो जल हिम नहीं हो सकता। औष्ण्य के बिना दुग्ध दही नहीं होता। और भी जल और क्षीर ये जड़ पदार्थ बाह्य साधन की अपेक्षा भले ही न करें, किन्तु यहाँ कुशलादिक चेतन के दृष्टान्त दिये गए हैं। ब्रह्म भी चेतन है तब सामग्रियों के बिना चेतन किसी अन्य कार्य को नहीं कर सकता।

अद्वैती– आपका कथन ठीक है किन्तु यदि क्षीर में दधि होने की और जल में हिम होने की स्वाभाविक शक्ति न होती तो कदापि बाह्य साधन से वे दधि और हिम न होते। साधन सामग्री से केवल उसकी पूर्णता होती है, न कि उसका गुण बदला जाता है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, उसको अन्य पदार्थ से परिपूर्णता की आवश्यकता नहीं। श्रुति भी कहती है–

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

(श्वे॰ उप॰ ६.८)

न उसका कार्य और न कारण है। न उसके सम और न उससे अधिक कोई दीखता है। उसकी विविध परा शक्ति सुनी जाती है। उसकी ज्ञान, बल, क्रिया स्वाभाविकी हैं। इस हेतु एक ही ब्रह्म का विचित्र शक्ति के योग से क्षीरादिवत् विचित्र परिणाम होना युक्तियुक्त है।

त्रैती– मैं यह कहता हूँ कि अचेतन क्षीरादिकों का बाह्य साधन के बिना भी दध्यादि होना दृष्ट है= देख रहे हैं, किन्तु चेतन कुम्भकारादिक साधनसम्पन्न होकर ही उस-उस कार्य के लिए प्रवर्त्तमान देखे जाते हैं। तद्वत् चेतन ब्रह्म सामग्री के बिना कार्य में कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? यहाँ चेतनांश में दृष्टान्त है। कोई भी चेतन बैल हलादि के बिना क्षेत्र कर्षण नहीं करता, वाणी के बिना नहीं पढ़ता, गति के बिना स्थानान्तरित नहीं होता, बल= सेना के बिना युद्ध में प्रवृत्त नहीं होता। इस हेतु आप चेतन का दृष्टान्त देवें न कि अचेतन का।

अद्वैती– अच्छे ! चेतन ही का दृष्टान्त लीजिये। यह बात पुराणादिकों में

१. हस्तलेख में 'असाह' पाठ है।

प्रसिद्ध है कि देव, पितर और ऋषि इत्यादि चेतन बाह्य साधन को लेकर जब चाहते हैं, तब नगर अथवा अन्यान्य शरीर बना लेते हैं। सौभरी ऋषि ने बाह्य साधन के बिना ही अपने योगबल से भोग के लिए शतशः भवनादिक बना लिए। सूर्यादिक देव भी जब चाहते तब गृहादिक निर्माण कर लेते हैं इत्यादि इतिहास, पुराण में बहुत सी बातें प्रसिद्ध हैं। और भी देखिये ! तन्तुनाभ (मकड़ी) स्वयं ही तन्तुओं को बना लेता है। बलाका शुक्र के बिना ही गर्भधारण कर लेती है। पद्मिनी किञ्चित् प्रस्थान साधन के बिना ही एक सरोवर से दूसरे सरोवर में चली जाती है। इसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधन की अपेक्षा न कर जगत् बना सकता है।

त्रैती– प्रथम देवता को चेतन मानना सर्वथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। अनुबन्ध-चतुष्टय में देवता के चेतनत्व का खण्डन[1] किया गया है। ऋषि और पितृगण कभी-कभी बहुत से साधन बना लेते हैं इत्यादि वर्णन प्रशंसापरक हैं, वास्तव में नहीं। तन्तुनाभ इत्यादि का दृष्टान्त भी ठीक नहीं क्योंकि तन्तुनाभ बाह्य वस्तुओं को खाकर ही तन्तुओं को बना सकता है। यदि वह भोजन न करे, तो थोड़े ही दिनों में उसका प्राणान्त हो जाये। बलाका शुक्र के बिना गर्भधारण करती है इत्यादि बातें मिथ्या और कल्पित हैं। पद्मिनी स्वयं सरोवर में जाती है, यह बालकवत् कथन है। इस हेतु ब्रह्म में यह सब दृष्टान्त नहीं हो सकते। इस हेतु चेतन ब्रह्म इस जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। यह सिद्ध हुआ।

सत्कार्यवाद

यह सत्कार्यवाद भी ब्रह्मोपादानकारणत्व का निवारण करता है। यदि शब्दादिहीन, शुद्ध, चेतन तद्विपरीत शब्दादिमान्, अशुद्ध, अचेतन इस [जगत् रूप] कार्य का कारण हो, तब उत्पत्ति के पूर्व कार्य विद्यमान नहीं था, यह सिद्ध होगा। यह सत्कार्यवाद आपके मत से भी अनिष्ट ही है। और भी लोक में देखते हैं कि जिस कार्य को प्रथम किसी ने नहीं बनाया, और न उसके सम्बन्ध में कहीं कुछ चर्चा है, तो उस वस्तु का परिज्ञान उस पुरुष को नहीं होता। जैसे रेलगाड़ी का ज्ञान उसके कर्त्ता को प्रथम नहीं था। तद्वत् सृष्टिरचना के पूर्व ब्रह्म को भी इस का ज्ञान न होगा, तब ब्रह्म की त्रिकालज्ञता की हानि का प्रसंग होगा। अतः यही कहना पड़ेगा कि ब्रह्म से भिन्न अनादि काल से कारण रूप में यह सृष्टि विद्यमान थी। उसी कारण को लेकर निमित्त मात्र हो परमात्मा सृष्टि रचता है। संसार का अनादित्व स्वयं वेद भगवान्–

१. द्र०– पू॰ पृ॰ ९२।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। (ऋ॰ १०.१९०.३)

द्यावाभूमी जनयन् देव एकः। (ऋ॰ १०.८२.३)

इत्यादि वचन द्वारा दिखलाते हैं।

और भी, यदि स्थौल्य, सावयवत्व, अचेतनत्व, अपरिच्छिन्नत्व और अशुद्धत्यादि धर्मों से युक्त यह कार्य ब्रह्मकारणक स्वीकृत किया जाय तो प्रलय काल में कार्य और कारण जब एक हो जाते हैं, दोनों में किञ्चित् विभाग नहीं रहता, तब कारण ब्रह्म से कार्य मिलकर उसको दूषित करेगा। जैसे लवण जल को दूषित करता है। और भी, जब कार्य, कारण में विभाग न रहेगा, तब क्रमपूर्वक भोग्य और भोक्ता की उत्पत्ति का भी नियम न रहेगा। इसलिए यह असमञ्जस है। और भी, जब भोक्ता ब्रह्म में लीन हो जायेंगे, तब कर्मादिनिमित्तक प्रलय होने पर भी पुनः उत्पत्ति काल में मुक्तों की भी उत्पत्ति होगी, इस हेतु भी अद्वैत सिद्धान्त असमञ्जस है।

अद्वैती– यह असमञ्जस मेरे सिद्धान्त में नहीं। क्योंकि इसके अनेक दृष्टान्त हैं। आपने जो यह कहा कि कार्य कारण में मिलकर उसको दूषित करेगा, यह ठीक नहीं। इसके विपरीत बहुत से दृष्टान्त हैं। घटादिक कार्य मिलकर अपने कारण मृत्तिका को दूषित नहीं करते। सुवर्णविकार कुण्डलादिक मिश्रित होने पर सुवर्ण को विकृत नहीं करते। पृथिवी के चार प्रकार के विकार उद्भिज्ज, ऊष्मज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज अपने दोषों से पृथिवी को दूषित नहीं करते। इत्यादि दृष्टान्त मेरे पक्ष के साधक हैं। और भी मेरे पक्ष में दृष्टान्त विद्यमान हैं। यथा मायावी प्रसारित निज माया से कभी भी दूषित नहीं होता, क्योंकि माया कोई वस्तु नहीं। एवं परमात्मा भी संसारमाया से दूषित नहीं होता। और भी, स्वप्नद्रष्टा अपनी स्वप्न दर्शन माया से कभी दूषित नहीं होता। इसी प्रकार अवस्थात्रय साक्षी परमात्मा किसी वस्तु से दूषित नहीं होता। परमात्मा का अवस्थात्रय का भान माया मात्र है। जैसे सर्पादि भाव से रज्जु का भान है। आचार्यों ने कहा है कि–

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।

अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।। (गौडपादकारिका १.१६)

जब अनादि माया के वश से सुप्त यह जीव जाग उठता है, तब अज, अनिद्र, अस्वप्न, अद्वैत को समझता है। इस हेतु कार्य के समान कारण का भी स्थौल्यादि दोष प्रसंग होगा, यह आपका कथन अयुक्त है। और आपने जो यह कहा कि प्रलय काल में समस्त विभाग होने से पुनः विभागपूर्वक उत्पत्ति के समय नियम कारण न रहेगा, यह भी अदोष है क्योंकि दृष्टान्त है ही। सुषुप्ति और

समाधि में भी स्वभावतः अविभाग प्राप्ति होती है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है क्योंकि जब मनुष्य की सुषुप्ति अवस्था होती है, उस समय किसी वस्तु का बोध नहीं रहता, किन्तु प्रबोध होने पर ज्यों के त्यों सब विभाग प्रतीत होने लगते हैं। इसमें श्रुति भी प्रमाण है–

इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तदा भवन्ति। (छा॰ उप॰ ६.९.२.३)

ये सब प्रजायें सुषुप्ति काल में सद्रूप ब्रह्म में प्राप्त होकर नहीं जानते हैं कि हम सत् में सम्प्राप्त हैं। इस हेतु यहाँ व्याघ्र वा सिंह वा वराह वा वृक वा कीट वा पतंग वा दंश वा मशक जो-जो रहता है, वही-वही पुनः-पुनः होता है। जैसे अविभाग युक्त परमात्मा में मिथ्याज्ञान प्रतिबद्ध विभाग व्यवहार स्वप्नवत् अव्याहत होकर स्थिति में देखा जाता है, वैसे ही प्रलय में भी मिथ्याज्ञान प्रतिबद्ध ही विभागशक्ति का अनुमान करेंगे। इससे मुक्त पुरुषों की पुनरुत्पत्ति का प्रसंग भी नहीं क्योंकि सम्यक् ज्ञान से मिथ्याज्ञान का विनाश रहता है।

त्रैती– आप ने जो अनेक दृष्टान्तों से सिद्ध किया है कि कार्य कारण को मिलने पर दूषित नहीं करता। इत्यादि। सो कहीं दूषित करता भी है और कहीं नहीं करता है। हमारे पक्ष में भी अनेक दृष्टान्त हैं। लवण का दृष्टान्त हम पहले दे ही चुके हैं। और भी दृष्टान्त सुनिये। दधिरूप कार्य यदि पुनः दुग्ध में मिला दिया जाय, तो दुग्ध विकृत हो जायेगा। वंश का विकार अग्नि मिश्रित होने पर सकल वंशों को जला कर भस्म कर देता है। अरणी लकड़ी से आग निकल पुनः उसी अग्नि से अरणी को जला देता है। इस शरीर से निकाले हुए नख अथवा केश पुनः यदि इस शरीर ही में मिलाए जाएँ, तो इस शरीर में अनेक दोष फोड़े आदि निकल जायेंगे। सड़े हुये भात अच्छे भात में यदि मिलाये जायँ, तो उनको दूषित कर देते हैं। जल से ही निकले हुये कमल, शैवाल आदिक घासों को चूर्ण कर यदि उसी जल में मिलाया जाय, तो जल अवश्य दूषित हो जायेगा। पृथिवी इस लिये दूषित नहीं मालूम होती कि वह बहुत लम्बी चौड़ी है। तथापि उसका दूषण प्रतीत होता है। जहाँ अधिक मृतक जलाये जाते हैं अथवा जहाँ बहुत सी हड्डियाँ एक जगह बहुत दिनों तक पड़ी रहती हैं, वहाँ की भूमि बिगड़ जाती है और वहाँ अनेक रोग उत्पन्न होने लग जाते हैं। पृथिवी के विकार ही लवण और भस्मादि लेकर ऊषरादि भूमि की शक्ति को बदल देते हैं। मैं कहाँ तक दृष्टान्त गिनाऊँ। अब बात यह है कि आपके और मेरे दोनों पक्षों में दृष्टान्त विद्यमान हैं, बहुधा यही देखा जाता है कि विकार अपने कारण को दूषित अवश्य करता है।

तद्वत् यह विकृत जगत् प्रलय काल में मिश्रित होकर ब्रह्म को अवश्य दूषित करेगा। और जो आपने मायावी और स्वप्नद्रष्टा के दृष्टान्त दिये हैं, ये अदृष्टान्त हैं, क्योंकि आप के कथनानुसार ही मायावी की माया कोई वस्तु नहीं रहती। तब उससे उस मायावी का दूषण ही क्या होगा, किन्तु यहाँ संसाररूप एक वस्तु है और आप भी यह मानते हैं, तब यह वस्तु लीन होकर कारण का अवश्य दूषण करेगी। स्वप्न का दृष्टान्त भी ठीक नहीं क्योंकि स्वप्न तो किसी-किसी को ऐसा दूषित करता है कि वह रोगी बन जाता है, जोर से चिल्ला उठता है। स्त्रियों को देख ऐसे कुत्सित रोग से दूषित होते हैं, दिन-दिन क्षीण होकर अन्त में मर जाते हैं। स्वप्न में वीर्यस्खलनादि प्रसिद्ध है, इसलिए स्वप्न का दृष्टान्त अदृष्टान्त है। और आपने जो यह कहा कि सुषुप्ति और समाधि में विभागाविभाग न होने पर भी जागने पर सब विभाग हो जाते हैं, यह दृष्टान्त भी आपका ठीक नहीं क्योंकि सुषुप्ति में ज्ञान का विभाग नहीं रहता, किन्तु वस्तु का विभाग तो रहता ही है। क्या सुषुप्त पुरुष के आँख, कान, मज्जा, मांसादि शारीरिक विभाग मिट जाते हैं ? कदापि नहीं, किन्तु यहाँ ब्रह्म में जगत् मिलकर विभागरूप से स्थित न रहेगा, जैसे समुद्र में मिलने से नदियों का विभाग नहीं रहता। इस हेतु आपके सभी दृष्टान्त अदृष्टान्त हैं।

तर्कातर्कविचार

अद्वैती— ये मोक्षादि विषय अत्यन्त कठिन हैं। इनका बोध केवल वेद से होता है क्योंकि इन्द्रियादिकों के अगोचर होने से यह विषय प्रत्यक्ष नहीं। लिंगादि के अभाव से इनमें अनुमान भी नहीं हो सकता। इसलिए मोक्षादि विषय आगमगम्य हैं। इनको तर्क से युक्त करना ठीक नहीं। अर्थात् आगमगम्य वस्तु में तर्क करना उचित नहीं, क्योंकि निरागम और अपनी-अपनी बुद्धि से कल्पित तर्कों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि निरंकुश और भिन्न-भिन्न है। देखते हैं कि एक अच्छा विद्वान् बड़े यत्न से जिन तर्कों को अकाट्य समझता है, उनको दूसरा विद्वान् खण्डित कर देता है। उस विद्वान् के भी प्रतिष्ठापित तर्क का अन्य विद्वान् खण्डन कर देते हैं। अपने समय में चार्वाक, बृहस्पति, बुद्ध, बुद्धानुयायी बौद्ध विद्वान्, ऋषभदेव और तदनुयायी जैन विद्वान् बड़े-बड़े तार्किक समझे जाते थे किन्तु उनके तर्कों का वैदिक विद्वानों ने ऐसा खण्डन किया कि उन लोगों का नाम भी भारतवर्ष में अब कम सुनने में आता है। यूरोप देश के अतिप्राचीन विद्वानों के स्थापित तर्क आजकल धूल में मिल गए। वहाँ नवीन विज्ञान और विकासवाद के आविर्भाव से प्रायः प्राचीन सभी सिद्धान्त बदल गए।

इस हेतु तर्क की प्रतिष्ठा नहीं, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि नाना प्रकार की हुआ करती है **"कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा"** कपिल यदि सर्वज्ञ है तो कणाद सर्वज्ञ नहीं इसमें क्या उक्ति [प्रमाण] ? यदि कहें कि जिनकी महिमा पहले से प्रसिद्ध है और जो सिद्धसिद्धेश्वर कहलाते हैं, ऐसे कपिल वा अन्य पुरुषों का तर्क मन्तव्य और प्रतिष्ठित है। ऐसा मानने में क्षति क्या ? इस प्रकार तर्क की प्रतिष्ठा नहीं, क्योंकि प्रसिद्ध महात्मा और तीर्थंकर, कपिल, कणाद और बुद्ध प्रभृतियों के विचार में परस्पर बहुत विरोध देखते हैं। यदि कहें कि उनके कथनानुसार ही तर्क को प्रतिष्ठित समझ लें, तो यह भी कथन ठीक नहीं। क्योंकि तब विरोध का परिहार कैसे कर सकेंगे ? इस हेतु तर्क की प्रतिष्ठा नहीं, अत एव आगमगम्य में तर्क करना उचित नहीं। आगम ईश्वरप्रदत्त है। ईश्वर में कोई भ्रान्ति नहीं। अतः ईश्वरप्रदत्त आगम में भी भ्रम नहीं।

त्रैती— यह ठीक है कि आगमगम्य वस्तु में तर्क करना उचित नहीं, किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि यदि वेद के एक किसी विषय को लेकर नास्तिक उसका खण्डन करता है, तो उस नास्तिक का उत्तर तर्क द्वारा ही करेंगे। तर्क का भी जो आप अप्रतिष्ठितत्व मानते हैं, वह भी आपने तर्क से ही समझा है, तब तर्क की अप्रतिष्ठा कैसे ? जगत् के सभी व्यवहार तर्क से ही होते हैं, केवल अन्धपरम्परा से नहीं। देह से अतिरिक्त आत्मा है वा नहीं ? इसको भी तर्क से सिद्ध करेंगे। अतीत और वर्तमान कालिक सदाचारादि व्यवहार देखकर इन्हीं मार्गों पर चलने पर भविष्यत् में कल्याण होगा, भावी काम में लोग प्रवृत्त होते हैं। इस हेतु असत्तर्क न कर सत्तर्क करना ही चाहिए। मनु जी कहते हैं कि—

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।।
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।। मनु॰ १२.१०५,१०६

प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध आगमों से युक्त शास्त्र ये तीन धर्मेप्सु जनों को अवश्य सुविदित करने चाहिएं। वेद और शास्त्र के अविरोधी तर्क से जो कोई ऋषिप्रणीत धर्मोपदेश का अनुसन्धान करता है, वह धर्म को जानता है, इतर नहीं। इन वचनों से मनु जी भी तर्क का आदर करते हैं। और भी, तार्किकों के तार्किक सर्वज्ञ परमात्मा का उपदेशमय वेद यदि तर्क से अप्रतिष्ठित हो, तो यह ईश्वरोपदेश वेद नहीं है, यह सिद्ध होगा। वेद नाम ही ज्ञान का है। ज्ञान वस्त्वधीन होता है, जैसे अग्नि उष्ण, जल शीत, पृथिवी कठोर, मयूर नानावर्णान्वित इत्यादि ज्ञान हैं। तब ज्ञान तर्क से किस प्रकार खण्डित हो सकता है। इस हेतु निरवद्य तर्क करने से धर्म का अनुसन्धान होगा, न कि हानि। अब कपिल, कणाद,

बुद्ध इत्यादियों में, उनमें कौन सच्चा और कौन मिथ्या, इसका विचार कैसे हो सकता है, क्योंकि अपने-अपने मत को सब कोई सच्चा ही समझता है। तो ऐसे असमञ्जस स्थल में भी यही कहना पड़ेगा कि जो प्रबल युक्तियों से सिद्ध हो वही मन्तव्य होगा। यदि कहें कि वर्त्तमान कालिक तार्किकों की अपेक्षा कदाचित् उत्तरकालीन तार्किक बहुत श्रेष्ठ उत्पन्न हों, तो कैसे निर्णय हो ? विद्वन्! इसका भय नहीं करना चाहिए। अनुसन्धान द्वारा सत्य सिद्ध किया जाय, तब वैसा ही मान लेना बुद्धिमत्ता है। हमारा यह धर्म है कि कितने ही तर्कों से इसका मिथ्यात्व क्यों नहीं सिद्ध हो, किन्तु मैं उसको मानता ही रहूँगा इत्यादि हठ सदा त्याज्य है। बड़ी प्रबल युक्तयों से पृथिवी का भ्रमण और गोलत्व सिद्ध किया गया है। अब पौराणिक अथवा अन्याय धर्माचारी इस सिद्धान्त का अंगीकार न करें, तो इनका वह हठ कहलावेगा। इस प्रत्युत्तर को अधिक न बढ़ा कर यहाँ ही इसकी समाप्ति करते हैं।

अद्वैती— एवमस्तु, आप ने तर्क द्वारा ब्रह्म के उपादानत्व का निराकरण किया है, यह मुझे स्वीकृत है और बीच-बीच में जो मैंने श्रुतियाँ प्रमाण में रखी थीं, उनका भी आप का किया हुआ समन्वय मुझे पसन्द है, किन्तु बहुत सी श्रुतियाँ ऐसी हैं, जिनसे ईश्वर का उपादानत्व और निमित्तत्व दोनों सिद्ध हो सकते हैं। प्रथम कार्य-कारण का अनन्यत्व दिखला कर पुनरपि कारणता का विवाद उठाऊँगा। यथा— छान्दोग्योपनिषद् में आरम्भणादि शब्दों के प्रयोग से इस विषय का निरूपण होता है। प्रथम एक वस्तु के विज्ञान से सकल वस्तुओं का विज्ञान होता है, ऐसी प्रतिज्ञा कर दृष्टान्तापेक्षा में कहते हैं—

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छा॰ उप॰ ६.१.१)

हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड के यथार्थ ज्ञान से मृत्तिका से बने हुये घट, शराव, तौला, कटिया इत्यादिकों का बोध होता है, क्योंकि मृत्तिका के गुण और स्वरूप इन विकारों में किञ्चित् परिवर्त्तन के साथ पाये जाते हैं, क्योंकि विकार नाममात्र है, केवल वचन से इसका आरम्भ होता है। अर्थात् नाम इसके पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। यह घट है, यह शराव है इत्यादि। वास्तव में विकार नामक वस्तु कोई नहीं। नामधेय अर्थात् अनृतमात्र है। मृत्तिका ही सत्य है। यह ब्रह्म के सम्बन्ध में दृष्टान्त कहा गया है। यहाँ वाचारम्भण शब्द से दार्ष्टान्तिक ब्रह्म में घटाने से यही सिद्ध होगा कि ब्रह्म को छोड़कर वास्तव में कार्य का अभाव है अर्थात् जगद्रूप यह कार्य मिथ्या और ब्रह्मरूप कारण ही सत्य है। इस हेतु कार्य और कारण में अनन्यत्व है।

पुनरपि, तेज, जल और अन्न ये तीनों ब्रह्म के कार्य हैं, यह कहकर इन तीनों के कार्यों को तेज, जल और अन्न से भिन्न अभाव दिखलाते हैं, यथा:—

अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्। (छा.उप॰ ६.४.१)

अग्नि का अग्नित्व जाता रहा क्योंकि विकार नाममात्र है, केवल वचन से यह आरब्ध होता है। इस हेतु विकार असत्य है। तीन रूप ही सत्य हैं, इत्यादि। इसके अतिरिक्त—

"एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा.उप॰ ६.८.७)
"इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ॰ उप॰ २.४.६)
"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (मु॰ उप॰ १.२.११)
"आत्मैवेदं सर्वम्।" (छा॰ उप॰ ७.२५.२)
"नेह नानास्ति किञ्चन।" (बृ॰ उप॰ ४.४.१९)

इत्यादि वचन भी आत्मा के एकत्व के प्रतिपादक हैं। अन्यथा एक विज्ञान से सब का विज्ञान नहीं हो सकता। इस हेतु जैसे घटाकाश, मेघाकाश इत्यादिकों का महाकाश से अनन्यत्व है और मृगतृष्णिका के जल का उष्णादि भूभागों से अनन्यत्व है, इसी प्रकार भोग्य-भोक्तादि सकल प्रपञ्च का ब्रह्मव्यतिरेक से अभाव है, अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ब्रह्म से भिन्न नहीं। इस हेतु कारण ब्रह्म और कार्य जगत् में अनन्यत्व, अभिन्नत्व सिद्ध होता है। और उपर्युक्त वचनों के यथाक्रम अर्थ यह हैं—

"एतदात्मक यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।" "यह सब है जो यह आत्मा है।" "ब्रह्म यह सब है।" "आत्मा ही यह सब है। यहाँ नाना नहीं है।" यहाँ जगत् और ब्रह्म को भिन्न नहीं कहा अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त जगत् नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है।

त्रैती— छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक का आगे कुछ विस्तार से वर्णन करूँगा, क्योंकि इसके वचन दे-देकर एकत्व का प्रतिपादन वेदान्ती करते हैं। यहाँ संक्षेप से आपके पूर्वपक्ष का समाधान इस प्रकार है— उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को अभिमानी देख कहता है कि तू जो इस प्रकार अभिमानी बन रहा है, क्या तुझे उस एक (ब्रह्म) का ज्ञान हो गया। जिस एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है ? उद्दालक का वचन इस प्रकार से है। यथा—

श्वेतकेतो ! यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशम-प्राक्ष्यः। येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः

स आदेशो भवतीति ? (छा॰ उप॰ ६.१.२-३)

हे श्वेतकेतु ! हे सौम्य ! जो तू यह महामना अनूचानमानी= पण्डितमानी और स्तब्ध हो रहा है, क्या तूने उस आदेश को अपने गुरु से कभी पूछा था ? जिससे अश्रुत श्रुत होता है, अमत मत होता है, अविज्ञात विज्ञात होता है। पिता के उत्तर में श्वेतकेतु कहता है कि भगवन् ! वह आदेश कैसे होता है, आप ही कहें। इसके उत्तर में पिता ने तीन दृष्टान्तों से उसको समझाया है जैसे एक मृत्तिका के ज्ञान से अथवा केवल मृत्तिका के ज्ञान से उससे बने हुये सकल विकारों का बोध हो जाता है क्योंकि सब विकारों में अनुगत मृत्तिका है। द्वितीय, एक लोहे के ज्ञान से लोहे से बने हुये बसूला, कुद्दाल आदि का बोध हो जाता है, क्योंकि लोहे का धर्म इन सब में विद्यमान है। तीसरा नख के मृत भाग [को काटने के काले लोहे से बने नेहरने] के ज्ञान से सकल श्याम वर्ण [लोह] का बोध होता है। तद्वत् वह कौन सी एक वस्तु है जिस एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है ? पिता उद्दालक का यह आशय था कि जो सब का कारण धाता, विधाता, परमात्मा है, उसका बोध यदि मेरे पुत्र को होता तो यह इस प्रकार अभिमानी और अनूचानमानी न होता क्योंकि ब्रह्म ज्ञान से लोग निरभिमानी और सरल होते हैं। इसलिए विदित होता है कि इस को केवल कार्य का ज्ञान है, कारण का ज्ञान नहीं। विद्वन् ! आप यह तो विचार करें कि जो कोई इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को नहीं मानते हैं, वे भी तो ब्रह्मज्ञान को ही मुख्यता मोक्ष के लिये देते हैं। ब्रह्मज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती, यही सब आस्तिकों का सिद्धान्त है। तब आप क्यों[1] ब्रह्म का उपादानत्व जगत् में बतलाते हैं ? यहाँ कारणता की विशेषता के ऊपर किसी का ध्यान नहीं, किन्तु ब्रह्मज्ञान ही के ऊपर विशेष ध्यान रहता है। सबका कारण ब्रह्म है, इसका ज्ञान अत्यावश्यक है, इसमें सन्देह नहीं। आदि ब्रह्म का वास्तव ज्ञान हो जाय, तो सब वस्तओुं का ज्ञान सहज रीति से हो जाता है।

किन्तु मैं पूछता हूँ कि ब्रह्मज्ञान का आशय क्या है ? क्या ब्रह्म के स्वरूप का जान लेना ब्रह्मज्ञान है ? ब्रह्म का कोई स्थूल रूप ही नहीं। उसमें श्वेतादिक वर्ण नहीं। वह सावयव वस्तु नहीं। तब उसके ज्ञान का आशय क्या। यदि कहें कि उसके आनन्दविज्ञानघन इत्यादि स्वरूप हैं अर्थात् वह आनन्दमय और विज्ञानमय है, इस प्रकार के बोध का नाम ब्रह्मज्ञान है, तो इसमें भी बहुत से तर्क उत्थित होते हैं, जिनका यहाँ वर्णन असम्भव है। तब ब्रह्मज्ञान वस्तु क्या है ? क्या केवल आप के कथनानुसार "मैं ब्रह्म हूँ, मेरा आत्मा ब्रह्म ही है, तू ब्रह्म ही है" इत्यादि दो चार वाक्यों को जान लेना और तदनुसार मान लेना ब्रह्मज्ञान है? इस जगत् में क्या किसी को आप ने देखा है कि **"अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** इत्यादि दो चार वाक्यों के श्रवणमात्र से वह ब्रह्मरूप हो गया है। कदापि नहीं। तब वास्तव में ब्रह्मज्ञान वस्तु क्या है ? निस्सन्देह इस का समाधान संक्षेप से यह होगाा कि शाखा, पल्लव सहित बीज का ज्ञान मुख्य है। इसमें भी केवल बीज का ज्ञान अधिकतर मुख्य है। इसी प्रकार जगत् के ज्ञानपूर्वक ब्रह्म के ज्ञान की मुख्यता है, केवल न जगत् का और न ब्रह्म का। जो केवल जगत् के ज्ञान से तृप्त हैं, वे अज्ञानी हैं। और जो कोई केवल ब्रह्म के ज्ञान ही से तृप्त हैं, वे भी अज्ञानी हैं। वे दोनों ज्ञातव्य हैं। इन दोनों को जानकर तब केवल कारण ब्रह्म का ज्ञान मुख्य रह जाता है। जगत् का ज्ञान गौण हो जाता है, इसी अभिप्राय को कहने वाले वेद और शास्त्र हैं। देखिए दो चार प्रमाण यहाँ देता हूँ। वे ये हैं:–

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।। (यजुः॰ ४०.१२)

(ये) जो कोई (अविद्याम्+उपासते) अविद्या की उपासना करते हैं वे (अन्धम्+तमः) अन्धकारमय अदर्शनात्मक तम में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं और (य+उ) जो कोई (विद्यायाम्+रताः) विद्या में रत हैं, अर्थात् विद्या की ही उपासना करते हैं (ते) वे (ततः+भूयः+इव) उस अन्धमय तम से अधिक (तमः) तम में प्रवेश करते हैं।

यहाँ अविद्या के उपासक की अपेक्षा विद्या के उपासक अधिकतर तम में प्रवेश करते हैं। ऐसा वर्णन देखते हैं। इससे सिद्ध है कि अविद्या और विद्या दोनों के ज्ञान की आवश्यकता है, केवल दोनों में से एक का नहीं। इसको स्वयं श्रुति आगे दिखलाती है:–

अन्यदेवाहुर्विद्याया ऽ अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।। (यजु॰ ४०.१३)

(विद्यायाः) विद्या से (अन्यत्+एव) दूसरा ही फल होता है (आहुः) यह लोग कहते हैं (अविद्यायाः) अविद्या से (अन्यत्+आहुः) अन्य फल होता है, ऐसा कहते हैं। (इति धीराणाम्+शुश्रुम) यह धीरों के निकट हमने सुना है। (ये) जो धीर (नः) हम लोगों से (तत्) उसकी (वि+चचक्षिरे) व्याख्या करते हैं।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। (यजु॰ ४०.१४)

(विद्याम्+च) विद्या को (अविद्याम्+च) और अविद्या को (तत्+उभयम्) इन

१. हस्तलेख में 'जो' पाठ है।

दोनों को (सह) साथ-साथ (यः+वेद) जो जानता है वह (अविद्यया) अविद्या से (मृत्युम्+तीर्त्वा) मृत्यु से पार उतर कर (विद्यया) विद्या से (अमृतम्) अमृत को (अश्नुते) पाता है।

यहाँ विद्या और अविद्या दोनों के बोध की आवश्यकता बतलाता है और दोनों का फल पृथक्-पृथक् कहता है। अविद्या से मृत्यु के ऊपर विजय और विद्या से अमृत की प्राप्ति होती है।

यहाँ अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार विद्या और अविद्या का आशय बतला सकते हैं, जैसे शुभ कर्म, सत्य भाषण, चोरी न करना, परस्त्री गमन का त्याग, स्नान, पूजापाठ इत्यादि शुभ कर्म का बोध आवश्यक है। इसी प्रकार अशुभ कर्म, असत्य भाषण से क्या हानि ? चोरी से क्या क्षति ? परस्त्री गमन से क्या-क्या उपद्रव हो सकता है ? इत्यादि का भी बोध आवश्यक है। इसी प्रकार जैसे ज्ञानकाण्ड का वैसे ही कर्मकाण्ड का, जैसे परमात्मा का वैसे ही इस संसार का बोध आवश्यक है। इसके विपरीत केवल एक के ज्ञान से हानि ही होती है, लाभ नहीं। इसलिए दोनों का ज्ञान अपेक्षित है। पुनः–

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।। (यजुः॰ ४०.९)

(ये असम्भूतिम्+उपासते) जो असम्भूति की उपासना करते हैं, वे (अन्धम्+तमः प्रविशन्ति) अन्ध तम में प्रवेश करते हैं (ये+उ) जो (सम्भूत्याम्+रताः) सम्भूति में रत हैं अर्थात् सम्भूति की उपासना करते हैं (ते) वे (ततः+भूयः+इव) उससे भी बढ़कर (तमः) तम में प्रवेश करते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।। (यजुः॰ ४०.१०)

(सम्भवात्) सम्भूति से (अन्यत्+एव+आहुः) अन्य फल कहते हैं (असम्भवात्) असम्भूति से (अन्यत्+आहुः) दूसरा फल कहते हैं (इति+धीराणाम्+शुश्रुम) यह हम लोग धीरों के निकट सुनते हैं (ये+नः+तत्+विचचक्षिरे) जो हम लोगों से उसका व्याख्यान किया करते हैं।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।। (यजुः॰ ४०.११)

(सम्भूतिम्+च+विनाशम्+च) सम्भूति और विनाश= असम्भूति (तत्+उभयम् +सह) दोनों को साथ-साथ (यः+वेद) जो जानता है वह (विनाशेन+मृत्युम्+तीर्त्वा) विनाश से मृत्यु के पार उतर कर (सम्भूत्या+अमृतम्+अश्नुते) सम्भूति से अमृत

को पाता है।

यहाँ सम्भूति और असम्भूति शब्दों का अर्थ अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार लोग करते हैं। जो कुछ हो जैसे पूर्वोक्त मन्त्र में विद्या और अविद्या दो परस्पर विरोधी वस्तुएं हैं, तद्वत् यहाँ भी सम्भूति और असम्भूति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। यहाँ असम्भूति शब्द का अर्थ स्वयं श्रुति विनाश कहती है, क्योंकि असम्भूति के स्थान में विनाश शब्द का प्रयोग लाती है। विनाश से मृत्यु पर विजय और सम्भूति से अमृत की प्राप्ति कहती है। अतः सम्भूति और असम्भूति शब्द का अर्थ यहाँ जानना कठिन नहीं। जिसका विविधरूप से नाश हो उसको विनाश कहते हैं। विनाश से विपरीत सम्भूति अर्थात् जिसका कभी नाश न हो। इससे सिद्ध हुआ कि कार्यरूप जगत् का नाम विनाश है, क्योंकि उसका नाश होता रहता है और कारण का नाम सम्भूति है, तो इससे सिद्ध है कि कार्य और कारण इन दोनों का ज्ञान परमावश्यक है। इन दोनों में से केवल एक का ज्ञान हानिकारक है, यह श्रुति बतलाती है, किन्तु एक विद्या अथवा सम्भूति के ज्ञान का फल अमृत कहा है, अर्थात् यद्यपि विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति दोनों के ज्ञान की आवश्यकता है, किन्तु अमृत अर्थात् मोक्ष का लाभ अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति केवल विद्या और सम्भूति से होती है। इससे सिद्ध है कि अविद्या के ज्ञानपूर्वक विद्या का ज्ञान परमावश्यक है। निस्सन्देह विद्या की ही श्रेष्ठता है।

विद्वन् ! अब आप विचार सकते हैं कि जगत् रूप कार्य और परमात्मा रूप कारण दोनों ज्ञानों की श्रेष्ठता अवश्य है, किन्तु इन दोनों में से ईश्वर का ज्ञान श्रेष्ठतम है। इसी विषय को उद्दालक और उसके पुत्र श्वेतकेतु के वर्णन में विस्तारपूर्वक श्रुति बतलाती है। और भी हेतु लीजिये। जब पूछा जाता है कि ब्रह्म किसको कहते हैं तो श्रुति इसका समाधान क्या करती है ? श्रुति आनन्दादिमय जो है, उसको ब्रह्म कहते हैं, ऐसा नहीं बतलाती, किन्तु जो सृष्टि रचता है उसको ब्रह्म कहते हैं अर्थात् कार्य को बतलाकर कारण को बतलाती है। श्रुति यह है–

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञास्व। तत् ब्रह्म। (तै॰ उप॰ ३.१)

जिससे ये सब भूत होते हैं, होकर जीते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं। उसकी जिज्ञासा कर। वह ब्रह्म है। यहाँ विस्पष्ट रूप से ब्रह्म के लक्षण में कार्य का वर्णन किया है, अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान होता है। कार्य का ज्ञान बिना कारण के ज्ञान के अति कठिन है।

अत एव वेदान्त शास्त्र रचयिता इसी श्रुति प्रदर्शित पद्धति का अनुसरण

करते हैं। यह ग्रन्थ के आदि में **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"** (ब्रह्मसूत्र १.१.१) इस प्रथम सूत्र को रचते हैं। सूत्र का अर्थ यह है– "इसके अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा कर्त्तव्य है।" ब्रह्म किसको कहते हैं, इस अपेक्षा में द्वितीय सूत्र रचते हैं– **"जन्माद्यस्य यतः"** (ब्रह्मसूत्र १.१.२) जिससे इस जगत् का जन्मादि होता है। यहाँ विस्पष्ट रूप से प्रथम कार्यों का निर्देश करते हैं, तब कारण बतलाते हैं अर्थात् ब्रह्म उसी का नाम है जो इस सृष्टि को रचता है। इससे सिद्ध हुआ कि जब तक जगत् का ज्ञान न हो तब तक ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। अतः केवल **"अहं ब्रह्मास्मि"** इत्यादि दो-चार पदों के ज्ञान से ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। यद्यपि कारणज्ञान अधिकतर आवश्यक है, क्योंकि वही सत्य वस्तु है, तथापि कार्यज्ञान की आवश्यकता नहीं, ऐसा नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान के लिए उसके कार्य के ज्ञान की आवश्यकता है। पाणिनि के व्याकरण के ज्ञान के बिना मृत पाणिनि का इस समय कुछ ज्ञान नहीं हो सकता। रावण के वधरूप कार्यज्ञान के बिना रामचन्द्र के महत्त्व का कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार अदृश्य ब्रह्म का उसके दृश्य कार्य से ज्ञान होता है।

मैं पूछता हूँ कि जहाँ उपादानोपादेय भाव रहता है अर्थात् जहाँ उपादान से कार्य बनता है, वहाँ ही उपादान के ज्ञान से उसके कार्य का ज्ञान सहज होता है अर्थात् मिट्टी से घटादिक पदार्थ बने हुए हैं। यहाँ मिट्टी उपादान है और घटादि मृत्तिका के कार्य हैं। यहाँ केवल मृत्तिका के ज्ञान से मानो, मृत्तिका के सकल विकार घटादिक का ज्ञान होगा, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु पाणिनि आचार्य तथा तत्प्रणीत अष्टाध्यायी इन दोनों में कौन सा सम्बन्ध है ? रामचन्द्र और रावण का वध, यद्वा वाल्मीकि और रामायण इन दोनों में कौन सा सम्बन्ध है ? क्या यहाँ कार्योपादानकारण भाव सम्बन्ध है ? क्या अष्टाध्यायी का पाणिनि उपादान कारण है ? क्या रावण के वध का रामचन्द्र उपादान कारण है? कदापि नहीं। पाणिनि और रामचन्द्र केवल निमित्त कारण हैं। इस समय यदि रामायण न होता, तो रामचन्द्र का किञ्चित् बोध भी न होता। अष्टाध्यायी न होती तो पाणिनि का महत्त्व कुछ भी विदित न होता। इस हेतु यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र केवल कारणज्ञान से ही कार्य का ज्ञान होता है। अन्यान्य बहुत से उपाय भी हैं। इस हेतु उद्दालक का कारणज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न है, उनका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं।

इस हेतु आरम्भणादि शब्द द्वारा कार्य और कारण में अनन्यत्व सिद्ध हो, और हम भी इसको मानते हैं कि कार्य और कारण में वास्तविक भेद नहीं। मृत्तिका और घट में पारमार्थिक भेद नहीं। हम भी कार्यकारण में अनन्यत्व ही

मानने वाले हैं। आप अद्वैती इसलिए इस शंका का उत्थान करते हैं कि पहले ही इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को मान लेते हैं, और तब कार्यकारण में अनन्यत्व सिद्ध कर ब्रह्म को मुख्यता देते हैं, किन्तु मैं कहता हूँ कि इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है ही नहीं। तब कार्यकारण में अनन्यत्व मानने वाले हम भी हो जाते हैं। इति संक्षेपतः।

अद्वैती– एवमस्तु, अब मैं अन्यान्य बहुत उदाहरण देता हूँ, जिनसे ईश्वर उपादान और निमित्त दोनों सिद्ध होते हैं। वह श्रुति की प्रतिज्ञा और दृष्टान्त है। प्रतिज्ञा यह है–

उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्। (छा॰ उप॰ ६.१.२-३)

क्या तूने उस आदेश को पूछा था, जिससे अश्रुत श्रुत होता है, अमत मत और अविज्ञात विज्ञात होता है अर्थात् जिसका श्रवण, मनन और विज्ञान न हुआ है, उसका भी जिसके जानने से श्रवण, मनन, विज्ञान हो जाता है। यहाँ एक के विज्ञान से सब का विज्ञान हो जाता है। यह उपादान कारण के विज्ञात हाने पर सर्वविज्ञान सम्भव है क्योंकि उपादान कारण के व्यतिरिक्त कार्य नहीं। और निमित्त कारण से कार्य बहुत ही भिन्न होता है। बसूला इत्यादि और घट इत्यादि से तक्षा और कुम्भकार बहुत ही भिन्न हैं। निमित्त कारण तक्षा और कुम्भकार के ज्ञान से कदापि बसूला और कुम्भकार का बोध नहीं हो सकता। इस हेतु उपादान कारण के ज्ञान से ही उसके सकल कार्य का ज्ञान होता है। आगे दृष्टान्त देते हैं कि यथा– सौम्यैकेन इत्यादि। पुनः–

एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्। .... एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्। (छा॰ उप॰ ६.१.४-६)

हे सोम्य ! एक मृत्पिण्ड के यथार्थ ज्ञान से उसके सब विकारों का ज्ञान होता है। एक लोह के ज्ञान से उससे बने हुए सबका ज्ञान होता है। एक नखनिकृन्तन[1] से सकल काले लोह इत्यादि का ज्ञान होता है। इत्यादि दृष्टान्त हैं। पुनः–

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। (मु॰ उप॰ १.१.४)

हे भगवन् ! किस एक के विज्ञात होने पर सब विज्ञात होते हैं, यह प्रतिज्ञा है। और दृष्टान्त यह है यथा–

पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। (मु॰ उप॰ १.१.७)

१. नखनिकृन्तन= नाखून काटने का लोहे का बना साधन 'नेहरना'।

जैसे पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। पुनः—

आत्मनि खल्वपरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।

(बृ॰ उप॰ ४.५.६)

अरे मैत्रेयी ! आत्मा के दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात होने पर यह सब विदित हो जाते हैं, यह प्रतिज्ञा है और दृष्टान्त यह है—

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय। दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः। (बृ॰ उप॰ ४.५.८)

हन्यमान दुन्दुभि के बाह्य शब्दों को वह पकड़ नहीं सकता, किन्तु दुन्दुभि के ग्रहण से अथवा आघात को बन्द कर देने से शब्द वहाँ ही गृहीत हो जाता है। इत्यादि बहुत से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त ब्रह्म का प्रकृतित्व (उपादानत्व) दिखला रहे हैं। और भी—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। (तै॰ उप॰ ३.१)

यहाँ यतः में पञ्चमी विभक्ति है। यहाँ **'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः'** (अ॰ १.४.३०) इस सूत्र से प्रकृतिलक्षण उपादान में ही पञ्चमी होती है, इससे भी सिद्ध है कि जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों ही ईश्वर है।

त्रैती— जब अनेक तर्क द्वारा हम सिद्ध कर आये हैं कि भगवान् इस जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता, तब श्रुतियों की व्यवस्था तदनुसार करनी चाहिए। और भी सुनिये कि **"स ईक्षाञ्चक्रे"** (प्रश्न॰ उप॰ ६.३) इत्यादि वचन द्वारा ईक्षापूर्वक सृष्टि का वर्णन है। ईक्षापूर्वक ही ब्रह्म का कर्त्तृत्व उपनिषद् द्वारा सिद्ध है। ईक्षा= ईक्षण= दर्शन अर्थात् नित्य संकल्प। ईश्वर ने ईक्षण किया अर्थात् सृष्टि करने का नित्य संकल्प किया। अब निमित्त कारण कुम्भकारादियों में ईक्षापूर्वक कर्त्तृत्व देखते हैं क्योंकि [वह] अनेक उपकरण लेकर कुम्भादिक बनाने में प्रवृत्त होता है। कुम्भकार देखता है कि जब तक मिट्टी, जल, चक्र, सूत्र और अग्नि आदि न होंगे, तब तक सुदृढ़ घटादिक न बनेंगे। इत्यादि ईक्षण निमित्त कारण में होता है, उपादान में नहीं। उपादान मृत्तिका में कदापि ईक्षण शक्ति नहीं हो सकती। अतः यह ईक्षणपूर्वक कर्त्तृत्व ईश्वर को निमित्त कारण ही सिद्ध करता है। और भी सुनिये।

जगत् में ईश्वरत्वेन अर्थात् शासकत्वेन जो राजा, मन्त्री इत्यादि प्रसिद्ध हैं, उनका निमित्तकारणत्व है। तद्वत् ब्रह्म भी शासक प्रसिद्ध है। इस हेतु उसमें भी निमित्तकारणता ही होगी और यह कार्य जगत् सावयव, अशुद्ध, अचेतन दीखता है, इसको बारम्बार कह आये हैं। उसका कारण भी सादृश्य ही होना चाहिए क्योंकि कार्य-कारण में सारूप्य होता है। किन्तु ब्रह्म वैसा नहीं। वह ब्रह्म निष्कल,

निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य और निरञ्जन है। इस हेतु ब्रह्म का निमित्तत्व कारण है, उपादानत्व कारण नहीं। कहा भी गया है कि—

ईक्षापूर्वककर्त्तृत्वं प्रभुत्वमसरूपता।
निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित्।।[1]

ईक्षापूर्वक कर्त्तृत्व, प्रभुत्व, असारूप्य ये तीनों निमित्त कारणों में ही होते हैं, उपादानों में कभी नहीं।

अब आप अपनी [शंका का समाधान] और दृष्टान्त सुन लीजिये। इसका दृष्टान्त पूर्व ग्रन्थ में बहुत कुछ कह आये हैं। मैं कब कहता हूँ कि ईश्वर के ज्ञान की आवश्यकता नहीं और इसमें भी सन्देह नहीं कि ईश्वर के वास्तविक ज्ञान से सब ज्ञान की सफलता होती है। यज्ञ, दान, तप, व्रत इत्यादि धर्मकार्य भी लोग इसलिए करते हैं कि ईश्वर में दृढतर भक्ति हो। अत एव किस के ज्ञान से सब सुविदित हो जाते हैं ? इस प्रकार के प्रश्न उपनिषदों में बहुधा आया करते हैं, किन्तु आपका कथन कि "उपादान कारण के ज्ञान से ही उसके विकारों का ज्ञान सहज रीति से होता है", यह ठीक नहीं। क्योंकि निमित्त कारण के ज्ञान से भी क्वचित् कार्य का और कार्य से भी क्वचित् निमित्त कारण का बोध होता है। अष्टाध्यायी और रामायण के उदाहरण अभी सुने हैं। लोक में भी देखते हैं कि उत्तम शिल्पी को प्रासादादि बनाने के लिए खोजते हैं क्योंकि समझते हैं कि जितना शिल्पी उत्तम मिलेगा, उतना ही उत्तम कार्य होगा। प्रसिद्ध उत्तम शिल्पी के नाममात्र से लोग उत्तम कार्य का अनुमान कर लेते हैं। सुन्दर प्रासाद अथवा सेतु आदि के देखने से भी उत्तम शिल्पी का ज्ञान करते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् को देखकर कहते हैं कि इनके सब कार्य अच्छे ही होंगे। इनके बनाये ग्रन्थ अवश्य ही मंगलकारी होंगे। इत्यादि। इन दृष्टान्तों के अनुसार जो अतिशय आश्चर्यजनक सृष्टि रचता है, जिसके एक लघु अंग का बोध बुद्धिमान् मनुष्य के लिए भी अत्यन्त कठिन है, तो वह भगवान् क्यों नहीं जिज्ञास्य, ध्येय और पूज्य हो ? इसी अभिप्राय को लेकर सम्पूर्ण वेदान्तों की प्रवृत्ति है, और आप ने **"जनिकर्त्तुः प्रकृतिः"** (अ॰ १.४.३०) इस सूत्र के अनुसार **"यतो वा इमानि भूतानि"** (तै॰ उप॰ ३.१) इस में आये हुए "यतः" में उपादानलक्षणक अपादान में पञ्चमी कही है, वह भी आपका कथन ठीक नहीं क्योंकि उपादान से भिन्नार्थ में भी इस सूत्र से अपदान संज्ञा होती है। यथा—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।। मैत्रा॰ उप॰६.३७

१. भामती (ब्रह्मसूत्र १.४.२३) में उद्धृत।

अग्नि में विधिपूर्वक प्रक्षिप्त आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। तब सूर्य से वृष्टि, उससे अन्न और उससे प्रजाएं होती हैं।

यहाँ आदित्य से वृष्टि की उत्पत्ति कही गई है किन्तु आदित्य वृष्टि का उपादान कारण नहीं बल्कि निमित्त कारण है। वृष्टि का उपादान कारण मेघ और उसका भी समुद्र है। इसी प्रकार **"यज्ञाद् भवति पर्जन्यः"** (भगवद्गीता ३.१४) यज्ञ से मेघ होता है, यहाँ मेघ का उपादान कारण यज्ञ नहीं, तो भी उपादानलक्षणक पञ्चमी भी विद्यमान है। इसलिए आपका कथन सर्वथा असंगत है।

अद्वैती— अभिध्या के उपदेश से भी दोनों कारणत्व ब्रह्म में प्रतीत होते हैं। सृष्टि संकल्प का नाम अभिध्या है। वह यह है—

१. सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय। (तै॰ उप॰ २.६)

२. तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय। (छा॰ उप॰ ६.२.३)

१. उसने संकल्प किया कि मैं प्रपञ्चरूप से बहुत हो जाऊँ।

२. उसने देखा कि मैं बहुत हो जाऊँ।

यहाँ अभिध्यानपूर्वक स्वातन्त्र्य प्रवृत्ति से ईश्वर में निमित्तत्व और 'बहुत हो जाऊँ' इतने से उपादानत्व सिद्ध होते हैं। इसका उत्तर क्या है ?

त्रैती— प्रथम अक्षरशः श्रुतिवाक्यों का अर्थ सुनिये। (सः) उसने (अकामयत) कामना की कि (बहु+स्याम्) मानो, मैं बहुत[1] हो जाऊँ। (प्रजायेय) मैं प्रकृष्ट= प्रख्यात होऊँ। (तत्) उसने (ऐक्षत) देखा कि मैं (बहु+स्याम्) बहुत हो जाऊँ (प्रजायेय) मैं प्रख्यात होऊँ। (सः) यह पुल्लिंग है। तब 'बहुः' ऐसा प्रयोग होना चाहिए। ऐसा न होकर नपुंसक 'बहु' शब्द है। अतः यह क्रियाविशेषण है पुनः 'स्याम्' और 'प्रजायेय' ये दोनों यहाँ प्रायः एकार्थ हैं। अब विचार कीजिये कि "उसने कामना की" इस वाक्य का अर्थ क्या है ? कामना तब ही होती है, जब दो या चार वस्तुएँ अपने से भिन्न हों। उन भिन्न वस्तुओं की प्राप्ति की कामना होती है। जब ब्रह्म से भिन्न द्वितीय वस्तु ही उस समय न थी, तब उसको किस वस्तु की कामना हुई। प्रकृति और जीव ये दोनों भी नहीं थे, जिनके ऊपर दया की कामना हो। यदि ब्रह्म से भिन्न जीवों का भाव उस समय मानो, तो आपके अभ्युपगम की हानि होगी क्योंकि आप एक ही वस्तु मानते हैं। यदि उस समय जीव भी पृथक्, नित्य और चेतन होते, तो मान सकते हैं कि उन्हें प्रसन्न करने के लिए कदाचित् ईश्वर में कामना हुई हो और नित्य तृप्त ब्रह्म को सृष्टि करने में अन्य कोई भी प्रयोजन नहीं देखते। तब सृष्टिरचना में ईश्वर का कोई भी प्रयोजक (प्रेरक) सिद्ध नहीं होने से सृष्टि का संकल्प ही वह क्यों करे ? अतः

१. हस्तलेख में 'ब्रह्म' पाठ है।

आपका मत ठीक नहीं।

अब मेरे सिद्धान्त में श्रुति की संगति सुनिये। प्रकृति, जीव और ब्रह्म ये तीनों अनादि और अनन्त पदार्थ हैं। इतर दोनों ईश्वर के अधीन हैं। प्रलय के अन्त्य समय में ईश्वर की पुनः सृष्टिरचना में इसलिए कामना होती है कि जीव मेरे सखा हैं, वे प्रकृति के साथ नाना भोग, विलास कर तृप्त हो, मेरी आश्चर्य रचना को देख, आनन्दित हो, मेरे उपदेशों को मान, मेरी विभूतियाँ सदा गावें। जीवों को सुख देने के लिए ईश्वर की कामना होती है। जीवों के फलोन्मुख कर्म और प्रकृति ये दोनों ईश्वर के प्रयोजक होते हैं। और भी—

'बहु' यह क्रियाविशेषण है, तब इसका आशय यह हुआ कि मैं इस समय भी जीवों और प्रकृति के साथ बहुत हूँ किन्तु वे दोनों मानो इस समय निष्क्रिय, और निश्चेष्ट के समान हैं। इसलिए विलक्षण आनन्दप्रद और मनोविनोदक जगत् को रचकर, उसमें नाना सुखभोग के लिए जीवों को रखकर, उनके साथ पुनरपि मानो, मैं बहुत और प्रख्यात होऊँ। जैसे पशु, हिरण्य और सेवकादि से एक आदमी भी बहु कहलाता है, इसी प्रकार सृष्टि रचने से ईश्वर का बहु-भवन है। अब 'प्रजायेय' इसका आशय सुनिये। यदि इस शब्द का अर्थ जीववत् ईश्वर उत्पत्ति मानिये, तो यह हो ही नहीं सकता क्योंकि ईश्वर प्रज्ञादि शब्दों से विहित है और प्रलय काल में भी जीव और प्रकृति में वह व्यापक ही था। और सृष्ट्युत्तर काल में भी पूर्ववत् ही वह व्यापक रहेगा। तब इसकी उत्पत्ति का अर्थ ही क्या? अभाव से भाव नहीं होता, इसको आप भी मानते हैं। इस हेतु इस शब्द का 'प्रख्यात होना' अर्थ ही सुसंगत है। प्रलय में जीव जन्म के अभाव से प्रख्यात करने वाले के न होने से मानो ईश्वर की कामना होती है कि मैं सृष्टि रचकर प्रजाओं में प्रख्यात होऊँ। जैसे कोई धर्मात्मा प्रबन्धकर्त्ता, अतिशय उदार, धनिक और बुद्धिमान्, कोविद मन में कामना करे कि सुप्रबन्ध से, दान से और कल्याणकारी ग्रन्थरचना से हम प्रजाओं में विख्यात होवें। यह लौकिक न्याय आदिकर्त्ता दार्ष्टान्तिक ईश्वर में भी नियोजित कीजिये। पुनः— (तदैक्षत) इसका समाधान सुनिये। ईक्षण शब्द का अर्थ दर्शन, पर्यालोचन, पदार्थों का अच्छे प्रकार विचार करना, चित्त में विचारपूर्वक सब वस्तुओं को अंकित करना अर्थात् क्रमशः वस्तुओं की स्थापना करनी इत्यादिक हैं। अब ईक्षण निमित्तकारण में अथवा उपादान कारण में होता है, इस पर विचार कीजिये। मृत्तिका, सुवर्ण, बीज इत्यादि उपादान कारणों में ईक्षण कदापि नहीं, किन्तु उनसे काम लेने वाले निमित्तमात्र कुम्भकार, सुवर्णकार और बीज बोने वाले में होता है। यह लौकिक न्याय ईश्वर में भी घटाना चाहिए। ईश्वर यहाँ ईक्षणकर्त्ता है। इस हेतु वह केवल

निमित्तकारण ही हो सकता है, उपादान नहीं। आप के सिद्धान्त में किसी दृष्टान्त के न होने से आपकी कल्पना असंगत है। यदि आप कहें कि दृष्टान्तों और तर्कों के बल से अपना सिद्धान्त मैं स्थापित नहीं करता, किन्तु श्रुति के बल से मैं अपने मत की स्थापना करता हूँ। यह आपका कथन ठीक नहीं। श्रुति का अर्थ जो आप समझते हैं, वही सत्य हो, और जो मैं समझता हूँ, वह असत्य हो, इसमें क्या प्रमाण ? जब युक्ति[1] द्वारा श्रुति से ही आप का अर्थ अनर्थ सिद्ध होता है, तब आप घबड़ा कर श्रुति की दुहाई देते हैं ! एवमस्तु। अब आगे चलिए।

अद्वैती— एवमस्तु, अन्य श्रुतियाँ सुनिये जिनसे ब्रह्म उपादान कारण सिद्ध होता है। वे ये हैं—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।

(मु॰ उप॰ ३.१.३)

अर्थ— (यदा) जब (पश्यः) द्रष्टा जीवात्मा (ब्रह्म) उस परमात्मा को (रुक्मवर्णम्) प्रकाशमय (कर्त्तारम्) क्रियाशक्तिमान् (ईशम्) शासक (पुरुषम्) व्यापक (योनिम्) और जगद्योनि को (पश्यते) देखता है (तदा) तब (निरञ्जनः) निष्पाप होकर (विद्वान्) विद्वान् (पुण्य+पापे) पुण्य और पाप को (विधूय) झाड़कर (परमम्+साम्यम्+उपैति) परम साम्य को प्राप्त होता है। यहाँ ब्रह्म को योनि कहा है। पुनः—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुरश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।। (मु॰ उप॰ १.१.६)

(यत्+तत्) जो वह (अद्रेश्यम्+अग्राह्यम्) अदृश्य, अग्राह्य (अगोत्रम्+अवर्णम्+अचक्षुः+अश्रोत्रम्) अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र है (तत्) उस (अपाणि+पादम्) हस्तपादरहित (नित्यम्+विभुम्+सर्वगतम्+सुसूक्ष्मम्) नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म को (धीराः) धीरगण (परिपश्यन्ति) चारों तरफ से देखते हैं। पुनः (तत्+अव्ययम्) उसको अव्यय समझते हैं। पुनः (तत्+भूतयोनिम्) उसको भूतयोनि समझते हैं। यहाँ भी ब्रह्म को भूतयोनि कहा है। योनि शब्द लोक में भी उपादान कारण वाची पाया जाता है। यथा "पृथिवी ओषधियों और वनस्पतियों की योनि है।" स्त्रीयोनि भी अवयव द्वारा गर्भ के प्रति उपादान कारण है। क्वचित् स्थान वाची भी योनि शब्द आता है। यथा—

योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि। (ऋ॰ १.१०४.१)

१. हस्तलेख में 'क्या उक्ति' पाठ है।

हे इन्द्र ! (ते) तेरे (निषदे) उपनिवेशन के लिए (योनिः) स्थान को (अकारि) मैंने किया है। (वेदान्त १.४.२७ का भाष्य देखिये)

त्रैती— आपने श्रुतियों का तात्पर्य नहीं समझा। आप कहते हैं कि योनि शब्द उपादान वाची होता है, परन्तु यह ठीक कथन नहीं। **'शास्त्रयोनित्वात्'** (वे॰ १.१.३) यहाँ ब्रह्म को ऋग्वेदादि शास्त्रों की योनि कहा है। क्या ऋग्वेदादि शास्त्रों का भी ब्रह्म उपादान कारण ही है ? कदापि नहीं। ब्रह्म शास्त्रों का निमित्त कारण है। उस निमित्त कारण में भी योनि शब्द का प्रयोग देखते हैं। पुनः आपने जो लौकिक उदाहरण दिया है कि ओषधियों और वनस्पतियों की योनि पृथिवी है। यहाँ भी योनि शब्द निमित्त कारण वाची है, क्योंकि बीज जब पृथिवी में बोये जाते हैं, तब उनसे ओषधि और वनस्पति होते हैं। बीज अनादि काल से चला आता है, इसी हेतु बीजांकुर न्याय शास्त्र में अतिप्रसिद्ध है। बीजप्रद ईश्वर कहलाता है यदि बीज पृथिवी में न डाले जायें, तो वृक्षादिक कदापि न होगें। यही वैदिक आस्तिक सिद्धान्त है। इस हेतु ओषधि, वनस्पति प्रभृतियों का उपादान कारण बीज और निमित्त कारण पृथिवी है। इसी प्रकार स्त्रीयोनि को समझिये। वह गर्भ के प्रति निमित्त कारण ही होती है। गर्भ का उपादान कारण रज और वीर्य हैं। इस हेतु आपकी कल्पना निर्मूल होने से त्याज्य है।

अद्वैती— एवमस्तु, 'योनि' शब्द का प्रयोग उपादान और निमित्त दोनों कारणों में हो किन्तु मुख्य विवाद इस विषय पर है कि "एक के ज्ञान से सब का ज्ञान होता है।" यह तब ही हो सकता है, जब ब्रह्म इस जगत् का मुख्यतया उपादान कारण हो और जिसका यह सम्पूर्ण प्रपञ्च विकार हो क्योंकि लोक में वैसा ही देखा जाता है। जैसे एक मृत्तिका के ज्ञान से घटादिक का ज्ञान इसलिए होता है कि वे घटादिक मृत्तिका से बने हुए हैं और मृत्तिका के वे विकार हैं अर्थात् घटादिकों में मृत्तिका का धर्म पाया जाता है। तद्वत् यदि इस जगद्रूप विकार का उपादान कारण ब्रह्म नहीं तो एक ब्रह्म के ज्ञान से इन विकारों का ज्ञान कैसे ?

त्रैती— इसका संक्षिप्त समाधान यह है कि ब्रह्म और विकार इन दोनों में से किसका ज्ञान मुख्य है ? परमात्मा का या विकार का या दोनों का ? इस पर आप या हम सब कोई मिलकर यही कहेंगे कि ब्रह्म का ज्ञान ही मुख्य है और विकार का ज्ञान गौण है, किन्तु दोनों का ज्ञान आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि विकारों के ज्ञान के बिना ईश्वर का ज्ञान हो ही नहीं सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान ये दो प्रमाण ईश्वर में घट नहीं सकते क्योंकि ईश्वर रूपादिहीन है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण की इसमें प्रवृत्ति नहीं। और कोई चिह्न नहीं, जिसको

देखकर अनुमान करें। इस हेतु कार्य के ज्ञान से ही कारण का ज्ञान हो सकता है। ईश्वर का कार्य यह जगत् है, इसमें सन्देह नहीं, जैसे अष्टाध्यायी से पाणिनि का ज्ञान होता है, वैसे ही जगत् के ज्ञान से ईश्वर का ज्ञान होगा। तब ऐसा न हो कि लोग केवल जगत् के ज्ञान में ही आसक्त रह जायँ। इस हेतु मातृभूता श्रुति एक ब्रह्मज्ञान को मुख्यता देती है और कहती है कि ऐ मनुष्यो ! कार्य के ज्ञान में ही मत आसक्त रहो किन्तु ईश्वर का साक्षात् करो। इति।

अद्वैती— एवमस्तु, और भी मन्त्र सुनिये। यथा—

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते। आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति। (छा॰ उप॰ १.९.१)

निश्चय से सब भूत (आकाशात्+एव) ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं और उसी आकाश में लीन हो जाते हैं।

जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसमें लीन होता है और वह उसका उपादान कारण होता है, यह जगत् में प्रसिद्ध है। जैसे व्रीहि-यवादिकों का उपादान पृथिवी है और इससे उत्पन्न होकर इसी में लीन होते हैं। यहाँ दोनों प्रभव और प्रलय ब्रह्म से और ब्रह्म में ही कहे गये हैं। इस हेतु ईश्वर दोनों कारण है। (वेदान्त १.४.२५ का भाष्य देखिये) पुनरपि—

'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै॰ उप॰ २.७) उसने अपने को स्वयं बनाया।

यहाँ ईश्वर में कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों देखते हैं। 'आत्मानम्' इस पद से कर्मत्व और 'स्वयमकुरुत' इन पदों से कर्तृत्व। अतः परमात्मा दोनों कारण है। यदि कहें कि पूर्व से ही स्वतःसिद्ध परमात्मा स्वयं कर्त्ता और कर्म कैसे हो सकता है क्योंकि कोई कुम्भकार कर्त्ता और कर्म नहीं देखा जाता। तो इसका उत्तर मैं परिणाम दूँगा क्योंकि पूर्वसिद्ध भी परमात्मा ने विशेष करके अपने को विकाररूप जगत् में परिणत कर दिया और यह लौकिक दृष्टान्त में भी देखते हैं। मृत्तिका आदि उपादान में ईदृक् परिणाम देखा जाता है। पुनः श्रुति में स्वयं यह विशेषण पद है, इससे निमित्तान्तर का निषेध होता है और एतत्समान ही—

"सच्चासच्चाभवत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च।।" (तै॰ उप॰ २.६)

(सत्) प्रत्यक्ष भूतत्रय (असत्+च) परोक्ष भूतद्वय= वायु और आकाश (निरुक्तम्) वर्णन के योग्य घटादि (अनिरुक्तम्) वर्णन के अयोग्य रूपादिक सब ही ब्रह्म हुआ। इत्यादि वाक्य हैं, जिनसे ब्रह्म में उपादानत्व और निमित्तत्व दोनों सिद्ध होते हैं। इस सबका उत्तर आप क्या रखते हैं ? (वेदान्त १.४.२६ का भाष्य देखिये)

त्रैती— महाशय, जब सकल वेदों से सिद्ध है कि प्रकृति, जीवात्मा और

परमात्मा ये तीनों अनादि हैं, तब तदनुसार ही श्रुतियों की भी व्याख्या करनी चाहिए। तीनों के अनादित्व में ये श्रुतियाँ हैं—

आनीदवातं स्वधया तदेकम्। (ऋ॰ १०.१२९.२)

वह निर्वात एक परमात्मा (स्वधया) प्रकृति के साथ (आनीत्) विद्यमान था। इससे प्रकृति की अनादि विद्यमानता सिद्ध होती है। यहाँ सायण और रत्नप्रभा के कर्त्ता इत्यादि सब ही स्वधा शब्द का अर्थ माया करते हैं। "नासदीय" इस सूक्त की व्याख्या आगे रहेगी। पुनः—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (छा॰ उप॰ ६.२.१)

हे सोम्य (अग्रे) इस वर्त्तमानकालिक सृष्टि के पूर्व (सत्+एव) सद्वाच्य प्रकृति ही थी, वह एक और अद्वितीय थी। इससे भी प्रकृति की अनादि विद्यमानता सिद्ध है। और **"रेतोधा आसन्"** (ऋ॰ १०.१२९.५) "जीवात्मा भी थे", इस ऋचा से जीवात्मा की भी अनादि विद्यमानता सिद्ध है। और इसको आप स्वीकार भी करते हैं। ऐसी स्थिति में श्रुतियों का अर्थ भी तदनुकूल ही करना उचित है। परमात्मा सृष्टि रचता है, इसलिए श्रुति में कहा गया है कि ये सब प्राणी परमात्मा से होते हैं। लोक में भी कहते हैं कि इन घटों का बनाने वाला यह कुम्भकार है किन्तु इसके विपरीत इन घटों के बनाने वाली मृत्तिका है, ऐसा कोई नहीं कहता। अब आप जो यह कहते हैं कि जिससे जो उत्पन्न होता है, उसी में उस का लय होता है, यह कहना आपका ठीक नहीं। प्रभव और प्रलय की समस्या ही अत्यन्त कठिन है। इसी पर यह सब विचार हो रहा है। किसमें कौन जाकर लीन होता है, इसका बोध अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह तो आप भी मानते हैं कि बीज अनादि हैं और इस पृथिवी से भिन्न हैं। यदि पृथिवीस्वरूप ही बीज़ होते, तो आस्तिक सिद्धान्त में बीजांकुर का दृष्टान्त क्यों दिया जाता, क्योंकि तब इस पृथिवी से ही अंकुर का होना बीज से प्रथम सिद्ध होता तब अन्योऽन्याश्रय दोष भी न रहता और बीजांकुर न्यायवत् कर्म और सृष्टि का अनादि सम्बन्धी प्रश्न भी न होता। अतः यह सिद्ध है कि पृथिवी से पृथक् बीज है। वह बीज आदि सृष्टि में परमेश्वर द्वारा पृथिवी में डाला जाता है और उससे नाना ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इस अवस्था में प्रत्यक्षतया देखते हैं कि पृथिवी से बीज उत्पन्न भी होते हैं और उसी में लीन भी होते हैं। इसी प्रकार परमात्मा में प्रभव और प्रलय दोनों धर्म कहे गए हैं।

"तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै॰ उप॰ २.७) इस श्रुति का भी अर्थ दुर्बोध नहीं। आत्मा नाम शरीर का भी है। परमात्मा इस जीवात्मा में और प्रकृति में व्यापक है, इस हेतु मानो प्रकृति और जीवात्मा ईश्वर के शरीर समान हैं, अत एव

(तत्+स्वयम्) उस परमात्मा ने (स्वयम्+आत्मानम्) शरीरभूत इस प्रकृति को नाना रूपों में (अकुरुत) बनाया। इसका बनाने वाला दूसरा नहीं। इस हेतु 'स्वयम्' पद आया है। और आपके अर्थ में गौरव भी है क्योंकि एक ही परमात्मा में कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों धर्मों की स्थापना करते हैं। यह कैसे हो सकता है ? इसमें कोई दृष्टान्त नहीं। घट के पूर्व सिद्ध कुम्भकार घट का कर्त्ता होता है न कि वह अपने शरीर का कर्म भी। इसी प्रकार **"सच्चासच्चाभवत्"** (तै॰ उप॰ २.६) इत्यादि श्रुतियों का भी अर्थ लगाना चाहिए। जिस हेतु वह सबमें व्यापक है, इस हेतु वही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, निरुक्त अथवा अनिरुक्त मानो, हुआ करता है। परमात्मा में परिणाम मानना यह सर्वथा श्रुतियों और तर्कों से विरुद्ध है। इसका निरूपण कृत्स्नप्रसक्ति प्रकरण में कर आये हैं।[1] यदि परमेश्वर का परिणाम हो तो सम्पूर्ण परमात्मा ही का परिणाम हो जायेगा अर्थात् जैसे सम्पूर्ण दूध का परिणाम दधि होता है, तद्वत् इस अवस्था में ईश्वर का अस्तित्व मिट जाता है, केवल परिणाम स्वरूप यह जगत् रह जाता है। यह आपका सिद्धान्त कितना हानिकारक, अमंगल विधायक है, यह विचार कीजिये। इस हेतु यहाँ सृष्टिविधायक जितनी श्रुतियाँ हैं, उनकी मुझे अक्षरशः अर्थ और संगति लगानी अत्यावश्यक है।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।

(ऋ॰१०.१२९.१)

(तदानीम्) तब प्रलयावस्था में (असत्+न+आसीत्) अभाव नहीं था (नो+सत् +आसीत्) भाव भी नहीं था अर्थात् उस अवस्था में व्यक्ताव्यक्त कुछ भी प्रतीत नहीं होता था। (रजः+न+आसीत्) लोक-लोकान्तर भी न थे। **"लोका रजांस्युच्यन्ते"** (निरुक्त ४.१९) लोकों का नाम रज है (व्योम+नो) आकाश भी नहीं था। (परः+यत्) आकाश से भी पर यदि कुछ हो सकता है तो वह भी नहीं था। (कुह) किस देश में (कस्य+शर्मन्) किस के कल्याण के लिये (किम्+आवरीवः) कौन किस को आवरण करे। इस लिये आवरण भी नहीं था। (किम्) क्या (गहनम्) (गभीरम्) गभीर (अम्भः) जल (आसीत्) था ? नहीं।

व्याख्या— इस प्रथम ऋचा में व्यक्त संसार के अस्तित्व का निषेध करते हैं। प्रलयावस्था में असत् या सत् कुछ प्रतीत नहीं होता था। कोई लोक वा यह दृश्यमान आकाश भी प्रतीत नहीं होते थे। अत्यन्त गभीर जलादिक भी नहीं था। जब कुछ नहीं था तो उसका आवरण भी नहीं था। यह प्रत्यक्ष है कि बीज की रक्षा के लिए आवरण हुआ करता है। इसी प्रकार गेहूँ, यव, चने आदि पदार्थों में

१. द्र॰— पृ॰ १३०।

आवरण होते हैं। जब आच्छाद्य नहीं था, तब आच्छादक का भी अभाव था। (आ+ अवरीवः) यह 'वृ' धातु से यङ्लुगन्त में लङ् लकार का रूप है।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।।

(ऋ॰१०.१२९.२)

(न+मृत्युः+आसीत्) न मृत्यु थी (न+तर्हि+अमृतम्) न उस समय अमृत था (न+रात्र्याः+अह्नः) न रात्रि और दिन का (प्रकेतः+आसीत्) कोई चिह्न था। तब उस समय कुछ था, या नहीं ? ब्रह्म भी था, या नहीं ? इस पर कहते हैं कि (अवातम्) वायुरहित (तत्+एकम्) वह एक ब्रह्म (स्वधया) प्रकृति के साथ (आनीत्) चेतनस्वरूप विद्यमान था। (तस्मात्+ह+अन्यत्) पूर्वोक्त प्रकृति सहित ब्रह्म के अतिरिक्त (किञ्चन+न) कुछ भी नहीं था। अतः (परः) सृष्टि के पूर्व कुछ भी नहीं था। यह सिद्ध होता है।

व्याख्या— आनीत्— प्राणनार्थक 'अन' धातु का 'आनीत्' यह रूप है (अवातम्) वायुरहित। बिना वायु का वह एक ब्रह्म विद्यमान था। केवल वह एक ही नहीं था, किन्तु स्वधा भी उसके साथ थी। 'स्वधया' यह तृतीया का एकवचन है। सायण स्वधा शब्द का अर्थ माया करते हैं। वास्तव में वेदान्ताभिमत अनिर्वाच्य मायावाची स्वधा शब्द यहाँ नहीं है, किन्तु प्रकृतिवाची यह स्वधा शब्द है। यदि जगत् के मूल कारण का नाम माया अभिप्रेत हो, तो नाममात्र के लिए विवाद करना व्यर्थ है। तब उस मूल कारण का नाम माया यद्वा प्रकृति यद्वा प्रधान, अव्यक्त, अज्ञान, परमाणु इत्यादि कुछ भी नाम रख लें। इस में विवाद व्यर्थ है। किन्तु माया और प्रकृति इत्यादि शब्द की अपेक्षा स्वधा शब्द बहुत उपयुक्त है क्योंकि स्व=निज सत्ता। जो निज सत्ता को धा= धारण किये हुये विद्यमान हो, उसे स्वधा कहते हैं। "स्वं दधातीति स्वधा" जो अपने को धारण करती है, उसे स्वधा कहते हैं। जैसे परमात्मा की सत्ता बनी रहती है, तद्वत् जड़ जगत् के मूल कारण की भी सत्ता सदा बनी रहती है। इसलिये उसको स्वधा कहते हैं। **'सह युक्तेऽप्रधाने'** (अ॰ २.३.१९) इस सूत्रानुसार सह [सहार्थ के योग में स्वधा] शब्द का तृतीया के एकवचन में स्वधया रूप है।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाम्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।।

(ऋ॰१०.१२९.३)

(अग्रे+तमः+आसीत्) सृष्टि के पूर्व तमोवाच्य जगन्मूल कारण प्रधान था और (तमसा) उसी तमोवाच्य प्रधान से (इदम्+सर्वम्) यह वर्तमानकालिक दृश्यमान

सब कुछ (गूढम्) आच्छादित था, अत एव (अप्रकेतम्) वह अप्रज्ञात था। पुनः (सलिलम्+आः) दुग्धमिश्रित जल के समान कार्य-कारण में भेदशून्य यह सब था। पुनः (आभु) सर्वत्र व्यापक (यत्) जो जगन्मूल कारण प्रधान था, वह भी (तुच्छ्येन) तुच्छता के साथ अर्थात् अव्यक्तावस्था के साथ (अपिहितम्+आसीत्) आच्छादित था (तत्) वही प्रधान (एकम्) एक होकर (तपसः+महिना) परमात्मा के तप के महिमा से (अजायत) व्यक्तावस्था में प्राप्त हुआ।

व्याख्या– प्रथम ऋचा में सत् और असत् इन दोनों का विवरण इस लिए किया कि ये दोनों नहीं ज्ञात होते थे। पुनः द्वितीय ऋचा में अमृत इत्यादिकों का अभाव कथन कर उस अवस्था में भी एक परमात्मा की स्वधा के साथ विद्यमानता बतलायी गई अर्थात् जगन्मूल कारण जड़ प्रकृति अव्यक्तावस्था में होने से नहीं के बराबर थी, किन्तु उसके साथ सब में चैतन्य देने वाला एक परमात्मा विद्यमान था इत्यादि वर्णन पूर्वोक्त दोनों ऋचाओं में किया गया। अब लोगों को यह सन्देह हो कि जड़ जगत् का मूल कारण सर्वथैव शशविषाणदिवत् अविद्यमान था। परमात्मा ने स्वयं इस जगत् को अपने सामर्थ्य से बना लिया इत्यादि आशंकाओं को दूर करने के लिए आगे कहते हैं कि **'तम आसीत्'** इत्यादि जगन्मूल कारण अवश्य था और उसी मूल कारण से वर्तमानकालिक यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् आच्छादित था अर्थात् केवल कारण विद्यमान था, कार्य नहीं। वह कारण भी **'तुच्छ्येन'** अव्यक्तावस्था से ढका हुआ था, तब परमात्मा की कृपा से एक होकर इस वर्तमानकालिक रूप में परिणत हुआ।

सत्त्व, रज, तम इनकी साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। उस प्रकृति के प्रधान, अव्यक्त, और अदृश्य आदिक अनेक नाम हैं। यहाँ वेद में उसी को 'तमः' शब्द से कहा है। वेदान्त में इसी का नाम अज्ञान है क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा को भी ढक लेता है, जैसे तमोवाच्य अन्धकार सकल पदार्थों को आच्छादित कर लेता है। इस विषय का संग्रह मनु जी ने इस प्रकार किया है कि–

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यम् प्रसुप्तमिव सर्वतः।। (मनुः १.५)

यह वर्तमानकालीन जगत् प्रलयावस्था में तमोमय, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य और मानो सर्वत्र प्रसुप्त था। जब जीवों के कर्म फलोन्मुख होते हैं, तब परमेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा होती है। यह ईश्वरीय सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) ही तप कहलाती है और उसी तप की महिमा से वह कारण रूप जड़ प्रधान मानो एक रूप में होकर परिणत होने लगता है, तब उससे

क्रमपूर्वक महदादि सृष्टि होती है।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।

(ऋ॰१०.१२९.४)

(तदग्रे) उस सृष्टि के पूर्व (कामः+समवर्त्तत) ईश्वरीय कामना थी (यत्) जो (मनसः+अधि) अन्तःकरण का (प्रथमम्+रेतः) प्रथम बीजस्वरूप (आसीत्) था। (कवयः) बुद्धिमान् ऋषि प्रभृति (मनीषा) अपनी सात्त्विक बुद्धि से (असति) विनश्वर (हृदि+प्रतीष्य) हृदय में विचार (सतः+बन्धुम्) अविनश्वर सद्वाच्य प्रकृति के बाँधने वाले परमात्मा को (निरविन्दन्) पाते हैं।

व्याख्या– जो लोग ईश्वर को कामनारहित कहते हैं, वे वास्तव में तात्पर्य को नहीं समझते क्योंकि **सोऽकामयत** (तै॰ उप॰ २.६)= उसने कामना की, **तदैक्षत** (छा॰ उप॰ ६.२.१)= उसने ईक्षण किया इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्म में काम का सद्भाव प्रसिद्ध है। यदि काम न होता तो यह सृष्टि भी नहीं होती। इस हेतु जीवों के स्व-स्व कर्मानुसार फल भोगाने के लिए सृष्टि करने की ईश्वर की कामना अवश्य थी। और यही कामना मानो, जगद्रचना का बीजभूत थी। उस कर्त्ता-धर्त्ता परमात्मा को कविगण अपनी बुद्धि से इसी विनश्वर हृदय में प्राप्त करते हैं। उसके अन्वेषण के लिए बाह्य जगत् में इतस्ततः दौड़ना नहीं पड़ता। सतो बन्धुम्= सत् नाम जड़ जगत् के कारण प्रकृति का है। उस कारण को परमेश्वर अपने वश में रखता है। इस हेतु वह बन्धु कहलाता है। बन्धु नाम बांधने वाला।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्।।

(ऋ॰ १०.१२९.५)

(एषाम्) इन सृष्ट पदार्थों के (रश्मिः) सूर्यकिरण के समान विस्तार (स्वित्) क्या (तिरश्चीनः) तिर्यग्भाव टेढ़ा (विततः) फैला हुआ था। (स्वित्) अथवा क्या (अधः+आसीत्) नीचे था अथवा (उपरि+आसीत्) ऊपर था, यह कुछ कहा ही नहीं जा सकता। यह सृष्ट जगत् ऊपर अथवा नीचे अथवा सीधा या टेढ़ा है, इसका निश्चय नहीं हो सकता, किन्तु (रेतोधाः+आसन्) जीव थे (महिमानः+ आसन्) और उस ब्रह्म के प्रकृति के और जीवों के महत्त्व थे। (स्वधा+अवस्तात्) प्रकृति नीचे थी और (प्रयतिः) ईश्वरीय प्रयत्न (परस्तात्) ऊपर था अर्थात् उस प्रकृति के ऊपर काम करने वाला था।

व्याख्या– यह सृष्टि किस प्रकार स्थापित है और कहाँ तक है, इसका

आदि-अन्त कहीं है अथवा नहीं, इत्यादि ज्ञान कठिन है किन्तु रेतोधा=जीवात्मा इत्यादिक हैं, थे और रहेंगे, यह विस्पष्ट प्रतीत होता है। रेतोधा= यह जीवात्मा वाचक शब्द है। जीवात्मा का परम्परा, वंश चलाने के लिए आवश्यक है कि उसमें बीजस्वरूप वीर्य हो। अत एव 'रेतो वीर्यं दधातीति रेतोधा' अर्थात् [जो] वीर्य को धारण करे उसे रेतोधा कहते हैं। अनेक लक्षणों में से जीव का एक लक्षण यह है कि जो अपने समान बीज को छोड़ जाय, उसको जीवात्मा कहते हैं। प्रत्येक जीव की यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने समान बीज को छोड़ जाता है। उद्भिज्ज सृष्टि में इसकी तो बहुत ही अधिकता है किन्तु अण्डज, जरायुज और ऊष्मज जीवों में भी इसकी न्यूनता नहीं। प्रत्येक प्राणी अपने समान कम से कम एकाध अपत्य उत्पादन के लिए सचेष्ट रहता है और प्रायः सन्तान छोड़ भी जाता है। अत एव इस सृष्टि के प्रवाह का उच्छेद नहीं होता। सायण भी रेतोधा शब्द का अर्थ जीवात्मा करते हैं। उनका शब्द इस प्रकार है— **"रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्त्तारो भोक्तारश्च जीवाः"** सायण रेत शब्द का अर्थ 'बीजभूत कर्म' करते हैं। किन्तु रेत शब्द का अर्थ वीर्य भी प्रसिद्ध है। जैसे ऊर्ध्वरेता योगिगण कहलाते हैं। 'स्वधावस्तात्'= स्वधा नाम प्रकृति का है और वह अचेतन है, अत एव जीव और ईश्वर के नीचे उसे स्वभावतया ही रहना पड़ता है। इस हेतु स्वधा के नीचे रहने का वर्णन यहाँ आया है। और 'प्रयतिः परस्तात्'= प्रयति नाम प्रयत्न का है। प्रयत्न प्रकृति के ऊपर है अर्थात् उसका शासक है, यह प्रत्यक्ष है।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव।।

(ऋ० १०.१२९.६)

(इयम्+विसृष्टिः) ये विविध सृष्टियाँ (कुतः+आजाता) किस उपादान कारण से अच्छे प्रकार उत्पन्न हुईं ? (कुतः) और किस निमित्त कारण से हुईं ? (कः) कौन विद्वान् (अद्धा) परमार्थ रूप से (वेद) इन विविध सृष्टियों को जानते हैं। (कः) कौन तत्त्ववित् (इह) इस लोक में (प्रवोचत्) इनकी व्याख्या हम लोगों को सुनावे। यदि साधारण पृथिवीस्थ विद्वान् इस सृष्टि की व्याख्या न कर सकें तो कदाचित् सूर्यादि देव इसके तत्त्व को जानते हों तो उनसे पूछ कर निश्चय किया जाय और इस सन्देह को मिटाने के लिए देवों की भी अज्ञता आगे कहते हैं। (अस्य) इस जगत् के (विसर्जनेन) त्याग से अर्थात् उसके (अर्वाक्) पश्चात् (देवाः) देवगण उत्पन्न हुये अर्थात् प्रकृति अथवा परमाणु नित्य हैं और इनके संघात से जब यह कार्य जगत् पृथिव्यादिक बन चुके, तब अन्यान्य देवों की सृष्टि

हुई। इस हेतु वे भी इसके तत्त्व को जानने में सर्वथा असमर्थ हैं। (अथ) तब (कः+वेद) कौन जानता है (यतः+आबभूव) जिस निमित्तोपकारण से ये सृष्टियाँ हुई।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।।

(ऋ० १०.१२९.७)

(यतः) जिस निमित्तकारणीभूत परमात्मा से (इयम्+विसृष्टिः) ये विविध सृष्टियाँ (आबभूव) हुआ करती हैं, वही (यदि+वा+दधे) यदि इसको धारण करता है तो वही धारक है। (यदि+वा+न) यदि वह इसका धारण नहीं करता है तो अन्य कोई इसका अध्यक्ष है (सः) वह (परमे+व्योमन्) परम उत्कृष्ट निज महिमा में विद्यमान है (अंग) हे मनुष्यो ! (वेद) वही जानता है (यदि+वा+न+वेद) यदि वह नहीं जानता है तो दूसरा इसको काई नहीं जानता। इससे संसार की दुर्विज्ञेयता और दुर्द्धर्षत्व इत्यादि सिद्ध किया गया है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।। ऋ०१०.१९०.१

(अभीद्धात्) चतुर्दिक् जाज्वल्यमान (तपसः) तप से (ऋतम्+च+सत्यम्+च) ऋत और सत्य (अध्यजायत) उत्पन्न हुआ करता है (ततः) तब (रात्री+अजायत) रात्रि हुई अथवा होती है (ततः) तब (अर्णवः+समुद्रः) जलमय समुद्र होता है।

व्याख्या— यह सूक्त ऋग्वेद के करीब अन्त में है। इसके पश्चात् केवल दो सूक्त रह जाते हैं, इस हेतु सम्पूर्ण वेदों के पारमार्थिक आशय की इस सूक्त में कतिपय ऋचाओं से भगवान् शिक्षा देते हैं। सबसे प्रथम मनुष्य को उचित है कि वह ऋत और सत्य का ज्ञान धारण करे। मानसिक यथार्थ संकल्प का नाम ऋत है और वाचिक यथार्थ भाषण का नाम सत्य है। मानस अथवा वाचिक जो कुछ इसका कर्म हो, वह सत्य ही होना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण वेद सत्य की ही प्रशंसा करते हैं। दो 'च' शब्द इस ऋचा में आये हैं। इससे यह भाव है कि सत्य और ऋत के अतिरिक्त शौच, सन्तोष, संयम, नियम, अहिंसा, मान, मर्यादा, सकल शुभ कर्म धर्मानुकूल होने चाहिएँ।

अभीद्धात्तपसः— अभि पूर्वक दीप्त्यर्थक 'इन्ध' धातु से अभीद्ध बनता है। शंका होती कि वे ऋत, सत्य ब्रह्मचर्यादि व्रत, यज्ञ, दान, पूजा, पाठ इत्यादि कैसे और कहाँ से हो सकते हैं। इसके उत्तर में कहा जाता है कि ये प्रदीप्त= कठोर तप से हो सकते हैं क्योंकि एक सत्यभाषण का ही उदाहरण लीजिये। सत्यभाषण करना कितना कठिन तप है। एक युधिष्ठिर महाराज पुराणों में सत्यवादी कहे

गए हैं, यद्वा परमात्मा ही सत्यस्वरूप माना गया है। ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर गुरुकुल में जा वेदाध्ययन करना कितने तप की आवश्यकता रखता है। केवल ३६ वर्ष का अध्ययन ही कितना दुष्कर है। इसी प्रकार अन्यान्य सकल शुभ कर्म तप के बिना कदापि नहीं हो सकते। इस कारण अभीद्ध तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति कही गई है।

रात्री– अब यह शंका होती है कि यदि सत्यादिक व्रत ग्रहण भी करें तो इससे लाभ क्या ? इस शंका की निवृत्ति के लिए यहाँ रात्रि की उत्पत्ति कही गई गयी है। रात्रि शब्द का मुख्यार्थ सुखप्रदा= सुख देने वाली है क्योंकि राति ददाति सुखं या सा रात्री– जो सुख देती है, उसे रात्रि कहते हैं। देखते भी हैं कि सकल प्राणी रात्रि में आनन्द प्राप्त करते हैं यदि स्वप्न और सुषुप्ति मनुष्य की ये दो दशाएँ न होतीं, तो वास्तविक सुख मनुष्यों अथवा प्राणियों को न होता। अत्यन्त परिश्रम के पश्चात् केवल रात्रि ही सुख देने वाली होती है। युद्धादि के कारण अतिशय व्याकुल महायोद्धा अथवा महाराज चाहता है कि यदि थोड़ी सी निद्रा आ जाये तो इस चिन्ता की कुछ न्यूनता अवश्य हो जावेगी। इत्यादि विचारने से प्रतीत होता है कि वास्तव में रात्रि बहुत ही सुखदात्री है। वेदान्ती यहाँ तक वर्णन करते हैं कि सुषुप्त्यवस्था में यह जीव अपने स्वरूप अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करता है। इस शब्द का मुख्यार्थ सुख है, इस हेतु सत्यादि व्रत धारण करने से सुख की प्राप्ति अवश्य होगी। इसको रात्रि शब्द बतलाता है।

अर्णव समुद्र– अर्णस् नाम जल का है। जिसमें जल हो, उसे अर्णव कहते हैं। "सम्मोदन्ते भूतानि यस्मिन् स समुद्रः"[१] यद्वा "समभिंद्रवति इति समुद्रः" जिसमें बहुत से प्राणिगण निवास कर आह्लादित रहें, उसे समुद्र कहते हैं। यद्वा जिसमें सदैव गति हो, उसे समुद्र कहते हैं, इत्यादि समुद्र शब्द के अनेक अर्थ हैं। पार्थिव जलमय राशि का नाम और आकाश का नाम समुद्र है। सुख दो प्रकार के हैं, एक विषयजन्य और दूसरा स्वाभाविक केवल आत्मजन्य। इन दोनों सुखों का उत्पत्ति स्थान अर्णव समुद्र से बतलाते हैं। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि यदि पार्थिव समुद्र से जलीय वाष्प उत्पन्न न होते और उनसे मेघ न बनते और उनसे पृथिवी पर वर्षा न होती, तो किञ्चित् सुख का लेश भी इस पृथिवी पर न होता। वर्षा होने से ही अनन्त प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उनसे प्राणी सुख भोगते हैं। और उद्भिज्जादि प्राणियों की अतिशय वृद्धि और मञ्जुल शोभा अतिशय बढ़ जाती है। अत एव लक्ष्मी नाम सम्पत्ति और शोभा का है। अतः सकल विषयजन्य सुखों का मुख्य कारण समुद्र है, इसमें सन्देह नहीं।

१. तुलना करें– निरुक्त २.११।

जैसे यह पार्थिव समुद्र इस पृथिवी पर इसलिए स्थापित किया गया है कि यह पृथिवी सरस और सुखमय हो, इसी प्रकार जो पुरुष सत्यादि ग्रहण कर स्वयं सुख प्राप्त करते हैं, वे समुद्रवत् दूसरों को भी सुख पहुँचाने में समर्थ होते हैं क्योंकि जो स्वयं सुखी है, वही दूसरों को सुख दे सकता है। धनसम्पन्न पुरुष ही दूसरों को धन दे सकता है। अतः वह पुरुष समुद्रवत् उदार और सुखप्रद होता है, यह अर्णव समुद्र शब्द दिखलाता है। और जैसे समुद्र कहीं बाहर से अपनी पुष्टि के लिए सामग्री नहीं चाहता किन्तु स्वयं इतना परिपूर्ण है कि उसमें कभी न्यूनता नहीं होती, इसी प्रकार वह पुरुष स्वयं आत्मतत्त्व के ज्ञान से इतना सुखपरिपूर्ण होता है कि उसे पुनः बाह्य सुख की अपेक्षा नहीं होती इत्यादि भाव का द्योतक अर्णव समुद्र है।

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।। ऋ॰ १०.१९०.२

(अर्णवात्+समुद्रात्+अधि) सरस समुद्र के पश्चात् (संवत्सरः+अजायत) संवत्सर उत्पन्न होता है। इस प्रकार (अहो+रात्राणि) दिन और रात को (विदधत्) बनाता हुआ (मिषतः) निमेषादियुक्त (विश्वस्य) इस अखिल प्राणिसमूह का (वशी) अपने वश में रखने वाला स्वामी परमात्मा होकर सदैव सर्वत्र विद्यमान है।

व्याख्या– संवत्सरः– यदि एक ही प्रकार की अति उत्तम भी सृष्टि होती, तो भी मनुष्य इतने सुखी न होते। इस हेतु नाना प्रकार की विलक्षण-विलक्षण भेदसहित यह सृष्टि बनाई गई है, जिससे ये प्राणी सुख लाभ करें। इसी अर्थ का द्योतक यह संवत्सर शब्द है। संवत्सर नाम वर्ष का है। वर्ष में नाना ऋतु, विविध मास और विविध परिवर्त्तन होते ही रहते हैं। समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ और औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिससे चेतन जीव अतिशय लाभ उठाते हैं।

अहोरात्र– वह संवत्सर भी किनसे बनता है ? इस पर कहते हैं कि दिन और रात्रि के योग से यह बना करता है। 'अहन्' शब्द का अर्थ यह है कि 'यत् न हन्ति तत् अहः' जो नहीं मारता उसको 'अहन्' कहते हैं। यद्यपि रात्रि में किञ्चित् उपद्रव भी[१] होते हैं। चोर, डाकू की सहायिका रात्रि होती है, तथापि रात्रि अतिशय सुखदात्री है, किन्तु दिवस तो सर्वथैव सुखकर पदार्थ है। अत एव उसे 'अहन्' कहते हैं।

वशी– आगे ईश्वर का वर्णन आता है, जैसे ईश्वर अहोरात्र आदि बनाया करता है, इसी प्रकार जब मनुष्य कुछ कर्म करता रहता है, तब ही वह सुखी और

१. हस्तलेख में 'न' पाठ है।

अपने वश में रह सकता है, इत्यादि आशय इसका है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।। (ऋ॰ १०.१९०.३)

(धाता) सब के धारण-पोषण करने वाला वह परमात्मा (यथा+पूर्वम्) पूर्व-पूर्व कल्प के समान ही (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्र को (अकल्पयत्) बनाया करता है (दिवम्+च+पृथिवीम्+च) द्युलोक, पृथिवीलोक और इन दोनों के मध्य में रहने वाले अन्तरिक्षलोक को बनाता है (अथो) अनन्तर सम्पूर्ण सृष्टि रचकर उसको (स्वः) सुख से युक्त करता है।

व्याख्या— अन्त में वेद भगवान् बतलाते हैं कि सकल सुखों का क्षेत्र एक वही परमात्मा है, जो सबको बनाता है, और बिगाड़ता है। वही अन्त में प्राप्य और गन्तव्य है, दूसरा नहीं। हे मनुष्यो ! उसी की उपासना, पूजा, पाठ करो और सत्यादि ग्रहण कर उसे प्रसन्न रखो। यह अन्तिम शिक्षा है।

इस सूक्त का ऋषि अघमर्षण है और देवता भाववृत्त है। विषय भी इसका अघमर्षण है। अघ= पाप, मर्षण= विनाश। निस्सन्देह इस सूक्त के अनुकूल आचरण करने से सकल पाप का नाश [होगा] और कभी पाप में प्रवृत्ति न होगी क्योंकि इसके अनुसार प्रथम ऋत और सत्य का ग्रहण करना चाहिए और उस ऋत और सत्य की प्राप्ति के लिए कठोर तप का साधन कर और कठोर तप करके संसार में सुख पहुँचावे। इत्यादि। जो ऋत और सत्य तप के द्वारा ग्रहण करेगा, वह कभी पाप में प्रवृत्त न होगा। इसलिए इसका नाम अघमर्षण सूक्त है। भाववृत्त नाम परमात्मा का है। भाव= सदाशय, वृत्त= स्वीकृत= अंगीकृत, परमात्मा सदाशय से गृहीत होता है। इसलिए उसे भाववृत्त कहते हैं। इति संक्षेपतः।

निमित्तत्व-कारणता में शंका-समाधान

अद्वैती— सृष्टिविधायक मन्त्रों अथवा वाक्यों का समन्वय आप पीछे कीजियेगा। प्रथम आपके सिद्धान्त पर भी मुझे बहुत आक्षेप करने हैं। इन सबका समाधान कीजिये। जब प्रकृति और जीव दोनों अनादि हैं और जीव के कर्म भी अनादि हैं, कर्मानुसार ही सब जीव सुख-दुःखमय फल भोगते हैं, यह आपका प्रबल सिद्धान्त है। इस अवस्था में मैं पूछता हूँ कि ईश्वर की निमित्तता का भी कौन सा प्रयोजन ? क्योंकि जीव के कर्म ही जड़ प्रकृति को प्रेरणा करके सृष्टि रचा देंगे। यदि ऐसा भी न करे तो फलोन्मुख होने पर भी कर्म व्यर्थ हो जायेंगे, किन्तु व्यर्थ हो ही नहीं सकते, इस हेतु जब जीवगत कर्म फल देने के लिए तैयार होंगे, तब स्वयं जड़ प्रकृति द्वारा नाना सृष्टियाँ होने लग जायेंगी। इन दोनों के बीच में ईश्वर को कूद पड़ने का प्रयोजन मैं कुछ नहीं देखता। यदि हो भी तो

वह वास्तव में ईश्वर न रहेगा। इसमें वक्ष्यमाण अनेक कारण हैं। और भी—

*कोई सेश्वर सांख्यवादी और योगशास्त्री कल्पना करते हैं कि प्रधान और पुरुष का अधिष्ठाता केवल निमित्तकारण ईश्वर है और वे तीनों परस्पर विलक्षण हैं। और कोई महेश्वर मतानुयायी चार प्रकार के हैं। शैव, पाशुपत, कारुणिक-सिद्धान्ती और कापालिक। ये चारों महेश्वर सिद्धान्तानुयायी होने से माहेश्वर कहलाते हैं। वे मानते हैं कि ईश्वर पशुपति ने पशुपाश के विमोचन के लिए कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त ये पाँच पदार्थ बतलाये हैं। कार्य= महदादि। कारण= ईश्वर। योग= ओंकारादिध्यानधारणादि। विधि= सन्ध्यास्नानादि। दुःखान्त= मोक्ष। पशु= आत्मा। पाश= बन्धन। इत्यादि। ये भी पशुपति ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानते हैं। वैशेषिकादि भी कोई-कोई कदाचित् स्वप्रक्रियानुसार ईश्वर को निमित्तकारण ही कहते हैं और आप भी ब्रह्म को वैसे ही जानते हैं, किन्तु आप लोगों का मत असमञ्जस है।

१. प्रथम असमञ्जस यह है। क्या आप ईश्वर का निमित्तकारणत्व मात्र आगम के बल से कहते हैं अथवा अन्यान्य प्रमाणों से ? आपका सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता क्योंकि उससे उपादानत्व और निमित्तत्व दोनों कारण निश्चित होते हैं। यह पुनः-पुनः कहा है। अतः इसके लिए आपको अन्य प्रमाण अन्वेषणीय होंगे। इस विषय में अनुमान का भी सम्भव नहीं क्योंकि वह प्रत्यक्षानुसार प्रवृत्त होता है। इस कारण असमञ्जस है। असामञ्जस्य यह है कि प्रत्यक्ष में देखते हैं कि जितना उत्तम विज्ञानी शिल्पी होता है, उतना ही उत्तम अपना प्रासादादि कार्य करता है। ईश्वर सबसे महामहोत्तम शिल्पी है, तब उसकी बनाई सृष्टि भी महामहोत्तम होनी चाहिए, किन्तु तद्विपरीत कोई जीव-शरीर अतिशय हीन, नीच, कोई मध्यम और कोई उत्तम शरीर देखते हैं। घोंघे और सरीसृपों की रचना ऐसी बेढंगी है कि वे अपना जीवननिर्वाह उचित रीति से नहीं कर सकते हैं। आरण्य पशुओं में व्याघ्र, और सिंह इतने बलिष्ठ बना दिये हैं कि वे अन्यान्य मृगादिकों को सहजतया मारकर खा जाते हैं। सहस्रशः कीटों को क्षणमात्र में कोई-कोई पक्षी निगल जाते हैं। ईश्वर ने ऐसी विषमा और करुणोत्पादिका सृष्टि क्यों बनाई ? इससे प्रतीत होता है कि उसमें राग, द्वेष विद्यमान है। रागद्वेषी ईश्वर नहीं हो सकता है, अतः आपका मत असमञ्जस है। और दोष के बिना प्रवृति नहीं क्योंकि

* नोट— अद्वैती और त्रैती के जहाँ-जहाँ पूर्वोत्तर पक्ष हैं। वहाँ-वहाँ यह जानना चाहिए कि श्री शंकराचार्य के भाष्य का अनुवाद और वाचस्पतिकृत भामती का आशय लेकर अद्वैती पूर्वपक्ष वा शंका करता है, उसका समाधान त्रैती करता है। यहाँ वेदान्त सूत्र २.२.३७ से लेकर ४१वें सूत्र तक ईश्वरनिमित्तत्व का खण्डन श्रीशंकराचार्य ने किया है।

"प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः" इस न्यायसूत्र के अनुसार दोष उसी को कहते हैं, जो कार्य में प्रवृत्त करावे। इस हेतु ईश्वर दोषी भी ठहरेगा।

त्रैती– इसका समाधान

"वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति" (वेदान्त २.१.३४) तथा **"न कर्माविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात्"** (वेदान्त २.१.३५)

इन दोनों सूत्रों के अनुसार पूर्व कह आये हैं, तब आप पुनः इस पर क्यों आक्षेप करते हैं ? तथापि संक्षेप से उत्तर यह है। ईश्वर तब दोषी होता, यदि वह निरपेक्ष होकर सृष्टि बनाता, किन्तु सापेक्ष ईश्वर [सृष्टि] बनाता है, जैसा जिस जीव का कर्म होता है, वैसा ही शरीर उस जीव का आदि सृष्टि में बनाया। जाति, आयु और भोग से तदनुसार उस शरीर को युक्त किया। अतः ईश्वर दोषी नहीं। उत्तमोत्तम शिल्पी भी कारागार बनाता ही है। राजा, मन्त्री, दास, सेवक और सेना आदि के भवन समान नहीं बनते। योग्यतानुसार राजा का प्रासाद अतिशय उत्तम और दासों का गृह बहुत ही साधारण बनाते हैं।

अद्वैती– आप ने जो यह कहा है कि प्राणियों के कर्मानुसार सृष्टि बनाता हुआ ईश्वर दोषी नहीं, यह कथन ठीक नहीं क्योंकि जब आदि सृष्टि हो, तब शुभा-शुभ कर्म जीव करेंगे और जब कर्म हों, तब तदनुकूल सृष्टि हो, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होगा।

त्रैती– विद्वन् ! इसका उत्तर स्वयं सूत्रकार देते हैं कि यह संसार अनादि है। बीजांकुर न्याय की यहाँ प्रवृत्ति है। बीज से अंकुर होता है और अंकुर से बीज होता है। वैसे ही कर्म से संसार होता है और संसार से कर्म होता है। यह अनादि काल से अनादि प्रवाह चला आ रहा है, इसमें सन्देह करना सर्वथा व्यर्थ है। और भी सुनिए–

प्रत्येक शरीर की रचना में बड़े ही कौशल विज्ञान और आनन्दप्रद विन्यास है। कदाचित् आप मानव शरीर को बहुत उत्तम समझते होंगे किन्तु यह बोध आप का समीचीन नहीं। मयूर, शुक और हरिण आदि के मनोहर शरीर देखिए। मधुकर और तन्तुनाभ के देह में विज्ञानपरिपूर्णता की ओर ध्यान दीजिए। उद्भिज्ज संसार में कैसे-कैसे विलक्षण मनोज कमल, गुलाब, आम्रादि शरीर हैं। आश्चर्य है कि अतिशय क्षुद्र कीट भी बड़े आमोद-प्रमोद के साथ जीवन बिता रहे हैं। कभी-कभी आकाश में नृत्य करते हुये क्षुद्र कीटों को देख कर योगियों का अन्तःकरण भी सुप्रसन्न होता है। अतः इस सृष्टि में न नितान्त सुख ही है और न केवल दुःख ही दुःख भरा है। अति विलक्षणता यह है कि रोगी पुरुष को इस जगत् में चारों ओर रोग ही रोग सूझते हैं। ज्ञानी को सर्वत्र ज्ञान ही सूझता है।

कामी को सर्वत्र काम ही दृष्टिगोचर होता है अर्थात् अपने-अपने अन्तःकरणानुकूल इस सृष्टि को देख रहा है। इस हेतु निमित्तकारणता पर आक्षेप ठीक नहीं।

अब आगम से केवल ईश्वर निमित्तकारण सिद्ध नहीं होता, यह कथन आप का साहसमात्र है। बारम्बार कहा है कि ईश्वर के साथ अनादि स्वधा रहती है। यह **"आनीदवातं स्वधया तदेकम्"** (ऋ॰ १०.१२९.२) इस ऋचा से सिद्ध है, इस ऋचा में आये हुये स्वधा का अर्थ माया करते हैं। उसी का नाम प्रकृति वा परमाणु है। वही माया इस जड़ जगत् का उपादान कारण है। इसको आप भी मानते हैं, तब आप का इतना हठ क्यों ? गीता का भी प्रमाण सुनिये। श्रीकृष्ण क्या कहते हैं–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। गी॰ १३.१९

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को अनादि जानो। देहेन्द्रियादि विकारों की सुख-दुःख मोहादि गुणपरिणामों को प्रकृतिजन्य मानो। यहाँ भी प्रकृति को अनादि कहा है। आप भी इसको मानते हैं, तब ऐसा ही हठ क्यों ? पुन–

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।। गीता॰ ९.८

हे अर्जुन ! अपनी प्रकृति को लेकर प्रलय काल में लीन इन चतुर्विध सम्पूर्ण भूतों को पुनः-पुनः विविध प्रकार से रचता हूँ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्त्तते।। गीता॰ ९.१०

मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति चराचर संसार को रचती है। इस हेतु से, हे कौन्तेय ! यह जगत् पुनः-पुनः हुआ करता है। इन प्रमाणों से ईश्वर की निमित्त-कारणता की सिद्धि हो जाने पर आप कदाचित् आगे न बोलेंगे और न ईश्वर में कोई दोष ही देंगे और न उभयकारणता पर बल देंगे। इति।

अद्वैती– द्वितीय, सम्बन्ध की अनुपपत्ति से भी आप का मत असमञ्जस है। आप कहते हैं कि प्रकृति, पुरुष और ईश्वर ये तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। तब[1] ईशितव्य और ईशितृत्व भाव यद्वा शास्य-शासक भाव, यद्वा प्रवर्त्य-प्रवर्त्ययितृत्व भाव कैसे होगा ? इन तीनों में संयोगसम्बन्ध [नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर और प्रकृति] दोनों सर्वगत और निरवयव हैं। समवायसम्बन्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि आश्रय्याश्रय भाव का निरूपण आप नहीं करते क्योंकि आप इन तीनों को

१. हस्तलेख में इसके पश्चात् 'जब तक' पाठ अधिक है। सम्भवतः प्रतिलिपिकार ने कुछ संदर्भ छोड़ दिया।

गुण-गुणी के समान न मान कर तीनों को पृथक्-पृथक् मानते हैं। इन दो सम्बन्धों के अतिरिक्त किसी तृतीय कार्यगम्य सम्बन्ध की कल्पना भी ठीक नहीं। क्योंकि अद्यावधि कार्य-कारण भाव की सिद्धि नहीं हुई, इस हेतु आप के मत में यह असामञ्जस्य है।

तृतीय, अधिष्ठान की अनुपपत्ति से भी आप का मत असमञ्जस है क्योंकि जैसे कुम्भकार मृत्तिकादि पदार्थों को लेकर कार्य करता है, वैसा ही जीव और प्रकृति को लेकर ईश्वर सृष्टि रचेगा, यह आप का सिद्धान्त है किन्तु आपका दृष्टान्त विषम है। प्रधान (प्रकृति) अप्रत्यक्ष और रूपादिविहीन है। वह ईश्वर का अधिष्ठेय कैसे हो सकता है ?

यदि कहें कि जैसे यह जीवात्मा अप्रत्यक्ष रूपादिहीन चक्षुरादि इन्द्रियों का अधिष्ठाता बन इनको काम में लाता है, तद्वत् जीवात्मा और प्रधान का अधिष्ठाता परमात्मा होगा। तो यह कथन आप का सुसंगत नहीं, क्योंकि इन्द्रिय-समूहों का अधिष्ठाता जीवात्मा इसलिये होता है कि यह इनके द्वारा भोग भोगता है। किन्तु ईश्वर निष्काम सदा तृप्त है, इसलिए उसको भोग की आवश्यकता नहीं। इसलिए आप का मत असमञ्जस है। यद्वा साधिष्ठान और सशरीर राजादि इस लोक में राष्ट्र का ईश्वर देखा जाता है, अधिष्ठानरहित और शरीर-हीन राजा नहीं। इस दृष्टान्तानुसार ईश्वर की भी कोई अदृष्ट कल्पना होगी और किञ्चित् शरीर भी धारण करना पड़ेगा। परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि सृष्टि के पश्चात् शरीर की धारणा हो सकती है, सृष्टि के पूर्व नहीं। और अधिष्ठान के न रहने से भी ईश्वर की प्रवृत्ति न होगी। यदि किसी प्रकार सशरीरी ईश्वर को मान लें, तो जैसे सशरीरी जीवात्मा को किसी न किसी प्रकार के शरीर की पुष्टि के लिए भोग की आवश्यकता है, तद्वत् परमात्मा भी किसी भोग की आकांक्षा करेगा। तब संसारी जीव और परमात्मा में भेद ही क्या ? अतः आप का यह मत असंगत है।

त्रैती— द्वितीय प्रश्न का उत्तर सुनिए। आप कहते हैं कि इन तीनों में कोई सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं। यह आप का कहना श्रुति और स्मृति इन दोनों से विरुद्ध है, क्योंकि श्रुतियाँ ईश्वर की सब में स्थिति क्यों बतलाती हैं ? ईश्वर की सब में स्थिति का वर्णन करने वाले बहुत से वाक्य हैं। वे ये हैं—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। (बृ॰ उप॰ ३.७.३)

जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी के अन्तर अतिशय समीप अथवा अभ्यन्तर है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो अभ्यन्तर होकर पृथिवी को अपने कार्य में नियुक्त करता है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और

अमृत है, इसी प्रकार—

योऽप्सु तिष्ठन्।।४।। योऽग्नौ तिष्ठन्।।५।। योऽन्तीरक्षे तिष्ठन्।।६।। यो वायौ तिष्ठन्।।७।।यो दिवि तिष्ठन्।।८।। य आदित्ये तिष्ठन्।।९।। यो दिक्षु तिष्ठन्।।१०।। यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्।।११।। य आकाशे तिष्ठन्।।१२।। यस्तमसि तिष्ठन्।।१३।। यस्तेजसि तिष्ठन्।।१४।। यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्।।१५।। यः प्राणे तिष्ठन्।।१६।। यो वाचि तिष्ठन्।।१७।। यश्चक्षुषि तिष्ठन्।।१८।। यः श्रोत्रे तिष्ठन्।।१९।। यो मनसि तिष्ठन्।।२०।। यस्त्वचि तिष्ठन्।।२१।। यो विज्ञाने तिष्ठन्।।२२।। यो रेतसि तिष्ठन्।।२३।। (बृ॰ उप॰ ३.७.४–२३) इत्यादि।

जो जल में, अग्नि में, अन्तरिक्ष में, वायु में, द्युलोक में, आदित्य में, दिशाओं में, चन्द्रमा= तारों में, आकाश में, तम में, तेज में, सर्वभूतों में, प्राण में, वाणी में, नेत्र में, कर्ण में, मन में, त्वचा में, विज्ञान में, और रेत में इत्यादि सब पदार्थों में स्थित है, इत्यादि।

मैं पूछता हूँ कि इन वस्तुओं में किस सम्बन्ध से परमात्मा स्थित है। आकाश भी तो सर्वगत और निरवयव पदार्थ है, उसमें परमात्मा की स्थिति कैसे कही गई है ? इस हेतु प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध बिना परमात्मा अधिष्ठाता नहीं हो सकता। यह आपका कथन बिलकुल असंगत है, और भी जब **"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।"** (गीता॰ ९.१०) इस गीता के वचन से प्रकृति के ऊपर ईश्वर की अध्यक्षता वर्णित है, तब आप अधिष्ठातृत्व की असम्भावना कैसे बतलाते हैं। अधिष्ठातृत्व और अध्यक्षता दोनों एकार्थक हैं। पुनः—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

(कठ॰ उप॰ ५.९,१०)

जैसे एक अग्नि सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हो प्रत्येक रूप का प्रतिरूपक हो रहा है, वैसे ही सर्वभूतान्तरात्मा परमात्मा सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट और प्रत्येक रूप का प्रतिरूपक हो बाहर, भीतर विद्यमान हो रहा है। जैसे एक वायु भुवन में प्रविष्ट होकर रूप-रूप का प्रतिरूपक है, वैसे ही सर्वभूतान्तरात्मा परमात्मा भुवन में प्रविष्ट हो प्रत्येक रूप का प्रतिरूपक हो बाहर, भीतर विद्यमान है।

यहाँ भी किस सम्बन्ध से सम्पूर्ण भुवनों में भगवान् का प्रवेश और सब भूतों का अन्तरात्मत्व कहा गया है ? यदि सब भूतों के अभ्यन्तर वह स्थित नहीं, तो वह अन्तरात्मा और अन्तर्यामी इत्यादि शब्दों से कैसे पुकारा जाता है ? गीता भी इसी को कहती है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति सः पश्यति।। गी॰ १३.२८

जो कोई परमेश्वर को सब भूतों में सम भाव से स्थित देखता है और विनश्वरों में अविनश्वर जानता है, वही ज्ञानी है।

अद्वैती— आप श्रुतियों और स्मृतियों के प्रमाण से सब पदार्थों में भगवान् की स्थिति का निर्देश करते हैं। यह मैं भी मानता हूँ किन्तु तर्क द्वारा जीव, प्रधान और ईश्वर में कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। न संयोग, न समवाय और न योग्यता लक्षण सम्बन्ध। यह मेरा कथन है, संयोग सम्बन्ध इसलिए नहीं कि सावयव और असर्वगत वस्तुओं का संयोग हुआ करता है क्योंकि अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति का नाम संयोग है। जैसे वृक्ष के ऊपर पक्षी आकर बैठता है, तो इन दोनों का संयोग होता है किन्तु वे सर्वगत हैं, वे परस्पर संयुक्त क्या होंगे ? यदि वे तीनों असर्वगत होते तो कभी इनका संयोग होता। इन तीनों में समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि अयुतसिद्ध आधाराधेयभूत वस्तुओं का जो नित्य सम्बन्ध उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं। जैसे द्रव्य में गुण का सम्बन्ध है। यहाँ गुण कभी गुणी से पृथक् नहीं हो सकता, क्रियावान् से कभी क्रिया अलग नहीं हो सकती है और गुणी और क्रियावान् आधार हैं। इन दोनों में गुण और क्रिया रहते हैं, इस हेतु ये [गुण और क्रिया] आधेय हैं। इस प्रकार प्रधान, पुरुष और ईश्वर में आधाराधेयभाव अब तक सिद्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त कार्यगम्य भी किसी सम्बन्ध[1] की कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि कार्यकारणभाव भी अद्यावधि असिद्ध है। आप दृष्टान्तबल से कारणादि स्वरूप का निरूपण करते हैं। इस हेतु दृष्टानुसार आपका उत्तर होना चाहिए। मेरे मत में दृष्ट का आदर नहीं। आगम जैसा कहता है, वैसा ही मेरा मन्तव्य है।

त्रैती— प्रधान, पुरुष और ईश्वर में संयोग का जो अभाव आप बतलाते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि इन तीनों में अनादि, अनन्त और नित्य संयोग सम्बन्ध है। यह तो ठीक है कि परिच्छिन्न वस्तुओं का संयोग अप्राप्तिपूर्वक होता है। काशी का संयोग मेरा तब होगा, जब मैं वहाँ जाऊँगा किन्तु मेरे सूक्ष्म कथन पर आप ध्यान दीजिये। अग्नि के साथ जो सब वस्तुओं का सम्बन्ध है, क्या वह अप्राप्तिपूर्वक

१. हस्तलेख में 'संयोग' पाठ है।

है ? क्या अग्नि कहीं दूसरी जगह से आकर इन पदार्थों के साथ संयोग करता है और जब चाहता है तब इन से पृथक् होकर कहीं दूसरी जगह भी चला जाता है ? कदापि नहीं। लोक में ऐसा नहीं देखा जाता। तब आप बतलायें कि अग्नि और अन्यान्य पदार्थों में कैसे संयोग सम्बन्ध है, तद्वत् परमात्मा और प्रधान, पुरुष का सम्बन्ध है। यह लौकिक दृष्टान्त से ही सिद्ध है। यद्वा वायु का सम्बन्ध सब पदार्थों के साथ है, यह प्रत्यक्षतया देखते हैं। और यह संयोगसम्बन्ध है, इसमें भी सन्देह नहीं और यह अप्राप्तिपूर्वक ही है, प्राप्तिपूर्वक नहीं है क्योंकि वायु सर्वत्र प्रतिक्षण भरा हुआ है। दूसरी जगह से आकर यह किसी के साथ सम्बन्ध नहीं करता किन्तु अनादि काल से पदार्थों के साथ वायु का सम्बन्ध सिद्ध है। तद्वत् प्रधान, पुरुष और ईश्वर में अनादि काल से संयोग सम्बन्ध चला आता है, यह तर्क से विरुद्ध नहीं। यद्वा आकाश और इतर पदार्थ व्यापक हैं। तब इन दोनों में संयोग सम्बन्ध कैसे ? तद्वत् प्रधान, पुरुष और ईश्वर का संयोग सम्बन्ध है, वह अनादि और अनन्त है। यदि कहें कि इन प्रधान और पुरुष से परमात्मा कभी पृथक् नहीं हो सकता, तो गुण-गुणिवत् तथा क्रिया-क्रियावद्वत् समवाय सम्बन्ध ही सिद्ध होगा, संयोग नहीं, क्योंकि जैसे गुणी से पृथक् कभी गुण नहीं देखा जाता, तद्वत् ईश्वर से पृथक् प्रधान और पुरुष कदापि देखे नहीं जायेंगे। तब इन तीनों का समवाय अथवा तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही युक्तियुक्त है, संयोग सम्बन्ध नहीं। यदि तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, तो ईश्वरातिरिक्त अन्य वस्तु ही की असिद्धि है। इस प्रकार मेरे मत की पुष्टि होती है, न कि आप[के मत] की।

त्रैती— यह भी कथन ठीक नहीं, प्रथम— मैं जीवों को सर्वगत नहीं मानता। जीव अत्यन्त अणु, अनन्त, अनादि और परिच्छिन्न हैं [द्वितीय—] यद्यपि प्रकृति सर्वव्यापक है, तथापि यह एक वस्तु है। इस हेतु यह निराकार नहीं, साकार है। निरवयव नहीं, सावयव है। हाँ, यद्यपि हम लोग इन इन्द्रियों से उस प्रकृति को नहीं देख सकते किन्तु यन्त्र द्वारा प्रकृति देखी जाती है और वह कार्य में लगाई जाती है। परमाणु को इस दृष्टि से नहीं देखते किन्तु परमाणु के भाररूप गन्ध इत्यादिकों का निर्णय यन्त्र द्वारा होता है। वस्तु उसी को कहते हैं, जो किसी न किसी रूप में स्थित हो, वह अपनी पृथक् सत्ता रखती हो। यदि वह पृथक् सत्ता नहीं रखती, तो वह वस्तु नहीं कहलाती, किन्तु उसको संस्कृत शब्द में गुण अथवा शक्ति कहते हैं। पृथिवी, अप, तेज, वायु ये सब एक-एक वस्तु हैं। और गन्ध, रस, शब्द और रूपादि गुण हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःखादिक गुण हैं और आत्मा एक वस्तु है, जिसमें सुखादिक रहते हैं। इसी प्रकार प्रकृति, पुरुष और ईश्वर ये तीनों पृथक्-पृथक् विलक्षण वस्तुएँ हैं। अनादि काल से इन

तीनों का संयोग सम्बन्ध चला आता है। इति संक्षेपतः।

तृतीय– अधिष्ठान की जो आप ने अनुपपत्ति बतलायी है। यह भी ठीक नहीं क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक आप के कथनानुसार ही सम है, क्योंकि कुम्भकार और मृत्तिका दोनों साकार हैं, इस हेतु इन में अधिष्ठेयाधिष्ठातृत्व सम्बन्ध जैसे है, तद्वत् निराकार प्रधान पुरुष और ईश्वर में भी होगा। साक़ार वस्तु का साकार के साथ और निराकार वस्तु का निराकार के साथ सम्बन्ध होने से दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक की ही तुल्यता है। और प्रधान और पुरुष को मैं रूपादिक से हीन भी नहीं मानता, इनमें रूपादिक हैं किन्तु अनुद्भूत होने के कारण हम लोग देखते नहीं। जब श्रुति, स्मृति द्वारा आत्मा का परलोकादि गमन और शरीर में प्रवेश निकलना आदि सिद्ध है, तब हम कैसे कहें कि आत्मा रूपादिकविहीन है ? इसी प्रकार प्रधान भी रूपादिहीन नहीं। यदि प्रधान रूपादिहीन होता, तो उससे रूपादिमान् सावयव यह जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता ? क्योंकि सावयव मृत्तिका से सावयव घट की उत्पत्ति देखते हैं, इस हेतु मेरे सिद्धान्तानुसार सावयव प्रकृति और पुरुष का अधिष्ठाता परमात्मा अनादि काल से सिद्ध है।

अद्वैती– चतुर्थ और पञ्चम– अन्तवत्त्व और सर्वज्ञत्व दोष आप के पक्ष में होंगे क्योंकि परमात्मा को आप सर्वज्ञ और अनन्त समझते हैं। प्रधान भी अनन्त है और पुरुष भी अनन्त है, यह आप का अभ्युगम है। यहाँ यह वक्तव्य है कि प्रधान, जीवात्मा और अपना इन तीनों की इयत्ता का बोध सर्वज्ञ परमात्मा को है वा नहीं ? दोनों तरह से दोष रहता ही है। यदि इन तीनों की इयत्ता का परिच्छेद सर्वज्ञ ईश्वर करता है तो ये तीनों अन्तवान् और विनश्वर सिद्ध होंगे क्योंकि जो-जो लोक में इयत्ता-परिच्छिन्न वस्तु घट-पटादिक हैं, वह अन्तवान् देखा जाता है। तद्वत् प्रधान, पुरुष और ईश्वर त्रित्व रूप से संख्यापरिमाण-परिच्छिन्न है। इसका स्वरूपपरिमाण भी ईश्वर से परिच्छिन्न होता है और पुरुषगत महासांख्य भी ईश्वर से परिच्छिन्न होता है। तब इयत्तापरिच्छिन्न जीवात्मा में से जो संसार से मुक्त होंगे, उनका संसार अन्तवान् और जीवों का सांसारित्व भी अन्तवान् होगा। एवं इतर जीवों को भी क्रमपूर्वक मुक्त होने से उनका संसार और संसारी जीवात्माओं का अन्तवत्त्व होगा। और प्रधान सविकार पुरुषार्थ पुरुष के लिये है और वही संसारित्व से ईश्वर का अधिष्ठेय आप का अभिमत है। तब इस प्रकार शून्यता प्राप्त होने से किस वस्तु का अधिष्ठाता वह रहेगा और किस विषय में उसकी सर्वज्ञता और ईश्वरता रहेगी ? प्रधान, पुरुष और ईश्वर के इस प्रकार अन्तवत्त्व सिद्ध होने से आदिमत्त्व का प्रसंग होगा और आद्यन्तवत्त्व होने पर शून्यवाद का प्रसंग होगा।

यह दोष प्राप्त न हो, इस लिये यदि उत्तर विकल्प का अंगीकार आप करें अर्थात् प्रधान पुरुष और अपना इन तीनों की इयत्ता का परिच्छेद परमात्मा नहीं करता है, तब ईश्वर की सर्वज्ञता के अभ्युपगम की हानिरूप दूसरा दोष प्राप्त होगा। इस हेतु आप का मत असंगत है।

भाव इसका यह है कि यदि सर्वत्र अनुमान प्रमाण को ही आप श्रेष्ठता देते जायेंगे, तो ईश्वर सर्वज्ञ है, इस विषय को मानते हुये आप का सिद्धान्त स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि प्रधान का [परिमाण] और सकल जीवों की कितनी संख्या है अर्थात् गणना में ये कितने हैं, इसको जानता है या नहीं। यदि सबकी संख्या ईश्वर जानता है तो जीव और प्रधान अनन्त न रहे क्योंकि इनके अन्त का पता ईश्वर को [है, यदि] नहीं है, तो वह ईश्वर सर्वज्ञ नहीं कहलायेगा एक है तो 'एकत्वेन' प्रधान का बोध ईश्वर को है ही। जीव यद्यपि अनन्त हैं, तथापि ईश्वर को इनका अन्त मालूम ही है। इस हेतु वे दोनों अन्तवान् सिद्ध हुये और प्रधान के परिमाण का भी बोध ईश्वर को है ही क्योंकि वह सर्वज्ञ है। इस लिए प्रधान का अन्तवत्त्व ही सिद्ध होता है। अब रह गया स्वयं ईश्वर। वह अपना अन्त और परिमाण जानता है या नहीं ? यदि जानता है तो वह [अनन्त नहीं, यदि नहीं जानता, तो] ईश्वर सर्वज्ञ नहीं। इस प्रकार आप का मत सर्वथा असंगत है, इसका क्या उत्तर रखते हैं।

त्रैती– विद्वन् ! यह सब आप का कथन वितण्डा मात्र है। वास्तव में यह तात्त्विक नहीं। लोक और परमात्मा में सर्वथैव भेद है। दृष्टान्त भी हम लोकानुसार देते हैं। हमारी बुद्धि परिमित है तथापि तर्क द्वारा हम बहुत विषयों का निर्णय करते हैं। देखिए ! आकाश के, दिशाओं के और काल के अन्तवत्त्व का ज्ञान क्या हम जीवों को कदापि हो सकता है ? कदापि नहीं। यह आकाश, दिशा और काल कहाँ तक है ? और कब से है ? इस बात का बोध कदापि जीव को नहीं हो सकता क्योंकि जीव अल्पज्ञ है किन्तु जीववत् ही ईश्वर है ऐसा कोई नहीं मानता। सर्वज्ञ और अनन्त ईश्वर को इन वस्तुओं की अन्तवत्ता का बोध अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं। जो वस्तु हमारी समझ में न हो [वह नहीं,] यह कहना उचित नहीं।

अनन्त ईश्वर के बोध में यदि इन पदार्थों का अन्तवत्त्व विद्यमान है, तो भी अनन्तत्वेन इनकी अनन्तता ही रहती है। मेरा भाव इस प्रकार से आप समझें कि ईश्वर अनन्त है। इसके गुण, कर्म भी अनन्त हैं। इसका ज्ञान भी अनन्त है, तब अनन्त ज्ञान में किन्हीं अनन्त वस्तुओं का ज्ञान भी अनन्त ही होगा। अतः इन प्रकृति और पुरुषों की अन्तवत्ता नहीं और ईश्वर अपनी इयत्ता का परिच्छेद

करता है या नहीं करता है ? यह बोध जीव को कदापि नहीं हो सकता। जीव अपनी बुद्धि की सीमा तक ही अनुमान कर सकता है। सीमा के बाहर इसकी बुद्धि कदापि नहीं जा सकती है। क्या आकाशादिक के अन्तवत्त्व का [ज्ञान] किसी प्रकार जीवात्मा कर सकता है ? नहीं। अतः किसी वस्तु में लौकिक दृष्टान्त हम दे सकते हैं, और किसी वस्तु में नहीं। अब इसको ध्यान में रखते हुये विचार कीजिये कि केवल इयत्तापरिच्छेद कारण से ही किसी वस्तु का अन्त नहीं हो सकता। अन्त नाम विनाश का है। हम जीव जानते हैं कि एक परमाणु कोई वस्तु है तो भी हमारे जानने से उस परमाणु का अन्त नहीं होता। अब तक एक स्थिति में विद्यमान हैं, तो भविष्यत् काल में यह ज्यों के त्यों न रहेंगे, इसको कौन कह सकता है ? और भी जब हम या आप किसी वस्तु का अभाव हो जाना नहीं मानते, केवल दशा का परिवर्त्तन मानते हैं। तब अन्तवत्ता का अर्थ ही क्या? घट का विध्वंस होता है, इसका आशय क्या ? निस्सन्देह जिस आकार में घट इस समय वर्त्तमान है, उस आकार में अब नहीं रहा, किन्तु अपने कारण मृत्तिका में मिल कर अव्यक्त हो गया। तथापि जितने परमाणुओं से वह घट बना हुआ था, उनमें से एक परमाणु का भी अभाव न होगा। उतने परमाणु सदैव स्थित रहेंगे। तब वस्तुओं की अन्तवत्ता का अर्थ ही कुछ नहीं। इस प्रकार प्रकृति के रूपों का परिवर्त्तन वा परिणाम होता है, वास्तविक स्वरूप का नहीं। अर्थात् कार्यरूप प्रकृति अनित्य है और कारणरूप नित्य है। इसलिए प्रकृति को परिणामिनी कहते हैं। बीजवत् इसमें अनेक परिणाम होते रहते हैं, किन्तु जीवात्मा और ईश्वर तद्विपरीत अपरिणामी हैं। जीव की इयत्ता का परिच्छेद करता भी है, तो भी वह अविनश्वर ही बना रहेगा और अपनी इयत्ता का परिच्छेद करने से भी वह ईश्वर ही रहेगा। उसकी सर्वज्ञता और ईश्वरता में कोई हानि कदापि न होगी। इसलिए मेरा मत अनुमान से भी असंगत नहीं और श्रुतियों, स्मृतियों के द्वारा तो सिद्ध ही है।

निमित्तकारणत्व पर वेदान्तियों के जो दो-चार प्रबल पक्ष थे— प्रथम— वैषम्य-नैर्घृण्यदोष। द्वितीय—सम्बन्धानुपपत्ति। तृतीय— अधिष्ठानानुपपत्ति। चतुर्थ— अन्तवत्त्व और पञ्चम— असर्वज्ञत्व। इनका यथासम्भव समाधान किया गया है। इस कारणता पर बहुत विद्वानों के बहुत दिनों से बहुत से आक्षेप चले आते हैं, उनमें निरीश्वर सांख्य-शास्त्र का प्रबल आक्षेप है। यद्यपि जगत्कर्त्ता ब्रह्म का अभाव वह नहीं मानता, किन्तु सृष्टि का रचने वाला चेतन ब्रह्म नहीं हो सकता। यह इनका आशय है कि जब प्रधान और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि हो सकती है और स्वभाव से ही पालन और प्रलय भी हो सकते हैं, तब नित्य तृप्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप परमात्मा को सृष्टि बनाने के लिए कष्ट देना निष्प्रयोजन है

और जब स्व-स्व कर्मानुसार जीव फल भोगते हैं, यह निश्चित सिद्धान्त है, तब स्वयं ही जीव प्रारब्ध कर्मानुसार शुभाशुभ कर्म करते हुए मुक्त अथवा बद्ध होते रहेंगे। इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता क्या ? अचेतन प्रकृति की स्वयं प्रवृत्ति और निवृत्ति में अनेकानेक दृष्टान्त देकर अपने मत को सुपुष्ट और दृढ़ करते हैं। इस हेतु इसकी समीक्षा करनी आवश्यक प्रतीत होती है। सर्वथैव ईश्वर नहीं है यदि इस सिद्धान्त का प्रतिपादक सांख्य-शास्त्र होता तो यह नास्तिक कहलाता, आर्य-शास्त्र के षड्दर्शनों में इसकी गणना न होती। इस हेतु यह केवल निमित्तकारण का निराकरण करता है। इतने के लिए यह समीक्ष्य और आलोच्य है।

निरीश्वर सांख्य-सिद्धान्त और उसका निरास

जिस शास्त्र में प्रकृति और उसके कार्य महदादि और पुरुष इन सबका विस्तार से वर्णन हो, उसको सांख्य-शास्त्र कहते हैं। इस शास्त्र को मानने वाले और पढ़ने वाले को भी सांख्य कहते हैं। इसमें पच्चीस तत्त्वरूप संख्या का वर्णन होने से इसका नाम सांख्य हुआ। संख्या से जिसका सम्बन्ध हो वह सांख्य। अथवा सम्यक् ज्ञान का नाम संख्या है। सम् उपसर्ग पूर्वक 'ख्या' धातु से संख्या शब्द बनता है। ख्याति और ख्या ये दोनों एकार्थक हैं। ख्याति नाम विवेक का है, जिसमें [सम्यक्] ख्याति का प्रदर्शन हो, उसे सांख्य कहते हैं। सांख्य-मत मुझे सर्वथा अंगीकृत है, किन्तु इसकी दो शाखाएँ हैं— प्रथम— सेश्वरी और द्वितीय— निरीश्वरी। जो निरीश्वर सांख्य है अर्थात् परमात्मा को प्रकृति और पुरुष का अधिष्ठाता नहीं मानता, जिसमें सर्वज्ञ ईश्वर के अधिष्ठातृत्व के बिना ही जड़ प्रकृति की प्रवृत्ति और निवृत्ति मानी गई है, [उसके] उतने अंश के खण्डन का यहाँ प्रयत्न किया जायेगा। यदि यहाँ प्रश्न करें कि आप अपना सिद्धान्त अनेक युक्तियों से सिद्ध करें और इसी को लिखकर प्रकाशित करें। दूसरों के अभ्युपगम का खण्डन क्यों करते हैं ? वेदों के ऊपर भी सहस्रशः आक्षेप विद्यमान हैं। उनका ही समाधान करना उचित है। इत्यादि शंकाओं का समाधान यह है कि वेदार्थ में लोगों की जब से भ्रान्ति होने लगी तब से वेदों के ऊपर आक्षेप भी होने लगे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि विलक्षण और विचित्र है। कोई मायावाद को ही प्रधान समझ वेदार्थ को दूषित करते हैं। अत एव अति संक्षेप रूप से मायावाद का निराकरण प्रथम किया गया है क्योंकि इस सिद्धान्त के प्रचार से जगत् में केवल हानियाँ हैं, लाभ कुछ नहीं। मैं ब्रह्म हूँ, मेरा जीवात्मा ब्रह्म है इत्यादि धारणा और बोध कितना भयंकर है, यह आप लोग स्वयं विचार सकते हैं। इसके अतिरिक्त सूर्य से लेकर अतिक्षुद्र कीट पर्यन्त सब ब्रह्म ही है,

यह विचार केवल नास्तिकता उत्पन्न करता है। नास्तिक और अद्वैत सिद्धान्त में कुछ भी भेद नहीं। ईश्वर सेव्य, पूज्य और स्तुत्य है और हम जीव उसके सेवक, पूजक और स्तावक हैं। ईश्वर सर्वज्ञ, आनन्दघन, एकरस और सर्वशक्तिमान् है। हम जीव अल्पज्ञ, सुख-दुःख-मिश्रित, विरस और अल्पशक्तिमान् हैं। हम जीव उस ईश्वर की उपासना कर कल्याणभागी बनें, यही वैदिक सिद्धान्त है। जब ईश्वर और अपने में अभेद समझ लेंगे, तब किस की पूजा कौन करे। इस हेतु संक्षेप से इस विवर्त (अद्वैतवाद) का खण्डन किया गया है। और स्थान-स्थान पर इसका खण्डन रहेगा। अद्वैतवाद के खण्डन के पश्चात् द्वैतवाद का खण्डन भी आवश्यक है क्योंकि ईश्वररहित जितने शास्त्र और काव्यादिक हैं, कुछ भी हों, निरादरणीय हैं। अतः द्वैत-सिद्धान्त को भी एक प्रकार से हानिकर समझ, इसके निराकरण में मेरी प्रवृत्ति है। यहाँ वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्वकौमुदी के आशय के अनुसार कुछ कारिकाओं द्वारा सांख्य-सिद्धान्त लिखा जाता है।

अवतरणिका— अनुभूयमान पृथिव्यादिकों में अनुभवसिद्ध अविवेकित्वादि धर्म हैं। किन्तु जो सत्त्वादिक अनुभव पथ में नहीं आते, उनके अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेनत्व और प्रसवधर्मित्व की सिद्धि कैसे ? इस पर आगे कारिका कही जाती है—

प्रथम— अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययेऽभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्।।सां०का०१४।।

(अविवेक्यादेः) अविवेकित्वादि की (सिद्धिः) सिद्धि होती है। कैसे ? (त्रैगुण्यात्) त्रैगुण्य से (तद्विपर्यये) उसके विपर्यय= विपरीत से (अभावात्) अभाव से (कार्यस्य) कार्य के (कारणगुणात्मकत्वात्) कारणगुणात्मक होने से (अव्यक्तमपि+सिद्धम्) अव्यक्त भी सिद्ध होता है।

आशय इसका यह है कि व्यक्ताव्यक्त सब में ही सुख-दुःख-मोहरूप त्रैगुण्य विद्यमान है। उससे अविवेकित्वादि जाना जाता है। कैसे ? जिस पुरुष में अविवेकित्वादि नहीं, उसमें त्रैगुण्य भी नहीं। कार्य का गुण कारण के गुण से उत्पन्न होता है, यह नियम है। अत एव सुख-दुःख-मोहात्मक प्रधान की सृष्टि होती है। सुखादिधर्मयुक्त मूल कारण अव्यक्त यदि न हो, तो कार्यवर्ग में सुखादि कहाँ से आवे।

अविवेकित्वादि की सिद्धि कैसे होती है ? इसमें प्रथम हेतु त्रैगुण्य को कहते हैं। जो-जो सुख-दुःख-मोहात्मक विद्यमान है, वह-वह अविवेकित्वादि धर्म से युक्त है। जैसे यह अनुभूयमान जगत् त्रिगुणात्मक है, अत एव सुख-दुःख-मोह से युक्त है। द्वितीय हेतु तद्विपयर्य में अभाव देते हैं अर्थात् जिस पुरुष में त्रैगुण्य का

अभाव है, उसमें अविवेकित्वादि धर्म भी नहीं।

शंका— अव्यक्त सिद्ध होने पर उसके अविवेकित्वादि धर्म सिद्ध होंगे। अद्यावधि अव्यक्त की ही सिद्धि नहीं हुई, तब अविवेकित्वादि की सिद्धि कैसे ? इस पर कार्य को कारणगुणात्मकत्व होने का हेतु देते हैं और इसी से अव्यक्त की सिद्धि होती है। इसका भाव यह है कि कारणगुणात्मक कार्य देखा जाता है, जैसे तन्त्वादिगुणात्मक पटादिक है। वैसे ही सुख-दुःख-मोहरूप महदादि कार्य स्वकारणगत सुख-दुःख-मोहात्मक होना चाहिए। तथा[1] तत्कारण सुख-दुःख-मोहात्मक प्रधान अव्यक्त सिद्ध होता है।

अवतरणिका— कणाद और गौतम के पुत्रगण कहते हैं कि व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है, क्योंकि परमाणु व्यक्त हैं, उनसे द्व्यणुकादि[2] क्रमपूर्वक पृथिव्यादि कार्य व्यक्त आरब्ध होता है, और पृथिव्यादिकों में कारणगुण क्रम से रूपादि की उत्पत्ति होती है। इस हेतु व्यक्त और उसके गुण की उत्पत्ति व्यक्त से ही होती है, यह मानना उचित है। अदृष्टचर अव्यक्त से क्या ? इस पर आगे की कारिका कहते हैं—

द्वितीय— भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य।।सां०का०१५।।

(भेदानाम्) भेद जो महदादि से लेकर भूमि पर्यन्त कार्य हैं, उनका कारण= मूलकारण अव्यक्त है। कैसे ? (कारणकार्यविभागात्) कारण से कार्य का विभाग होने से और (वैश्वरूप्यस्य+अविभागात्) निखिल रूप वाले कार्य के अविभाग से अव्यक्त की सिद्धि होती है। भाव इसका यह है कि कारण विद्यमान में कार्य रहता है, यह नियम है। तब इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे कूर्मशरीर में विद्यमान ही अंग निःसृत होने पर विभक्त होते हैं। यह कूर्मशरीर है, ये इसके अंग हैं, एवं पुनः उस शरीर में प्रविष्ट होने से वे अव्यक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार कारण मृत्तिका-पिण्ड से यद्वा हेम-पिण्ड से कार्य घट, कुण्डल, मुकुटादि विद्यमान ही आविर्भूत होने पर विभक्त होते हैं, अर्थात् मृत्तिका-पिण्ड से घट पृथक् हो जाता है। पृथिव्यादि अपने कारण तन्मात्र में विद्यमान ही हैं। इस कारण से जब आविर्भूत होते हैं, तब वे विभक्त कहलाते हैं। तन्मात्र अपने कारण, अहंकार में विद्यमान ही हैं। अहंकार अपने कारण, महत्तत्त्व में विद्यमान ही है। जब अपने कारण परम अव्यक्त से महत्तत्त्व निःसृत होता है, तब वह विभक्त कहलाता है। इस प्रकार परम अव्यक्त कारण से साक्षात् और परम्परया अन्वित इस सम्पूर्ण कार्य का

१. तथा= इस प्रकार। २. हस्तलेख में 'द्व्यगुणादिक' पाठ है।

विभाग है।

प्रलय में जैसे मृत्पिण्ड वा हेमपिण्ड में घट, कुण्डल, मुकुटादि प्रविष्ट हो अव्यक्त हो जाते हैं, क्योंकि कारणरूप ही से कार्य अनभिव्यक्त कार्य की अपेक्षा से अव्यक्त होता है, अर्थात् कार्य की अपेक्षा से कारण अव्यक्त, कारण की अपेक्षा से कार्य व्यक्त। कारण ही कार्यरूप में व्यक्त होता है, कार्य कारण रूप में अव्यक्त होता है। इसी प्रकार पृथिव्यादिक तन्मात्र में प्रविष्ट हो अपनी अपेक्षा से तन्मात्र को अव्यक्त करते हैं। एवं तन्मात्र अहंकार में प्रविष्ट हो अहंकार को अव्यक्त करते हैं। एवं अहंकार महत्तत्त्व में प्रविष्ट हो महत्तत्त्व को अव्यक्त करता है। महत्तत्त्व प्रकृति में प्रविष्ट हो प्रकृति को अव्यक्त करता है। प्रकृति का किसी में निवेश नहीं। वह सर्वकार्यों का अव्यक्त है। वह यह अविभाग प्रकृति में कार्य का है। इस हेतु कारण में विद्यमान ही कार्य का विभाग और अविभाग होता है, जिससे अव्यक्त की भी सिद्धि होती है।

परम अव्यक्त है, इसमें अन्य हेतु यह है (शक्तितः+प्रवृत्तेः+च) क्योंकि कारण शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति= उत्पत्ति होती है। कार्यानुकूल शक्तिरहित कारण से कार्य की उत्पत्ति कदापि नहीं होती। कारणगत= शक्तिकार्य की अव्यक्तावस्था से पृथक् कोई वस्तु नहीं। सत्कार्यवादियों के पक्ष में कार्य की अव्यक्तावस्था के अतिरिक्त अन्य शक्ति में प्रमाण नहीं। तैलोपादान तिलों का सिकता (बालू) से यही भेद है, जो इन तिलों में ही अनागतावस्थ तैल है, सिकता में नहीं।

शंका— शक्ति से प्रवृत्ति कारण, कार्य, विभाग और अविभाग ये सब महत्तत्त्व को ही परम अव्यक्त सिद्ध करेंगे। तब अन्य अव्यक्त से प्रयोजन क्या ? इस पर कहते हैं कि (परिमाणात्) परिमित= अव्यापक होने से विवादाध्यासित महदादिभेद अवश्यमेव अव्यक्त कारण वाले हैं क्योंकि ये परिमित हैं, जैसे घटादि, क्योंकि परिमित घटादिकों का अव्यक्त मृदादिक कारण होता है। यह कहा गया है कि कार्य की अव्यक्तावस्था कारण ही है, जो महत्तत्त्व का कारण है, वह परम अव्यक्त है। उससे परतर अव्यक्त की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। (समन्वयात्) इस कारण भी विवादाध्यासित महदादि भेदों का अव्यक्त कारण है, क्योंकि समन्वय है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की समानरूपता का नाम समन्वय है। क्योंकि अध्यवसायादिलक्षणक बुद्ध्यादि सुख-दुःख-मोहात्मक प्रतीत होते हैं। जो यद्रूप समन्वित हैं, वे तत्स्वभावाव्यक्तकारणक हैं। जैसे मृत्तिका-हेम-समनुगत घट-कुण्डलादि मृत्तिकाहेमाव्यक्तकारणक हैं। इस हेतु भेदों का कारण अव्यक्त है, यह सिद्ध होता है। इस कारिका द्वारा महत्तत्त्व से लेकर भूमि पर्यन्त समस्त भेदों के मूल कारण

अव्यक्त की सिद्धि में अनेक हेतु बतलाये गये। प्रथम— कारणकार्यविभाग, द्वितीय— कार्य का अविभाग, तृतीय— परिमाण, चतुर्थ— समन्वय और पञ्चम— शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति।

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्त्तते त्रिगुणतः समुदायाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।। सां॰ का॰ १६

(अव्यक्तम्+कारणम्+अस्ति) अव्यक्त कारण है, इतने का सम्बन्ध पूर्व १५वीं कारिका से है। आगे सम्पूर्ण कारिका से प्रधान का प्रवृत्तिप्रकार कहते हैं। (त्रिगुणतः+प्रवर्त्तते) तीनों गुणों से प्रवृत्ति होती है। भाव इसका यह है कि प्रलयावस्था में सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण सदृश परिणाम वाले होकर स्थित रहते हैं क्योंकि गुणों का स्वभाव परिणाम है। एक क्षण भी परिणाम बिना वे नहीं रह सकते। इस हेतु प्रलयकाल में सत्त्वरूपता से सत्त्व, रजोरूपता से रज और तमोरूपता से तम प्रवृत्त होते ही रहते हैं अर्थात् विषम परिणाम न करके सदृश ही परिणाम करते रहते हैं।

आगे गुणों की द्वितीय प्रवृत्ति कहते हैं कि (समुदायात्+च) समुदाय से। मिल करके उदय का नाम समुदाय है। उदय नाम प्रवृत्ति का है अर्थात् तीनों गुणों का मिल कर काम करने का नाम समुदाय है। गुणों का वह समुदाय गुण प्रधान भाव के बिना नहीं हो सकता। वैषम्य विना गुणप्रधान भाव नहीं होता और उपमर्द्योपमर्दक भाव बिना वैषम्य नहीं होता। इस प्रकार महदादिभाव से गुणों की प्रवृत्ति होती है। गुणप्रधान भाव= एक गुण की प्रधानता अन्य दोनों गुणों की अप्रधानता, वैषम्य=विषमता, उपमर्द्य= जो दबाया जाय, उपमर्दक= दबाने वाला अर्थात् दुर्बल उपमर्द्य होता है और बलिष्ठ उपमर्दक होता है।

एक रूप वाले गुणों की अनेकरूपा प्रवृत्ति कैसे होती है ? इस शंका पर कहते हैं (परिणामतः+सलिलवत्) जलवत् परिणाम से। आशय इसका यह है कि एक रस वाले जल के अनेक परिणाम देखते हैं। मेघ से एक प्रकार का ही जल गिरता है। उससे नाना विकार भूमि के संयोग से होते हैं। जैसे नारिकेल और ताल, बिल्व चिरबिल्व, तिन्दुक, आमलक, कपित्थ इत्यादि। इनमें कोई मधुर कोई अम्ल, कोई लवण, कोई तिक्त, कोई कटु और कोई कषाय होते हैं। तद्वत् एक-एक गुण के उदय से प्रधान गुण को लेकर अप्रधान गुण नाना भेदों को बनाते हैं। इस विषय को आगे और विस्पष्ट करते हैं। (प्रति-प्रति गुणाश्रय विशेषात्) एक-एक गुण के आश्रय से जो विशेष अर्थात् वैचित्र्य होता है, उससे परिणाम में वैलक्षण्य हुआ करता है।

तृतीय— पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।। सां॰ का॰ २१

(प्रधानस्य+दर्शनार्थम्) यहाँ प्रधान शब्द में कर्म में षष्ठी[1] है अर्थात् यह जीवात्मा प्रधान को और उसके समस्त क्षित्यादि कार्यों को अच्छे प्रकार देखे, जाने और समझे। इस हेतु (उभयोः+अपि+संयोगः) प्रधान और पुरुष दोनों का संयोग होता है। इससे प्रधान की भोग्यता दिखलाई है। तब भोक्ता के बिना भोग्य की अपेक्षा है, यह युक्ततर है। इस कारण पुरुष की अपेक्षा दिखलाते हैं। (पुरुषस्य+कैवल्यार्थम्) पुरुष के मोक्ष के लिये इन दोनों का संयोग है अर्थात् प्रधान से अत्यन्त भिन्न पुरुष प्रधानगत दुःखत्रय को अपने में मान कैवल्य के लिए प्रार्थना करता है। वह कैवल्य केवल बुद्धितत्त्व और पुरुष में भेदज्ञान है। वह सत्त्व पुरुषान्यताख्याति (सत्त्व= बुद्धितत्त्व और पुरुष में अन्यताख्याति= भेदज्ञान) प्रधान के बिना नहीं हो सकती। अतः कैवल्यार्थ पुरुष भी प्रधान की अपेक्षा करता है। संयोग परम्परा अनादि है, उससे भोग्य के लिये यद्यपि पुरुष संयुक्त हुआ है, तथापि कैवल्य के लिये पुनः संयुक्त होता है, यह युक्त है।

शंका— इन दोनों का संयोग भले ही हो, महदादि सर्ग कैसे होता ? इस पर कहते हैं (तत्कृतः+सर्गः) जिस हेतु महदादि सर्ग के बिना भोग अथवा कैवल्य के लिये संयोग पर्याप्त नहीं, अतः [संयोग ही भोगापवर्ग के लिए सर्ग को करता है।] संयोग किस प्रकार का है, इस पर कहते हैं कि (पंग्वन्धवत्) पंगु= गतिशक्तिरहित, अन्ध= दृक्शक्तिरहित, इन दोनों का जैसे संयोग होता है, तद्वत्। पंगु चलने में और अन्ध देखने में असमर्थ होता है। पंगु अन्ध पुरुष के स्कन्ध पर चढ़, पथादि दिखलाता जाता है, तब अनायास अन्ध पुरुष चला करता है। इस प्रकार दोनों अभीष्ट देश पहुँच जाते हैं। प्रधान पुरुष में ऐसा ही संयोग है क्योंकि पुरुष केवल चेतन, निर्विकार और निष्क्रिय है। वह स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकता है। और बुद्धि यद्यपि क्रियाशक्तिविशिष्ट है, तथापि वह जड़ है। जड़ कर्त्ता नहीं होता। अतः ज्ञानशक्तिविशिष्ट और क्रियाशक्तिविशिष्ट दोनों मिल कर कार्यक्षम और कर्त्तृत्वरूप में परिणत होते हैं।

अवतरणिका— स्वार्थ अथवा परार्थ चेतन की प्रवृत्ति होती है। अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस हेतु अचेतन प्रकृति का अधिष्ठाता किसी चेतन को होना चाहिये। ये क्षेत्रज्ञ चेतन जीवात्मा प्रकृति के अधिष्ठाता नहीं हो सकते क्योंकि ये केवल अपने शरीर के ज्ञाता हैं। प्रकृति के सम्पूर्ण स्वरूपों को ये नहीं जान सकते। इस हेतु प्रकृति का अधिष्ठाता कोई सर्वदर्शी होना चाहिये,

१. 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (अ॰ २.३.६६)। दर्शन क्रिया का कर्म 'प्रधान' है और कर्त्ता पुरुष है, यह आशय है।

वह ईश्वर है। इस पर सांख्यकार कहते हैं कि मेरे मत में ईश्वर की आवश्यकता नहीं क्योंकि–

चतुर्थ– वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।। सां॰ का॰५९

(यथा) जैसे (वत्सविवृद्धिनिमित्तम्) वत्स की पुष्टि के निमित्त (अज्ञस्य+क्षीरस्य) अचेतन क्षीर की (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति होती है (तथा) वैसे ही (पुरुषविमोक्षनिमित्तम्) पुरुष के मोक्ष के निमित्त (प्रधानस्य+प्रवृत्तिः) अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति होती है।

भाव इसका यह है कि अचेतन वस्तु भी प्रयोजन में प्रवर्त्तमान देखी जाती है। जैसे वत्स के पुष्ट्यर्थ अचेतन क्षीर की प्रवृत्ति होती है। तद्वत् अचेतन प्रकृति की भी प्रवृत्ति पुरुष की मुक्ति के लिये होगी। यदि कहें कि क्षीर प्रवृत्ति में भी ईश्वर का अधिष्ठान है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि बुद्धिमान् जनों की प्रवृत्ति स्वार्थ अथवा कारुण्य से हुआ करती है। ये दोनों हेतु ईश्वर में घट नहीं सकते क्योंकि नित्य तृप्त, आप्त, सकलेप्सित भगवान् का जगत् बनाने से कौन सा अभिलाष पूर्ण होगा। दया द्वारा भी जगत्-सृष्टि में इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि सृष्टि के पूर्व जीवों के भोग के लिये इन्द्रिय, शरीर और भोग की उत्पत्ति नहीं हुई थी। अत एव सब जीव सुखी ही थे, तब किस के प्रहार के लिये भगवान् को करुणा होगी। सर्गोत्तर काल में दुःखी जीवों को देख भगवान् को दया उत्पन्न हो सकती है। इस अवस्था में इतरेतराश्रय दोष का उत्तर नहीं हो सकता क्योंकि कारुण्य से सृष्टि हो और सृष्टि होने पर कारुण्य हो, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष होगा। और भी, करुणा से प्रेरित होकर ईश्वर सुखी ही जन्तुओं को बनावे। विचित्र जीवों को न रचे। यदि कहें, कर्म की विचित्रता से विचित्र जन्तुओं की उत्पत्ति भगवान् करता है, तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि बुद्धिपूर्वक कार्यकारी सर्वज्ञ परमात्मा सब कर्म का अधिष्ठाता न बने यही अच्छा है क्योंकि उनके अधिष्ठानमात्र से ही अचेतन कर्म की प्रवृत्ति न होगी और इनकी अनुत्पत्ति से दुःख नहीं होगा। इस हेतु कर्म का अधिष्ठाता ईश्वर न हो यही ठीक है और इसी से करुणा सिद्ध होगी। अत एव ईश्वर की प्रवृत्ति न स्वार्थजन्य और न कारुण्यजन्य हो सकती है। हमारे मत में अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजक न स्वार्थानुग्रह और न कारुण्य है। इसलिये मेरे मत में उक्त दोष नहीं। पारार्थ्य मात्र ही प्रकृति का प्रयोजक है। इस हेतु वत्सविवृद्धिनिमित्त यह बहुत अच्छा कहा गया है। पुनः–

पञ्चम– औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्त्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम्।। सां॰ का॰५८

(यथा) जैसे (औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्) उत्सुकता (इच्छा) की निवृत्ति के लिए (लोकः+ क्रियासु+प्रवर्त्तते) साधारण जन क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। (तद्वत्+पुरुषस्य+ विमोक्षार्थम्) तद्वत् पुरुष के विमोक्ष के लिये (अव्यक्तम्+प्रवर्त्तते) प्रधान प्रवृत्त होता है।

भाव यह है कि अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होने पर इच्छा की निवृत्ति होती है। स्वार्थ अर्थात् स्वकीय प्रयोजन को ही अभीष्ट कहते हैं क्योंकि फल ही अभिलषित है। तब इस पर दार्ष्टान्तिक समझिये। पुरुष को मुक्त करने के लिये ही प्रधान की इच्छा होती है, वह पूर्ण होने पर पुनः प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती। एवमस्तु, पुरुषार्थ ही प्रकृति का प्रवर्त्तक हो किन्तु निवृत्ति क्योंकर होती है। इस पर कहते हैं कि यथा–

षष्ठ– रंगस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते प्रकृतिः।। सां॰ का॰ ५९

(यथा) जैसे नर्त्तकी (रंगस्य+दर्शयित्वा) रंगस्थ पुरुषों को अपना हाव-भाव दिखला (नृत्यात्+निवर्त्तते) नृत्य से निवृत्त हो जाती है। [(तथा) वैसे ही प्रकृति (आत्मानम्) अपने शब्दाद्यात्मक और पुरुषभिन्न स्वरूप को (पुरुषस्य+प्रकाश्य) पुरुष को दिखाकर (निवर्त्तते) निवृत्त हो जाती है।]

अवतरणिका– जो हो, प्रकृति पुरुष के प्रयोजन के लिए प्रवृत्त हो किन्तु उपकृत पुरुष से प्रकृति कुछ उपकार पाती है या नहीं ? जैसे आज्ञासम्पादन में आसक्त दासी अपने स्वामी से पारितोषिक पाती रहती है। तब इसका आरम्भ परार्थ नहीं। इस पर कहते हैं–

सप्तम– नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति।। सां॰ का॰ ६०

(नानाविधैः+उपायैः) नानाविध उपायों से (उपकारिणी) उपकार करने वाली, अत एव (गुणवती) प्रकृति (अनुपकारिणः) अनुपकारी और (अगुणस्य) निर्गुण (सतः+तस्य+पुंसः) पुरुष का (अर्थम्) प्रयोजन (अपार्थकम्) बिना प्रयोजन ही (चरति) करती है।

आशय यह है कि गुणवान् और उपकारी भी भृत्य निर्गुण, अनुपकारी स्वामी से कुछ भी प्राप्त नहीं करता। इसी प्रकार यह तपस्विनी गुणवती उपकारिणी भी प्रकृति अपने अनुपकारी निर्गुण पुरुष से कुछ न प्राप्त कर केवल उसके प्रयोजन के लिये यत्न करती है कि प्रकृति की प्रवृत्ति निःस्वार्थ होती है।

ऐसा ही हो, किन्तु जैसे नर्त्तकी रंगस्थ पुरुषों को नृत्य दिखला कर निवृत्त होने पर भी द्रष्टाओं के कौतूहल से पुनः-पुनः प्रवृत्त होती है, तद्वत् प्रकृति भी

पुरुष को आत्मा [=स्व-रूप] को दिखला कर निवृत्त होने पर भी पुनः प्रवृत्त होती रहेगी। इस प्रकार जीवात्मा कभी मुक्त न होंगे। इस आशंका की निवृत्ति के लिये आगे कहते हैं कि यथा–

अष्टम– प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
वा दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य।। सां॰का॰ ६१

(प्रकृतेः) प्रकृति से (सुकुमारतरम्) अधिक सुकुमार अर्थात् लज्जाशील (न+किञ्चित्+अस्ति) अन्य कुछ नहीं है (इति+मे+मतिः+भवति) यह मेरी बुद्धि होती है क्योंकि (या) जो प्रकृति (दृष्टा+अस्मि) मैं पुरुष से देखी गयी (इति) इस चिन्ता से (पुनः) पुनरपि (पुरुषस्य+न+दर्शनम्+उपैति) पुरुष के दर्शन [को] नहीं [प्राप्त] करती।

यह हो, किन्तु पुरुष यदि निर्गुणी और अपरिणामी है तो इसका मोक्ष कैसे? क्योंकि मुच-धात्वर्थ बन्धन-विश्लेष है और बन्धन संस्कार-सहित पञ्चविध क्लेशों का नाम है। उस बन्धन की सम्भावना अपरिणामी पुरुष में नहीं हो सकती। अत एव प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) नामक संसार भी इसको नहीं हो सकता क्योंकि यह निष्क्रिय है। इस हेतु पुरुष-विमोक्ष के लिये प्रकृति प्रवृत्त होती है, यह रिक्त वचन है। इस शंका को उपसंहारव्याज से दूर करते हैं। यथा–

नवम– तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते न संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।। सां॰का॰ ६२

(अद्धा) यह सत्य है कि (तस्मात्) अपरिणामी और निर्गुण होने के कारण (कश्चित्) कोई पुरुष (न+बध्यते) न बद्ध होता है (न+मुच्यते) न मुक्त होता है (न+अपि+संसरति) और न एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, किन्तु प्रकृति ही लिंगशरीर के द्वारा (नानाश्रया) नाना योनिगत होकर (संसरति) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है, अर्थात् संसार, बन्धन और मोक्षादिक सभी प्रकृति के होते हैं, जीवात्मा के नहीं। अर्थात् न कोई पुरुष बद्ध, न मुक्त, और न संसारी है। प्रकृति ही नानाश्रया होकर बद्धा, मुक्ता, और संसारिणी होती है। बन्ध, मोक्ष और संसार पुरुष में आरोपित होते हैं। वास्तव में ये तीनों धर्म पुरुष में नहीं। जैसे भृत्यगण जय वा पराजय करते हैं किन्तु वे जय-पराजय स्वामी के समझे जाते हैं, भृत्य के नहीं, क्योंकि उस जय और पराजय से स्वामी को हर्ष वा विषाद होता है। भृत्य को उससे न हर्ष और न विषाद है। इस हेतु यद्यपि जय-पराजय भृत्यगत हैं, तथापि वे उसके नहीं कहे जाते। वैसे ही भोग और अपवर्ग (मुक्ति) प्रकृतिगत है, तथापि विवेक के न होने से पुरुष अपने में समझता है।

सांख्य-मत-निरास

कतिपय कारिकाओं द्वारा किञ्चित् सांख्यमत दिखलाया गया है। अब एक-एक विषय लेकर इसका निराकरण किया जाता है। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष रूप में इस गूढ़ सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हूँ।

द्वैती— मेरा मत सरल, सुबोध और हितकर है। वह यह है— जो पदार्थ स्थूलता से लेकर सूक्ष्म पर्यन्त जिस रूप से अन्वित है, उसका कारण भी वैसा ही होता है। जैसे घटादिक और कुण्डलादिक स्थूलता से लेकर सूक्ष्म पर्यन्त मृत्तिका और सुवर्ण से अन्वित हैं। इस हेतु घटादिकों और कुण्डलादिकों के कारण मृत्तिका और सुवर्ण हैं, यह दृष्टिगोचर है। तद्वत् यह बाह्य और आध्यात्मिक समस्त पदार्थ सुख, दुःख और मोह से अन्वित हैं। अत एव इन समस्त पदार्थों का कारण भी सुख, दुःख, मोहात्मक होना चाहिए। वहाँ जगत् कारण की जो यह सुखात्मता है वह सत्त्व, जो दुःखात्मता है वह रज और जो मोहात्मता है वह तम कहलाता है। इस प्रकार त्रैगुण्य कारण की सिद्धि होती है। इसको यों समझिये कि प्रत्येक पदार्थ त्रैगुण्यवान् देखा जाता है। जैसे मैत्र की स्त्री पद्मावती में मैत्र का सुख है। क्यों ? मैत्र में पद्मावती का सात्त्विक भाव है। उसकी सपत्नियों का पद्मावती में दुःख है। क्यों ? सपत्नियों के प्रति पद्मावती का रजोगुण समुद्भाव है अर्थात् सपत्नियों में उसका राजस भाव है और लम्पट चैत्र का पद्मावती में मोह है। क्यों ? चैत्र के प्रति पद्मावती का तमोगुण समुद्भाव है अर्थात् उसमें पद्मावती का तामस भाव है।

सब जगत् सुख, दुःख, मोहान्वित है, अत एव उसका कारण वैसा ही होना चाहिए। वह त्रिगुणात्मक प्रधान है। सांख्य शास्त्र में उस कारण के नाम— प्रधान, प्रकृति, अव्यक्त और दृश्य आदिक हैं। **"प्रधीयते क्रियतेऽनेन जगदिति प्रधानम्"** जिससे जगत् किया जाय, उसे प्रधान कहते हैं। यद्वा **"प्रधीयते निधीयतेऽस्मिन् प्रलयसमये जगदिति वा प्रधानम्"** प्रलय समय में जिसमें जगत् लीन होता है, उसे प्रधान कहते हैं। वह प्रधान मृत्तिका-सुवर्णवत् अचेतन है। वह अचेतन पुरुष के भोग और अपवर्ग को सिद्ध करने के लिए स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है, कोई उसको प्रवृत्त नहीं करता। यह कहा गया है कि—

पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्य्यते करणम्। सां० का० ३१

पुरुषार्थ ही हेतु है, बुद्ध्यादि करण को कोई कराता नहीं। और भी परिणामादिक हेतु हैं, जिनसे अव्यक्त की सिद्धि होती है। जिसका वर्णन वक्ष्यमाण कारिका में किया गया है—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।

कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य।। सां० का० १५

इसकी व्याख्या पूर्व[1] में देखिये।

त्रैती— आप के मत में अनेक दोष हैं— १. प्रथम रचना की अनुपपत्ति अर्थात् आप के मत से रचना नहीं बन सकती। देखिए ! यदि दृष्टान्तबल से ही आप अपने मत का निरूपण करते हैं, तो लोक में चेतन से अनधिष्ठित अचेतन स्वतन्त्र होकर किञ्चित् कार्य करते हुये नहीं देखा जाता। चेतन के बिना कोई भी अचेतन स्वतन्त्रतया घट, वस्त्र आदि की रचना नहीं कर सकता। गेह, प्रासाद, शयन, आसन, विहारभूमि आदि जितनी रचनाएँ हैं, उनको सुख की प्राप्ति और दुःख के परिहार के लिये अतिशय बुद्धिमान् शिल्पी समय-समय बनाते हैं अर्थात् चेतन से अनेक अचेतन वस्तुएँ बनाई जाती हैं। वैसे ही नाना कर्म फलोपभोग योग्य जो यह पृथिव्यादि अखिल बाह्य जगत् है और जो नाना जातियों से अन्वित शरीरादि आध्यात्मिक जगत् है, जिसमें विविध इन्द्रियों का विन्यास, अनेक मुखादि मार्ग की रचना, बहुविध रोमकूप और बहुविध संकल्प-विकल्प, तर्क-वितर्क इत्यादि अनेक धर्मों के समावेश हैं, ऐसे बाह्य पृथिव्यादि और आध्यात्मिक शरीरादि को अतिशय बुद्धिमान् शिल्पी क्या बना सकते हैं ? किन्तु वे मन से भी उनकी आलोचना नहीं कर सकते हैं। इस जगत् की रचना को बुद्धिमान् से बुद्धिमान् शिल्पी समझ भी नहीं सकता। तब इसको कैसे बना सकता है ? जब चेतन की यह दशा है, तब अचेतन प्रधान इसको बना सकता है, यह कैसी सांख्यों की विलक्षण बात है। लोष्ठ और पाषाणादिकों में ऐसी रचना-शक्ति नहीं देखी जाती। कुम्भकारादिकों से अधिष्ठित मृदादिकों में विशिष्टाकारा रचना देखी जाती है। तद्वत् प्रधान का भी कोई अधिष्ठाता चेतन होना चाहिये। तब ही प्रधान से जगत् बन सकता है। इस हेतु रचना की अनुपपत्ति से सांख्य-मत असंगत सिद्ध होता है।

द्वितीय— अन्वय की अनुपपत्ति से भी अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि ये सुख-दुःख-मोह और विषाद आन्तर (आभ्यन्तरिक) हैं और बाह्य चन्दनादिकों से भिन्न प्रतीत होते हैं। यदि ये ही सुख-दुःखादि स्वभाव वाले होवें, तब अपने स्वरूप से हेमन्त में भी चन्दन सुखकारी हो क्योंकि चन्दन कदापि अचन्दन नहीं होता। ग्रीष्म समय में भी कुंकुम-पंक सुखकारी हो क्योंकि यह कदाचित् अकुंकुमपंक नहीं होता है। एवं जैसे ऊँट को कण्टक सुखकारी होता है, तद्वत् मनुष्यादि सकल प्राणियों को सुखकारी हो क्योंकि यह किसी के प्रति कण्टक और किसी के प्रति सुखकारी हो ऐसा क्यों ? इस हेतु असुखादि स्वभाव

१. पृ० १८१।

वाले भी चन्दन कुंकुमादिक पदार्थ जाति-कालावस्थादि की अपेक्षा से सुख-दुःखादिकों के हेतु होते हैं क्योंकि वे स्वयं सुखादि स्वरूप नहीं हैं। इस हेतु सकल पदार्थ ही सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, यह आपका कथन निःसार है। इस हेतु तद्रूप कारण अव्यक्त का अनुमान करना ठीक नहीं। और भी, जहाँ सुखहेतुक शब्दादि न भी हों, वहाँ भी संस्कारविशेष से सुखादिक की उत्पत्ति होती है। जैसे ऊँट को वह संस्कार उत्पन्न होता है, जिससे कण्टकभक्षण में इसकी प्रवृत्ति होती है। अब जो आप–

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।

कारणकार्यविभागादविभगाद्वैश्वरूप्यस्य।। सां० का०१५

इसका अर्थ पूर्व[1] इसी प्रकरण में लिख आयें हैं।

इस कारिका के अनुसार महदादि से लेकर पृथिवी पर्यन्त भेदों का परिमाण है। अतः इनका कारण कोई अपरिमित होना चाहिये और बीज-अंकुरादि में जैसे संसर्ग देखते हैं अर्थात् बीज से अंकुर, उससे काण्ड, पल्लव, उससे शाखा, पुष्प फलादिक होते हैं। संसृष्ट कारणों का भी अनुमान करना चाहिए। वे सत्त्व, रज और तम सिद्ध होते हैं। इनकी साम्यावस्था का नाम प्रधान है, वही जगत् का कारण है। यह कथन भी आपका असंगत है क्योंकि प्रथम मैं पूछता हूँ कि परिमितत्त्व क्या है ? ये महदादि परिमित= परिच्छिन्न= सीमाबद्ध हैं, इसका भाव क्या है ? क्या देश से परिच्छेद (सीमा) मानते हैं, तो आप का आकाश अपरिमित= सर्वव्यापक है, इसका देश से परिच्छेद नहीं है। यदि काल से वस्तु का परिच्छेद मानें तो काल भी नित्य है और काल की सत्ता आप प्रायः स्वीकार भी नहीं करते। क्या तब वस्तु से परिच्छेद मानते हैं ? मानते हैं तो यह ठीक नहीं क्योंकि ये सत्त्व, रज और तम तीनों गुण परस्पर एक दूसरे को व्याप्त नहीं करते हैं। इस प्रकार गुणों का भी संसर्ग मानना पड़ेगा। इसी प्रकार विभाग अविभाग आदि हेतुओं से भी आप का सिद्धान्त सुसंगत नहीं। हाँ, जब इस प्रधान का अधिष्ठाता चेतन ईश्वर मानें तो इनकी सुसंगति हो सकती है क्योंकि ईश्वर के वश से प्रधान की प्रवृत्ति होगी। उससे रचना होगी और उसके कार्यरूप में विभाग होगा और प्रलय में अविभाग होगा। इति संक्षेपतः।

आप के मत में अन्यान्य भी अनेक दोष हैं। तब तक रचना की बात रहने दीजिये। रचना के लिए जो प्रधान की प्रवृत्ति है, वह भी सिद्ध न होगी क्योंकि सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था का नाम प्रधान है। साम्यावस्था की च्युति होकर सर्ग बनेगा। जो बलिष्ठ उत्पन्न होगा, वह दूसरे गुणों को दबा स्वयं अंगी

१. पृ० १८१।

बनेगा। इतर उसके अनुगुण होकर उसके अंग होंगे। इस प्रकार गुण के प्रधान होने पर महदादि के कार्य में जो इसकी प्रवृत्ति होगी, वह भी चेतन के अधिष्ठातृत्त्व को दिखलाएगा क्योंकि चेतनाधिष्ठान के बिना मृत्तिका पिण्ड के लिये चक्र, दण्ड, सलिल और सूत्रादिक स्वयं उपस्थित नहीं होता। अत एव प्रवृत्ति का अधिष्ठाता कोई चेतन सिद्ध होता है। उससे शक्तितः प्रवृत्ति यह सांख्य का हेतु भी सुसंगत नहीं। अतः प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से भी जगत् का कारण अचेतन नहीं हो सकता।

यदि कहें कि चेतन की भी प्रवृत्ति नहीं देखते हैं ? यह कहना आप का सत्य है, तथापि विचारना चाहिये। चेतन-संयुक्त अचेतन रथादि की प्रवृत्ति देखी जाती है न कि अचेतन-संयुक्त चेतन की प्रवृत्ति होती है। अब यहाँ क्या युक्त है? क्या जिसमें प्रवृत्ति देखते हैं, उसकी वह है ? यदि कहें कि जिसमें प्रवृत्ति देखते हैं, उसकी वह है, यह प्रत्यक्ष है। प्रवृत्ति के आश्रय से रथादिवत् चेतन प्रत्यक्ष नहीं है। प्रवृत्ति के आश्रयीभूत देहादि संयुक्त ही चेतन की सिद्धि होती है। जीवदेह की केवल अचेतन रथादि से विलक्षणता दृष्ट है। अतएव प्रत्यक्ष देह में चैतन्य के देखने से देह के अभाव में चैतन्य के न देखने से देह का ही चैतन्य है। इस प्रकार लौकायतियों (नास्तिकों) का सिद्धान्त है। अत एव अचेतन की ही प्रवृत्ति होती है, यह सिद्ध होता है।

समाधान– हम यह नहीं कहते हैं कि जिस-जिस अचेतन में प्रवृत्ति देखते हैं, उसकी यह नहीं है। उसी की हो किन्तु वह चेतन के साहाय्य से होती है, यह मेरा कथन है क्योंकि उसके भाव से भाव और अभाव से अभाव देखते हैं। जैसे काष्ठादिक में दाह और प्रकाश अन्तर्हित है, प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु अग्नि के ही संयोग से उसमें दाह और प्रकाश होते हैं क्योंकि उसके संयोग से दाहादि देखते हैं और असंयोग से नहीं देखते हैं। लौकायतिकों का भी, चेतन ही देह अचेतन रथादिकों का प्रवर्त्तक है, अतः चेतन ही प्रवर्त्तक होता है, यह उनका भी सिद्धान्त है। अतः चेतन के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इस कारण निरीश्वर सांख्य असंगत है।

द्वैती– दो प्रकारों से इस जगत् में रचना देख रहे हैं। कहीं चेतन की और कहीं अचेतन की रचना सर्वत्र देखी जाती है। सृष्टि के आदि से अब तक मनुष्यों की रचना अद्भुत रीति से आ रही है। गृह, नौका, शकट, धूमशकट, तार, शास्त्र, काव्य इत्यादि इसके उदाहरण हैं। सुख की प्राप्ति, दुःख के परिहार के लिये केवल मनुष्य की ही रचना नहीं किन्तु अत्यन्त क्षुद्र पिपीलिका आदि की भी रचना प्रत्यक्ष है। यह तो चेतन की रचना है किन्तु चेतन जीवात्मा के संयोग से जड़

पदार्थों में भी अनन्त विलक्षण रचना शक्ति देखी जाती है। प्रथम– उद्भिज्ज का ही उदाहरण लीजिए। कूष्माण्ड का लघुबीज किस प्रकार बाह्य जगत् से अपने पोषण की सामग्रियों को लेता है, और अपने देह को कितना पुष्ट और कितना लम्बा थोड़े ही दिनों में बना लेता है, यह आश्चर्य जनक है। उद्भिज्जों में उपचय की महती शक्ति है। अनेक लतायें दो-एक मासों में इतनी भूमि को घेर लेती हैं कि जिसका वर्णन कोई कविगण नहीं कर सकते हैं। एक यह भी आश्चर्य देखते हैं कि इस अखण्ड मण्डलाकार बाह्य जगत् से और पृथिवी से प्रत्येक बीज स्वानुकूल वस्तुओं का ही ग्रहण सदा से करता चला आया है। कहा जाता है कि पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश यही पाँच महाभूत हैं और इनसे ही चतुर्विध शरीर बने हुये हैं। देखने की बात है कि निम्ब बीज स्वानुकूल रस को ही इस मण्डल से चूसता है और तदनुकूल वह तिक्त होता है। आम्र बीज इसी मण्डल से अपना भोज्य पदार्थ लेकर अन्त में अपने को मधुर बना लेता है। इसी प्रकार अन्यान्य बीजों की भी दशा है किन्तु ये सब चेतन पुरुष इन चतुर्विध शरीरों से पृथक् हो जाते हैं, तब शरीरों में किसी प्रकार की लेने-देने की शक्ति नहीं देखी जाती। इत्यादि-इत्यादि चेतन-विशिष्ट जड़ की क्रिया बतलायी है।

अब केवल जड़ में भी प्रवृत्ति देखी जाती है। सूर्य, वायु, पृथिवी, जल इत्यादि सकल पदार्थों में स्वानुकूल चेष्टा होती रहती है। वायु किसकी आज्ञा से सदैव क्रियावान् रहता है ? किसके अनुशासन से सामुद्रिक जल वाष्परूप में परिणत हो मेघ बन जगत् को सुखी बनाता है, पृथिवी किस से अधिष्ठित हो अनन्त बीजों को उत्पन्न करती रहती है। इस प्रकार यदि आप विचार करेंगे तो चेतन-विशिष्ट जड़ और केवल जड़ दोनों की प्रवृत्ति देखी जाती है। मेरे पक्ष में एक यह भी बात सदैव स्मरणीय है कि मैं इन जीवात्माओं को विभु अर्थात् व्यापक मानता हूँ। वह व्यापक जीव सूर्य से लेकर अत्यन्त क्षुद्र कीट तक विद्यमान है। इसी के संयोग से जड़ जगत् में अद्भुत क्रिया हो रही है। मानो, यह जड़ जगत् केवल चेतन को सुख पहुँचाने के लिये विविध चेष्टायें कर रहा है, जिसको सांख्य शास्त्र में अनेक तरह से वर्णन करते हैं। कहीं नर्त्तकी के दृष्टान्त से, कहीं औत्सुक्य-निवृत्त्यर्थ लोक-प्रवृत्ति के दृष्टान्त से, कहीं निःस्वार्थ चेष्टा से इसका वर्णन सांख्यवित् करते आये हैं।

एवमस्तु, क्षीर के उदाहरण का उपन्यास मैं करता हूँ। वत्स के पोषण के लिए और उसके स्नेहवश स्वयमेव गौ के स्तन से क्षीर चूने लगता है। यहाँ एक और आश्चर्य की बात है कि जब तक वत्स सर्वथा अपने पोषण में असमर्थ रहता है, तब तक दुग्ध की वृद्धि होती रहती है। ज्यों ही वत्स अपना पोषण स्वयं कर

सकता है, तब धीरे-धीरे मानो क्षीर अपना व्यापार करता है और धेन्वादिक में तिरोहित हो स्थित रहता है। यहाँ अचेतन की प्रवृत्ति देख प्रकृति की प्रवृत्ति का अनुमान करते हैं। इतने अंश का आप क्या समाधान करते हैं ?

त्रैती– आपका कथन बहुधांश में ठीक है, किन्तु नास्तिकतायुक्त समस्त तर्क वितर्क है। देखिए ! धेनु में चेतन पुरुष विद्यमान है। वत्स में भी चेतन जीव की स्थिति है। आन्तरिक चेतन जीव की प्रेरणा से दुग्ध की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि यदि अन्तःस्थित जीवात्मा की प्रेरणा न हो तो कदापि स्वयं दुग्ध प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो मृत माता के शरीर से भी जीवित वत्स के लिए दुग्ध निःसृत हो, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः अन्तःस्थित जीव की प्रेरणा से वत्स के स्नेहवश शरीर में दुग्ध बनता रहता है और उसको वत्स चूस-चूस कर अपनी पुष्टि करते हैं। इसी प्रकार सूर्य से लेकर कीट पर्यन्त सर्वत्र चेतन परमेश्वर का अधिष्ठातृत्व विद्यमान है। अत एव आप को द्विविध रचनाएँ प्रतीत होती हैं। सूर्य, वायु इत्यादि की प्रवृत्ति भी तत्कृत ही है। इसलिये क्षीर का उपन्यास आप का अनुपन्यास है।

द्वैती– आप प्रकृति और जीव के मध्य में तृतीय ईश्वर को जो ले आते हैं, यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पुष्टि जड़ की होती है अथवा चेतन की? तब चेतन के संयोग से भक्ष्यवान् तृण, पल्लव, जल इत्यादि जड़ पदार्थ मिल कर दुग्ध के रूप में इसलिये परिणत होते हैं कि वत्स का जड़ शरीर सुपुष्ट हो। दोनों तरफ जड़ की ही क्रिया देखते हैं, चेतन जीवात्मा केवल साक्षी मात्र कूटस्थ रूप से विद्यमान रहता है। और उसके संयोग से यह परिणाम होता रहता है, तृतीय ईश्वर की क्रिया इसमें कुछ भी नहीं देखी जाती है।

त्रैती– जैसे तृतीय ईश्वर की यहाँ क्रिया नहीं देखते, वैसे ही जीवात्मा की कौन सी क्रिया देखते हैं ?

द्वैती– जीवात्मा की क्रिया देखते हैं। यदि शरीरस्थ जीवात्मा न रहे तो घासादिकों का परिणाम दुग्ध कदापि नहीं होगा। अन्तःस्थ जीव समझता है कि वत्स के लिये जब तक इन घासादिकों का परिणाम दुग्ध न हो जो अनायास माता को दुःख न देकर किञ्चित् मात्र वत्स-प्रयत्न से निःसृत होता है, तब तक वत्स की पुष्टि कदापि नहीं हो सकती। इसलिए द्वितीय जीवात्मा की क्रिया देखते हैं। तृतीय ईश्वर की नहीं। इस हेतु मेरा कथन है कि निमित्तान्तर निरपेक्ष तृणपल्लवोदकादि क्षीराद्याकार में परिणत होता है। स्वयं प्रधान भी महदाद्याकार में अन्य निमित्त की अपेक्षा न कर स्वभाव से ही परिणत होता रहता है। इसके परिणाम में तृतीय ईश्वर का कुछ भी प्रयोजन नहीं। यदि किञ्चित् निमित्त

दुग्ध परिणाम में हम देखते तो उस निमित्त को लेकर तृणादिकों में से मनुष्य भी दुग्ध बना लेते। इस हेतु जैसे तृणादि का परिणाम स्वाभाविक है, वैसे ही प्रधान का भी है।

त्रैती— तृणादिवत् प्रधान का भी स्वाभाविक परिणाम हो, यदि हम तृणादिक का भी स्वाभाविक परिणाम मानें, किन्तु ऐसा हम नहीं मानते क्योंकि इसमें अन्य निमित्त पाया जाता है। देखते हैं कि तृणादिकों को जब धेनु खाती है तब ही वह दुग्धरूप में परिणत होता है। वृषभादिक को देखने से वह तृणादि कदापि दुग्ध नहीं होता। इसका कौन सा कारण है। इस हेतु यह निर्निमित्त है, ऐसा कथन आप का उचित नहीं और जिस बात को मनुष्य नहीं कर सकता उसको निर्मिमित्त समझना भी युक्ति-संगत नहीं क्योंकि बहुत से कार्य मनुष्य-सम्पाद्य होते हैं और बहुत से कार्य ईश्वर-सम्पाद्य होते हैं। मनुष्य भी अपनी बुद्ध्यनुसार नाना उपायों से अपना कार्य कर लेता है। लोक में देखते हैं कि जब धेनु से अधिक दुग्ध की कामना करता है तो उसकी सेवा-शुश्रूषा भी अधिक करता है। बहुतसा घास खिला कर उसी गौ से अधिक दुग्ध उत्पन्न कर लेता है। अरण्यस्थ आम्रादिक उतने अच्छे नहीं होते जितने अच्छे मनुष्यकृत उद्योग से होते हैं। कलम लगा और अन्यान्य वैज्ञानिक उपायों से प्रत्येक पदार्थ में मनुष्य कुछ न कुछ वृद्धि कर लेता है। इस प्रकार मनुष्य-सम्पाद्य भी बहुत से पदार्थ हैं। परन्तु सर्वत्र मनुष्य की बुद्धि काम नहीं कर सकती। मनुष्य चाहे कि नवीन बीज बना ले तो यह उसकी शक्ति से बाहर है। यह कार्य केवल दैव्यसम्पाद्य है। इस हेतु तृणादिवत् प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं कहा जा सकता।

गत लेख से प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति नहीं होती, यह स्थापित किया। अब आप की श्रद्धा के अनुरोध से मान लेते हैं कि प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। तथापि आप के पक्ष में दोष बना ही रहता है क्योंकि इसमें प्रयोजन कुछ नहीं देखते। यदि प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति किञ्चित् सहकारी वस्तु की अपेक्षा नहीं करती तो जैसे वह किञ्चित् सहकारी वस्तु की अपेक्षा नहीं करती वैसे ही किञ्चित् प्रयोजन की भी अपेक्षा न करेगी। तब पुरुष के अर्थों की सिद्धि के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होती है, आप की इस प्रतिज्ञा की हानि होगी। इस पर यदि आप कहें कि केवल सहकारी वस्तु की अपेक्षा वह नहीं करता किन्तु प्रयोजन की अपेक्षा वह अवश्य करता है। इस अवस्था में भी प्रधान की प्रवृत्ति के प्रयोजन का विचार करना चाहिये। भोग के लिये अथवा अपवर्ग (मुक्ति) के लिये अथवा दोनों के लिये प्रधान की प्रवृत्ति हो, तो यह विचारने की बात है। भोग के लिए इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि आप के पक्ष में आत्मा वास्तविक भोक्ता

नहीं। वह स्वयमेव नित्य, तृप्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप है। इसका भोग कैसा ? और यदि भोग के लिये ही हो तो इसकी मुक्ति भी कदापि न हो यह सदैव प्रधानकृत भोगविलास में ही फँसा रहेगा। उससे उसकी मुक्ति कदापि नहीं। तब यदि कहें कि अपवर्ग के लिए इसकी प्रवृत्ति हो तो यह आप का कथन आपके सिद्धान्तानुसार असंगत है क्योंकि प्रवृत्ति के पूर्व पुरुष को अपवर्ग सिद्ध ही था फिर तब प्रवृत्ति अनर्थिका होगी। इसमें शब्दादिकों की अनुपलब्धि रूप तृतीय दोष उपस्थित होगा क्योंकि यदि केवल अपवर्ग के लिये प्रवृत्ति हो तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि भोग्य वस्तुओं का प्रयोजन क्या ? इस पर यदि भोग और अपवर्ग दोनों के लिये प्रवृत्ति स्वीकार करें, तो भी दोष ज्यों का त्यों रहेगा क्योंकि भोग्य वस्तुओं की सीमा नहीं, यह अनन्त-अनन्त हैं।

भोग्य वस्तुएँ कितनी हैं, इसका निर्णय कौन कर सकेगा। इस प्रकार अनन्त भोगों को भोक्ता हुआ, कदापि पुरुष मुक्तिभागी न होगा। इस लिये प्रवृत्ति की उभयार्थता सिद्ध नहीं हो सकती। अब आपका जो यह कथन है कि—

औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्त्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम्।।

(इसका अर्थ पूर्व[1] में कर आये हैं)

औत्सुक्य-निवृत्त्यर्थ इसकी प्रवृत्ति होती है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अचेतन प्रधान को औत्सुक्य नहीं हो सकता। और इसी प्रकार निर्मल, निष्कल पुरुष का भी औत्सुक्य नहीं। इस पर यदि कहें कि तब तो दृक्-शक्ति और सर्ग-शक्ति दोनों व्यर्थ हो जायँ क्योंकि तब यह सृष्टि ही क्यों हो ? और पुरुष का भोग ही क्यों हो? वह द्रष्टारूप से स्थित ही क्यों हो ? इस हेतु प्रवृत्ति स्वीकार करनी आवश्यक है। यह भी कहना आपका ठीक नहीं। दृक्-शक्ति का अनुच्छेद माने तो सर्ग-शक्ति का भी अनुच्छेद मानना पड़ेगा। तब इन दोनों के अनुच्छेद से संसार का भी कभी उच्छेद नहीं होगा अर्थात् संसार सदैव बना ही रहेगा। तब आप के मत से इस जीवात्मा की कभी मुक्ति न होगी। इस हेतु प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के लिये और औत्सुक्य की निवृत्ति के लिये है, यह कथन सर्वथैव असंगत है।

द्वैती— 'दृक्-शक्तिसम्पन्न प्रवृत्ति-शक्तिविहीन कोई पंगु पुरुष प्रवृत्ति-शक्तिसम्पन्न दृक्-शक्तिविहीन किसी अन्धपुरुष के स्कन्ध पर चढ़ कार्य में प्रवृत्ति करता है और जैसे अयस्कान्त पत्थर स्वयं प्रवृत्तिरहित है तथापि दूसरे लोह को कार्य में प्रवृत्त करता है, वैसे ही पुरुष भी प्रधान को कार्य में प्रवृत्त करावेगा। तृतीय ईश्वर का इसमें प्रयोजन क्या ?

१. द्र०— पू० पृ० १८६।

त्रैती— आप दृष्टान्त के बल से अपने मत की स्थापना करते हैं, तो इससे भी आप को दोष से मुक्ति नहीं। अभ्युपेत-हानिरूप दोष आपके पक्ष में होगा क्योंकि आप मानते हैं कि स्वतन्त्र प्रधान की प्रवृत्ति होती है। पुरुष प्रवर्त्तक नहीं है क्योंकि यह निष्क्रिय है। तब उदासीन पुरुष प्रधान को कैसे कार्य में लगावेगा। पंगु पुरुष भी अन्धे को वाणी इत्यादियों से प्रवृत्त कराता है। इस प्रकार का पुरुष का कोई भी प्रवर्त्तन व्यापार नहीं है क्योंकि पुरुष निर्गुण और निष्क्रिय है। अब जो आप ने अयस्कान्त मणि का द्वितीय उदाहरण दिया है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सन्निधि के नित्यत्व होने से प्रवृत्ति की भी नित्यता होगी। इस हेतु यह दृष्टान्त ठीक नहीं। अयस्कान्त मणि का दूसरे लोह के साथ नित्य सान्निध्य नहीं किन्तु पुरुष और प्रकृति का सान्निध्य सदैव नित्य है। इस हेतु प्रकृति की कभी समाप्ति न होगी। तब आत्मा की मुक्ति भी कदापि नहीं हो सकती है।

और भी, प्रधान अचेतन है। पुरुष उदासीन है, इन दोनों के सम्बन्ध जोड़ने वाले तृतीय ईश्वर को आप स्वीकार ही नहीं करते । तब इन दोनों प्रधान और पुरुष का सम्बन्ध ही कैसे होगा ? सम्बन्ध न होने से भोग और अपवर्ग ही कैसे हो सकते हैं ? इस हेतु—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः संयोगः।। सां॰ का॰ २१

यह कथन आपका ठीक नहीं।

इस हेतु इन दोनों का अधिष्ठाता कोई तृतीय ईश्वर है, यह सिद्ध होता है। निरीश्वर सांख्य में और भी अनेक दोष विद्यमान हैं। प्रकरणानुसार उनका भी निराकरण किया जायेगा।

द्वैती— आप ने मेरे मत की निस्सारता दिखलाई है और सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र में वेदव्यास और श्री शंकराचार्य इस मत का निराकरण करते हैं और इस प्रकरण में **"रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्"** (वे॰ २.२.१), **"प्रवृत्तेश्च"** (वे॰ २.२.२), **"पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि"** (वे॰ २.२.३) इत्यादि सूत्र द्वारा रचना, अन्वय, प्रवृत्ति इत्यादिकों की अनुपपत्ति बतलाते हैं। यह सब ठीक नहीं। मैं समझता हूँ कि सांख्य सिद्धान्त का तत्त्व लोग बहुत कम समझते हैं। इस हेतु यहाँ प्रथम दो-चार बातें अति संक्षेप से बतलाता हूँ। इन पर ध्यान दीजिये। वे ये हैं—

सांख्यसिद्धान्तादर्शः

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनप्रवृत्तयश्च गुणाः।। सां॰ का॰ १२

(गुणाः) सत्त्व, रज और तम ये तीनों (प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः) क्रमशः प्रीत्यात्मक, अप्रीत्यात्मक और विषादात्मक हैं। भाव यह है कि प्रीति नाम सुख का है। सत्त्व गुण सुखात्मक है। अप्रीति नाम दुःख का है। रजोगुण दुःखात्मक है। विषाद नाम मोह का है। तमोगुण मोहात्मक है। सत्त्वादिकों का स्वरूप कहकर आगे प्रयोजन कहते हैं। (प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः) सत्त्व का कार्य प्रकाश है, रजोगुण का कार्य प्रवृत्ति और तमोगुण का कार्य नियम अर्थात् स्थगन= आच्छादन है। रजोगुण प्रवर्त्तक अर्थात् स्वयं चलस्वभाव होके अन्य दोनों गुणों को चालित करता है। गुरु तमोगुण द्वारा रजोगुण नियमित अर्थात् आच्छादित होता है। इसी कारण वह लघु सत्त्व गुण को सकल विषयों में चालित भी नहीं करता। अतः तम को आवरक कहा है। गुणों का प्रयोजन कहकर आगे क्रिया कहते हैं। (अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः) ये तीनों गुण— १. अन्योऽन्याभिभववृत्ति, २. अन्योऽन्याश्रय वृत्ति, ३. अन्योऽन्यजननवृत्ति और ४. अन्योऽन्यमिथुनवृत्ति हैं। १. अन्योऽन्याभिवभववृत्ति — ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरे का अभिभव करते हैं अर्थात् रजोगुण और तमोगुण का अभिभव करके सत्त्वगुण शान्तवृत्ति का लाभ करता है। इसी प्रकार सत्त्व और तम का अभिभव करके रजोगुण घोरवृत्ति का लाभ करता है। सत्त्व और रज का अभिभव करके तमोगुण मूढवृत्ति का लाभ करता है। २. अन्योऽन्याश्रय वृत्ति— अर्थात् एक के आश्रय में दूसरा रहता है। यद्यपि इनमें आधाराधेयभाव नहीं। इस हेतु परस्पर-आश्रय भी नहीं हो सकते, तथापि जिसकी अपेक्षा से जिसकी क्रिया होती है, वह उसका आश्रय होता है। इसको यों समझिये— सत्त्व गुण प्रवृत्ति और नियम का आश्रय ले रजोगुण और तमोगुण को प्रकाश दे उपकार करता है। प्रकाश और नियम का आश्रय ले रजोगुण अपनी प्रवृत्ति से सत्त्व गुण और तमोगुण का उपकार करता है। इसी प्रकार प्रकाश और प्रवृत्ति का आश्रय ले तमोगुण अपने नियम (आच्छादन= आवरण) से सत्त्वगुण और रजोगुण का उपकार करता है। इस हेतु ये अन्योऽन्याश्रयवृत्ति कहलाते हैं। ३. अन्योऽन्यजननवृत्ति— एक दूसरे को उत्पन्न करता है। जनन शब्द का अर्थ यहाँ परिणाम है। वह गुणों का सदृशरूप परिणाम है। ४. अन्योऽन्यमिथुनवृत्ति— ये गुण सदैव अन्योऽन्यसहचर हैं अर्थात् अविनाभाव वृत्ति वाले हैं अर्थात् एक के बिना दूसरे नहीं रह सकते। इस सम्बन्ध में कहा गया है—

अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः।।
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते।।

नैषामादिः संप्रयोगो विप्रयोगो वोपलभ्यते।।

(सांख्यतत्त्वकौमुदी में उद्धृत आगमवचन— सां० का० १२)

तीनों गुण परस्पर नित्य सहचर और सर्वत्र व्यापक हैं। रजोगुण का सहचर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण का सहचर रजोगुण, तमोगुण के सहचर सत्त्व और रज, सत्त्व और रज दोनों का सहचर तम है। उनका आदि वा संयोग वा वियोग नहीं देखा जाता।

सांख्य के मत में गुणत्रय द्रव्य हैं। ये तीनों भिन्न-भिन्न एक-एक वस्तु हैं। जैसे नैयायिक और कणाद शब्द-स्पर्शादि २४ गुण मानते हैं और वे सदैव द्रव्य के आश्रित रहते हैं, तद्वत् सांख्यीय गुण नहीं किन्तु ये द्रव्य हैं और एतत्स्वरूप ही प्रधान है। रज्जु (रस्सी) का भी नाम गुण है। रज्जुवत् वे त्रिगुण आत्मा को बांधते हैं। अतः इनको गुण कहते हैं। यद्यपि सत्त्वादि प्रत्येक असंख्य हैं, तथापि समुदाय को एक करके एक प्रधान कहा जाता है। सांख्यमत में पुरुष (जीवात्मा) बहुत माने गए हैं किन्तु प्रधान एक ही है। उनमें सुखात्मक सत्त्व, दुःखात्मक रज और मोहात्मक तम है। न्यायमत में आत्मा सगुण है। सुख-दुःखादि धर्म आत्मा के हैं। सांख्यमत में केवल बुद्धि के ही धर्म सुखादि नहीं किन्तु विषय मात्र के वे धर्म हैं। आत्मा निर्गुण है।

गुणत्रय की साम्यावस्था में प्रलय होता है और वैषम्यावस्था में सर्ग (सृष्टि) होता है। जीवों के अदृष्टवश एक-एक गुण का उद्रेक (उत्कर्ष) होता है और इतर गुणद्वय बलहीन हो जाते हैं। इस प्रकार गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष से वैचित्र्य होता है, अत एव विचित्र सृष्टि होती है। पुनरपि—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।

गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।। सां० का० १३

(सत्त्वम्+एव+लघु+प्रकाशकम्+च+इष्टम्) सांख्याचार्यगण सत्त्व गुण को ही लघु प्रकाशस्वरूप स्वीकार करते हैं। जो धर्म ऊर्ध्वगमन और शीघ्र कार्यकारिता में हेतु होता है, उसे लाघव कहते हैं। जिससे विषयक उद्भासन अर्थात् बोध हो, उसे प्रकाश कहते हैं। ये दोनों धर्म सत्त्व गुण के हैं। (रजः+एव+उपष्टम्भकम्+चलम् +च) रजोगुण को ही उपष्टम्भक= चालक और चल मानते हैं अर्थात् रजोगुण स्वयं चल और चालक होता है। (तमः+एव+गुरु+वरणकम्) तमोगुण को ही गुरु और आवरक मानते हैं (प्रदीपवत्+च+अर्थतः+वृत्तिः) ये तीनों गुण यद्यपि परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, तथापि भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ के लिए प्रदीप के समान उनकी परस्पर वृत्तियाँ होती हैं, जैसे वर्त्ति, तेल प्रभृति अग्निविरुद्ध पदार्थ एकत्रित होकर प्रदीपरूप से गृह का प्रकाश करते हैं, तद्वत् विरुद्ध सत्त्वादिक भी

एकत्र होकर महत्त्वादि कार्य उत्पन्न करते हैं।

आशय— गौरव का प्रतिद्वन्द्वी और शीघ्र कार्यकारिता का हेतु जो धर्म है, उसको लाघव कहते हैं, जिससे अग्नि का ऊर्ध्व-ज्वलन होता है, और वही किसी वस्तु के तिर्यग्-गमन का हेतु होता है, जैसे वायु का। इसी प्रकार सकल इन्द्रियों के वृत्ति-पटुत्व का हेतु लाघव ही है, क्योंकि गुरुत्व होने पर वे मन्द हो जायँ। सत्त्व प्रकाशक है, यह प्रत्यक्षतया सिद्ध है। सत्त्वगुण और तमोगुण स्वयं क्रियाहीन हैं। वे स्व-स्व कार्य स्वयं नहीं कर सकते। इस हेतु रजोगुण उनसे मिल उनको अपने स्वभाव से च्युत कर स्वकार्य में उत्साह और प्रयत्न देता है। इसलिए कहा गया है कि रजोगुण उपष्टम्भक है और स्वयं चल और क्रियाशील है। रजोगुण ऐसा क्यों करता है ? इस पर कहते हैं कि रजोगुण का प्रयोजन प्रवृत्ति है। रजोगुण स्वयं क्रियाशील कार्य में है। इसलिए गुणत्रय को समस्त कार्य में चालित करता है। यदि गुरु, आवरक और प्रवृत्ति-विघातक तमोगुण द्वारा प्रतिबद्ध न होता, इस हेतु केवल किसी ही किसी कार्य में उसकी प्रवृत्ति होती। इसी हेतु तमोगुण को नियामक अर्थात् आच्छादक और गुरु कहा है।

यहाँ पुनः आशंका होती है कि परस्पर विरोधशील ये तीनों गुण सुन्दोप-सुन्दवत्[1] एक दूसरे का ध्वंस क्यों नहीं कर देते ? मिलकर ये कैसे कार्य करते हैं ? इस पर कहते हैं कि इनकी वृत्ति अर्थवशतः प्रदीपवत् है। जैसे वर्त्ति और तैल यद्यपि विरोधी हैं, तथापि मिलकर प्रकाशरूप लक्षणरूप कार्य करते हैं, और जैसे वात, पित्त, श्लेष्मा ये तीनों परस्पर विरोधी हैं, तथापि शरीरधारण रूप कार्य मिलकर करते हैं। इसी प्रकार यद्यपि सत्त्व, रज, तम ये परस्पर विरुद्ध भी हैं तो भी एक दूसरे के अनुकूल होकर स्व-स्व कार्य करते हैं। कार्य करने का इन्हें प्रयोजन क्या ? इस पर पूर्वतः यह कहा गया है— पुरुषार्थ ही इनका प्रयोजन है, दूसरा नहीं, क्योंकि **"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्"** (सां० का० ३१) पुरुषार्थ इनका हेतु है, अन्य किसी द्वारा बुद्ध्यादि की प्रवृत्ति नहीं। यहाँ परस्पर विरोधी सुख-दुःख और मोह ये तीनों निज-निज अनुरूप सुख-दुःख-मोहात्मक कारणों को सूचित करते हैं। इस हेतु सकल परस्पर सबल और दुर्बल भाव से नानाविध वैचित्र्य उत्पन्न करते हैं। वहाँ यह उदाहरण है— एक ही रूप, यौवन, कुल, शील सम्पन्न स्त्री स्वामी को सुखी करती है क्योंकि स्वामी के प्रति उसका सुखरूप सात्त्विक भाव है। वही स्त्री सपत्नियों को दुःख देती है क्योंकि उनके प्रति उसका दुःखरूप राजस गुण का उदय है। एवं वही लम्पट पुरुष को मोहित

१. सुन्द-उपसुन्द नाम के दो राक्षसों ने एक स्त्री के प्रति आसक्त होने के कारण एक-दूसरे पर एक साथ प्रहार किया जिससे दोनों एक साथ मारे गए। देखें— पृ० २०१।

करती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का मोहरूप तमोगुण का उदय है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सुख-दुःख और मोहात्मक है। उनमें जो सुखों का हेतु है, [वह सुखात्मक सत्त्व है, जो दुःखों का हेतु है,] वह दुःखात्मक रज है, जो मोह का हेतु है, वह मोहात्मक तम है। अब आगे कहते हैं कि सत्त्व गुण के सुख, प्रकाश और लाघव धर्म कहे जाते हैं। ये तीनों विरोधी हैं। एक में कैसे रह सकते है। इस पर कहते हैं कि जैसे सुख, दुःख और मोह ये तीनों विरोधी मिलकर कार्य करते हैं, इसी प्रकार ये तीनों भी एक सत्त्व गुण में मिलकर [सुख, प्रकाश और लाघव] कार्य करते हैं। इसी प्रकार रजोगुण में दुःख, उपष्टम्भ और प्रवर्त्तकत्व तमोगुण में मोह, गुरुत्व और आवरण ये तीनों मिलकर कार्य करते हैं। इस प्रकार त्रैगुण्य की सिद्धि होती है और इसी त्रिगुण का नाम प्रधान है।

वैशेषिक शास्त्र में 'गुरुत्व' नामक एक गुण है। इस मत में गुरुत्व के अभाव को ही लघुत्व कहते हैं। अधःपतन के अनुकूल गुण गुरुत्व। सांख्यीय मत से सत्त्व का धर्म लघुत्व और तम का गुरुत्व है। यह भेद जानना चाहिए। अब यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि चक्षुरादि इन्द्रिय गण घटादि विषय में अति शीघ्र दौड़ जाते हैं। इन्द्रिय गण अहंकार के सात्त्विक अंश से उत्पन्न होता है। अतः इनमें अतिशय पटुता है। प्रणिधान करने से सत्त्व का धर्म का लघुता, रज का धर्म चञ्चलता और तम का धर्म गुरुता इत्यादिक बोध शीघ्र हो सकता है। जब हम लोगों का चित्त प्रसन्न रहता है, तब विषय ग्रहण करने में न विलम्ब और न कष्ट ही होता है। इस प्रकार सत्त्व गुण की लघुता का चित्त में आविर्भाव होता है। चित्त जब अत्यन्त अस्थिर रहता है, तब एक विषय से दूसरे विषय में विद्युद्वत् दौड़ता रहता है। यह रजोगुण के धर्म चञ्चलता का फल है और किसी समय चित्त अत्यन्त अलस और कार्य करने में अत्यन्त असमर्थ हो जाता है, यह तमोगुण के धर्म गुरुत्व का फल है। यह समस्त विषय एकाएक मन में स्वयमेव ज्ञात होता है। शास्त्र उसी विषय का निरूपण करते हैं, जिसका बोध प्रणिधान मात्र से शीघ्र हो सकता है।

शरीर के तीन धातुओं में से वायु केवल गतिमान् है, पित्त और श्लेष्मा ये दोनों गतिहीन हैं। इन दोनों को वायु चालित करता है। तद्वत् सदा गतिमान् रजोगुण सत्त्व और तम को चालित करता रहता है। चालन का साधन रजः स्वयं भी चालित होता है। यहाँ पञ्जरचालन न्याय की प्रवृत्ति होती है। जैसे किसी एक पञ्जर में अनेक पक्षी-शावक बद्ध हैं। यदि उसमें एक शावक पञ्जर को हिलावे, तो सब ही शिशु हिल जावेंगे और स्वयं वह चालक शिशु भी हिल जायेगा। तद्वत् एकत्र संश्लिष्ट गुणत्रय के मध्य में रजोगुण में क्रिया होती है। तब सत्त्व और तम

के चालन का साधन रज भी चलायमान हो जाता है।

गृहादि के मध्य में किसी पात्र द्वारा प्रदीप को यदि ढककर रख दिया जाय, तो वह केवल भीतर ही आवरक के मध्य प्रकाश करेगा। आवरक के बाहर वह प्रकाश नहीं कर सकता। ज्यों-ज्यों आवरक पात्र उद्घाटित किया जायेगा, प्रदीप का सञ्चारक क्षेत्र भी त्यों-त्यों बढ़ता जायेगा। इस प्रकार प्रदीप-प्रकाश-ज्योति भी वर्द्धित होगी। आवरक भंग करने से सम्पूर्ण गृह में प्रकाश फैलेगा। यदि गृह की भित्ति भंग कर दी जाय, तो प्रदीप गृह के बाहर स्थान में भी प्रकाश करेगा। सत्त्व गुण का स्वभाव विषय का प्रकाश करना है। सत्त्वप्रधान चित्त समस्त पदार्थ को प्रकाशित करने में यद्यपि समर्थ है, तथापि तम द्वारा आवृत होकर प्रकाश नहीं करता। यदि आवरक तम पृथक् कर दिया जाय, तब समस्त विषय के प्रकाश करने में चित्त को कोई बाधा न होगी। प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा उक्त आवरक भंग हो सकता है।

सुन्द और उपसुन्द ये दोनों सहोदर भ्राता थे। तपस्या कर ब्रह्मा से अमरत्व की प्रार्थना की। ब्रह्मा ने कहा कि अमरत्व से भिन्न कोई और वर माँगो। उन दोनों ने कहा कि हम दोनों किस अन्य से विनष्ट न होवें, यदि हों तो केवल अपने ही भाई-भाई में लड़कर विनष्ट हों। इस प्रकार ब्रह्मा वर देकर चले गए। वे दोनों बहुत उपद्रवी हुए। देव गणों को भी पीड़ा देने लगे। तब देवगणों ने अत्यन्त सुन्दरी तिलोत्तमा को उन दोनों के निकट भेजा। उसे देख दोनों भाई मोहित हो उसके ग्रहण के लिए परस्पर प्रहार कर दोनों विनष्ट हो गए। यही सुन्दोपसुन्द न्याय कहलाता है।

अब मेरे आशय को आप समझ गए होंगे। प्रथम मैंने यहाँ केवल त्रिगुण का वर्णन किया है। इससे आपने रचना की अनुपपत्ति बतलाई है। यह आपका बतलाना असंगत है। आप इस पर कुछ विचार कीजिये। प्रथम अपने शरीर में देखिये कि इन तीनों गुणों का क्या-क्या कार्य होता है। इस शरीर में आत्मा का योग है, इसमें सन्देह नहीं। इसके संयोग से यह जड़ शरीर भी मानो चेतन ही हो रहा है क्योंकि शरीर के किसी अंग पर प्रहार करने से दुःख होता है। मर्दनादिक व्यापार से सुख होता है और अधिक भोजनादि व्यापार से मोह होता है। यह शरीर ही बढ़ता और घटता रहता है। यद्यपि घटना और बढ़ना जड़ पदार्थ के गुण नहीं हो सकते, तथापि प्रत्यक्षतया देखते हैं कि शरीर अपनी सकल इन्द्रियों के साथ बढ़ता और घटता रहता है। प्रथम यह शरीर एक बिन्दु रूप में था। अब बढ़कर साढ़े तीन हाथ का हुआ है। पुनः वार्द्धक्यावस्था में घटते-घटते अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। अन्ततोगत्वा अपने को इस आत्मा से

पृथक् कर लेता है, मानो आत्मा को दूसरे शरीर में ले जाने के लिये इंगन (संकेत) करता है। तब शरीर में चैतन्य कैसे आ जाता है ? इस पर विवाद करना सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि आत्म-संयोग से शरीर का चैतन्य प्रत्यक्ष-सिद्ध है, तथापि इसमें दो-एक प्रमाण ये हैं। जैसे अग्नि के संयोग से लोह-पिण्ड अग्निमय हो जाता है, जल उष्ण हो जाता है। जल के संयोग से यह शरीर शीतल हो जाता है। घर्मार्त्त पुरुष स्नान कर शीतल हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतन के योग से यह अचेतन शरीर चेतनवत् होता है। इसमें सन्देह नहीं। और भी देखिये कि वह एक बिन्दु माता की गर्भावस्था में मातृ-भुक्त अन्न को ले लेकर अपनी रचना स्वयं करता रहता है। रचना करते-करते सर्वांग पुष्ट हो बाहर निकलता है और तब बाह्य मण्डल से सामग्रियों को लेकर अपनी और भी अधिक वृद्धि करता चला जाता है। शैशवावस्था से लेकर यौवनावस्था तक अपनी परिस्थिति के अनुसार अपने को वह बहुत दृढ़ और सुपुष्ट कर लेता है, तो इससे क्या सिद्ध हुआ ? सिद्ध यह हुआ कि अचेतन शरीर ही अथवा अचेतन त्रिगुण ही स्वयं अपनी रचना करता है। इसमें केवल चेतन पुरुष के संयोग मात्र की अपेक्षा है।

शंका— यदि कहें कि आत्मा ही अपने रहने के लिये इस शरीर की रचना धीरे-धीरे क्रमपूर्वक करता जाता है, ऐसा ही क्यों नहीं मानें ?

समाधान— ऐसा हम नहीं मान सकते क्योंकि अपने कर्मानुसार आत्मा चौरादिकवत् बद्ध है। यह शरीर इसका कारागार है और आत्मा अपने कर्मों का फल भोगता है। यदि यह स्वतन्त्र होकर अपने रहने के लिये शरीर बनाता और इसमें बनाने का सामर्थ्य होता, तो सदैव उत्तमोत्तम शरीर ही बनाया करता, जो न कभी जलता, न सड़ता, न गलता, न पचता और न किसी तरह से छिन्न-भिन्न हो, वह शरीर उसका दुःखभागी होता, परन्तु वह वैसा नहीं कर सकता। इस लिये शरीर-रचना जीवात्मा का कार्य नहीं किन्तु अचेतन बीज का ही यह कार्य है। इसके विपरीत हम देखते हैं कि यदि स्वतन्त्र आत्मा होता तो बाहर से दुःखाक्रमण होने पर शरीर से झट निकल यह बाहर हो जाता। तब शरीरकृत दुःख का भोग ही क्यों करता ? जब कभी भयंकर प्लेग, हैजा और ज्वरादि और दुर्भिक्षादिकों का आक्रमण इसके ऊपर होता तो स्वरचित शरीर को छोड़ सुखी बन जाता क्योंकि शरीरस्थ ही इसको सुख, दुःख और मोह होते हैं, परन्तु वैसा वह कर नहीं सकता। जैसे कारागार में बद्ध दण्ड्य पुरुष कारागार से निकल नहीं सकता। जब तक उसके दण्ड की समाप्ति न हो जाय। जैसे यहाँ दण्ड भोगने के लिये कारागार है, इसी प्रकार इस जीवात्मा का यह शरीर कारागार है और कर्म-फलानुसार धीरे-धीरे यह शरीर बनता जाता है।

अब आप मीमांसा कीजिये कि यद्यपि अचेतन रथादिक में स्वयं चेष्टा नहीं देखते और इसके ऊपर प्रहारादिक से सुखादिक भी नहीं पाये जाते। क्या इसी रथादिक के समान यह अचेतन शरीर भी है ? कदापि नहीं। तब यहाँ ही अचेतन और चेतन शरीर में कितना भेद आप पाते हैं। यद्यपि ये दोनों अचेतन हैं, तथापि एक में सुख-दुःख देखते हैं और दूसरे रथ में सुख-दुःख नहीं देखते। इससे क्या सिद्ध हुआ ? सिद्ध यह हुआ कि महान् आत्मा के संयोग से प्रधान या प्रकृति स्वयं अपने को विविध रूपों में रचती रहती है और यह रचना इसलिये करती है कि पुरुष अच्छे प्रकार अपने कर्मानुसार सुख-दुःख और मोह पाये। इसलिये रथादिकों का उदाहरण देकर रचना की अनुपपत्ति रूप आपने जो दोष दिखलाया है, वह कहाँ तक उचित है, आप स्वयं विचार करें ?

अन्वय की अनुपपत्ति भी बतलानी ठीक नहीं। आप कहते हैं कि सुख, दुःख और मोह ये आन्तरिक हैं अर्थात् शरीर के अभ्यन्तर में विद्यमान हैं और विषय, चन्दन, कुंकुम, कण्टक इत्यादि बाहर हैं। चन्दन के ग्रहण से कभी आत्मा को सुख होता है और कभी नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि सुख का निमित्त कारण चन्दन है न कि स्वयं चन्दन सुखस्वरूप है। यदि स्वयं चन्दन सुखस्वरूप होता तो शीतकाल में भी वह सुखकारी होता। कण्टक जैसे उष्ट्र को प्रिय होता है, वैसे ही सबको प्रिय होता ? इत्यादि हेतु भी आपका अहेतु है। मैं पूछता हूँ कि यदि ये बाह्य पदार्थ सुख, दुःख, मोहात्मक न होते, तो किसी पदार्थ से आपको घृणा और किसी पदार्थ से प्रीति क्यों होती ? और यदि अन्न में तृप्त करने का गुण न होता, तो उसके खाने से तृप्ति ही कैसे होती ? यदि जल में सुखात्मक शैत्य न होता, तो स्नान करने से ही शैत्य कैसे आ जाता ? सर्प को देखकर आपको भय ही क्यों होता ? क्योंकि सर्पशरीर अचेतन है, फिर उनसे आपको भय क्यों होता है ? इससे सिद्ध है कि सकल पदार्थ ही सुख, दुःख, मोहात्मक हैं और जिसको आप आभ्यन्तरिक समझते हैं, वह भी क्या है ? इसको भी तो विचारिये। इस शरीर में ही तो सुख, दुःख और मोह होते हैं। यह शरीर अचेतन परमाणुओं से बना हुआ है।

यह अचेतन शरीर ही बाह्य अचेतन वस्तुओं को लेकर सुखी, दुःखी अथवा मूढ़ होता है, तो क्या सिद्ध हुआ ? अचेतन से अचेतन ही सुखी वा दुःखी वा मूर्ख बनता है, क्योंकि बढ़ना, घटना इत्यादिक क्रिया का आधार यह शरीर ही है। इसलिए बाह्य और आभ्यन्तर का विचार भी आपका व्यर्थ है।

और भी, विस्पष्ट रूप से यह समझिये कि क्षुधा, पिपासा इत्यादि धर्म आत्मा के हैं अथवा शरीर के ? निश्चय शरीर के ये धर्म हैं क्योंकि खाने, पीने

से शरीर की वृद्धि होती है न कि आत्मा की। यदि खाने, पीने वाला [आत्मा] होता, तब उनसे आत्मा की वृद्धि होती किन्तु आत्मा की वृद्धि नहीं देखते और यदि आत्मा उपचयापचयवान् होता तो निस्सन्देह यह क्षणविध्वंसी भी होता। अतः जीवात्मा के क्षुधा, पिपासादिक धर्म नहीं। और भी अपने शास्त्रों में कोई आत्मा को विभु और कोई अणुतम मानते हैं। विभु आत्मा यदि खाने, पीने लगे तो अर्व-खर्व मनों से भी इसकी सन्तुष्टि नहीं हो सकती। यदि आत्मा अणुतम है तब उसका उदर ही कितना बड़ा हो सकता है, तब सब प्राणी ओदन के एकाध अणु से ही तृप्त हो जाता इत्यादि दोषों के हेतु से आत्मा को अशनपिपासावान् न आप और न मैं ही मान सकते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि जो खाता, पीता है, वही सुखी, दुःखी भी होता है। अचेतन शरीर खाता, पीता है, अतः यही सुखी वा दुःखी होता है। अत एव अचेतन शरीर में सुख, दुःख और मोह हैं, यह विस्पष्टतया सिद्ध होता है। जरायुज, अण्डज और ऊष्मज शरीरों का यह वर्णन हुआ। इसी प्रकार उद्भिज्ज शरीर का भी समझना उचित है क्योंकि इसमें भी आत्मा का योग है। जैसे जरायुज मनुष्यादि शरीर, अण्डज विहगादि शरीर, ऊष्मज यूकादि शरीर में न्यूनाधिक तारतम्य होता गया है, तद्वत् उद्भिज्ज आम्रादिक शरीर में भी वैसा ही तारतम्य विद्यमान है। ये वृक्षादिक भी अत्यन्त स्वल्प रूप से सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। लज्जावन्ती नाम का घास छूने से संकुचित हो जाता है। यह प्रसिद्ध है कि कमलिनी रात्रि में सो जाती है और दिन में जागती है। वनस्पति शास्त्र के अध्ययन से मालूम होता है कि बहुत सी वनस्पति सोती और जागती हैं। इनमें सम्भूयकारिता और ईर्ष्या दोष भी यत्किञ्चित् पाये जाते हैं। इस प्रकार चतुर्विध शरीरों की परीक्षा करने से क्षुधा, पिपासादिक सकल पदार्थधर्म अचेतन शरीर के ही प्रतीत होते हैं। अतः आत्मसंयोग से अचेतन प्रधान जैसे इस शरीर में रचना करता है, वैसे ही सृष्टि के आदि से अब तक रचना करता चला आया है। इस हेतु मेरे पक्ष में रचना आदिकों की अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

त्रैती— आपकी व्याख्या बहुत विस्तृत हो गई। एवमस्तु। आप इन सबका सावधान होकर समाधान सुनिये। आपका सिद्धान्त आपके अभिमत सर्वथैव प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन से विरुद्ध हैं। ईदृक् सिद्धान्त प्रायः किसी शास्त्र अथवा किसी आप्त जन का नहीं हो सकता। अब आपके सिद्धान्त की समालोचना इस प्रकार है। आपके प्रधान की रचना ही असंगत है। १. आप कहते हैं कि सत्त्व, रज और तम ये तीनों द्रव्य हैं। इन्हें गुण इसलिए कहते हैं कि रज्जुवत् ये आत्मा

को अपने पाश में बांधते हैं और वेणीवत् ये परस्पर सम्मिलित रहते हैं किन्तु ये द्रव्य नहीं हो सकते, क्योंकि—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनप्रवृत्तयश्च गुणाः।। सां० का० १२

इसका अर्थ पूर्व[1] में लिखा गया है।

इस कारिका द्वारा सत्त्वगुण का स्वरूप प्रीति, रजोगुण का अप्रीति, तमोगुण का विषाद बतलाया गया है। अब विचार कीजिये कि प्रीति, अप्रीति और विषाद ये तीनों गुण हैं अथवा द्रव्य ? निस्सन्देह ये गुण हैं, द्रव्य नहीं। ये द्रव्य में रहते हैं। क्या द्रव्य से पृथक् इन तीनों का अस्तित्व कहीं भी आपने देखा है ? कदापि नहीं। इस हेतु प्रथम प्रधान का स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता। और भी इन तीनों गुणों को आप नित्य सहचर कहते हैं। यह भी असंगत है। एक ही समय में साथ ही साथ प्रीति, अप्रीति और विषाद ये तीनों एकत्रित नहीं रह सकते। प्रीति नाम सुख का है और अप्रीति नाम दुःख का है, विषाद नाम मोह का है। जैसे तेजस्तिमिर कदापि सहचर नहीं हो सकते, तद्वत् सुख, दुःख भी सहचर नहीं हो सकते। एवमस्तु, द्वितीय दोष की ओर ध्यान दीजिये।

२. सत्त्व का धर्म प्रकाश, रज का प्रवृत्ति और तम का आच्छादन है। और ये तीनों भी नित्य साथ रहते हैं। यह कथन सर्वथा युक्तिविहीन है। सत्त्व का धर्म प्रकाश और तम का धर्म आच्छादन= आवरण ये दोनों भी कदापि साथ नहीं रह सकते क्योंकि आवरण शब्द का अर्थ तम है और तम का अर्थ अन्धकार है। कहिये ! प्रकाश और तम ये दोनों कभी सहचर हो सकते हैं ? यह सब प्रथम तीनों प्रमाणों से विरुद्ध है। अत एव प्रथम प्रधान की रचना असंगत है।

द्वैती— जैसे परस्पर विरुद्ध वर्त्ति, तैल और अग्नि मिलकर प्रदीपरूप एक कार्य करते हैं और जैसे परस्पर विरुद्ध वात, पित्त और श्लेष्मा ये तीनों मिलकर शरीर की धारणा करते हैं, तद्वत् ये विरुद्ध तीनों गुण मिलकर स्व-स्व कार्य कर सकते हैं।

त्रैती— ये दृष्टान्त भी अदृष्टान्त हैं। वर्त्ति और तैल परस्पर विरोधी नहीं। अब अग्नि इसके विरोधी है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु अग्नि वस्तु क्या है ? इसको भी आपने विचारा है ? अग्नि स्वतः कोई वस्तु नहीं। प्रत्येक द्रव्य पदार्थ का यह एक धर्म है। यह अग्नि पृथिवी से, वायु से, जल से उत्पन्न होता रहता है। मेघ जलमय वस्तु है, उससे विद्युद्रूप अग्नि की उत्पत्ति प्रत्यक्षसिद्ध है। रात्रि में देखा जाता है कि कभी-कभी नभोमण्डल में अग्नि की धारा बहुत तीव्र वेग से दौड़

१. पृ० १९७।

जाती है। एवं प्रत्येक तृणादि पदार्थों में जब दूसरे अग्नि का सहयोग किया जाता है, तब वह तृणादि पदार्थ जलने लगता है अथवा कभी-कभी अति संघर्षण से भी वंशादिक में अग्नि स्वयं उत्पन्न होता है। लोहे और पत्थर पर आघात होने से अग्नि निकलने लगता है। इस हेतु यदि पदार्थगत धर्मों का विचार करेंगे तो अग्नि पृथक् वस्तु सिद्ध नहीं होती। और भी, अग्नि के प्रवेश से लोहे के तोल में किञ्चित् भी न्यूनाधिक नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि अग्नि कोई पृथक् वस्तु नहीं। इस हेतु वर्त्ति, तैल और अग्नि को परस्पर विरुद्ध कहना अज्ञानता की बात है। वर्त्ति और तैल का अन्तर्हित ही प्रकाशलक्षणक अग्नि अब प्रकट रूप में काम कर रहा है, इतना ही भेद है। और अग्नि का अपना स्वाभाविक धर्म है, उसको भी यह नहीं त्यागता। अपने आधार को नष्ट कर स्वयं अग्नि नष्ट हो जाता है। यही प्रदीप में भी देखते हैं। प्रथम अपने आधार के तैल को धीरे-धीरे क्षय करता जाता है। तैल के क्षय होने पर वर्त्तिका का क्षय कर स्वयं भी नष्ट हो जाता है। इस हेतु प्रदीप का उदाहरण अनुदाहरण है। अब वात, पित्त श्लेष्मा का उदाहरण भी तत्समान ही है। ये तीनों परस्पर विरोधी नहीं किन्तु सहायक हैं। यदि पित्त और श्लेष्मा के साथ वात (वायु) न रहता तब ये दोनों शरीर को बहुत ही गंदा कर देते। वायु इन दोनों को शुद्ध करता रहता है। यदि इस शरीर में बाहर से वायु न आता जाता रहता तो इस शरीर की क्या दुर्दशा होती और यह कितना दुर्गन्धमय हो जाता कि उसका वर्णन नहीं कर सकते। इसलिए ये तीनों विरोधी नहीं किन्तु आपके अभिमत प्रकाश और तम ये दोनों सर्वथैव परस्पर विरोधी हैं। तब ये मिलकर कैसे काम कर सकते हैं ? इस हेतु प्रथम प्रधान की रचना आपके अनुसार नहीं बनती। यदि ये तीनों गुण कोई द्रव्य हैं तो इनका स्वरूप सुख, दुःख और मोह नहीं हो सकता, क्योंकि ये तीनों किसी द्रव्य में रहेंगे, द्रव्य से पृथक् नहीं। अतः त्रिगुण का स्वरूप प्रथम बतलावें। अब आगे चलिये।

द्वितीय महत्तत्त्व की भी रचना नहीं बन सकती। आप विचारिये कि प्रधान से 'महान्' की उत्पत्ति कैसे कही जा सकती है ? संस्कृत में 'महान्' यह विशेषण पद है। तब महान् कहने से किसी पुँल्लिग पदार्थ का ग्रहण होगा जिसमें महत्त्व हो। अन्यथा जब तक विशेष्य लक्षित नहीं होगा, तब तक 'महान्' कहना व्यर्थ है। एवमस्तु, आप कहते हैं कि त्रिगुणमय प्रधान से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व नाम बुद्धि का है। मुझे आश्चर्य है कि सांख्य का यह कैसा ऊटपटाँग सिद्धान्त है। बुद्धि भी एक धर्म है। जो किसी द्रव्य में रह सकता है। जिस द्रव्य में यह रहता है, उसका नाम जीवात्मा है। तब प्रधान से महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई, यह कहना बिलकुल असंगत है। यदि प्रधान द्रव्य है तो उससे द्रव्य की उत्पत्ति

होती। तो आप बतलावें, बुद्धि कौन सा द्रव्य है ? अब महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति बतलाते हैं। मैं नहीं समझता कि अहंकार भी कोई द्रव्य है, क्योंकि—

अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव।। सां० का० २४

इस कारिका द्वारा कहा जाता है कि अहंकार नाम अभिमान का है। यह अभिमान भी आत्मा का धर्म विशेष है क्योंकि अहम्= मैं हूँ, मेरे ये सब परिवार हैं, मैं उच्च वा नीच हूँ इत्यादि बोध किसी द्रव्य का धर्म है न कि स्वयं द्रव्यस्वरूप है। इसलिए भी आपका मत असंगत है अर्थात् अहंकार की भी रचना नहीं बन सकती। अब उस अहंकार से षोडश पदार्थों की उत्पत्ति कही जाती है। वे एकादश इन्द्रिय हैं और पाँच शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये तन्मात्र हैं। ये भी विपरीत हैं क्योंकि प्रथम जब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन बन जाता है, तब इनके योग से अहंकार आदि की उत्पत्ति हो सकती है। प्रत्यक्ष में देखते हैं कि जहाँ इन्द्रियाँ हैं, वहाँ अभिमानादिक हैं। जहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं, वहाँ अभिमानादिक भी नहीं हैं। इसलिए अभिमान इन्द्रियों का कार्य है न कि कारण। एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच तन्मात्रों से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी की उत्पत्ति कही जाती है। यह भी विपरीत बात है क्योंकि पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश के क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुण हैं। समवाय सम्बन्ध से पृथिवी में गन्ध, जल में रस, तेज में रूप, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्दगुण है। समवाय सम्बन्ध से पृथिवी में गन्ध, जल में रस, तेज में रूप, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्द रहता है। यह आस्तिक सिद्धान्त की बात है, किन्तु सांख्य इसके सर्वथा विरुद्ध अनुशासन करता है। यह कहता है कि शब्द से आकाश की, रूप से तेज की, स्पर्श से वायु की, रस से जल की और गन्ध से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। यह कैसे हो सकता है ? कहाँ तक कहा जाय सांख्य शास्त्र सर्वथैव विपरीत बात का वर्णन करता है। इसमें लोगों की श्रद्धा कैसे हो ? जितनी ही इसकी समालोचना की जाय, उतनी ही इसकी निस्सारता विदित होगी। अब आकाश की ओर ध्यान दीजिये। क्या आकाश की उत्पत्ति कभी हो सकती है ? जब आपके सिद्धान्तानुकूल प्रधान और जीवात्मा दोनों अनादि वस्तुएँ हैं, तो मैं पूछता हूँ कि ये दोनों किसी आकाश में थे या नहीं ? यदि उस समय आकाश न था तो ये दोनों कैसे और कहाँ थे ? क्या इसको कोई सांख्यवित् बतला सकते हैं ? क्या किसी सांख्यवेत्ता की बुद्धि में यह बात आ सकती है कि आकाश के बिना भी किसी पदार्थ की स्थिति हो सकती है ? आप भी आकाश को नित्य मानते हैं। इसमें यह सूत्र प्रमाण है— **'न देशयोगतोऽप्यस्मात्'** (सांख्य १.१३)।

पुनः आप कहते हैं कि प्रधान व्यापक है तो कहाँ व्यापक था ? किस आधार के ऊपर इसकी व्यापकता थी ? यदि आधार नहीं था, तो इसकी व्यापकता की भी सिद्धि नहीं हो सकती। इस हेतु आकाश की उत्पत्ति माननी सर्वथा असंगत है। अब मैं यह पूछता हूँ कि आपके सिद्धान्तानुसार काल क्या वस्तु है और कहाँ से इसकी उत्पत्ति हुई ? क्या कभी इसका ध्वंस होगा। निस्सन्देह काल और आकाश का कभी ध्वंस नहीं हो सकता। आपके सिद्धान्तानुसार काल भी नित्य और व्यापी वस्तु है। इसमें यह सूत्र प्रमाण है— **'न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्'** (सांख्य १.१२)। जब आकाश और काल की उत्पत्ति किसी तरह से आप सिद्ध नहीं कर सकते, तब इस जड़ जगत् का कारण एक प्रकृति है, यह भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश और काल यह भी तो जड़ ही हैं। इनका कारण कौन ? आपके सिद्धान्त से बाह्य जगत् की भी रचना नहीं होती।

आप पुरुष (जीवात्मा) और प्रकृति दोनों को विभु मानते हैं। तब शरीरवत् रथादिक में भी चेष्टा क्यों नहीं होती, क्योंकि आत्मा का संयोग वहाँ भी है।

द्वैती— हम लिंग नामक एक शरीर मानते हैं, वह लिंग देह जिस-जिस आत्मा के साथ अदृष्टवश से संयुक्त होता है, उसी-उसी में बुद्ध्यादि सहित शरीर चेष्टावान् होता है। रथादिक में लिंग शरीर का योग न होने से चेष्टा का अभाव है।

त्रैती— उस लिंग शरीर का स्वरूप क्या है ?

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्।। सां० का० ४०

प्रधान के द्वारा (लिंगम्) वह लिंग शरीर (पूर्वोत्पन्नम्) आदि सर्ग में ही प्रत्येक पुरुष के लिए एक-एक उत्पन्न किया गया। वह (असक्तम्) अप्रतिहत= शिला आदिक में जो प्रवेश कर सके। पुनः (नियतम्) आदि सर्ग से लेकर महाप्रलय तक स्थायी। पुनः (महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्) महत्तत्त्व, अहंकार, एकादश इन्द्रिय और पञ्च तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पञ्च तन्मात्र कहलाते हैं) इनका समुदाय स्वरूप ही सूक्ष्म शरीर है। वही (संसरति) षाट्कौशिक[१] शरीर को पाकर त्यागता और त्यागकर दूसरे शरीर में पुनः प्रवेश करता है, क्योंकि (निरुपभोगम्) षाट्कौशिक[१] शरीर के बिना यह सूक्ष्म शरीर उपभोग रहित हो जाता है। इस हेतु एक देह को छोड़ दूसरे में जाता है। पुनः (भावैः अधिवासितम्) धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य और ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ये

१. माता से लोम, लोहित और मांस और पिता से स्नायु, अस्थि और मज्जा ये छह सन्तान में आते हैं और इन्हें षाट्कौशिक कहते हैं।— (ग्रन्थकार)

आठ भाव कहलाते हैं। इनसे युक्त बुद्धि है। और बुद्धि से वासित यह सूक्ष्म शरीर है। जैसे सुरभि चम्पक के सम्पर्क से वस्त्र भी आमोदित हो जाता है। इसको लिंग इसलिए कहते हैं कि वह लय को प्राप्त होता है। **'लयं गच्छतीति लिंगम्'** प्रधानवत् वह महाप्रलय में न रहकर लीन हो जाता है। अतः यह लिंग कहलाता है।

इस लिंग शरीर के साथ जिस-जिस आत्मा का संयोग अदृष्टवश से होता है, वहाँ अचेतन शरीर भी चेतनवत् हो जाता है। यह सदैव स्मरणीय है कि यह संसार धर्माधर्मनिमित्तक है।

त्रैती— जब भोगायतन यही षाट्कौशिक शरीर है, तब इस लिंग शरीर के मानने की आवश्यकता क्या ?

द्वैती— यदि लिंग शरीर न माना जाय तो गमनागमन कौन करेगा ?

त्रैती— यह जीवात्मा।

द्वैती— जीवात्मा विभु है, उसमें गति और अगति नहीं हो सकती। अतः लिंग देह मन्तव्य है।

त्रैती— आत्मा विभु है, यह कथन आपका सर्वथा असंगत है। यदि विभु हो, तो एक के दुःख से सब दुःखी और एक के सुख से सब सुखी हों।

द्वैती— धर्माधर्म निमित्त जिस लिंग शरीर के साथ जिस आत्मा का योग है, उसी में उसका सुख, दुःख है। अतः एक के दुःख से दूसरा दुःखी नहीं।

त्रैती— आप आत्मा को विभु मानते हैं और एक-एक लिंग शरीर प्रत्येक आत्मा के लिए बनाया गया तो जिस समय लिंग शरीर बनाये गये, उस समय प्रत्येक विभु आत्मा का प्रत्येक लिंग शरीर के साथ संयोग हुआ, तो यही लिंग शरीर उसी आत्मा का है, यह कैसे निश्चय हो सकता है। और भी सुनिये, भोग और अपवर्ग के लिए प्रधान सृष्टि रचता है, तो मैं पूछता हूँ कि अब जीवात्मा के शुभाशुभ कर्म-भोग दोनों के लिए तैयार हैं और यदि लिंग शरीर न बनाये जायँ तो भोगापवर्ग सिद्ध न होंगे। इसलिए प्रथम एक-एक लिंग शरीर मानना चाहिए। इत्यादिक ज्ञान अचेतन प्रधान में कैसे हो सकता है ? जब कर्मवश आत्मा-प्रधान का योग हो, तो प्रधान में चैतन्य आवे। आदि सृष्टि में कर्मवश योग न होने से लिंग शरीर बनाने का बोध ही कैसे प्रधान को हुआ। अत एव अचेतन प्रधान के द्वारा लिंग शरीर की रचना नहीं हो सकती। अब आगे चलिये। स्वतः इसकी प्रवृत्ति भी [नहीं] हो सकती, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो एक स्थान में वाल्मिकीय रामायण के जितने अक्षर हैं, उतने अक्षर किसी कागज पर लिखकर रख दिये जायँ और वहाँ कोई पुरुष प्रतिदिन आकर रामायण का पाठ भी किया करें, तो

क्या उस पाठ को सुनकर कोटियों वर्षों में भी वे अक्षर मिलकर रामायण रूप में आ सकते हैं ? कदापि नहीं। तद्वत् यह अचेतन प्रधान भी चेतन के अधिष्ठातृत्व के बिना रचना रूप में नहीं आ सकता। और भी, सृष्टि के पूर्व आत्मा को मोक्ष सिद्ध था ही तो मुक्ति के लिए प्रधान की चेष्टा ही क्यों हो ? और भी, भोग यह धर्म आप आत्मा का नहीं मानते। भोगादिक धर्म बुद्धि के हैं, तब भोग के लिए भी सृष्टि नहीं हो सकती। इस हेतु आपका सिद्धान्त सर्वथा असंगत है।

और भी सुनिये ! सुख, दुःख और मोह जगत् में देखकर इनके कारण प्रधान का आप अनुमान करते हैं। इसके विपरीत मैं यह पूछता हूँ कि जगत् में प्रत्यक्षतया पृथिव्यादि द्रव्य, रूप, रसादि गुण, ऊर्ध्वगमनादि कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इनको देखकर इनके कारण तत्समान क्यों नहीं अनुमान करते ? परमाणुपुञ्जों से यह पृथिवी बनी हुई है। वायु भी परमाणुओं की राशि है। तब इसका कारण परमाणु ही क्यों नहीं मानते ? क्योंकि लोक में सुख, दुःख और परमाणुओं का ढेर भी देखते हैं। तब आपका ही मत मन्तव्य है, वैशेषिक का नहीं, इसमें युक्ति क्या है। दूसरी बात आपकी कल्पना भी सर्वथा विपरीत है।

आपकी कल्पना का वर्णन न तो वेदों, न ब्राह्मण ग्रन्थों और न प्रसिद्ध दश उपनिषदों में पाया जाता है। हाँ, श्वेताश्वतर उपनिषद् आपके इस मत की पुष्टि करती है। इसकी समालोचना प्रकृत्यादर्श[1] में रहेगी।

द्वैती— तब क्या सांख्य शास्त्र अनुपादेय (त्याज्य) ही सिद्ध होता है ?

त्रैती— नहीं मैं सांख्य और योग दोनों शास्त्रों को केवल अध्यात्म शास्त्र समझता हूँ। यह केवल शरीर और आत्मा का वर्णन करता है, न कि बाह्य जगत् का। तब इसकी संगति इस प्रकार हो सकती है। प्रत्येक अन्तःकरण में सात्त्विक, राजस और तामस भाव विद्यमान हैं। किसी में कोई गुण न्यून और किसी में अधिक हैं। शरीर ज्यों ही बनता है अथवा बीज में ही प्रथम तीनों गुणों का विकास होने लगता है। शरीर बाहर आते ही विशेष कर मनुष्य शरीर देह में ये झटिति विकसित हो जाते हैं। जन्म लेते ही बालक की मुखच्छवि देख कर वैज्ञानिक कह सकते हैं कि यह सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों में से कौन होगा ? इन्हीं गुणों के अनुसार इस शरीर में वात, पित्त और श्लेष्मा की न्यूनाधिकता हो जाती है। तब इसमें एक महती सात्त्विक बुद्धि (= तत्त्व) केवल उत्पन्न होती है। यह भी शिशुओं में प्रत्यक्ष ही दीखती है। प्रथम शिशुओं में केवल अपने खाने-पीने की ही बुद्धि रहती है। प्रायः दो-तीन वर्षों तक किसी प्रकार के राग-द्वेषादि की चेष्टा नहीं पाई जाती। इस हेतु वास्तव में बालक राग-द्वेषादि से

१. द्र०– पृ० ३२४ और आगे।

शून्य होने के कारण योगिवत् महान् है। इनमें केवल शुद्ध सात्त्विक बुद्धि रहती है। पश्चात् अहंकार अर्थात् अभिमानादिक धर्म इस में आते जाते हैं। और समझने लगता है कि अब मेरे क्या-क्या कर्त्तव्य होने चाहिये। इस संसार में मेरे जीवन के [लिए] कौन सी वस्तु परमात्मा ने स्थापित की है ? इस जिज्ञासा के बाद शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के भोगने की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं विद्या पढ़ूँ, गायक बनूँ, लोक में मेरे यश विस्तृत हों, भोग-विलास उपस्थित हों इत्यादि। ये सब कैसे हो सकते हैं ? जब मेरे ये दश इन्द्रिय और एकादश मन अच्छे प्रकार नीरोग और दृढ़ हों। परन्तु वे भी एकादश इन्द्रिय और शब्द स्पर्शादिक विषय कब प्राप्त हो सकते है ? जब पृथिव्यादिक महाभूत हमारे अनुकूल हों, हमारे सहायक बनें। अनुकूल और उर्वरा पृथिवी मिले। उष्णता और प्रकाश भी उसमें बहुलता से हो। जलादिक का भी सौष्ठव प्रबन्ध हो इत्यादि भावना उपन्न होती है। तब जो आत्मा इन भोगों को भोगते हुये इनके अन्त को जान तृप्त हो, वैराग्य-युक्त बन जाते हैं, अपवर्ग-भागी होते हैं और जो इनमें लिप्त रहते हैं, वे बद्ध बने रहते हैं। इस प्रकार इसका आशय है। इति संक्षेपतः।

चतुर्व्यूहमत

कुछ प्राचीन काल में भगवद्धर्म सम्बन्धी एक मत चला था। उस मत के मानने वाले भागवत और सात्त्वत कहलाते थे। उनका इस प्रकार मन्तव्य है कि निरञ्जन ज्ञानस्वरूप एक भगवान् ही परमार्थ तत्त्व है, जिसका नाम वासुदेव है। वह अपने को चार अंशों में बाँट कर प्रतिष्ठित है। वासुदेव व्यूहरूप से संकर्षण व्यूहरूप से, प्रद्युम्न व्यूहरूप से और अनिरुद्ध व्यूहरूप से वह भगनान् सदा स्थित रहता है। व्यूह नाम मूर्त्ति का है। इन भागवतों के मत में वासुदेव नाम परमात्मा का, संकर्षण नाम जीव का, प्रद्युम्न नाम मन का और अनिरुद्ध नाम अहंकार का है। उनमें वासुदेव मूल कारण और इतर संकर्षणादि कार्य हैं। वे कहते हैं कि वासुदेव से संकर्षण की, संकर्षण से प्रद्युम्न की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह वक्तव्य[1] है कि वासुदेव संत् संज्ञक परमात्मा से संकर्षण संज्ञक जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जीव में अनित्यत्वादि दोष का प्रसंग होगा। उत्पत्ति मान लेने से जीव अनित्य सिद्ध होंगे और उसके सकल कर्म भी अनित्य ही होंगे। ईश्वर में भी अनेक दोषों की उत्पत्ति होगी। यदि अनादि काल से जीव नहीं हैं तो किस की अपेक्षा से परमात्मा विषमा सृष्टि करे ? तब समान ही सृष्टि क्यों न बनावे ? उत्तम, मध्यम और अधम सृष्टि बनाते हुये ईश्वर में अन्याय और क्रूरतादि दोष होंगे। और भी, जब जीव उत्पन्न हों, तो

१. हस्तलेख में 'कर्त्तव्य' पाठ है।

उनका घटादिवत् विनाश भी होगा क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश होता है। तब सकल धर्माधर्म के नियम धूल में मिल जायेंगे क्योंकि पाप-पुण्य का भोक्ता कोई स्थिर जीव मरने के पश्चात् न रहेगा तो शुभाशुभ कर्मों का विधि और निषेध ही क्या ? विधि-निषेध के अभाव से नास्तिकता ही का प्रसंग होगा। इस हेतु जीवात्मा की उपत्ति माननी सर्वथा वेद-विरुद्ध है। इस हेतु भागवतों की कल्पना सर्वथा असंगत और त्याज्य है।

भागवत कहते हैं कि संकर्षण संज्ञक कर्त्ता, भोक्ता जीवात्मा से प्रद्युम्न संज्ञक अन्तःकरण मन की उत्पत्ति होती है। यह भागवतों का कथन सर्वथा असंगत है क्योंकि लोक में इसका दृष्टान्त नहीं। कर्त्ता देवदत्तादिक से करण (साधन) परशु, वाशी, कुद्दाल इत्यादिकों की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। कर्त्ता से करण सर्वथा भिन्न वस्तु है। दृष्टान्त के बिना इनके इस मत का स्वीकार नहीं हो सकता। इसलिए यह कल्पना असंगत है। और भी, यदि वे कहें कि वे संकर्षणादिक वास्तव में जीवादिक नहीं, ये चारों भिन्न-भिन्न ईश्वर ही हैं। वे सब ही ज्ञानैश्वर्य-शाली, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ वासुदेव स्वरूप ही हैं। उत्पत्ति कल्पना केवल नाम मात्र है। इस हेतु उत्पत्त्यसम्भव दोष नहीं। इस कहते हैं कि यह कल्पना भी आप की ठीक नहीं। यदि आप का यह अभिप्राय है कि ये परस्पर मिल वासुदेवादिक चारों ईश्वर हैं और इनमें सामर्थ्य सर्वज्ञत्वादिक धर्म तुल्य ही है, तो भी अनेक ईश्वर की कल्पना करनी व्यर्थ है। एक ईश्वर से ही कार्य की सिद्धि हो सकती है और इस प्रकार आप के सिद्धान्त की भी हानि होगी क्योंकि एक ही वासुदेव संज्ञक भगवान् परमार्थ तत्त्व है, यह आप ने स्वीकार किया है। यदि इस पर आप यह कहें कि एक ही भगवान् के तुल्य शक्ति वाले ये चार व्यूह हैं, तो भी उत्पत्त्यसम्भव दोष तदवस्थ ही रह जाता है क्योंकि वासुदेवसंज्ञक परमात्मा से संकर्षणसंज्ञक जीव की, संकर्षण से प्रद्युम्न की, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वे चारों तुल्य सामर्थ्य वाले हैं, तब एक से दूसरे की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? कार्य-कारण में एक की न्यूनता और दूसरे की अधिकता अपेक्षित है। जैसे घट की अपेक्षा मृत्तिका अधिक है। अतिशय न होने से कार्य कारण नहीं हो सकता। इस हेतु यह पञ्चरात्र सिद्धान्त असंगत और त्याज्य है। पण्डित शाण्डिल्य नामक मनुष्य ने पञ्चरात्र नामक एक ग्रन्थ लिखा और उसका नाम भागवत धर्म रखा। उस पञ्चरात्र नामक ग्रन्थ में वेद की बहुत निन्दा बतलाई गई। उसमें प्रथम यह वर्णन आता है कि शाण्डिल्य नाम का एक कोई मनुष्य बहुत दिनों तक वेद पढ़ता रहा। उसको वेदों में कोई सार वस्तु प्रतीत नहीं हुई। तब बहुत दिनों तक वेदविहित यज्ञादि कर्म करता रहा। पश्चात्

उनसे भी उसे बहुत घृणा हुई, क्योंकि यज्ञों में पशुहिंसा और नाना सामग्रियों की योजना और यजमान, पुरोहित इत्यादिकों का वरण करना है। पुनः यज्ञादिक कर्मों के फलों को स्वर्गादिक में भोग कर नीचे गिरता है इत्यादि बहुत से असमञ्जस देख उन यज्ञादि कर्मों से भी घृणा हुई। तब कहीं भी निःश्रेयस का मार्ग न देख मनुष्यों के उद्धार के लिए शाण्डिल्य ने पञ्चरात्र नामक ग्रन्थ रचा। उसमें चतुर्व्यूह का वर्णन किया। अपने सम्प्रदाय का नाम भागवत धर्म रखा। इत्यादि बहुत सी वेद की निन्दा है।

यह मेरा वक्तव्य है कि शाण्डिल्य नाम का वह मनुष्य वेद का कुछ भी ज्ञाता नहीं था, क्योंकि अतिप्राचीन मन्वादि बड़े-बड़े ऋषि और मुनि कहते चले आये हैं कि वेद में समस्त ज्ञान भरा हुआ है। इससे बढ़कर कल्याणकारक कोई ग्रन्थ नहीं। वेद से ही सृष्टि और सकल कर्त्तव्याकर्त्तव्यादि लक्षण वाले विधि-निषेध युक्त धर्म निकले हैं। **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्', 'नास्तिको वेदनिन्दकः'** इत्यादि। और जो वह वेदानुकूल यज्ञ में पशुहिंसा समझते थे, यह शाण्डिल्य की मूर्खता थी, क्योंकि **'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** किसी प्राणी की हिंसा न करो, यह वैदिक सिद्धान्त था। इसको न जान शाण्डिल्य यदि वेदानुकूल पशुहिंसा समझते थे तो वह अज्ञानी थे। और वैदिक यज्ञों का फल केवल स्वर्ग है, यह भी कथन ठीक नहीं। वेद में यज्ञ नाम सकल शुभ कर्मों का है। सत्य का ग्रहण करना, उसे जानना, मानना वेद का परमोपदेश है। एक ब्रह्म ही पूज्य है और सृष्टिकर्त्ता है। इत्यादि सहस्रशः कल्याण की बातें, जो वेदों में परिपूर्ण हैं, वे शाण्डिल्य को न सूझीं। मैं कहाँ तक वर्णन करूँ ? वेदविरुद्ध होने से यह भागवत धर्म सर्वथा त्याज्य है।।

इति श्रीशिवशंकरप्रणीते[1] त्रैतसिद्धान्तादर्शे
ब्रह्मास्तित्वाद्यादर्शः समाप्तः।।३।।



१. हस्तलेख में 'शिवशंकरकृते' पाठ है।

आत्मास्तित्वादर्श

शरीर से आत्मा भिन्न है।

इस विषय में सांख्य शास्त्र पाँच हेतु देते हैं–

१. संघातपरार्थत्व। २. त्रिगुणादिविपर्यय। ३. अधिष्ठान। ४. भोक्तृभाव। ५. कैवल्यार्थप्रवृत्ति।

संघातपरार्थत्व– जहाँ शयन, आसन, अभ्यंग, गृह और अन्यान्य उपकरणों को विधिपूर्वक एकत्रित देखते हैं तो अनुमान करते हैं कि एकत्रित सामग्रियाँ किसी अन्य पुरुष के लिए हैं, क्योंकि ये विधिपूर्वक एकत्र सन्निवेशित हैं। इसी प्रकार सूर्य से लेकर पृथिवी पर्यन्त नियमबद्ध जो यह अचेतन जगत् और इन्द्रियादि सहित यह शरीर है, ये भी किसी अन्य के लिए हैं। वह अन्य जीवात्मा है। यदि इसमें कोई शंका करे कि जैसे अचेतन शयनासनादि संघात (समूह) शरीर के लिए ही देखे जाते हैं। इस हेतु यह व्यक्ताव्यक्त संघात जगत् किसी अन्य संघात के लिए ही हो, असंघात आत्मा के लिए नहीं।

इस पर द्वितीय हेतु **त्रिगुणादि विपर्यय** कहते हैं अर्थात् यदि एक संघात दूसरे संघात के लिये हो और वह संघात तीसरे संघात के लिये हो तो इस प्रकार अनवस्था होगी। इस हेतु जो-जो त्रिगुणात्मक हैं, वे-वे सब ही संघात हैं। जो-जो संघात हैं, वे त्रिगुणात्मक हैं। इस लिये एक अत्रिगुणात्मक भी होना चाहिये। जो अत्रिगुणात्मक है, वह आत्मा है।

इन सब से भिन्न आत्मा है, इस में तृतीय हेतु **अधिष्ठान** है। जो-जो सुख, दुःख, मोहात्मक दीखता है, वह किसी दूसरे से अधिष्ठित है। जैसे अचेतन रथादिक सारथि आदि से अधिष्ठित होते हैं, तद्वत् सुख, दुःख मोहात्मक ये बुद्ध्यादि किसी अन्य से अधिष्ठित होने चाहियें। वह जीवात्मा है।

पुरुष है, इसमें– चतुर्थ **भोक्तृभाव** हेतु है। भोग्य से सुख-दुःख समझा जाता है क्योंकि भोग्य सुख और दुःख ये दोनों अनुकूल और प्रतिकूल वेदनीय हैं। हम लोग सब कोई अनुभव करते हैं अर्थात् यह वस्तु मेरा सुखकर है और यह दुःखकर है इसका अनुभव करने वाला कोई दूसरा अवश्य होना चाहिये। यदि कहें कि बुद्ध्यादिक ही इसके अनुभव करने वाले हैं तो यह नहीं हो सकता क्योंकि बुद्ध्यादिक स्वयं सुख, दुःख, मोहात्मक हैं। अपने को वह स्वयं नहीं जान सकता। इस हेतु जो सुखाद्यात्मक है, वह अनुकूलनीय और प्रतिकूलनीय है। वह

आत्मा नहीं है।

इनसे पृथक् पुरुष है, इसमें पञ्चम हेतु– **कैवल्यार्थ प्रवृत्ति** है। सृष्टि के आदि से लेकर अब तक निश्छल, निष्कपट, तपस्वी, विवेकी, सत्यवादी ऋषि और मुनिगण मुक्ति के लिये सदा चेष्टा करते आये और तद्विधायक अनेक शास्त्र भी बना गये। परम्परया उनका उपदेश हम लोगों तक पहुँचा है और समय-समय पर सिद्ध और दिव्य लोचन कपिल प्रभृति मुक्ति का मार्ग बतला गये हैं। यदि मोक्ष ही कोई वस्तु न हो, तो इन लोगों की इसमें प्रवृत्ति ही क्यों होती ? इसलिये इन शरीरादिकों से भिन्न जीवात्मा है जिसके मोक्ष के लिये प्रयत्न किया जाता है, यह सिद्ध हुआ।

'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में आत्मास्तित्व के सम्बन्ध में इस प्रकार विवरण है। "मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ।" इत्यादि प्रतीति से एक प्रकार से आत्मा प्रत्यक्ष है। तथापि विवादग्रस्त पुरुष को प्रथम ही यह नहीं कह सकते कि शरीरादि से भिन्न आत्मा है। इस हेतु आत्मा के अस्तित्व में कुछ प्रमाण दिखलाते हैं।

१. छेदनादि क्रिया के करण जो कुठारादिक हैं यदि उन्हें कर्त्ता तक्षादि कार्य में न लावें, तो उनसे कोई फल सिद्ध न हो। इसी प्रकार ज्ञान करण (ज्ञान-साधन) चक्षुरादि इन्द्रियों को यदि कोई काम में न लावें, तो ये भी व्यर्थ हों। इस हेतु जो इन्हें काम में लगाने वाला है, वह इनसे अतिरिक्त जीवात्मा है।

शंका– शरीर को ही यदि कर्त्ता मान लें, तो इसमें दोष क्या ?

समाधान– कर्त्ता चेतन होता है और यह शरीर अचेतन है क्योकि मृत शरीरों में चैतन्य नहीं देखा जाता।

चार्वाकादि मतों का निराकरण

शंका– चैतन्य नाम ज्ञान इच्छादिकों का है, वे जैसे आप के मतानुसार मुक्त आत्मा में इच्छादिक नहीं रहते, वैसे ही हमारे मत में शरीर रूप आत्मा में मृतावस्था में न रहें तो दोष नहीं क्योंकि हमारे मत में मृत शरीर मानों मुक्त आत्मा है। और आप को शरीर में ज्ञानाभाव प्राण तथा आत्मा दोनों के अभाव युक्त मानना पड़ता है। हमको केवल प्राण के अभाव से शरीर में ज्ञानाभाव मानने से लाघव है।

समाधान– यदि शरीर चेतन हो तो बाल्यावस्था में विलोकित पदार्थों का वृद्धावस्था में स्मरण न होना चाहिये क्योंकि पुष्टिक्षीणता कारक अवयवों के बढ़ने-घटने से प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यह शरीर उत्पत्ति-विनाशशाली है।

शंका– प्रथम शरीर के संस्कार दूसरे शरीर के संस्कारों के जनक होंगे। इस हेतु पूर्वदृष्ट पदार्थों के स्मरण की भी अनुपपत्ति न होगी।

समाधान— वृद्धि क्षीणता प्रयुक्त शरीर क्षण-क्षण में बदलते हैं। इनमें यदि पूर्व-पूर्व शरीर में उत्पन्न संस्कारों से उत्तर-उत्तर शरीर में संस्कारों की उत्पत्ति मानें तो अनेक संस्कारों की कल्पना से अति गौरव होगा। एवं यदि शरीर ही चेतन हो तो सद्यः उत्पन्न बालक की अपनी माता के स्तन्यपान में प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये क्योंकि प्रवृत्ति का कारण इष्ट साधनता का ज्ञान होता है। और सद्यः उत्पन्न बालक को स्तन्यपान प्रवृत्ति के लिये पूर्व काल में इष्ट साधनता का आनुभविक वा स्मारक कोई आप के मत में नहीं है। इस हेतु प्रवृत्ति नहीं बन सकती और मेरे मत में जन्मान्तरानुभूत इष्ट साधनता का तब स्मरण होने से प्रवृत्ति अनायास सिद्ध है।

शंका— यदि जन्मान्तरानुभूत इष्ट साधनता का ज्ञान पूर्व संस्कार द्वारा प्रवृत्ति में कारण हो, तो जन्मान्तरानुभूत अन्यान्य पदार्थों का भी स्मरण होना चाहिये।

समाधान— यदि कोई उद्बोधक हो तो ज्ञानजनित संस्कार उद्बुद्ध होकर स्मरण के जनक होते हैं। प्रकृति में पदार्थान्तरों के संस्कारों का कोई उद्बोधक नहीं किन्तु स्तन्यपान प्रवृत्ति में अनवस्था (गत्यन्तराभाव) से बालक के जीवन के लिये अदृष्ट ही उद्बोधक कल्पित होगा। इस रीति से अनादि होने से जीवात्मा भी अनादि सिद्ध होता है और अनादि भाव-पदार्थों के विनाशी न होने से आत्मा नित्य भी सिद्ध होता है।

शंका— ज्ञानादिकों के प्रति नेत्रादि इन्द्रिय ही यदि कर्त्ता और करण दोनों मान लिये जायँ तो क्या तो विरोध ? और विरोध का साधक युक्ति प्रमाण कौन?

समाधान— यदि नेत्रादि इन्द्रिय ही चेतन कर्त्ता स्वरूप हों, तो उस-उस इन्द्रिय के विनाश से उस-उस इन्द्रिय द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण कैसे हो क्योंकि नेत्र से अवलोकित पदार्थ का स्मरण करने वाले नेत्र के नष्ट होने से [स्मरण करने वाला] कौन है ? किन्तु उन-उन इन्द्रियों के नाश होने पर स्मरण रहता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। जो स्मरण करता है, वह आत्मा है, यह सिद्ध होता है। नेत्रादि इन्द्रियों के विनाश से प्रथम नेत्रादि द्वारा साक्षात्कृत पदार्थों का स्मरण नेत्रादिको के विनाश के पश्चात् नहीं होना चाहिये क्योंकि उस काल में अनुभवकर्त्ता का अभाव है और दूसरे के देखे पदार्थ को दूसरा स्मरण नहीं करता क्योंकि अनुभव तथा स्मरण का सामानाधिकरण्य है अर्थात् एक आत्मारूप अधिकरण में कार्य-कारण भाव का नियम है अर्थात् जैसे चैत्र-अनुभूत पदार्थ को चैत्र ही स्मरण कर सकता है, मैत्र नहीं, वैसे ही नेत्रानुभूत पदार्थ का नेत्र ही स्मरण कर सकता है, श्रोत्रादिक नहीं। यही दशा सब इन्द्रियों की जाननी चाहिये

किन्तु इन्द्रियों के विनाश के पश्चात् भी स्मरण होता है। इससे सिद्ध है कि इन्द्रियों से पृथक् कोई दूसरा स्मर्त्ता विद्यमान है। वह चेतन कर्त्ता जीवात्मा है।

शंका— चक्षुरादि इन्द्रियों का चैतन्य न हो, किन्तु नित्य मन के चैतन्य मानने में दोष क्या ?

समाधान— मन भी चेतन नहीं। यदि मन चेतन हो, तो ज्ञानादिकों का साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता क्योंकि मुनियों ने मन को अणु माना है और प्रत्यक्ष में महत् परिणाम की कारणता है। एवं ज्ञान, सुख, दुःखादि गुण यदि मन में मान लिये जायँ तो उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा। जिस युक्ति से मन अणु परिणाम वाला सिद्ध है, उसे आगे[१] कहेंगे।

शंका— यदि विज्ञान (बुद्धि) को ही आत्मा मान लें तो इसमें दोष क्या ? वह स्वयं प्रकास्वरूप होने से चेतन भी है। विज्ञान के ही स्वरूप ज्ञान, सुख, दुःखादिक हैं। वह विज्ञान भाव पदार्थ है, अतः बाह्य दीपशिखादि पदार्थवत् सद्यः क्षण परिणामी है। प्रथम-प्रथम क्षण में उत्पन्न विज्ञान पीछे-पीछे उत्पन्न होने वाले विज्ञान में यथाक्रम कारण होता जाता है। वही विज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान और आलय विज्ञान भेद से दो प्रकार का है। उनमें प्रथम 'अयं घटः= यह घट है' इत्यादि प्रवृत्ति विज्ञान है। और 'मैं-मैं' इत्याकारक आलय विज्ञान है। उस आलय विज्ञान की क्षण-क्षण परिणामिनी धारा गाढ़ निद्रावस्था में भी विद्यमान रहती है। जैसे वस्त्र की कई एक तह में लपेटी कस्तूरी की वासना वस्त्रों में एक से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में यथाक्रम आती-जाती है, वैसे ही पूर्व-पूर्व विज्ञान अनुभवजन्य संस्कारों का उत्तर-उत्तर विज्ञानों में सञ्चार होता है। अतः पूर्व विज्ञान से अनुभूत पदार्थ के उत्तर विज्ञान द्वारा स्मरण की सम्भावना है।

समाधान— वह आपका अभिमत विज्ञान सकल जगत् को विषय करता है यद्वा किसी एक ही पदार्थ को विषय बनाता है ? यदि समस्त जगत् को विषय बनाता है तो पुरुष को सर्वज्ञ होना चाहिए। यदि किसी एक ही पदार्थ को वह विषय बनाता है तो इसमें विनिगमनाविरह दोष है, अर्थात् एकपक्षप्रतिपादकयुक्ति का अभाव है अर्थात् यदि आप "यत् किञ्चित्" पद से घट ग्रहण करें तो हम उसी से पट वा मठ का ग्रहण क्यों नहीं कर लें। तब आपके पास घटग्रहण पक्षमात्र को कहने वाली कोई प्रबल युक्ति नहीं और आपके मतानुसार सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा काल में विषयों की प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि विज्ञान स्वरूप से सविषयक वह होता है। वह आलय विज्ञान धारारूप से सुषुप्ति में विद्यमान है। यदि कहें कि हम लोग सुषुप्ति काल में निर्विषय विज्ञान धारा मानते हैं तो यह

१. देखें पृ॰ २६७-२६८।

नहीं हो सकता क्योंकि निर्विषय विज्ञानधारा के प्रकाशस्वरूप होने में कोई प्रमाण नहीं। अन्यथा प्रमाण के बिना यदि सुषुप्ति काल में ज्ञानस्वरूपता का स्वीकार करें तो घट-पटादि पदार्थों को विज्ञानस्वरूप मान लेने में कोई बाधा नहीं। यदि कहें कि घटादि यावत् पदार्थों में विज्ञानस्वरूपता हम मानते हैं क्योंकि हमारे मत में वस्तुमात्र विज्ञानस्वरूप ही है, पृथक् नहीं, तो यह कहना भी आपका ठीक नहीं क्योंकि बाह्य विषयरूप से अनुभूत घटादि पदार्थों का केवल विज्ञानरूप मान के निराकरण करना अयोग्य है। यदि कहें कि यह घट-पटादि सकल पदार्थ विज्ञान के ही आकार विशेष हैं, अतः विज्ञानस्वरूप ही हैं। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि क्या यह विज्ञान का आकार विशेष विज्ञान के स्वरूप से पृथक् है अथवा विज्ञानस्वरूप ही है ? यदि पृथक् है तो घट-पटादि सकल पदार्थ विज्ञान से भिन्न हैं, यह स्वयं सिद्ध होता है। यदि कहें कि विज्ञान से भिन्न नहीं तो 'यह नील है और यह पीत है' इत्याकारक समूहालम्बन ज्ञान में नीलाकार भी पीताकार ही प्रतीत होना चाहिए। अथवा पीताकार भी नीलाकार ही प्रतीत हो क्योंकि स्वरूप से विज्ञान में कुछ भेद नहीं किन्तु एक ही है।

शंका– नीलत्व, पीतत्वादि उसी विज्ञान के धर्म विशेष अपोहरूप अर्थात् अनीलव्यावृत्तित्वादिरूप से प्रतीत होते हैं।

समाधान– नीलत्वादि विरुद्ध धर्मों का एक विज्ञान रूप धर्मी में समावेश करना अयुक्त है अन्यथा परस्पर विरुद्ध धर्मों को एक धर्मनिष्ठ मान लेने से संसार के पदार्थों के विरोध का निश्चय कदापि न होगा और पूर्व कथित वासना संचार भी नहीं हो सकता। यदि हो तो मातृदृष्ट पदार्थों का गर्भनिष्ठ बालक को स्मरण होना चासहिये।

बौद्ध– उपादानस्वरूप कारण की वासना का उपादेयरूप कार्य में सञ्चार होता है और माता अपने पुत्र का निमित्त कारण है अतः दोष नहीं।

नैयायिक– वासना का सञ्चार होना असम्भव है।

बौद्ध– पूर्व विज्ञान वासना की उत्तर-उत्तर विज्ञान में उत्पत्ति होनी, इसी का नाम सञ्चार है।

नैयायिक– उत्पन्न करने वाले कर्त्ता का अभाव होने से वासना की उत्तर-उत्तर उत्पत्ति नहीं हो सकती।

बौद्ध– उत्तर-उत्तर विज्ञान ही पूर्व-पूर्व विज्ञान [वासना] का उत्पादक हो सकता है।

नैयायिक– यदि विज्ञान को ही वासना का उत्पादक मानें, तो विज्ञानों के असंख्यात होने से वासनाओं को भी असंख्यात ही मानना पड़ेगा। आपको यह अत्यन्त गौरव होगा।

बौद्ध– हम उत्तर-उत्तर क्षणिक विज्ञान में वासना-सञ्चारार्थ अतिशक्ति विशेष की कल्पना करते हैं।

नैयायिक– ऐसी निर्मूल कल्पना में कोई प्रमाण नहीं और क्षणिक अनन्त शक्ति तथा उसके अनेक प्रागभाव और ध्वंस की कल्पना में अत्यन्त गौरव है।

कई एक वादी क्षणिक शरीरों को ही चेतन मानते हैं। इस पूर्व कथन से उनके कथन का भी खण्डन जान लेना चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से वासना सञ्चार नहीं हो सकेगा और गौरव भी होगा और सञ्चारक अतिशय शक्ति विशेष मानने में कोई प्रमाण नहीं।

बौद्ध– लोक में ऐसा देखते हैं कि क्षेत्र में बोये हुए बीज से ही अंकुर की उत्पत्ति होती है, कुसूल में पड़े बीज से उत्पत्ति नहीं होती। अतः अंकुररूप कार्य के प्रति **"कुर्वद्रूपता"** अर्थात् अंकुरजनन योग्य जाति विशेष को हम कारणता मानते हैं। वह फलोत्पादक क्षणिक पदार्थ बीज मात्र में रहती है। ऐसे ही क्षणिक शरीर में **"कुर्वद्रूप"** उत्तर वासना जनक जाति विशेष को ही कारण मानने से ही निर्वाह हो सकता है। वह कुर्वद्रूप जातिविशेष दृष्टान्त में तो बीजत्व के साथ समव्याप्त है और दार्ष्टान्तिक में विज्ञानत्व के साथ समव्याप्त है। अतः वासना सञ्चार हो सकता है।

नैयायिक– दृष्टान्तरूप बीज में ही **"कुर्वद्रूप"** अंकुरजनन योग्य जाति विशेष की कल्पना करनी अनुचित है। अंकुरादि की उत्पत्ति तो सहकारी भूमि जलादिक के संयोग से भी बन सकती है।

वेदान्ती– यदि आत्मा को क्षणिकविज्ञानस्वरूप मानने में गौरव है तो नित्यविज्ञानस्वरूप ही मानना उचित है और इसमें **"अविनाशी वा अरे आत्मा"** (बृ॰ उप॰ ४.५.१४) **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तै॰ उप॰ २.१.१) इत्यादि श्रुति भी प्रमाण हैं। श्रुतियों का अर्थ यह है– अरे मैत्रेयी ! "यह आत्मा अविनाशी है" "सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है"।

नैयायिक– वह नित्य ज्ञान भी सविषयक है या निर्विषयक है ? यदि सविषयक है तो सकलप्रपञ्चविषयक है या यत्किञ्चिद्वस्तुविषयक है ? प्रथम पक्ष में सर्वज्ञत्वापत्ति और द्वितीय पक्ष में विनिगमनाविरहत्व दोष पूर्वोक्त रीति से जानना चाहिये। यदि कहें कि नित्य विज्ञान निर्विषयक है, तो निर्विषयक विज्ञान में कोई प्रमाण नहीं अर्थात् ऐसा कोई भी प्रत्यय (ज्ञान) नहीं जो किसी एक वस्तु को विषय न करे।

यदि कहो कि जिस-जिस वस्तु को जो-जो आत्मा ग्रहण करता है,

उस-उस विज्ञानस्वरूप आत्मा को तत्तद्विषयकत्व है, तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि नित्य विज्ञानस्वरूप आत्मा सविषयक है इत्याकारक अनुभव होना दुर्घट है। इस लिये विज्ञानादिकों से भिन्न नित्य आत्मा स्वयं सिद्ध होता है और पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यों में प्रथम वाक्य जीव को अविनाशी कहता है। वह हमको भी अभीष्ट है और द्वितीय वाक्य परमात्मा को सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप कहता है, उसका जीवों में कुछ उपयोग नहीं। प्रत्येक जीव के ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदिक के भिन्न होने से जीवों का परस्पर भेद सिद्ध होता है। इस प्रकार जब जीव परस्पर भिन्न सिद्ध होते हैं, तो ईश्वर का जीवों से भेद स्वयं सिद्ध होता है। अन्यथा यदि ईश्वर को जीवात्मास्वरूप मानें, तो बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था भी न होगी अर्थात् सब जीवों का आत्मा ईश्वरस्वरूप मानें, तो कोई संसारी बद्ध है और कोई ज्ञानी मुक्त है, यह व्यवस्था न बनेगी और जो जीव और ईश्वर के अभेद कहने वाले **"तत्त्वमसि"** इत्यादि उपनिषद्वाक्य हैं, वे भी अभेदरूप से स्वामी-सेवक भाव रूप सम्बन्ध को बतलाते हुये जीव की प्रशंसा करते हैं। अभेद भावना से परमात्मा में प्रेम-भक्ति करनी चाहिये, ऐसी शिक्षा देते हैं अर्थात् जैसे अपना आप प्रत्येक को प्रिय है, वैसा ही प्रेम ईश्वर से भी करना उचित है। इसी तात्पर्य से "विद्वान् अपने पुत्ररूप आत्मा को तथा शरीररूप आत्मा को तथा मुख्य आत्मा को ईश्वर में समर्पित करता है, ऐसा उपनिषद्वाक्य है **"सर्व एव आत्मनि समर्पिताः"**।

वेदान्ती– भेद अज्ञानकृत है। मोक्षावस्था में अज्ञान निवृत्त होने से अभेद उत्पन्न होता है।

नैयायिक– भेद केवलान्वयी होने से नित्य है। उसका नाश होना असम्भव है।

वेदान्ती– औपाधिक भेद का नाश ही मान लिया जाय, तो क्या दोष ?

नैयायिक– मोक्ष काल में औपाधिक भेद के नाश होने पर भी व्यक्तिद्वय भिन्न-भिन्न होती है।

वेदान्ती– व्यक्तिद्वय में द्वित्त्व का नाश भी मानें, तो क्या दोष ?

नैयायिक– जैसे आप के मत में समस्त धर्म शून्य ब्रह्म में सत्यत्व धर्म नहीं भी है, तो भी ब्रह्म सद्रूप है, वैसे हमारे मत में भी मोक्ष काल में ईश्वरनिष्ठ द्वित्त्वरूप धर्म के नाश होने पर भी वे परस्पर दो रहते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

वेदान्ती– हमारे [मत में] प्रपञ्च के अभाव का अधिकरण जो ब्रह्म वह तत्स्वरूप ही सत्यत्व है, पृथक् नहीं।

नैयायिक– हमारे मत में भी एकत्व संख्या का अभाव स्वरूप व्यक्तिद्वयात्मक

द्वित्व मोक्ष काल में रहता है, ऐसा जानो। जैसे लोक में यह प्रत्यक्ष होता है कि पृथ्वी तथा जल दोनों गन्ध वाले नहीं हैं, किन्तु एक पृथ्वी है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति में एकत्व भी है किन्तु दोनों एक नहीं। यह ज्ञान सर्वजन्य सिद्ध है और जो मोक्षदशा में अभेद कहने वाला **"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"** अर्थात् "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मस्वरूप होता है।" इत्यादि शास्त्र है, वह भी मोक्षकाल में दुःखादिकों के अभाव को बतलाता है और इससे जीव से ईश्वर सदृशता की कहता है। जैसे धनादि सम्पत्ति के अधिक होने से पुरोहित आदिकों में लोग राजा व्यवहार करने लग जाते हैं, वैसे ही मोक्षकाल में यावत् दुःखाभाव प्रयुक्त जीव में ईश्वर तुल्यता का व्यवहार करते हैं। अत एव **"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"** इस श्रुति को मोक्षकाल में सम्यक् प्रतिपादक होने से ही यह जीव निरञ्जन, निर्दुःखित होने के कारण ईश्वर की परम तुल्यता को प्राप्त होता है। इत्याद्यर्थबोधक श्रुतिवाक्य भी एकवाक्यता सम्पन्न हो सकता है।

ईश्वर भी ज्ञान, सुखादि स्वरूप नहीं किन्तु ज्ञान, सुखादि का आश्रय है। **"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"** (तै॰ उप॰ २.१.१)= "नित्य, विज्ञान तथा आनन्द स्वरूप ब्रह्म है" इत्याद्यर्थक श्रुतिवाक्यों में विज्ञान पद अधिकरणार्थक[१] ल्युट् प्रत्ययान्त है। अतः विज्ञान पद से ज्ञान के आश्रय का ही बोध होता है। अत एव **"यः सर्वज्ञः स सर्ववित्"** (मु॰ उप॰ १.१.९) जो सर्वपदार्थों के सामान्य रूप से ज्ञान वाला है, वही विशेष रूप से ज्ञान वाला भी है। एतदर्थक श्रुति से भी ज्ञान वाला प्रतीत होता है ज्ञानस्वरूप नहीं। इसी के अनुकूल विज्ञान पद का अर्थ भी विज्ञान वाला ही करना उचित है। श्रुतिनिष्ठ आनन्द पद का भी आनन्द वाला यही अर्थ करना चाहिये क्योंकि **'अर्शआदिभ्योऽच्'** (अ॰ ५.२.१२७) इस सूत्र से मतुबर्थक अच् प्रत्यय करने से **"आनन्दोऽस्यास्मिन् वास्तीति आनन्दम्"** ऐसी व्युत्पत्ति होती है। आनन्द शब्द समवाय सम्बन्ध से आनन्दाश्रय का बोधक नपुंसकलिंग तथा ब्रह्म शब्द का विशेषण साधु रीति से हो सकता है। अन्यथा यदि पूर्वोक्त रीति से आनन्द शब्द की सिद्धि न मानें किन्तु **'भावे'** (अ॰ ३.३.१८) इस सूत्र से घञ् प्रत्ययान्त मानें, तो नियतपुँल्लिंग होना चाहिए क्योंकि घञ् प्रत्ययान्त शब्दों को **'घञबन्तः'** इस लिंगानुशासन के सूत्रनियम से पुँल्लिंगता-बोधन कहता है। आनन्द शब्द भी लक्षणा वृत्ति से दुःखाभाव का ही बोधक है। जैसे भारवाही पुरुष भार त्यागने से अपने को सुखी मानता है, वैसे दुःखाभाव होने से सुखप्रत्यय होता है। अथवा वह ईश्वर आनन्द का अधिकरण भी रहे तो हमारे मत की हानि नहीं। तथापि वह आनन्दस्वरूप नहीं, क्योंकि श्रुति में इसको

१. पाणिनीय अ॰ ३.३.११७।

"असुखम्" (बृ॰ आ॰ ३.८.८) ऐसा कहा है। यहाँ नञ् ब्रह्म से सुख का भेद बतलाता है और अपने में अपना भेद असम्भव है। अतः ब्रह्म आनन्दस्वरूप नहीं किन्तु आनन्द का अधिकरण है।

वेदान्ती— **"असुखम्"** इस पद में **'न विद्यते सुखं यस्य'** जिस में सुख न हो वह असुख। ऐसा बहुव्रीहि समास करने से कोई दोष नहीं।

नैयायिक— बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ प्रधान होता है। अन्य पदार्थ में नञ् की लक्षणा माननी क्लिष्ट कल्पना है और प्रकरणविरोध भी है अर्थात् **'अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घम्'** (बृ॰ आ॰ ३.८.८) इत्यादि प्रकरण है। ब्रह्म स्थूल पदार्थों से तथा अणु, दीर्घ, ह्रस्व पदार्थों से इत्याद्यर्थक बृहदारण्यकोपनिषद् का वाक्य है। इसके प्रत्येक पद में नञ्तत्पुरुष समास स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। और इसी श्रुति के मध्य में **"असुखम्"** इस पद का भी पाठ है। यदि इस पद में बहुव्रीहि मानें तो प्रकरणविरोध अवश्य होगा। और यदि यहाँ बहुव्रीहि मान के सुखस्वरूप अर्थ कर भी लें तो 'आनन्दम्' इस पद में मतुबर्थक अच् प्रत्यय के साथ विरोध तो अवश्य होगा क्योंकि यह प्रत्यय सुख के अधिकरण का बोधक है। और बहुव्रीहि से सुखस्वरूप का बोध होता है। अतः परस्पर विरोध स्पष्ट है और **"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन"** जो ब्रह्म के आनन्द को जानता है, वह कदापि किसी से डरता नहीं। इस वाक्य में आनन्द का तथा उसके अधिकरण का भेद षष्ठी विभक्ति से स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इति संक्षेपतः।

सांख्यमत पर विचार

प्रकृति कर्त्री है और पुरुष कमलपलाशवत् निर्मल है किन्तु वह चेतन है। कार्य और कारण के अभेद से कार्य के नाश होने से कार्य से ही कारण का भी नाश मानना पड़ता है। इस लिए किसी कार्य का उपादान कारण नहीं। इस हेतु उसका नाश भी नहीं। इस मत में बुद्धिनिष्ठ चैतन्य का अभिमान अन्य प्रकार से नहीं बन सकता, इसी से पुरुष की कल्पना होती है। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है। वही महत्तत्त्व और अन्तःकरण कहलाता है। बुद्धि के साथ संयोग का नाम संसार और वियोग का नाम अपवर्ग (मुक्ति) है। उस बुद्धि का भी नेत्रादि इन्द्रिय रूप प्रणालिका द्वारा ज्ञान रूप परिणाम घटादि पदार्थों के साथ सम्बन्ध है। पुरुष में कर्त्तृत्व 'मैं कर्त्ता हूँ' यह अभिमान बुद्धि तथा पुरुष का भेद न जानने से होता है। "ममेदं कर्त्तव्यम्" "मेरा यह कर्त्तव्य है" इत्याकारक बुद्धि में 'मम इदं कर्त्तव्यम्' ये तीन अंश हैं। इनमें प्रथम अंश जीवात्मा का है। वह भी जैसे शीशे के स्वच्छ होने से उसमें मुख की प्रतीति मिथ्या ही होती है, वैसे ही बुद्धि के स्वच्छ होने से पुरुष प्रतिबिम्ब अतात्त्विक (उपराग) सम्बन्ध होता है। और द्वितीय अंश विषय का है।

वह बुद्धि नेत्रादि परिणाम को प्राप्त हो विषय को ग्रहण करती है। जैसे शीशे पर निःश्वास से मलिनता का सम्बन्ध सच्चा होता है, वैसे ही परिणाम रूप से विषय के साथ सम्बन्ध वास्तव है। तृतीय अंश का भाव वास्तव में बुद्धि का है। इस रीति से बुद्धि तीन अंश वाली है और बुद्धि के परिणाम रूप ज्ञान के साथ पुरुष का अतात्त्विक सम्बन्ध है। जैसे शीशे की छायी के साथ मुख का सम्बन्ध वस्तुतः नहीं किन्तु मिथ्या है, वैसे ही बुद्धि परिणाम ज्ञान के साथ भी पुरुष का सम्बन्ध वास्तव नहीं किन्तु अतात्त्विक है। इसी अतात्त्विक सम्बन्ध को सांख्य शास्त्र में उपलब्धि कहते हैं। जैसे परिणामी ज्ञान बुद्धि का धर्म है, वैसे ही सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म ये सात भी बुद्धि के ही धर्म हैं क्योंकि इन सब का 'अहं कर्त्ता, अहं सुखी' इत्यादि प्रत्ययों से प्रयत्न के साथ एकाधिकरणता प्रतीत होती है। बुद्धि चेतन नहीं क्योंकि वह परिणामिनी है। इत्यादि सांख्य का मत है, वह ठीक नहीं। पूर्वोक्त तथा अग्रिम युक्तियों से यह भी खण्डित है क्योंकि जैसे 'अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता, अहं धार्मिकः' इत्यादि प्रत्यय भी एकाधिकरण में प्रतीत होते हैं, वैसे 'अहं चेतनः' यह प्रत्यय भी उसी अधिकरण में प्रतीत होता है। अतः कर्त्ता से भिन्न चेतना मानने में कोई प्रमाण नहीं।

सांख्यी— 'चेतनोऽहं करोमि, मैं चेतन करता हूँ' यह प्रतीति चैतन्यांश में भ्रम है क्योंकि चेतन पुरुष है, इसके सम्बन्ध से प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हुई बुद्धि अपने मिथ्या ही चेतन का अभिमान करती है।

नैयायिक— यदि पूर्वोक्त प्रतीति चैतन्यांश में भ्रम है, तो कृत्यंश में भी भ्रम ही क्यों नहीं मानते, क्योंकि उक्त प्रतीति में दोनों का अधिकरण एक ही प्रतीत होता है। अन्यथा यदि कर्त्ता तथा चैतन्य का भेद मानें तो हम पूछते हैं कि यह आपकी बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य है ? यदि नित्य है तो मोक्ष का अभाव होगा क्योंकि बुद्धिरूप कर्त्ता से भिन्न चैतन्यांश में सुख, दुःख का अभाव होने से उसमें बन्ध-मोक्ष का व्यवहार भी अनुपपन्न है।

सांख्यी— हमारे मत में कार्य-कारण का परस्पर अभेद है। इस हेतु अचेतन प्रकृति के कार्यरूप बुद्धि में चैतन्य नहीं।

नैयायिक— आपका कथन असिद्ध है क्योंकि बुद्धि प्रकृति का कार्य नहीं और कर्त्ता नियम से जन्य होता है, इसमें भी कोई अनुकूल तर्क नहीं। प्रत्युत **"वीतरागजन्मादर्शनात्"** (न्याय॰ ३.१.२४) इस सूत्र के अनुसार विरक्त पुरुष का जन्म नहीं होता, किन्तु सराग पुरुष का जन्म होता है, इससे कर्त्ता अनादि प्रतीत होता है। इस प्रकार भावरूप अनादि वस्तु का नाश कभी नहीं होता। अतः कर्त्ता नित्य मानना उचित है, इस हेतु अप्रामाणिक प्रकृत्यादि की कल्पना व्यर्थ है।

सांख्यी— **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**

अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।। भगवद्गीता ३.२७

इस कृष्ण के वाक्य से आपके कथन का विरोध होगा क्योंकि यहाँ भगवान् ने पुरुष को कर्त्ता नहीं माना है। श्लोक का अर्थ यह है— क्रियमाण कर्म सब प्रकार प्रकृति के गुणों से होते हैं। अहंकार विमूढात्मा पुरुष "मैं कर्त्ता हूँ" ऐसा मानता है।

नैयायिक— यहाँ प्रकृति नाम अदृष्ट का है। गुण नाम अदृष्टजन्य इच्छादिकों का है। "मैं कर्त्ता हूँ, मैं कर्त्ता हूँ" इस प्रकार का भाव रखना उचित नहीं क्योंकि **"तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः"** (भगवद्गीता १८.१६) इत्यादि श्लोक से कृष्ण ने मेरे आशय को प्रकट किया है। अर्थात् केवल आत्मा को कर्त्ता मानना अज्ञानियों का काम है, किन्तु अधिष्ठाता, कर्त्ता, अनेक प्रकार के कारण, अनेक प्रकार की चेष्टाएं और जीवों के अदृष्ट ये पाँचों मिलकर कार्यमात्र के प्रति कर्त्ता होते हैं। इन पाँचों में से जो पुरुष [केवल आत्मा को कर्त्ता मानता है, उस] को यथार्थ ज्ञान नहीं होता, इत्यादि आशय है। इति संक्षेपतः।

इसके आगे विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य कहते हैं कि—

धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगितः।।
प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः।
अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः।।

(न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकारिका ४९.५०)

यह आत्मा धर्म और अधर्म का आश्रय है, और सुख, दुःखादि विशेष गुण के सम्बन्ध से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है। धर्म और अधर्म शरीर का आश्रय नहीं, यदि ऐसा हो तो देहान्तरकृत कर्मों का देहान्तर से भोग नहीं हो सकता। जैसे रथ की गति से रथवाही का अनुमान होता है, वैसे यह आत्मा दूसरे पुरुष के शरीर में चेष्टा द्वारा अनुमेय होता है। भाव इसका यह है कि "परदेह में यह आत्मा है" यह प्रवृत्ति से जाना जाता है। प्रवृत्ति का नाम चेष्टा है; चेष्टा आत्मा का धर्म है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न इत्यादिक देह का धर्म नहीं और चेष्टा प्रयत्न साध्य है। उस चेष्टा से आत्मा ही प्रयत्नवान् है, यह अनुमान होता है। वैसा ही इसमें रथ दृष्टान्त है। यद्यपि यहाँ रथ का कर्म चेष्टा नहीं तथापि उस-उस कर्म से सारथि का अनुमान होता है। वैसा ही चेष्टात्मक कर्म से जीवात्मा का ज्ञान होता है। वह आत्मा अहंकार का भी आश्रय है। मनोमात्र इन्द्रिय से इसका ग्रहण होता है क्योंकि मनोभिन्न इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का यह अविषय है, केवल मानस प्रत्यक्ष का विषय है क्योंकि अन्यान्य इन्द्रिय रूपादिकों की अपेक्षा करते हैं।

आत्मा में रूपादिक नहीं है। अतः आत्मा केवल मानस प्रत्यक्ष का विषय है। आगे नैयायिक गण आत्मा को विभु और उसमें १४ गुण मानते हैं। वे १४ गुण ये हैं—

१. बुद्धि, २. सुख, ३. दुःख, ४. इच्छा, ५. द्वेष, ६. प्रयत्न, ७. संख्या, ८. परिमिति, ९. पृथक्त्व, १०. संयोग, ११. विभाग, १२. भावनाख्य संस्कार, १३. धर्म, १४. अधर्म। इति संक्षेपतः।

न्याय दर्शन

वात्स्यायन मुनि अपने न्याय दर्शन के भाष्य में लिखते हैं कि यह आत्मा सबका द्रष्टा, सबका भोक्ता, सर्वज्ञ और महानुभाव है। तत्त्वज्ञान से अपवर्ग (मुक्ति) और मिथ्याज्ञान से इसको संसार होता रहता है। प्रत्यक्ष से इस आत्मा का ग्रहण नहीं होता। तब क्या केवल आप्तोपदेश मात्र से ही इसके अस्तित्व पर श्रद्धा कर लेनी चाहिए ? नहीं, अनुमान से भी इसका ग्रहण होता है। यथा—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्।। (न्याय १.७.१०)

अविनाभावी चिह्न का नाम लिंग है। जैसे अग्नि के विना धूम नहीं होता। अतः अग्नि का चिह्न धूम है। धूम देखने ही से अग्नि का अनुमान होता है। तद्वत् आत्मानुमान में तीन लिंग हैं— १. सुख की इच्छा, २. दुःख से द्वेष, ३. ज्ञान के लिए प्रयत्न, अथवा १. इच्छा, २. द्वेष, ३. प्रयत्न, ४. सुख, ५. दुःख, ६. ज्ञान ये छह आत्मास्तित्वसाधक हैं। सबसे प्रथम सुख की इच्छा यह आत्मास्तित्व का लिंग है। जन्म लेते ही बालक क्रन्दन इसलिए करता है कि बाहर आकर उसे कुछ दुःख पहुँचा है। तब तत्काल ही सुखप्राप्ति की इच्छा करता है और उसका साधन स्तन्यपान है। उसकी ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार जातमात्र शिशु की प्रवृत्ति सुख की ओर होती है। यह प्रवृत्ति बतला रही है कि शरीरादि संघात से अतिरिक्त आत्मा है। एवं यह जीवात्मा जिस किसी प्रकार की वस्तु से कभी सुख भोग चुका है। तज्जातीय वस्तु को देखकर उसे लेने की इच्छा करता है। यह जो आदित्सा (लेने की इच्छा) दर्शन से आत्मा में उत्पन्न हुई, वह अनेकार्थदर्शी एक आत्मा का लिंग होता है क्योंकि जिस इन्द्रिय से इसने सुख पाया था, वह इन्द्रिय द्रष्टा नहीं। मानो, देखने वाला नयन है। तब इन दोनों का प्रतिसन्धान करने वाला कौन है ? निस्सन्देह क्रिया के आदि से अन्त तक जो प्रतिसन्धान करने वाला है, वह आत्मा है।

द्वितीय लिंग दुःख से द्वेष है। जिस-जिस जातीय वस्तु से कभी यह जीवात्मा दुःख भोग चुका है, उस-उस प्रकार के पदार्थमात्र के दो-चार वर्ष के पश्चात् भी देखने से उसे द्वेष होता है और तत्काल ही उस वस्तु की जिहासा (त्यागने की इच्छा) उत्पन्न होती है। यह जिहासा अनेकार्थदर्शी एक आत्मा के

अस्तित्व का साधक है। प्रत्येक जीव जन्म लेते ही जो दुःख से द्वेष करने लगता है, इसका कारण क्या है ? यदि यह देह संघात ही चेतन आत्मा होता तो पूर्वापर विचार इसमें कभी समुत्थित न होता और प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय नियत है। इस हेतु जिस इन्द्रिय द्वारा दुःख भोग चुका है, वह द्रष्टा नहीं। अतः दर्शन प्रतिसन्धाता कोई दूसरा ही है, जो आत्मा शब्द से कहा जाता है।

अब तृतीय हेतु ज्ञान के लिये प्रयत्न है। जिस-जिस वस्तु से सुख वा दुःख आत्मा भोग चुका है, उसे स्मरण कर उसकी उपलब्धि [वा त्याग] के लिये बहुत प्रयत्न करता है। यह आत्मास्तित्व का तृतीय लिंग है। अथवा इसकी व्याख्या यों समझनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों शिशु में भाषण-शक्ति बढ़ती जाती है त्यो-त्यों अतिसमीपी माता से लेकर अन्यान्य संगियों से पूछ-पूछ कर प्रत्येक वस्तु को जानने के लिये पूर्ण प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार मानव सन्तान में ज्ञान के लिये महान् प्रयत्न से आत्मा को सबसे, यों समझिये कि जब यह जीवात्मा कुछ जानना चाहता है तो उसका बारम्बार विमर्श[1] करता है। यदि उस विमर्श[1] में कोई त्रुटि होती है। तो लोगों से पूछ-पूछ कर अपने परामर्श को दृढ़तर बनाता है। जब उसका विमर्श[1] परिपक्वास्था में प्राप्त होता है, तब उसे निश्चित रूप में लाकर उस वस्तु का वह ज्ञानी बनाता है। यह विमर्श[1] परामर्श इत्यादिक धर्म देह मात्र का नहीं है किन्तु देहातिरिक्त किसी अन्य चेतन का है। इस प्रकार तीन लिंगों की यह व्याख्या हुई अथवा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये छहों मिल कर एक लिंग होता है। जहाँ-जहाँ ये छह पाये जायँ, वहाँ-वहाँ आत्मास्तित्व समझना चाहिए।

पुनः तृतीय अध्याय के आरम्भ में इसी प्रश्न को वात्स्यायन मुनि उठाते हैं क्योंकि आत्मतत्त्व अत्यन्त गूढ और अज्ञेय है। आस्तिकता और नास्तिकता, धर्माधर्मव्यवस्था, व्यावहारिक समस्त यह संसार आत्मा के अस्तित्व ही पर निर्भर है। यदि आत्मा शरीरादि से पृथक् सिद्ध न हो तो महानिराशा में पड़कर यह मानव सन्तान घोर नास्तिकता को लेकर क्या-क्या अत्याचार करे, इसका उल्लेख करना भी अत्यन्त कठिन है। इसलिए बुद्धिमान् आस्तिक का कर्त्तव्य है कि नाना तर्कों से [शरीर से] अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि दर्शावे। इसलिए परम कारुणिक गौतम, वात्स्यायन, कपिल आदि महर्षि आत्मास्तित्व के दिखलाने के लिए अनेक तर्क उपस्थित करते हैं। वात्स्यायन मुनि इस प्रकार आत्मविवेचन आरम्भ करते हैं—

क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वेदना का जो संघात (समुदाय) है, वही

१. हस्तलेख में 'विवर्ष' पाठ है।

आत्मा है अथवा तद्व्यतिरिक्त कोई आत्मा है ? यह संशय ही क्यों होता है ? व्यपदेश के दोनों तरह से सिद्ध होने के कारण यह संशय उपस्थित होता है। क्रिया और कारण का जो कर्त्ता के साथ सम्बन्ध है, उसको दिखलाने का नाम व्यपदेश है वह व्यपदेश दो प्रकार का होता है। कहीं अवयव से समुदाय का ग्रहण होता है। जैसे अपने मूलों से वृक्ष स्थित है तथा स्तम्भ से प्रासाद धृत है। यहाँ मूल और स्तम्भ सब मिलकर वृक्ष और प्रासाद हैं। और कहीं अन्य से अन्य का व्यपदेश होता है। जैसे कुठार से काटता है और प्रदीप से देखता है। ये दोनों प्रकार के व्यपदेश इस शरीर में देखे जाते हैं। जैसे चक्षु से देखता है, मन से जानता है, बुद्धि से विचारता है, शरीर से सुख, दुःख का अनुभव करता है। यहाँ निश्चय नहीं होता कि अवयव से समुदाय देहादि संघात का व्यपदेश है अथवा अन्य से अन्य का, तद्व्यतिरिक्त आत्मा का व्यपदेश है। वात्स्यायन मुनि कहते हैं कि यहाँ अन्य से अन्य का व्यपदेश है, इसमें वक्ष्यमाण अनेक हेतु हैं। प्रथम दर्शन, स्पर्शन से एकार्थक ग्रहण हेतु है। आशय इसका यह है कि दर्शन से जो कोई अर्थ गृहीत हुआ है वह स्पर्शन से भी गृहीत होता है। जिस पदार्थ को कभी मैंने नेत्र से देखा था, उसको इस समय स्पर्शन से भी छूता हूँ। जिसको कभी मैंने छूआ था, उसको इस समय चक्षु से देखता हूँ। यहाँ जो ये दोनों प्रत्यय (ज्ञान) एकविषयक और एककर्तृक प्रतीत होते हैं, वे संघातकर्तृक अथवा इन्द्रिय के साथ एककर्तृक प्रतीत नहीं होते। अत एव जो यह चक्षु और त्वगिन्द्रिय से एकार्थ का संग्रहीता है और जो भिन्ननिमित्तक अनन्यकर्तृक समानविषयक दो प्रत्ययों का प्रतिसन्धान करता है, वह अर्थान्तरभूत जीवात्मा है। अब पुनः शंका करते हैं कि इन दोनों प्रत्ययों को इन्द्रिय के साथ एककर्तृक क्यों नहीं मानते ? इसके समाधान में कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय निज-निज अनन्यकर्तृक विषयग्रहण का प्रतिसन्धान कर सकता है, अपने से भिन्न इन्द्रिय के विषय का प्रतिसन्धान नहीं कर सकता। अर्थात् चक्षु केवल द्रष्टा है। वह श्रवणेन्द्रिय के विषयभूत शब्द का प्रतिसन्धान नहीं कर सकता। इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय दर्शन, श्रवणादि नहीं कर सकता। अतः अनेकार्थदर्शी प्रतिसन्धाता एक कोई चेतन व्यतिरिक्त है, यह सिद्ध होता है। तब कहते हैं कि ये दोनों प्रत्यय संघातकर्तृक ही क्यों नहीं मान लिए जाते ? कहते हैं कि नहीं, क्योंकि एक यह आत्मा भिन्ननिमित्तक स्वात्मकर्तृक इन दोनों प्रत्ययों को मिलाकर जानता है, वह संघात नहीं कर सकता क्योंकि संघात में प्रत्येक विषयग्राही ज्ञानेन्द्रिय का विषयान्तर ग्रहण में सामर्थ्य नहीं है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः देहादि संघात से अन्य कोई चेतन है, यह सिद्ध होता है। इस पर पुनः शंका करते हैं कि देहादि संघात से भिन्न चेतन मानने की

आवश्यकता नहीं। इसमें विषय-व्यवस्थान हेतु है। इसका भाव यह है कि सकल इन्द्रिय व्यवस्थित विषय वाले हैं। यदि चक्षु न हो तो रूप गृहीत नहीं होता। चक्षु के रहते ही रूप गृहीत होता है। जिसके न होने से जो न हो, जिसके होने से जो हो वह उसी का धर्म है, यह विदित होता है। इस हेतु रूपग्रहण चक्षु का धर्म है। इसी प्रकार घ्राणादि इन्द्रियों की भी व्यवस्था है। अत एव स्व-स्व विषय ग्रहण करने से विदित होता है कि ये इन्द्रिय ही चेतन हैं क्योंकि इन्द्रियों के भाव और अभाव में ही विषयग्रहण के भावाभाव देखे जाते हैं। अतः अन्य चेतन की कल्पना व्यर्थ है।

इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि यदि एक इन्द्रिय अव्यवस्थितविषयक सर्वज्ञ सर्वविषयग्राह्य चेतन हो तो इससे अन्य चेतन के अनुमान का कुछ प्रयोजन नहीं। जिस हेतु सब इन्द्रिय व्यवस्थितविषयक हैं, इस हेतु उससे अन्य चेतन एक सर्वज्ञ और सर्वविषयग्राही अनुमित होता है। भाव इसका यह है कि रूपदर्शी यह आत्मा पूर्वगृहीत रस अथवा गन्ध का अनुमान करता है। इसी प्रकार अन्यान्य विषय की व्यवस्था है। रूप को देखकर गन्ध लेता है। गन्ध लेकर रूप देखता है। इससे यह सिद्ध होता है कि दर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन और स्पर्शन ये पाँच विषय और विविध मानसिक विषय किसी एक अधिकरण में एकत्रित होते हैं क्योंकि सबका अनुसन्धान कर देखने वाला, सुनने वाला इत्यादि कोई एक होता है जो भिन्न-भिन्न समय में प्रयोजनवश भिन्न-भिन्न विषय को प्रकट किया करता है। वह प्रकाशक इस शरीरसंघात से भिन्न है।

यह पूर्वोक्त वर्णन इन्द्रिय के सम्बन्ध से दिखलाया गया है और इस प्रकार के अन्यान्य सम्बन्ध से बहुत विषय दिखलाये जा सकते हैं। देखिये, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अनुपलब्धि, संशय, विभ्रम, प्रमाद, भय, काम, क्रोध, लोभादिक इत्यादि-इत्यादि अनेक अर्थों को अपने में रखकर और पूर्वापर क्रमानुसार समय पर प्रकाश किया करता है। महार्थ प्रतिपादक क्रमपूर्वक अध्येतव्य व्याकरणादि महा-महा शास्त्रों का अध्ययन कर क्रमपूर्वक प्रकाश करने वाले क्या चक्षुरादि इन्द्रिय हो सकते हैं ? नहीं, पुनः विचारिये कि किसी व्याख्यानस्थल में जब हम पहुँचते हैं तो कर्ण से केवल शब्दों को सुनते हैं किन्तु पदों का अर्थ परस्पर पदों का सम्बन्ध और इनसे प्रयोजन निकालना इत्यादि प्रतिसन्धान करने वाला कोई अन्य चेतन है। यह सर्वज्ञ जीवात्मा की ज्ञेया व्यवस्था है। इसको कैसे कोई मिटा सकता है। इस हेतु इन्द्रिय ही चेतन है अन्य चेतन से क्या प्रयोजन ? यह जो आपने कहा था, वह असंगत है।

देहादिव्यतिरिक्त आत्मा में अन्यान्य प्रमाण भी हैं, वे ये हैं—

बहुत आदमी कहते हैं कि यह शरीर चेतन है अथवा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि मिलकर जो यह संघात है, यह चेतन है। उसमें इन्द्रिय चेतन नहीं। इस पर संक्षेप से लिखा गया। अब शरीर के अचैतन्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। प्रथम यदि शरीर चेतन हो तो जैसे जीवित शरीर को मारने, पीटने और जलाने आदि व्यवहार से मनुष्य अपराधी और दण्ड्य होता है, इसी प्रकार मृत शरीर के ऊपर भी दहन, हननादि क्रिया से वह आदमी दण्ड्य होना चाहिए। पिता-माता, आचार्यादिक के शरीर की दाहक-क्रिया से पुत्रादिक महापापी हों, परन्तु होते नहीं। इत्यादि विचार से शरीर का चैतन्य स्वीकृत नहीं हो सकता। और भी, आस्तिक मतानुसार कृतहान और अकृताभ्यागम ये दोनों दोष भी प्राप्त होंगे क्योंकि जिस शरीर से विविध व्रत, तपस्या, ब्रह्मचर्यादि ग्रहण, सत्यासत्य-विवेक इत्यादि कर्म किये हैं, वह शरीर तो यहाँ ही मृत होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, तब सत्कर्म करने की आवश्यकता क्या ? इस हेतु समस्त आस्तिक व्यवस्था का उच्छेद हो जायेगा। इसी का नाम कृतहान है, किये हुए कर्मों का विनाश। द्वितीय अकृताभ्यागम— जो न किये उनका अभ्यागम= प्राप्ति। देखते हैं कि इस संसार में उत्तम, मध्यम, अधम कोटि के जीव हैं। कोई महादरिद्र और कोई महाधनाढ्य, कोई सुखी, कोई दुःखी। यदि पूर्वजन्म कृत पुण्यपाप का फल यह न माना जाय तो आस्तिकों में यह प्रश्न होगा कि ऐसी विषम व्यवस्था क्यों ? इसका प्रतिवचन कुछ नहीं हो सकता।

नास्तिक— यह निस्सन्देह आप लोगों की व्यवस्था है किन्तु आपके मतानुसार भी यह जीवात्मा नित्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अक्लेद्य, अदाह्य अर्थात् सब प्रकार से अविनाश्य है। तब आत्मसहित शरीर के जलाने से भी क्यों पाप हो ? और कृतहान और अकृताभ्यागम ये जो दो दोष आपने बतलाए हैं, वे भी ठीक नहीं। यह सृष्टि आकस्मिक है। परिस्थिति के अनुसार कोई सुखी, कोई दुःखी और कोई उत्तमाधम जीव होते रहते हैं। अव्यवस्था ही तो इस सृष्टि का अनीश्वरत्व सिद्ध कर रही है। इस प्रसंग में अधिक विवाद करना व्यर्थ है। क्या मनुष्य ही सब जीवों से श्रेष्ठ है ? यदि ईश्वर ने इसको सबसे श्रेष्ठ बना दिया तो उसने बड़ा अपराध किया क्योंकि एक जीव उसने ऐसा बनाया जो सकल जीवों का स्वामी बनकर उनका संहार करने लगा। पृथिवीस्थ कोई जीव ऐसा नहीं जिसको मारकर यह मनुष्य जीव न खाता हो। तब ऐसी सृष्टि ईश्वर ने क्यों की? एवमस्तु, आगे चलिये।

आस्तिक— हिंसा शब्द का तात्पर्य आप नहीं समझते हैं। मृत शरीर की दहनादिक क्रिया से कोई क्षति नहीं पहुँचती, प्रत्युत यदि वे न जलाये जायँ तो

अधिक हानि ही होगी। उनसे अनेक रोगोत्पत्ति हो सकती है। चेतन शरीर की दहनादिक क्रिया से हिंसा इसलिए मानी जाती है कि इसमें अनेक व्यवस्थाएं हैं। जिस परिवार में एक ही पुरुष उपार्जन करने वाला है और पाँच-सात उसके पराधीन और असमर्थ हैं, यदि वह मुख्य पुरुष मार दिया जाय तो उस परिवार की कितनी हानि और कितना क्लेश हो। यदि एक ग्राम का रक्षक मार दिया जाय तो उस ग्रामवासियों को कितनी हानि पहुँचेगी। यदि एक व्यवस्थापिका सभा भंग कर दी जाय तो कितनी उच्छृंखलता होगी। इस शरीर में इन्द्रिय, जीवात्मा इत्यादिक के रहने से सुख, दुःख और उद्योगादि अनेक कर्म होते हैं। इनका परस्पर विच्छेद कर देना ही महापातक है। अति क्षुद्र जन्तु यूकादि भी मरने से भय पाता है। जीवन सबको प्रिय है। इस हेतु प्रबन्धित-विच्छेद का नाम ही हिंसा है और नास्तिक मत में कृतहान और अकृताभ्यागम का कुछ उत्तर नहीं हो सकता। एवमस्तु, देहातिरिक्त आत्मा में अन्यान्य प्रमाण भी श्रवण कीजिये। जातमात्र बालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति क्यों होती है ? जिस हेतु पूर्वजन्माभ्यसित मात्र दुग्ध से जीवनधारणा हो सकती है, इस हेतु जात शिशु की स्तन्यपान में प्रवृत्ति होती है।

नास्तिक— यह कथन आपका कुछ ठीक नहीं। पूर्वजन्माभ्यास हम भी मानते हैं। शरीर का नाश हम समझते हैं, किन्तु पूर्वजन्म का नाश नहीं समझते हैं। हमारे कथन का आशय यह है कि बीज रूप से यह शरीर अनादि काल से चला आ रहा है। हम अपने पिता से हुए, हमारे पिता अपने पिता से, इस प्रकार यह शृंखला अनादि काल से चली आती है। बीज में सब तरह के गुण भरे हुए हैं और उत्तरोत्तर सृष्टि के आदि से लेकर अब तक विकास होता गया है। जिसका परिणाम इस समय सर्वत्र दीखता है। इस हेतु जात शिशु के स्तन्यपान की प्रवृत्ति आपके लिए आश्चर्यजनक है, मेरे लिए नहीं। जैसे एक ही क्षेत्र में पचासों प्रकार के उप्त बीज अपने-अपने अनुकूल रस खींचते रहते हैं और तदनुसार कटु, मधुर, अम्ल इत्यादिक होते रहते हैं, इसी प्रकार इस सम्पूर्ण जगत् की लीला है।

आस्तिक— विद्वन् ! यह आपकी व्यवस्था है, हम आस्तिकों की नहीं। हम आस्तिक बीजों को अचेतन समझते हैं। इनमें जब जीव आते हैं, तब वे चेतन होते हैं।

नास्तिक— आपकी समझ के ऊपर यह विषय निर्भर नहीं है। वस्तुस्थिति जैसी है, वैसा मानना पड़ेगा। बीजों में कहीं बाहर से चैतन्य नहीं आता। स्वयं वे बीज चेतन हैं। यदि वे चेतन न होते तो क्षेत्र में पड़ते ही उद्भूत क्यों होने लगते

हैं और जो परिपक्व नहीं रहते वे कदापि अंकुरादि युक्त नहीं होते। और भी देखिये ! जब वर्षा-ऋतु में गंगादि नदी की बाढ़ आती है और लगातार दो-दो, तीन-तीन मास पानी एक क्षेत्र में रह जाता है, तो भी बीज सड़ते और गलते नहीं। उस-उस क्षेत्र से बाढ़ का पानी हटने पर ऋत्वनुसार बीज उत्पन्न होने लगते हैं। इससे सिद्ध है कि बीज चेतन हैं और वर्त्तमान काल में यन्त्र द्वारा बीज के चैतन्य का अच्छे प्रकार विद्वद्गण अनुभव करते हैं। इस हेतु पूर्वजन्म को भी इस रीति से मानता हूँ।

आस्तिक— क्या इस प्रवाह का कहीं आदि भी है ?

नास्तिक— नहीं।

आस्तिक— इस सृष्टि की आद्यावस्था को आप स्वीकार नहीं करते ?

नास्तिक— नहीं।

आस्तिक— क्या इसका कभी उदय और प्रलय नहीं होता ?

नास्तिक— नहीं, यह अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है। जड़-चेतन मिश्रित को ही सृष्टि कहते हैं। वास्तव में वस्तु एक ही है, किन्तु व्यावहारिक दशा में हम किसी को जड़ और किसी को चेतन समझते हैं। अत्यन्त जडीभूत आम्रादिक फल के सड़ने पर उससे पचासों जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इससे क्या सिद्ध है ? कदाचित् आप सड़े हुए आम को जड़ समझते हों, किन्तु यदि वे जड़ होते तो उनसे इतने जीव कैसे उत्पन्न होते। गूलर के अभ्यन्तर इतने जीव कहाँ से आ जाते हैं। इस प्रकार यदि विचारेंगे तो जड़-चेतन भेद मूर्खों की कल्पना मात्र है।

आस्तिक— चेतन का लक्षण क्या है ?

नास्तिक— जिसमें स्वल्पातिस्वल्प भी क्रिया पायी जाय।

आस्तिक— तो मृत शरीर में भी यत्किञ्चित् क्रिया भी अवश्य पायी जाती है क्योंकि सड़ना, गलना, विखरना, दुर्गन्धियुक्त होना इत्यादि क्रियाएँ मृत शरीर में भी पायी जाती हैं, तो मृत और सजीव शरीर में कुछ भेद नहीं ?

नास्तिक— मृत शरीर उसे कहते हैं, जिसके बन्धन ढीले और टूट गए हों, और सजीव शरीर उसे कहते हैं, जिसके बन्धन नवीन और दृढ हों। जैसे नूतन और पुराण भवन। जिस भवन के बन्धन शिथिल और टूट गए हों, वह अव्यवहार्य हो जाता है। इसी दृष्टान्तानुसार इस शरीर को भी समझिये।

आस्तिक— यह दृष्टान्त आपका अदृष्टान्त है क्योंकि गेहादिक जडीभूत वस्तु अपने से भिन्न बाह्य जगत् से भोज्य पदार्थ न लेते और न अपने में से कुछ देते हैं, किन्तु यह जीवात्मानुप्रवेश से सचेतन शरीर बाह्य जगत् से खाद्य वस्तुओं

को लेकर अपने को पुष्ट-हृष्ट करता और उद्भिज्जादिक शरीर फलादिक देते हैं, मानव शरीर भी परस्पर उपकारानुपकार से लाभालाभ पहुँचाते रहते हैं। अथवा यों कहिए कि गर्भाधान से लेकर अथवा बीजारोपण से लेकर मृत्यु पर्यन्त उपचय और अपचय देखते हैं और इच्छादिक क्रियाएं भी विस्पष्टतया उद्भिज्जादि शरीर से लेकर मानव शरीर तक पायी जाती हैं। इस हेतु आपका दृष्टान्त विषम है।

उत्पत्ति और प्रलय भी इस संसार के प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं। हम इस पृथिवी पर प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न होते और विनष्ट होते देखते हैं। वट वृक्षादिक चिरस्थायी उद्भिज्जादिक भी उत्पन्न होते हैं और कुछ दिन इस संसार में रह कर मर जाते हैं। इस दृष्टान्त के अनुसार यह समुदाय जगत् भी कभी उत्पन्न हुआ है और कभी अपने कारण में प्रलीन होगा।

नास्तिक— तब क्या आप ही के दृष्टान्तानुसार ये जीव और जड़ जगत् कभी उत्पन्न हुये हैं और कभी नष्ट भी हो जायेंगे ? क्या यही सिद्धान्त आपका भी है ? यह तो महाभयंकर सिद्धान्त है। क्या अभाव से भाव हुआ है ?

आस्तिक— हमारे आशय को आप अच्छी तरह से ग्रहण नहीं करते। हम ब्रह्म, जीव और मूला प्रकृति को नित्य और अविनाशी मानते हैं। प्रवाह रूप से यह सृष्टि अनादि है, तथापि जब जीवों को फल देने वाले कर्मों की समाप्ति हो जाती है तब इस वर्त्तमान सृष्टि का प्रलय हो जाता है। जब पुनः जीवों की कर्म वासनाएँ फलोन्मुखी होती हैं, तब परम कारुणिक भगवान् मूला प्रकृति लेकर सृष्टि रचता है। यही सृष्टि का आदित्व और अन्तत्व है। वास्तव में ब्रह्म, जीव और मूला प्रकृति का न आदि है और न अन्त है। दृष्टान्त से भी विषय की सिद्धि होती है। जैसे अन्नादि बीज से जब अंकुरादिक होने लगते हैं, तब व्यवहार में कहा जाता है कि इस वृक्ष की आज उत्पत्ति हुई है और जिस दिन अपना अभीष्ट फल देकर सूख जाता है, उस दिन कहा जाता है कि इसका अन्त हो गया। यही व्यवस्था ऊष्मज, अण्डज और जरायुज शरीरों की भी है। यहाँ यह प्रत्यक्षतया देखते हैं कि गोधूमादिकों का काण्ड ज्यों का त्यों बना रहता है किन्तु अब इसमें निज खाद्य लेने की शक्ति नहीं रहती और पूर्ववत् शाखादि की वृद्धि भी नहीं देखी जाती तब जिस वस्तु की स्थिति न होने से इसका अवसान समझा जाता है, वह जीवात्मा है और वे गोधूमादिकों के प्रकाण्ड अनेक रूपों में बदल कर अपने कारण पृथिवी में लीन हो जाते हैं। इससे प्रत्यक्ष है कि परमाणु रूप पदार्थों का नाश नहीं होता। केवल अवस्थाओं के अनेक भेद होते हैं। यह जड़ जगत् की प्रत्यक्ष व्यवस्था है। अब जिसके न रहने से जड़ वस्तुओं की ऐसी परिवर्त्तनशील

गतियाँ होती जाती हैं, वह अति सूक्ष्म अदृश्य आत्मा है। वह आत्मा उस-उस शरीर में प्राप्त हो कर्मानुसार फल भोग कर पृथक् हो जाता है और तृतीय ईश्वर इस जड़ और चेतन को लेकर अपनी अद्भुत शक्ति से कुलालादिवत् इस सृष्टि को रच-रच कर अपनी लीला प्रकट करता है। अब आप विचार करें कि इन तीनों ब्रह्म, जीव, प्रकृति के बिना सृष्टि के उदय-प्रलय नहीं हो सकते। विशेष मैं क्या कहूँ ? मानव बुद्धि दो शाखाओं में जाकर कहीं आस्तिकता और कहीं नास्तिकता उत्पन्न करती है। इन दोनों में आस्तिकता आनन्द-प्रदात्री और सन्तोष-विधात्री और [नास्तिकता दुःख, असन्तोष तथा] नैराश्य [उत्पन्न] करती है। अतः नास्तिकता का त्याग और आस्तिकता का ग्रहण करना ही अभ्युदय का मार्ग है। इति संक्षेपतः।।

आत्मा का परिमाण विचार

यह जीवात्मा अणु है या इसका मध्यम परिमाण है अथवा महत् परिमाण है। जिस हेतु शास्त्रों में तीनों प्रकार की बातें पाई जाती हैं, इस लिये इसका भी विचार करना समुचित प्रतीत होता है। कोई कहते हैं कि इसका परिमाण अणु है क्योंकि श्रुतियों में उत्क्रान्ति और गमनागमन की बातें देखी जाती हैं। यथा—

स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति।

(कौशितकिब्राह्मणोपनिषद् ३.४)

वह आत्मा जब इस शरीर से ऊपर को जाता है, तब इन प्राणों के साथ ही ऊपर को जाता है। इस श्रुति में (उत्क्रान्ति= ऊपर उठना) का। पुनः—

ये वैके चास्माल्लोकात्प्रयन्ति। चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।।

(कौ. ब्रा. उप. १.२)

जो कोई इस लोक से जाते हैं, वे सब चन्द्र लोक को जाते है, यहाँ गमन का। और

तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणः।। (ब्र. उप. ४.४.६)

उस लोक से जो पुनः आता है, वह इस लोक के लिये आता है। यहाँ आगमन का वर्णन है। इस प्रकार आत्मा परिच्छिन्न सिद्ध होता है क्योंकि परिच्छिन्न ही पदार्थ उत्क्रान्ति और गमनागमन कर सकता है, परिच्छिन्न आत्मा मेरे मत में अणु कहाता है। इसमें श्रुतियाँ भी कहती हैं—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।।

(मुण्ड. उप. ३.१.९)

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽनन्त्याय कल्पते।। श्वे॰ उप॰ ५.९

चित्त से इस अणु आत्मा को जानना चाहिये, जिसमें पञ्च प्रकार के प्राण संनिविष्ट हैं। केश के अग्र भाग का सौ भाग करें, उसमें से भी एक का सौ भाग करें, उस परिमाण वाला आत्मा है, वह अनन्त है। इससे भी आत्मा अणु सिद्ध होता है।

शंका— यदि आत्मा अणु है, तब सम्पूर्ण शरीर में सुख वा दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिये क्योंकि सुखादि का अनुभवकर्त्ता किसी एक स्थल में है। देखते हैं कि स्नान से सम्पूर्ण शरीर में शैत्य और ग्रीष्म में परिताप होता है।

समाधान— जैसे शरीर के एक स्थल में लगा हरिचन्दन समस्त देह में आह्लाद उत्पन्न करता है, वैसे देह के एक देश में स्थित भी जीव समस्त देह व्यापिनी चेतनता की उपलब्धि करेगा। त्वचा के सम्बन्ध से सकल देह में सुख दुःखादि को होना सम्भव है। त्वचा के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध समस्त देह में है। त्वचा समस्त देहव्यापिनी है।

शंका— दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की समता न होने से आप का कथन ठीक नहीं क्योंकि शरीर के एक देश में चन्दन की अवस्थिति और सर्वदेश में चन्दनकृत आनन्द ये दोनों प्रसिद्ध हैं और आत्मकृत सर्वशरीरव्यापी ज्ञान प्रत्यक्ष है परन्तु शरीर के एक देश में आत्मा की अवस्थिति प्रत्यक्ष नहीं। इस रीति से अवस्थिति में विशेषता होने से चन्दन का दृष्टान्त विषम है।

समाधान— श्रुतियों में आत्मा की अवस्थिति हृदय देश में गई है। यथा—

हृदि ह्येष आत्मा। (प्रश्न॰ उप॰ ३.६)

स वा एष आत्मा हृदि। (छा॰ उप॰ ८.३.३)

यह आत्मा हृदय में। इत्यादि श्रुतियों से आत्मा की भी अवस्थिति का निश्चय होने से दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषमता नहीं !

शंका— चन्दन सावयव वस्तु है, उसके अवयव मानो, समस्त देह में व्याप्त होकर आह्लाद उत्पन्न करते हों किन्तु निरवयव जीव का सकल देह में विसर्पण विरुद्ध है।

समाधान— तब अन्य दृष्टान्त लीजिए। जैसे किसी भवन में स्थापित मणि वा दीपक की प्रभा उस समस्त भवन को दीप्त करती है, तद्वत् आत्मा का चैतन्य गुण समस्त देह में चैतन्य उत्पन्न करेगा। अतः आत्मा को अणु मानने में दोष नहीं।

शंका— जैसे पट का शुक्ल गुण अपने आश्रय पट को त्याग अन्यत्र न रहेगा, तद्वत् आत्मा का चैतन्य भी अपने आश्रय को छोड़ समस्त शरीर में परिसृत

न होगा। प्रदीप का दृष्टान्त भी ठीक नहीं क्योंकि वह भी एक द्रव्य है। सघन अवयवों से युक्त प्रदीप है। और विरलावयवों से युक्त तेज का नाम ही प्रभा है।

समाधान— यह दृष्टान्त अनैकान्तिक है अर्थात् जैसे आश्रयीभूत द्रव्य से शुक्लादि रूप पृथक् नहीं होता, वैसे ही सब गुणों की अवस्था नहीं क्योंकि पुष्पादिकों में स्थित गन्ध गुण अन्य द्रव्यों में भी जाकर लगता है। जहाँ सुगन्धयुक्त पुष्प होते हैं, वहाँ अन्य असुगन्धित द्रव्य भी सुगन्धमय हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य गुण भी सर्वत्र प्रसृत होता है, जो एक ही आत्मा की बात हो उसको ऐकान्तिक कहते हैं। ऐकान्तिक नहीं वह अनैकान्तिक। पट का शुक्लत्व पट से अलग नहीं होता किन्तु पुष्प का गन्ध पुष्प में भी रहता है और उससे अलग होकर फैलता भी है किन्तु शुक्ल और गन्ध दोनों गुण कहलाते हैं। इन दोनों की दो गतियाँ होने से गुणी से गुण पृथक् नहीं होता, यह कथन अनैकान्तिक है।

शंका— यह दृष्टान्त भी रोचक नहीं क्योंकि पुष्प से केवल गन्ध मात्र निकला यह नहीं। उस सुगन्धित पुष्प से छोटे परमाणु निकल कर नासापुट में प्रविष्ट होते हैं। इस हेतु अपने आश्रय द्रव्य सहित गन्ध फैलता है, निराश्रय नहीं।

समाधान— यदि ऐसा हो तो जिस पुष्प से गन्ध निकले उसका तौल कम और जहाँ जाकर प्रविष्ट हुये उसका तौल अधिक होना चाहिये। सो मालूम नहीं होता। इस लिये परमाणु नहीं निकलते।

शंका— नहीं, परमाणु ही निकलते हैं किन्तु विश्लिष्ट (निकले हुये) द्रव्य बहुत अल्प होते हैं। तौल में प्रतीत न हो, किन्तु परमाणु तौलने के यन्त्र से अवश्य भेद प्रतीत होगा। अतः गुणी से गुण पृथक् होना, यह अनैकान्तिक नहीं।

समाधान— परमाणुओं का ग्रहण इन्द्रिय से नहीं होता क्योंकि वे अतीन्द्रिय हैं और नागकेशरादिकों को सूंघने से गन्ध विस्पष्ट प्रतीत होता है। अतः केवल गन्ध ही निकल कर पृथक् होता है। इस लिये जैसे शुक्लादि रूप अपने आश्रय से पृथक् नहीं होते, वैसे गन्ध भी नहीं होते, यह कथन अयुक्त है। प्रत्यक्ष से ही अनुमान करना ठीक नहीं। जैसा लोक में देखें वैसा ही अनुमान भी किया जाय, यह ठीक नहीं। क्या इस नाम का गुण जिह्वा से ही गृहीत होता तो इस से क्या अन्य गुण भी जिह्वा से गृहीत हो, ऐसा कोई नियम होगा ? और भी, जैसे अग्नि के सन्निधान से लोह और पानी गरम हो जाता है, तद्वत् आत्मा के सन्निधान से देह चेतन हो जाता है इत्यादि। श्रुति भी कहती है कि—

आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः (छा॰ उप॰ ८.८.१)

सर्व लोम पर्यन्त और सर्व नखाग्र पर्यन्त सर्व शरीर में जीव का चैतन्य

गुण व्याप्त रहता है। इति संक्षेपतः।

श्री शंकराचार्य ब्रह्म सूत्र अध्याय २. पाद ३. सूत्र ४३ के भाष्य में कहते हैं कि जीव और ईश्वर में उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध परस्पर सम्बद्ध दो पुरुषों में देखा जाता है। जैसे स्वामी और भृत्य में अथवा अग्नि और विस्फुल्लिंग[1] में। तब क्या जीव और ईश्वर में भी उपकार्योपकारक भाव के अभ्युपगम से स्वामिभृत्यवत् सम्बन्ध मानना चाहिये अथवा अग्निविस्फुल्लिंगवत् ? इस विचिकित्सा[2] में अनियम की प्राप्ति है अथवा स्वामिभृत्यवत् कहने से अनेक सम्बन्ध उपस्थित होते हैं। स्वामी ईशिता होता है और भृत्य ईशितव्य होता है। इसके अतिरिक्त अन्वेष्यान्वेष्टृभाव अर्थात् अन्वेष्य= खोजने योग्य, अन्वेष्टा=खोजने वाला, ज्ञेयज्ञातृभाव, नियम्यनियन्तृ भाव अर्थात् नियम्य=शास्य और नियन्ता= शासक, आधाराधेय भाव इत्यादि सम्बन्धों में से एक प्रकार का कोई सम्बन्ध जीव और ईश्वर में मानना चाहिए। अतः कहा जाता है कि ईश्वर का अंश जीव है, जैसे अग्नि का अंश विस्फुल्लिंग है। अंश के समान अंश है क्योंकि निरवयव ईश्वर के मुख्यांश की सम्भावना नहीं। क्यों ? पुनः निरवयव होने ही से वही नहीं हो सकता क्योंकि श्रुतियों में नाना प्रकार के उपदेश पाये जाते हैं, जिनमें जीवेश्वरों में भेद सिद्ध होते हैं। यथा—

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। (छा॰ उप॰ ८.७.१) **"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति[3]।"**

वह अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य है। इसी प्रकार के श्रुति वाक्य भेदनिर्देश करते हैं। भेद के न होने पर ऐसे वाक्य कदापि नहीं हो सकते क्योंकि परमात्मा अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य है। इससे सिद्ध है कि ईश्वर से भिन्न जीवात्मा कोई अन्वेष्टा= अन्वेषण करने वाला और विजिज्ञासिता= विशेष रूप से जिज्ञासा करने वाला है, और इसी को जान कर मुनि होता है। इससे जीवात्मा विज्ञाता और ईश्वर विज्ञेय सिद्ध होता है और तृतीय वाक्य में आत्मा का शासक परमात्मा है। यह विस्पष्ट भेद प्रतीत होता है। अतः यह नाना व्यपदेश स्वामिभृत्यवत् ईश्वर- जीव में सम्बन्ध बतलाता है, अग्नि विस्फुल्लिंगवत् नहीं। इस पर पुनः शंकराचार्य कहते हैं कि केवल नाना व्यपदेश से ही अंशत्व का स्वीकार नहीं किन्तु इसके विपरीत भी व्यपदेश (उपदेश) विद्यमान हैं जो अनानात्व का प्रतिपादक है। जैसे आथर्वणिक एक शाखी ब्रह्म सूक्त में ब्रह्म के दाश-कितवादि भाव का भी उपदेश करते हैं यथा "ब्रह्म ही सेवक है। ब्रह्म ही ये द्यूतकार जीव हैं। यहाँ कैवर्त्त को दाश कहते हैं, जो ये दाश होकर स्वामियों के निकट अपने

१. चिनगारी। २. संशय। ३. शांकरभाष्य (२.३.४३) में उद्धृत।

शरीर का अन्त करते हैं अर्थात् जीवन पर्यन्त स्वामी की सेवा करते हैं, वे दाश कहलाते हैं। इस के अतिरिक्त नीचातिनीच अन्यान्य भी ब्रह्म हैं। इस हीन जन्तुओं के उदाहरण से नाम रूप कृत कार्यकरण संघात प्रविष्ट सकल जीवों का ब्रह्मत्व कहते हैं तथा अन्यत्र भी ब्रह्म प्रक्रिया में इसी प्रकार के अर्थ का प्रपञ्च किया गया है। यथा—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।।

(श्वे॰ उप॰ ४.३)

सर्वाणि रुपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते। नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा।। (बृ॰ उप॰ ३.७.२३)

तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार और कुमारी है, तू जीर्ण होकर दण्ड के बल से चलता है। तू उत्पन्न होकर सर्वव्यापक होता है। धीर पुरुष सकल रूपों के वास्तविक स्वरूप को जान नाम करके व्याख्या करते हुये विद्यमान हैं। इससे अन्य द्रष्टा नहीं।

इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सिद्ध है कि ईश्वर ही जीवभाव को प्राप्त होता है और अग्नि विस्फुल्लिंग में औष्ण्यधर्मवत् जीवेश्वर में चैतन्यरूप धर्मतुल्य है। अतः भेद और अभेद दोनों के उपदेश से अंशत्व का अवगम= बोध होता है।

सिद्धान्ती— क्या आश्चर्य है ? श्री शंकराचार्य प्रभृति कुछ भी अपने पक्ष का सम्यक् प्रकार विचार नहीं करते। इनके विचार से परिणाम निकालिये। श्री शंकराचार्य कहते हैं कि जीव और ईश्वर में उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध है इस लिये यह सम्बन्ध किस प्रकार का मानना चाहिये। इस पर कहते हैं कि स्वामि-भृत्यवत् सम्बन्ध मानना उचित नहीं किन्तु अग्निविस्फुल्लिंगवत् सम्बन्ध मानना चाहिये। इस पर मैं शंकराचार्य से पूछता हूँ कि विस्फुल्लिंग का कौन सा उपकार अग्नि करता है ? यदि कहा जाय कि विस्फुल्लिंग के समान ईश्वर का अंश जीव है। यहाँ केवल उपमा मात्र कही गयी है, तो मैं पूछता हूँ कि ईश्वर चेतन है। अंश नाम खण्ड का है। क्या ईश्वर कोई रोगग्रस्त पुरुष है कि जिसके शरीर से मांस खण्ड-खण्ड निकला करता है और वे खण्ड-खण्ड जीव होते हैं ? पुनः मैं पूछता हूँ कि वे अंश ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक निकलते हैं ? यदि ज्ञानपूर्वक निकलते हैं तो ईश्वर को रोकना चाहिये क्योंकि अपने शरीर को विकृत होते हुये पामर जन भी नहीं देखते। यदि अज्ञानपूर्वक वे अंश निकलते हैं तो ईश्वर में जड़त्वापत्ति होगी।

और भी सृष्टि के आदि में ही जितने अंश निकलते थे, उतने ईश्वर के

शरीर से निकल गये अथवा प्रतिदिन वे अंशात्मक जीव निकलते हैं ? यदि सृष्ट्यादि में ये अंशात्मक जीव निकले तो कर्मनिरपेक्ष सृष्टि प्राप्त होती है। तब सृष्टि में विषमता कदापि नहीं होनी चाहिये क्योंकि सभी अंश समान ही हैं और कोई उनमें कर्म भी नहीं जिनसे सृष्टिवैचित्र्य हो इत्यादि अनेक दोष इस पक्ष में उपस्थित होते हैं इत्यादि असमञ्जसों को देखकर ही निरवयव ईश्वर का अंश नहीं हो सकता। अंश के समान यह अंश है, ऐसा भी शंकराचार्य कहते हैं। इस पक्ष में अग्निविस्फुल्लिंग का उदाहरण अनुचित है। हाँ ! अंश का यदि यह अर्थ रखा जाय कि ईश्वर एक महान् व्यापक चेतन है और जीव एक छोटा-छोटा चेतन है किन्तु अनादि और अनन्त ईश्वरवत् वह भी अनादि और अनन्त है। इस हेतु यदि कहा जाय तो कोई क्षति नहीं।

अब जो आथर्वणिक ब्रह्म सूक्त का उदाहरण निज पक्ष सिद्धि में देते हैं, उसका भाव इस प्रकार है कि मनुष्यों में नीच वर्णों के प्रति जो घृणा दृष्टि हो रही है, इसको मिटाने के लिये आथर्वणिक पुरुष कहते हैं कि हे मनुष्यो ! जैसे उच्च ब्राह्मणादि वर्णों के प्रत्येक परमाणु में परमात्मा व्यापक है। तद्वत् नीचातिनीच कैवर्त्त चर्मकारादिक में भी ब्रह्म विद्यमान है और जैसे अग्नि के प्रवेश से अत्यन्त ऊष्ण रक्त लोह दण्ड अग्निमय समझा जाता है, तद्वत् ब्रह्म के ओत-प्रोत भाव के कारण ब्रह्म रूप ही समझे जाते हैं। इसमें कोई क्षति नहीं किन्तु ब्रह्म और जीव दोनों पृथक् हैं और भेदोपदेशक अनेक श्रुतिवाक्य हैं। अतः शांकर सिद्धान्त हेय कोटि में निक्षेप्तव्य है।

पुनः श्री शंकर इस पक्ष में वक्ष्यमाण मन्त्र का प्रमाण देते हैं। यथा—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। (छा० उप० ३.१२.६)

इस मन्त्र का अर्थ आनन्दगिरि आदि इस प्रकार करते हैं—

(अस्य) इस सहस्रशीर्षा पुरुष की (तावान्+महिमा) इतनी विभूति है, स्वरूप नहीं, जितना यह प्रपञ्च है। (ततः+ज्यायान्+च) उस प्रपञ्च से महत्तर (पूरुषः) यह पुरुष है (अस्य+सर्वा+भूतानि) इसके सब भूत (पादः) अंश हैं। (अस्य) इसका (त्रिपात्) तीन अंश (दिवि) द्युलोक में (अमृतम्) अमृत स्वरूप है।

यहाँ भूत शब्द से जीवप्रधान सकल स्थावरों और जंगमों का निर्देश है क्योंकि **अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः** (छा० उप० ८.१५.१) यहाँ पर भूत शब्द का अर्थ स्थावर-जंगम है। अंश, पाद, भाग ये तीनों शब्द एकार्थक हैं। अतः जीव में ईश्वर का अंशत्व सिद्ध होता है।

सिद्धान्ती— इस मन्त्र का भी वास्तविक अर्थ श्री शंकर ने नहीं किया।

अर्थ यह है— (सर्वा+भूतानि) सब ही पृथिव्यादि पाँच महाभूत और जीवप्रधान स्थावर-जंगम भी (अस्य) इस सहस्रशीर्षा परमात्मा के एक अंश के समान हैं। पाद शब्द यहाँ एकवचन है अर्थात् मानो, परमेश्वर के एक खण्डवत् यह सम्पूर्ण जगत् है अर्थात् अनन्त ईश्वर के निकट यह जगत् अत्यन्त स्वल्प और तुच्छ है। अतः कहते हैं कि (अस्य+तावान्+महिमा) यह सब उसकी थोड़ी सी विभूति है (पूरुषः) जो पुरुष परमात्मा है, वह इन भूतों से कहीं महत्तर है। इसके (त्रिपाद्) अर्थात् अन्य शेष अंग (अस्य+दिवि) इसके दिव्य स्वरूप में (अमृतम्) अमृतस्वरूप होकर स्थित हैं। वास्तव में ईश्वर की विभूति यहाँ दिखलाई गई है। मानो, ईश्वर चतुष्पाद् है। उसके एक पाद के तुल्य ही यह सम्पूर्ण सृष्टि है और अवशिष्ट तीनों पाद तो सृष्टिरहित अमृतरूप हैं। सृष्टि अमृत और विषम है क्योंकि इसमें सुख, दुःख, मोह आदि सभी पाये जाते हैं। इस आशय की प्रतिपादिका श्रुति है न कि भूत पद से जीव ग्रहण कर ये सकल जीव ईश्वर के अंश, यह अर्थ है। अब भूत शब्द के स्थावर-जंगम अर्थ हैं। इसमें जो अन्य श्रुति का प्रमाण देते हैं, वह भी ठीक नहीं क्योंकि भूत शब्द अनेकार्थक है। पृथिव्यादिक पाँच को भी भूत कहते हैं और गत काल को भी भूत कहते हैं। तब श्रुति का यह अर्थ हुआ कि (तीर्थेभ्यः+अन्यत्र) पवित्र स्थानों के अन्यत्र भी (सर्वा+भूतानि) सकल प्राणियों की (अहिंसन्) हिंसा न करता हुआ आयु अपना बितावे। यहाँ यदि भूत शब्द के स्थावर और जंगम भी अर्थ हों तो स्थावर तृण से लेकर वटवृक्ष पर्यन्त के छेदन-भेदन से क्या पाप समझा जाता है ? यदि स्थावरों के काटने में भी हिंसा हो तो जंगम जीवों का कदापि निर्वाह न हो। अतः भूत शब्द से जंगम जीवों का ग्रहण है, स्थावरों का नहीं। हिंसा शब्द भी जंगम प्राणिवध में ही प्रयुक्त होता है, स्थावर-च्छेदनमें कदापि नहीं। इति संक्षेपतः।

पुनः श्री शंकराचार्य गीता का प्रमाण देते हैं, वह यह है। यथा—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (भगवद्गीता १५.७)

जीव लोक में मेरा ही अंश सनातन जीव है। इससे भी अंशत्व का बोध होता है। इत्यादि प्रमाण भी पूर्ववत् व्याख्येय है।

सिद्धान्ती— ईश्वर और जीव में वास्तविक सम्बन्ध स्वामिभृत्यभाव, सेव्यसेवकभाव, पूज्यपूजकभाव, ईशितव्येशितृभाव सम्बन्ध ही मानना चाहिए क्योंकि ईश्वर स्वामी है, हम जीव उसके भृत्य हैं। ईश्वर पूज्य है, हम लोग उसके पूजक हैं। ईश्वर= ईशिता ईश्वर है और हम लोग ईशितव्य हैं। और भी, यदि ईश्वरांश जीव है तो सकल जीवों के सुख-दुःख भी उसी ईश्वर में प्राप्त होंगे, जैसे हस्त-पादाद्यंशों के सुख-दुःख देवदत्त में प्राप्त होते हैं। तब सकल जीवों के दुःख

ईश्वर में प्राप्त होने से वह ईश्वर महादुःखी होगा। इससे तो जीवरूप में रहना अच्छा है क्योंकि प्रत्येक जीव में थोड़ा-थोड़ा दुःख है। और अंशी ईश्वर[१] में सब जीवों के दुःख प्राप्त होंगे। अतः यह महान् अनिष्ट है।

इसका समाधान शंकर इस प्रकार करते हैं— जैसे जीव सांसारिक दुःख का अनुभव करता है, वैसे ईश्वर दुःख का अनुभव नहीं करता क्योंकि जीव अविद्या के आवेश से देहादि भाव को प्राप्त हो तत्कृत दुःख से 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि अविद्याकृत दुःखोपभोग मानता है, इस प्रकार परमेश्वर का देहाद्यात्मभाव नहीं। इस हेतु दुःखाभिमान भी नहीं। जीवों को भी अविद्याकृत ही दुःखाभिमान है, पारमार्थिक नहीं। जैसे[२] वह स्वदेहगत दाहच्छेदनादिनिमित्तक जो दुःख, उसको अभिमान भ्रान्ति से अनुभव कर रहा है, वैसे पुत्रमित्रादिगोचर दुःख को भी तदभिमान भ्रान्ति से 'मैं ही पुत्र हूँ, मैं ही मित्र हूँ' इस प्रकार [भ्रान्ति से] दुःख का अनुभव करता है क्योंकि स्नेहवश पुत्रमित्रादिकों में स्वसमान अभिनिवेश है। तब यह निश्चित होता है कि मिथ्याभिमान भ्रमनिमित्तक ही दुःखानुभव है क्योंकि व्यतिरेकी उदाहरण से भी यह जाना जाता है। जैसे एक स्थान में बहुत से पुत्रमित्रादि वाले और तदतिरिक्त भी बैठे हों, वहाँ कोई आकर कहे कि इसका पुत्र और इसका मित्र मर गया है तो जिसका पुत्र और जिसका मित्र मरा है, उसी को तन्निमित्तक दुःख होगा क्योंकि वह पुत्र-मित्र से अपने को भिन्न नहीं समझता, किन्तु जो वहाँ अभिमानहीन अन्यान्य पुरुष और संन्यासी आदि बैठे हैं, उन्हें तन्निमित्तक दुःख नहीं होता। अतः जब लौकिक पुरुष का भी सम्यग् दर्शनार्थवत्त्व देखते हैं, तब सकल विषय शून्य अपने से भिन्न अन्य वस्तुओं को न देखते हुए नित्य चैतन्य मात्र स्वरूप परमात्मा की बात ही क्या कही जाय। इस हेतु सम्यग् दर्शनार्थकता का प्रसंग नहीं। इसमें प्रकाशादि का दृष्टान्त भी है। जैसे सूर्य सम्बन्धी वा चन्द्र सम्बन्धी प्रकाश आकाश में व्याप्त होकर स्थित है, उसको अंगुल्यादि उपाधि से ऋजु अथवा वक्र बना लेते हैं किन्तु परमार्थतः वह प्रकाश ऋजु अथवा वक्र नहीं होता केवल अंगुल्यादि सम्बन्ध से उसकी ऋजुता अथवा वक्रता प्रकट होती है और जैसे घटादिकों के चलने से आकाश भी चलता हुआ प्रतीत होता है, परमार्थतः आकाश नहीं चलता। और जैसे घट और सरोवर इत्यादिक जल के कम्पमान होने से सूर्य-चन्द्रादिक कम्पमान प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में सूर्य-चन्द्रादिक कम्पमान नहीं होते, इसी प्रकार अविद्या प्रत्युपस्थापित बुद्ध्याद्युपहित जीवाख्य अंश दुःखित होने पर भी तद्वान् ईश्वर दुःखित नहीं होता। जीव को भी दुःखप्राप्ति अविद्यानिमित्तक ही है, यह बारम्बार कहा गया है।

१. हस्तलेख में 'अंश जीव' पाठ है। २. हस्तलेख में 'तथा च' पाठ है।

अत एव अविद्यानिमित्तक जीवभाव के त्याग से ब्रह्मभाव को ही वेदान्त प्रतिपादन करते हैं, इस हेतु जीवगत दुःख से परमात्मा में दुःख नहीं।

व्यासादिक ऋषि भी जैव दुःख से परमात्मा दुःखित नहीं होता, ऐसा कहते हैं। यथा—

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा।।
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः।।[१]

जो परमात्मा है, वह नित्य निर्गुण है। वह पद्मपत्र के समान फलों से लिप्त नहीं होता किन्तु जो यह कर्मात्मा जीव है, वह मोक्ष-बन्धों से युक्त होता है। और वही सप्तदश राशि से युक्त होता है। सप्तदश राशि ये हैं— पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय ये दश बाह्य इन्द्रियाँ और पञ्च प्राण, मन और बुद्धि ये सब मिलकर सप्तदश राशि होते हैं।

सिद्धान्ती— प्रश्न तो यहाँ यह है कि हस्त-पादादिकों में से किसी एक अंग में व्यथा होने से अंगी देवदत्त व्यथित होता है, तद्वत् अंशभूत जीवात्मा में व्यथा होने से ईश्वर व्यथित होगा, इसका उत्तर शंकर क्या देते हैं ? वह यह कहते हैं कि अविद्याकृत देहादि सम्बन्ध होने से जीव दुःखित होता है। ईश्वर में उस सम्बन्ध के अभाव से दुःख नहीं इत्यादि। यह कथन सर्वथा चिन्त्य है। जब अंश जीवात्मा में अविद्याकृत दुःख है, तो वही दुःख अंशी ईश्वर में भी होना चाहिए क्योंकि जैसे हस्तपादादि अंग मिलकर ही एक देवदत्त कहलाता है, वैसे ही सकल अंश मिलकर ही एक समष्टि रूप में ईश्वर होगा। सकल जीवों से भिन्न ईश्वर नहीं। मानो, ये सकल जीव ईश्वर के अवयव हैं। तब अवयवों के दुःख से अवयवी ईश्वर को भी दुःख होना चाहिए। यदि ईश्वर और जीव दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, तो अद्वैत सिद्धान्त की हानि होती है। अतः शंकराचार्य का कथन सर्वथा त्याज्य है।

और भी, जीव की उपाधि अविद्या है और ईश्वर की भी उपाधि माया है। अविद्या और माया दोनों एकार्थक हैं। इस कारण भी जीव और ब्रह्म में किञ्चित् मात्र भेद नहीं। जीव और ईश्वर दोनों भ्रान्त हैं। भ्रान्ति से ही यह संसार है। वह भ्रान्ति कहाँ है ? ईश्वर में है। जब इस प्रकार ईश्वर भी भ्रान्तिमान् है, तब उसको पद्मपत्रसमान निर्लेप कहना सर्वथा निज सिद्धान्त से विरुद्ध है। ईश्वर निर्लेप है ही नहीं। यदि निर्लेप हो तो वह शुद्ध ब्रह्म कहावेगा, जो निष्क्रिय है। मायावच्छिन्न

१. शांकरभाष्य (वे॰ २.३.४७) में उद्धृत।

ईश्वर में महालेप माया है, फिर यह निर्लेप कैसे ?

और भी, श्री शंकर व्यवहार की बात नहीं करते। जो व्यवहार से नहीं जाना जाता उसकी बात करके अपना मत पुष्ट करते हैं। यह तो व्यवहार की बात है कि जिसका पुत्र-मित्र मरता है, वह शोकान्वित होता है। दूसरा शोक ही क्यों करे ? यदि पुत्र-मित्रादिक में स्नेह न रखे तो वास्तव में वह मनुष्य ही नहीं। क्या उस पुरुष को मनुष्य कहेंगे जो अपनी आँखों के सामने देख रहा है कि मेरे ग्राम को चोर डाकू लूट रहे हैं और तो भी वह पुरुष निश्चिन्त बैठा रह जाय। निस्सन्देह, वह पुरुष पुरुष नहीं। इसलिए अभिमानयुक्त होना पुरुषार्थ का चिह्न है। और भी, निरभिमान परिव्राजक को जब कभी विसूचिका प्लेगादि रोग हो जाय, तब क्या वे दुःखी नहीं होंगे। दुःखी अवश्य होंगे, किन्तु वे उस दुःख को सहन करेंगे। पामर जनवत् रोदन क्रन्दनादि नहीं करेंगे। इतना ही ज्ञानी और अज्ञानी में भेद है। अतः जीव को अंश [न] मान कर ईश्वरवत् नित्य [और] अल्पज्ञ [तथा] चेतन मानना उचित है।

और प्रकाशादिकों का उदाहरण भी सर्वथा असंगत है क्योंकि सूर्य लाखों कोश दूर है, उसका बिम्ब जलादिकों में पड़ता है और जलादिक के कम्पमान होने से तद्वत् बिम्ब भी कम्पमान प्रतीत होता है किन्तु यह दृष्टान्त में संघटित नहीं हो सकता क्योंकि क्या जीव जल के समान हैं, जिनके ऊपर ईश्वर का प्रकाश पड़ता है ? और भी, दूरस्थ दो पदार्थों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब बनता है किन्तु ईश्वर जब सब में व्यापक है तब उसका बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव ही कैसा ? जीव एक स्वतन्त्र वस्तु है। उसमें ईश्वर का बिम्ब नहीं पड़ सकता क्योंकि दोनों सर्वदैव संसृष्ट हैं। इस हेतु यदि जीवों को अंश मानेंगे तो अंशी परमात्मा को जीववत् दुःखादि सम्पन्न मानना पड़ेगा।

जीव के दुःख से ईश्वर दुःखित नहीं होता। इसमें श्रुति भी प्रमाण है। यथा—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।

(श्वे॰ उप॰ ४.६)

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।

(कठ॰ उप॰ ५.११)

(तयोः) जीव और ईश्वर में से (अन्यः) एक (पिप्पलम्+स्वादु) स्वादिष्ट फल को (अत्ति) खाता है (अन्यः) परमात्मा (अनश्नन्) फल को न भोगता हुआ (अभिचाकशीति) केवल देखता है।

सर्वभूतान्तरात्मा एक परमात्मा लोक दुःख से लिप्त नहीं होता।

सिद्धान्ती— एकात्मवाद में अनेक दोष उपस्थित होंगे। यदि सब प्रणियों का एक ही अन्तरात्मा परमात्मा है, प्रत्येक शरीर में यदि भिन्न-भिन्न आत्मा नहीं है तो प्रथम दोष अनुज्ञा और परिहार सम्बन्धी होगा क्योंकि लोक में विधि और निषेध के बिना धर्माधर्म-व्यवस्था नहीं चल सकती। अनुज्ञा नाम विधि का है, परिहार नाम निषेध का है। जैसे ऋतु में भार्या के साथ संगम करे, यह अनुज्ञा है। श्रेष्ठ गुरु-आदियों की अंगनाओं के साथ कुचेष्टा न करे, यह परिहार है। इसी प्रकार **"मा हिंस्यात् सर्वभूतानि"** सब प्राणियों को न मारो, यह परिहार है। लोक में देखते हैं कि मित्र उपसेवितव्य है, शत्रु परिहर्त्तव्य है, यह परिहार है। इसी प्रकार की व्यवस्था एकात्मवाद में कदापि नहीं हो सकती।

वेदान्ती— अनुज्ञा और परिहार की भी व्यवस्था देहसम्बन्ध से हो सकती है।

सिद्धान्ती— कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी परमात्मा का देह के साथ संयोग अथवा समवाय अथवा अन्य कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह परमात्मा सकल धर्म से रहित है।

वेदान्ती— यह सत्य है कि आत्मा का देहादियों से पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं है किन्तु बुद्ध्यादि जनित आत्मविषयक एक विपरीत वृत्ति होती है, वह यह है— 'मैं ही देहादिसंघात हूँ'। इस प्रकार की वृत्ति में देहादिसंघात आत्मतादात्म्य से भासित होता है, वह यह— सांवृततादात्म्यलक्षण सम्बन्ध होता है, पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं, और यह सम्यग् दर्शन के विना कभी निवृत्त भी नहीं होता।

सिद्धान्ती— शरीर के साथ सम्बन्ध जीवात्मा का है या परमात्मा का ? यह जीवात्मा शरीर से सम्बद्ध होकर कहता है कि 'मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं अन्धा हूँ, मैं अनन्ध हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, मैं अमूढ हूँ।' इस प्रकार की वृत्ति जीवात्मा की होती है अथवा परमात्मा की ? यद्यपि परमात्मा सर्वव्यापक है तथापि उसमें किसी प्रकार की अभिमानात्मिका वृत्ति देहसम्बन्ध से नहीं होती। इसलिए यदि एक ही आत्मा सब में है तो अनुज्ञा-परिहार की व्यवस्था कदापि नहीं हो सकती।

वेदान्ती— एकात्मवाद में भी दोष नहीं। जैसे एक ही ज्योति के होने पर भी श्मशानादि का अग्नि त्याज्य होता है, दूसरा नहीं। और एक ही सूर्य का प्रकाश अमेध्यदेशोद्भव हेय और शुचि भूमिष्ठ ग्राह्य होता है। और भी, एक भौम प्रदेश वज्र-वैदूर्यादि उपादेय होते हैं किन्तु भौम ही नर-कलेवर आदि त्याज्य होते हैं। गौ का मूत्र और पुरीष पवित्र माना गया है और अन्यान्य जीवों के मूत्र और पुरीष हेय हैं। इसी प्रकार एक ही ईश्वर सर्वभूतों का अन्तरात्मा है और अनुज्ञा-परिहार की भी व्यवस्था इस प्रकार हो सकती है।

सिद्धान्ती— दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में बहुत भेद है। प्रथम भवदुक्त भौम प्रदेश का विचार कीजिये। आप कहते हैं कि वज्र-वैदूर्यादि भी भौम पदार्थ हैं, उनको लोग ग्रहण करते हैं और नरकलेवर भी भौम हैं किन्तु उन्हें लोग त्याज्य समझते हैं। विद्वन् ! विचारिये तो देह के सम्बन्ध में नर-कलेवर मृत होने पर दुर्गन्धयुक्त होने से त्याज्य होता है किन्तु मांसभक्षी तो पशु-कलेवरों को अच्छे प्रकार पका कर खा जाते हैं। हड्डियाँ भी अनेक काम में लायी जाती हैं। तद्वत् वज्र और वैदूर्यादि प्रस्तर दुर्गन्धित नहीं होते और देखने से घृणा भी उत्पन्न नहीं होती बल्कि मनुष्यों की वे शोभा बढ़ाने वाले होते हैं, अतः यह दृष्टान्त अदृष्टान्त है। इसी प्रकार श्मशान का अग्नि दुर्गन्धयुक्त होता है क्योंकि उसमें [मृतदेह] जलते हैं। दाह्यमान मांस से अतिरिक्त अग्नि नहीं होता। मांस और अग्नि का तादात्म्य सम्बन्ध है, तदतिरिक्त अग्नि दुर्गन्धादिरहित होने से ग्राह्य होता है। इस प्रकार परमात्मा में दृष्टान्त संघटित नहीं हो सकता। परमात्मा देहादिसम्बद्ध होकर क्या अशुद्ध हो जाता है ? क्या श्मशानाग्निवत् उसमें दुर्गन्ध आ जाती है? और भी, किस शरीर का परमात्मा ग्राह्य और किस शरीर का त्याज्य, यह भी आपको कहना चाहिए। इसी प्रकार आपके जितने दृष्टान्त हैं, वे ईश्वर में नहीं घट सकते। इस हेतु एकात्मवाद सर्वथा त्याज्य है।

यदि एक ही आत्मा सब में है तो कर्मों और फलों का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि सबका एक ही स्वामी है फिर कौन कर्म का फल भोगे ? और कौन कर्मफल देवे ? यदि एक शरीरस्थ आत्मा अपराध करता है तो सब शरीरस्थ आत्मा अपराध करते हैं। यदि एक शरीरस्थ आत्मा पुण्य करता है तो सकल शरीरस्थ आत्मा पुण्य करते हैं अर्थात् एक के दुःख से सबको दुःखी और एक के सुख से सबको सुखी होना चाहिए। यदि इस पर कहें कि प्रत्येक जीव का शरीरोपाधि भिन्न-भिन्न है इसलिए जिस शरीर में जो जीवात्मा पुण्यापुण्य कर्म करता है, उसका फल उतने ही शरीर में रहता है। इस हेतु कर्मव्यतिकर अथवा फलव्यतिकर न होगा। यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि विस्तृत सूत्र का यहाँ दृष्टान्त लीजिए। एक सौ गज का सूत्र है, उसमें बहुत सी उपाधियाँ लगा दी गई हैं। कहीं पुष्प ग्रथित कर दिया गया है, कहीं पल्लव बाँध दिये गए हैं, कहीं रंग लगा दिया गया है, कहीं गाँठ दे दी गई है, इत्यादि। अब कहीं एक स्थल में उस सूत्र को हिलावें तो वह सम्पूर्ण सूत्र हिल जायेगा। एक स्थल में कहीं प्रहार करें तो सर्वत्र उसका आघात पहुँचेगा। तब विचार कीजिये कि उपाधि से क्या होता है ? इस हेतु उपाधि पराधीन जीव है, परमात्मा नहीं। यह जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार अन्यान्य सहस्रशः दोष एकात्मवाद में होते हैं। इसका

वर्णन इस पुस्तक के स्थल-स्थल पर विद्यमान है।

आभासवाद

वेदान्ती— परमात्मा का यह जीव जल-सूर्यादिवत् आभास है। यह जीव साक्षात् परमात्मा भी नहीं और उससे भिन्न ही है। इस हेतु जैसे एक जल-सूर्यक के कम्पमान होने से अन्यान्य जल-सूर्यक कम्पित नहीं होते, इसी प्रकार एक जीव के कर्मफलसम्बन्धी होने पर अन्य जीव का उससे सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार कर्म और फल का अव्यतिकर होगा। आभास भी अविद्याकृत है और तदाश्रय यह संसार है। उसके बोध से पारमार्थिक ब्रह्मात्मभाव का उपदेश होता है। इस हेतु एकात्मवाद में भी दोष नहीं।

सिद्धान्ती— यह आभासवाद भी ठीक नहीं। सूर्य का आभास जल में पड़ता है, यह ठीक है। क्या जीवात्मा भी आभास ही है ? यदि आभास हो तो जीवात्मा में कदापि सुख-दुःख और स्वतन्त्र क्रिया भी नहीं होनी चाहिए। क्या जलस्थ सूर्य पर प्रहार करने से सूर्य आघातित होता है ? कदापि नहीं। दर्पण के टूट जाने से क्या मुख टूट जाता है ? कदापि नहीं। किन्तु यहाँ तो यह देखते हैं कि शरीर के ऊपर प्रहार करने से जीवात्मा दुःखी होता है और शरीर में रोग होने से जीवात्मा व्याकुल होता है। यदि पुत्र पैतृक शरीर को मार दे तो उसको महापातक लगेगा। यदि जीवित पैतृक शरीर को अथवा अन्यान्य नरशरीरों को ही अग्नि में जला दे तो वह महापातकी और महादण्ड्य समझा जायेगा। ईदृक् वास्तविक लौकिक व्यवहार होता है किन्तु प्रतिबिम्ब सहित जल के आघात करने वाले को कोई नहीं कहता कि तू सूर्य को पीट रहा है, तू सूर्य को मार रहा है। यदि कोई मूर्ख वृक्ष की छाया को काटे तो उसको कोई नहीं कहता कि तू वृक्ष को काट रहा है। और उस छाया के काटने से वृक्ष कदापि नहीं कटता। इस हेतु जीव को आभास आदि मानना सर्वथा लौकिक दृष्टान्तविरुद्ध है।

जीवात्मा के जन्म और मरण

यद्यपि जीवात्मा एक नित्य वस्तु है और न वह मरता, न सड़ता, न गलता, न किसी प्रकार उसका अभाव होता। यह एकरस सर्वदैव स्थित रहता है। शरीर के सम्बन्ध से इसमें सुख-दुःख होते हैं इत्यादि विचार इस सम्पूर्ण पुस्तक में विद्यमान है, तथापि जो कोई नवीन जीवोत्पत्ति मानते हैं और उन जीवों का लय भी मानते हैं, उनके सन्तोषार्थ और बोधार्थ इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। निस्सन्देह भ्रान्ति के अनेक कारण हैं, देवदत्त ने जन्म लिया है, देवदत्त मर गया है, इस प्रकार के लौकिक व्यपदेश से और जातकर्मादि संस्कार के विधान से भ्रम उत्पन्न होता है। इस भ्रम के निवारणार्थ यह कहा जाता है कि इस जीव

की न तो उत्पत्ति और न प्रलय होता है। यदि इस शरीर के साथ ही जीव विनष्ट हो तो इष्टानिष्ट-प्राप्ति-परिहारार्थ विधि-प्रतिषेध-शास्त्र सभी अनर्थक हो जायँ। कोई भी धर्मव्यवस्था न रहे। श्रुति भी कहती है कि—

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते। (छा॰ उप॰ ६.११.३)

जीव से रहित यह मरता है, जीव नहीं मरता। यदि जीव जन्म और मरण नहीं लेता तो लोक में यह कैसे कहा जाता है कि अमुक आदमी आज मर गया। इस में सन्देह नहीं कि ईदृग् कथन लोक में होता है किन्तु यह शरीर के सम्बन्ध से कहा जाता है अर्थात् स्थावर-जंगम शरीर-विषयक जन्म-मरण शब्द होते हैं क्योंकि स्थावर-जंगम भूत जन्म लेते और मरते हैं। अतः तद्विषयक जन्म-मरण शब्द मुख्य हैं। जीवात्मा में इसका उपचार होता है क्योंकि शरीर के प्रदुर्भाव और तिरोभाव होने ही से जन्म और मरण शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं, क्योंकि शरीर के सम्बन्ध को छोड़ न कहीं कहा जाता है और न लक्षित होता है कि यह जीव जन्म लेकर मर गया। श्रुति कहती है—

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः। (बृ॰ उप॰ ४.३.८)

यह पुरुष शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर जायमान और शरीर को छोड़ने पर म्रियमाण कहलाता है। इस श्रुति से भी शरीर के संयोग और वियोग के निमित्त ही जन्म और मरण शब्द प्रयुक्त हुये हैं। इसी प्रकार जातकर्मादि विधान भी शरीर के प्रादुर्भाव की अपेक्षा से होता है अर्थात् शरीर की शुद्धि और उससे जीवात्मा के सुख के लिए जातकर्मादि विधान हैं। जीव का प्रादुर्भाव और तिरोभाव नहीं। जीव की आकाशादिवत् परमात्मा से उत्पत्ति नहीं होती। यह आगे दिखलाया जायेगा।

शरीरेन्द्रिय-पञ्जराध्यक्ष कर्मफलसम्बन्धी जीवात्मा है, इसमें सन्देह नहीं। क्या वह जीव व्योमादिवत् ब्रह्म से उत्पन्न होता अथवा ब्रह्मवत् नित्य और उत्पत्ति-धर्मरहित है ? जिस हेतु श्रुतियाँ ही दोनों प्रकार की हैं, अतः ईदृग् संशय होता है। किन्हीं श्रुतियों में अग्नि विस्फुल्लिंगादि निदर्शनों से, परब्रह्म से जीवात्मा उत्पन्न होते हैं, ऐसा प्रतीत है। अन्य श्रुतियों में अविकृत ही परब्रह्म के कार्य प्रवेश से जीवभाव विदित होता है, जीवों की उत्पत्ति नहीं। इन द्विविध श्रुतियों से प्राप्त होता है कि जीव उत्पन्न होता है। कैसे ? प्रथम प्रतिज्ञानुरोध से ही जीवोत्पत्ति प्रतीत होती है।

एकस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितम्।[१]

१. शांकरभाष्य (वे॰ २.३.१७) में उद्धृत।

एक को जान लेने से सब विदित होता है। यह प्रतिज्ञा है। यह तब ही उपरुद्ध न होगी, जब एक ही ब्रह्म से समस्त वस्तुजात का प्रभव माना जाय। यदि जीव तत्त्वान्तर हो, तब इस प्रतिज्ञा का उपरोध होगा। और अविकृत परमात्मा ही जीव है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जीवेश में लक्षणभेद है। निखिलपापरहितत्वादिधर्मक परमात्मा है, और उससे विपरीत जीव है। और भी, विभाग से इस जीव का विकारत्व सिद्ध है क्योंकि जितने आकाशादिक प्रविभक्त पदार्थ हैं, वे सभी विकार हैं। उन आकाशादियों की उत्पत्ति कही गई है। पुण्यापुण्यकर्मा सुखदुःखयुक्त जीवात्मा भी प्रतिशरीर प्रविभक्त है, अतः प्रपञ्चोत्पत्ति समय में उसकी भी उत्पत्ति होनी चाहिए। और भी—

यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः।
(बृ॰ उप॰ २.१.२०)

जैसे अग्नि से विस्फुल्लिंग निकलते हैं, वैसे ही इस आत्मा से सब प्राण उत्पन्न होते हैं। इस श्रुति द्वारा भोग्यजात प्राणादिकों की सृष्टि कहकर आगे कहते हैं कि—

सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति।[१]

सब ये आत्मा परमात्मा से निकलते हैं। इस वाक्य से भोक्ता आत्माओं की पृथक् सृष्टि का शासन कहते हैं। पुनरपि—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुल्लिंगा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।।
(मु॰ उप॰ २.१.१)

जैसे सुदीप्त अग्नि से सहस्रशः समान विस्फुल्लिगों का प्रभव होता है, वैसे ही हे सोम्य ! अक्षर से विविध भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं। इस श्रुति से जीवात्माओं के उत्पत्ति और प्रलय कहे गए हैं। और भी, जीवात्मा चैतन्य के योग से परमात्मा के समान है। कदाचित् कहें कि कहीं उत्पत्ति और कहीं अनुत्पत्ति दोनों पाई जाती हैं, इससे जीवात्मा का नित्यत्व ही स्वीकार करना उचित है किन्तु यह बात नहीं क्योंकि क्वचित् अश्रवण अन्यत्र श्रुत का निवारण नहीं कर सकता। इस हेतु श्रुत्यन्तर्गत भी अविरुद्ध अधिक अर्थ का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए। प्रवेशश्रुति भी विकारभाव ही में लगानी चाहिए। इस प्रकार सिद्ध है कि जीव उत्पन्न होता है।

इन शंकाओं का समाधान इस प्रकार है— जीव उत्पन्न नहीं होता। बहुत

१. शांकरभाष्य (वे॰ २.३.१७) में उद्धृत।

सी श्रुतियों में जो जीवोत्पत्ति प्रतीत होती है, वह भी श्रुतियों के वास्तविक अर्थ के न जानने के कारण से प्रतीत होती है। किन्हीं श्रुतियों में जीव की उत्पत्ति नहीं कही गई है। इसकी उत्पत्ति की सम्भावना नहीं क्योंकि श्रुति द्वारा ही जीवात्मा का नित्यत्व और अजत्वादि धर्म ख्यात है। यथा— **न जीवो म्रियते** (छा॰ उप॰ ६.११.३) जीव मरता नहीं। **स वा एष महानत्र आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म।** (बृ॰ उप॰ ४.४.२५) निश्चय वह यह आत्मा महान्, अज, अजर, अमर, अमृत, अभय और महत्तम है। **न जायते म्रियते वा विपश्चित्।** (कठ॰ उप॰ २.१८) न जन्म लेता है, न मरता है। **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः।** (कठ॰ उप॰ २.१८) यह जीवात्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है। **अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।** (छा॰ उप॰ ६.३.२) इस जीवात्मा के साथ सृष्ट पदार्थों में अनुप्रवेश कर नामों और रूपों का विस्तार करूँ। **स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः।** (बृ॰ उप॰ १.४.७) वह यह आत्मा नख पर्यन्त प्रविष्ट है। इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा को अजर, अमर और अनुत्पत्तिधर्मा कहा है। अब जिन श्रुतियों में इसकी उत्पत्ति प्रतीत होती है, उनका तात्पर्य सुनिये।

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुल्लिंगा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।।
(मु॰ उप॰ २.१.१)

इस श्रुति में कहीं जीवात्मा का नाम नहीं। भाव— अर्थात् सकल पृथिव्यादि पदार्थ उस अक्षर से उत्पन्न होते हैं और लय होते हैं। इसी प्रकार—

यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः।
(बृ॰ उप॰ २.१.२०)

यहाँ भी प्राणों की उत्पत्ति है, जीवात्मा की नहीं। इसी प्रकार **सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति।**[१] यहाँ भी आत्मसहित प्राण की उत्पत्ति है अथवा आत्मा भी उस परमात्मा के ही साहाय्य पर जगत् में विविध क्रियाएँ करते हैं। इस हेतु कहा जाता है कि परमात्मा से उसकी जन्म-मरण-स्थिति होती है। जब सकल श्रुतियों द्वारा जीवात्मा का नित्यत्व और अजत्व सिद्ध है, तब इसकी उत्पत्ति और प्रलय का विचार करना सर्वथा असंगत है।

इस जीवात्मा के सम्बन्ध में बहुत से आचार्य यह शंका उठाते हैं कि इस जीव में चैतन्य गुण नित्य है अथवा आगन्तुक है अर्थात् जैसे अग्नि की दाहादिक क्रिया से कच्चे घट के रूप बदल जाते हैं। शष्कुली आदिक खाद्य पदार्थों के

१. द्रष्टव्य— पृ॰ २४७ टि॰ १।

घृताग्नि संयोग से रूप का परिवर्त्तन होता है। क्या तद्वत् ही जीव, मन, इन्द्रिय, अन्तःकरण, पञ्चप्राण इत्यादिकों का आत्मा के साथ संयोग होता है, तब इसमें चेतनता होती है और जब मन आदिक के साथ संयोग नहीं होता, तब वह घट-कुड्यादिवत् जड़ रहता है ? प्रतीत होता है कि इसमें चैतन्य आगन्तुक है क्योंकि सुषुप्ति-मूर्च्छावस्था में यह जीव अचेतन हो जाता है, यह तो प्रत्यक्ष ही है, किन्तु उन्मादावस्था में यदि यह स्वयं चेतन होता तो इस प्रकार विक्षिप्त हो अपने आश्रय शरीर को नष्ट न करता। उस अवस्था में इन्द्रिय-गणों की सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। मस्तक के सब यन्त्र विकीर्ण हो जाते हैं। इस लिये अवशीभूत, अबद्ध, अज्ञान के श्रोत निकलने लगते हैं। इससे भी आत्मा में आगन्तुक चैतन्य प्रतीत होता है। पुनः यदि नित्य चैतन्यात्मा होता तो बाल्यावस्था और वृद्धावस्था दोनों में समान ज्ञान की उत्पत्ति होती क्योंकि जन्म-जन्मान्तरीय अनुभूत सहस्रशः संस्कार सहित जीवात्मा जैसे बाल्य शरीर में है, वैसे ही स्थविर शरीर में भी। तब सकल ज्ञान का प्रकाश बाल्यावस्था से उसे करना चाहिये। यदि कहें कि उस समय सकल इन्द्रिय अत्यन्त दुर्बल होते हैं, इस लिए यह अपना भाव प्रकट नहीं कर सकता, तो यही कहना मेरा है। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय इसके प्रबल होते हैं त्यों-त्यों इसमें चैतन्य गुण की अधिकता होती जाती है और बाह्य पदार्थों का बोध भी बढ़ता जाता है। और इन्द्रिय का दौर्बल्य कहना भी असंगत प्रतीत होता है क्योंकि पिपीलिका आदि अत्यन्त क्षुद्र और अतिलघु कलेवर होते हैं, उनमें स्वकार्यानुकूल सब इन्द्रिय विद्यमान हैं। अतः इन्द्रिय-दौर्बल्य कहना ठीक नहीं।

और भी, यदि नित्य चैतन्य आत्मा होता तो जब इस शरीर से निकलने लगता तो उस समय परितः स्थित शोकान्वित परिजनों को कुछ कह सुन कर यहाँ से विदा होता। जैसे बद्ध कैदी भी विदा के समय अपने पुत्रादिकों को समझाता है, तद्वत् महायात्रा करने वाले जीवात्मा को भी वैसा करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में कणाद प्रभृति आचार्यों की यही सम्मति है कि जीवात्मा में आगन्तुक चैतन्य है। श्री शंकराचार्य कहते हैं कि जिस कारण आत्मा जन्म नहीं लेता, इस हेतु इसमें चैतन्य भी नित्य ही है। और जब जीव परब्रह्म ही है तब अनित्य चैतन्य की शंका ही क्या ? एवमस्तु, जो कुछ हो नित्य चैतन्य जीव नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। देहादि भिन्न आत्मा को सिद्ध करने पर भी यदि इसकी नित्यता सिद्ध न की जाय तो परलोकार्थी पुरुषों की शुभादिक कर्मों में प्रवृत्ति न होगी। अतः आत्मनित्यता प्रतिपादन के लिए स्थूणानिखननन्याय से पुनरपि आगे का लेख लिखा जाता है। देखा जाता है कि जातमात्र बालक की एतज्जन्माननुभूत भी हर्षादियों की उत्पत्ति होती है। वह पूर्व-पूर्व जन्मानुभव के अधीन स्मृति

सम्बन्ध से ही हो सकती है। इस प्रकार अद्यतन आत्मा के पूर्व-पूर्व जन्म की सिद्धि होने पर उसका अनादित्व भी सिद्ध होता है और अनादि पदार्थ का नाश नहीं, यह सिद्धान्त है। इससे आत्मा के नित्यत्व की भी सिद्धि होती है।

शंका— जैसे अनित्य कमलादिक उद्भिज्जों में प्रबोध और सम्मीलन रूप विकार दृष्टिगोचर होते हैं, इसी प्रकार अनित्य आत्मा के भी हर्ष, भय, शोक आदि विकार हो सकते हैं।

समाधान— हम आस्तिक चार प्रकार के जीव मानते हैं। उद्भिज्जादिक शरीर हैं। ये भी सुख-दुःख का मनुष्य-शरीरादिवत् अनुभव करते हैं। इस हेतु पद्मादिक का भी दृष्टान्त अदृष्टान्त है। यदि कहें कि मनुष्य और पद्मादिक में महान् अन्तर पाया जाता है, उसमें भी जीव है, यह हम कैसे मानें ? उसका अति संक्षेप से यह एक उत्तर है कि चेतन उसको कहते हैं कि जो स्वसमान अपने पीछे बीज छोड़ जाय। जैसे मनुष्यादि पुत्रादिक बीज छोड़ जाते हैं, तद्वत् पद्मादिक भी अपने समान बीज रख जाते हैं। इस हेतु वे सब चेतन हैं। अचेतन लोष्ट प्रस्तरादिक हैं जो अपने समान बीजोत्पादन में असमर्थ हैं। इस लिए पद्म निदर्शन अयुक्त है। जातमात्र शिशु का स्तन्याभिलाषप्रवृत्ति लिंग देखते हैं। वह अभ्यास के बिना नहीं हो सकता क्योंकि क्षुधा से पीड्यमान प्राणियों के आहाराभ्यास कृत स्मरणानुबन्ध से ही आहाराभिलाष होता है। यह पूर्व शरीर के बिना जातमात्र शिशु में उपपन्न नहीं हो सकता। इससे अनुमान किया जाता है, इसके बहुत से पूर्व शरीर हो चुके हैं। जिनमें इस आत्मा ने आहार का अभ्यास किया है, सो यह आत्मा पूर्व शरीर से पृथक् हो अन्य शरीर को पाकर क्षुधा से पीड़ित हो पूर्वाभ्यस्त आहार का अनुस्मरण करता हुआ स्तन्य दुग्ध का अभिलाषी बनता है। इस हेतु देहादि से भिन्न आत्मा सिद्ध होता है।

शंका— जैसे अभ्यास के बिना ही लोह-खण्ड अयस्कान्त मणि के समीप खिंच जाता है, तद्वत् जातमात्र शिशु भी माता के समीप दुग्धार्थ आकृष्ट हो जाता है। यहाँ पूर्व जन्म-अभ्यास की आवश्यकता क्यों ?

समाधान— लोह-खण्डों का अयस्कान्त मणि के निकट जो अभिसर्पण है, वह निर्निमित्त है अथवा सनिमित्त ? यदि निर्निमित्त हो तो लोष्ट आदि भी अयस्कान्त के निकट पहुँच जाय क्योंकि नियम में कोई कारण नहीं। लोह ही इसके निकट जाता है और अन्यान्य वस्तु आकृष्ट नहीं होते, इसका क्या कारण? इससे यह सनिमित्तक है, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि बालक की स्तन्य में प्रवृत्ति होती है, अन्यत्र नहीं। वह आहाराभ्यासकृत स्मरण के अनुबन्ध से ही हो सकती है। निमित्त दृष्टान्त से ही वर्णित हो सकता है। निमित्त यदि नहीं हो तो किसी

की उपपत्ति नहीं हो। अभिलाषरूप हेतु का बाधक दृष्टान्त नहीं है, इस हेतु लोह का अयस्कान्ताभिमुख गमन अदृष्टान्त है। लोह की भी अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। कभी लोह लोष्ट के निकट आकृष्ट नहीं होता। यह इसका ऐसा अनियम क्यों ? यदि कारण नियम सर्वक्रियाओं के नियम के लिंग हों। इस प्रकार बालक का भी नियतविषयक अभिलाष कारणनियम से हो सकता है। वह कारण अभ्यस्त स्मरण है वा अन्य है ? यह दृष्टान्त से दिखलाया जा सकता है। देखते हैं कि प्राणियों का अभ्यस्तस्मरण से आहाराभिलाष होता है। अतः अभ्यस्तस्मरण ही कारण है अन्य नहीं।

इस वक्ष्यमाण युक्ति से भी आत्मा नित्य सिद्ध होता है। युक्ति यह है कि रागवान् होता है। इससे दो जन्मों की प्रतिसन्धि-सिद्धि होती है। इसी प्रकार पूर्व शरीर का पूर्वतर शरीर से और पूर्वतर शरीर का पूर्वतम शरीर से सम्बन्ध सिद्ध होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस चेतन का शरीरयोग अनादि है और रागानुबन्ध भी अनादि है। इससे चेतन का नित्यत्व भी सिद्ध होता है।

विभु जीवात्मा

श्री कपिलाचार्य, श्री गौतमाचार्य तथा श्री कणादाचार्य प्रभृति जीवात्मा को बहुत और विभु मानते हैं। कपिलाचार्य का मत है कि ये जीवात्मा बहुत, विभु, चैतन्यमात्र स्वरूप, निर्गुण और निरतिशय हैं। इन जीवों के लिए साधारण प्रधान है। तन्निमित्त जीवों के भोग और अपवर्ग सिद्ध होते हैं। कणाद प्रभृतियों का यह सिद्धान्त है कि ये जीव बहुत और विभु हैं। घटपटादि के समान द्रव्यमात्र स्वरूप और स्वयं अचेतन हैं। उनके उपकरण अणु और अचेतन मन हैं। आत्मद्रव्यों और मनोद्रव्यों के संयोग से आत्मा में इच्छादिक नव वैशेषिक गुण उत्पन्न होते हैं। वे गुण अव्यतिरेक भाव से प्रत्येक आत्मा में समवेत होते हैं। इसी का नाम संसार है। उन नवों आत्मगुणों की अत्यन्त अनुत्पत्ति मोक्ष है। इनके मत में ये दोष होते हैं। सांख्यों के चैतन्यस्वरूप जो सब जीव हैं, उन सबके सम्मेलन में कोई विशेषता नहीं। इस हेतु एक को सुख-दुःख होने से सबको सुख-दुःख होना चाहिए अर्थात् जब सब जीवात्मा विभु और चैतन्यस्वरूप हैं तो सब जीव सब शरीर में व्याप्त हैं। इस अवस्था में एक को सुख वा दुःख प्राप्त होने पर सब को सुख-दुःख प्राप्त होने चाहिएँ। किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः सांख्यमत असमीचीन है। यदि कहा जाय कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के कैवल्य के लिए होती है। इस हेतु व्यवस्था होगी। तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि जिस समय प्रधान एक जीव को भोग भोगा रहा है, उस समय सकल जीवों को भी उस भोग को भोगाना चाहिए क्योंकि सब जीवों का सब शरीरों के साथ सम्बन्ध है, अतः यह मत उपेक्ष्य है।

कणादमत में जब एक आत्मा के साथ मन संयुक्त होता है तब अन्यान्य आत्माओं के साथ भी उस मन का संयोग होना चाहिए क्योंकि सकल जीवों का सन्निधान समान है। तब एकात्मा के सुख-दुःख के योग होने से सर्वात्मा का समान ही सुख-दुःखादि क्यों न हो ? यदि कहें अदृष्टनिमित्तक नियम होने से व्यवस्था होगी तो यह कथन भी समीचीन नहीं क्योंकि आकाशवत् सर्वगत बहुत आत्मा हैं, वे प्रतिशरीर में बाह्य और आभ्यन्तर व्याप्त होकर मन, वाणी, काय से धर्माधर्मलक्षण अदृष्ट का उपार्जन करते हैं। तब साधारण आत्ममनसंयोग से निवर्त्तित जो अदृष्ट वह इसी आत्मा का है दूसरों का नहीं, यह कैसे कहा जायेगा ? इस कारण अदृष्टनिमित्तक नियम भी नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि मैं इस फल को पाऊँ, मैं इस अनिष्ट से पृथक् रहूँ, मैं इस प्रकार प्रयत्न करूँ, इस प्रकार के संकल्प प्रत्येक आत्मा में वर्त्तमान होकर अदृष्ट और आत्माओं के स्वस्वामिभाव की नियम-व्यवस्था करेंगे तो इसके समाधान में भी यही कहा जायेगा कि ये संकल्प भी साधारण ही आत्ममनसंयोग से सकल जीवात्मा के समीप में किये जाते हैं। तब यह संकल्प इसी जीव के हैं, दूसरे के नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है ? इसलिए यह पक्ष भी असमीचीन है।

यदि इस पर कहा जाये कि यद्यपि आत्मा विभु है, तथापि शरीरप्रतिष्ठित मन के साथ जो संयोग वह शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेश ही में होगा। अतः प्रदेशकृत व्यवस्था संकल्पों, अदृष्ट और सुख-दुःखादियों की होगी। कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं क्योंकि विभु आत्मा का सर्वशरीर में अन्तर्भाव है अर्थात् निखिल जीवात्मा निखिल शरीर में व्याप्त है। तब वैशेषिकसिद्धान्तावलम्बी आत्मा का शरीरावच्छिन्न प्रदेश कैसे कल्पित कर सकते हैं ? यदि प्रदेश की कल्पना भी करें तो प्रदेशरहित आत्मा का प्रदेश काल्पनिक होने से पारमार्थिक कार्य का नियम नहीं कर सकता और निखिल आत्मा के समीप उत्पद्यमान शरीर भी इसी आत्मा का है, दूसरों का नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता, अतः यह मत असमीचीन है।

प्रदेशविशेष मानने पर भी समान सुख-दुःखभागी दो जीवों की कदाचित् एक ही शरीर से भोगसिद्धि[१] होगी क्योंकि दोनों जीवों के समान प्रदेश वाले अदृष्ट की सम्भावना है क्योंकि जिस प्रदेश में कभी देवदत्त ने सुख-दुःख का अनुभव किया है, उस प्रदेश से देवदत्त का शरीर स्थानान्तरित होने पर और उसी प्रदेश में यज्ञदत्त का शरीर आने पर उसके समान सुख-दुःखानुभव देखा जाता है। यह व्यवस्था अब न होगी, यदि देवदत्त, यज्ञदत्त का अदृष्ट समान प्रदेश वाला

१. हस्तलेख में 'सिद्धान्त' पाठ है।

न हो। और भी, प्रदेशवादियों के मत में स्वर्गादि सुखों के उपभोग भी नहीं बन सकते क्योंकि ब्राह्मणादि शरीर प्रदेशों में अदृष्ट की सिद्धि हो जाती है और स्वर्गादियों का उपभोग अन्य प्रदेशों में वर्त्तमान है।

और भी, बहुत आत्माओं की सर्वव्यापकता भी नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि आप बतलावें तो कौन से बहुत समान प्रदेश हैं। यदि कहें कि रूपादिक बहुत से समान प्रदेश हैं तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि वे धर्म्यंश से अभिन्न हैं और उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं किन्तु बहुत आत्माओं के लक्षणभेद नहीं हैं। यदि कहें कि अन्त्यविशेषवश से भेदों की उत्पत्ति होगी तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि भेदकल्पना के लिए अन्त्यविशेष की कल्पना होगी। और अन्त्यविशेष की कल्पना के लिए भेद की कल्पना होगी। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। अतः यह मत असमीचीन है।

जीवात्मा क्या है ?

जीवात्मा के सम्बन्ध में आधुनिक वेदान्त ग्रन्थ अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं कि इनके मत में जीव का स्वरूप क्या है ? अब तक निश्चय न हुआ। जितने ग्रन्थ उतने मत हैं। वेदान्त-परिभाषा में भी जीव का इस प्रकार विवरण आता है। जीव परमेश्वर साधारण चैतन्य मात्र बिम्ब है, उसी बिम्ब का अविद्यात्मिका माया में जो प्रतिबिम्ब वह ईश्वर-चैतन्य और अन्तःकरणों में जो प्रतिबिम्ब वह जीव-चैतन्य है क्योंकि—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।।

(शुकरहस्योपनिषद् ३.१२; वेदान्तपरिभाषा— विषयपरिच्छेद)

इस जीव की उपाधि कार्य अर्थात् अन्तःकरण है और ईश्वर की उपाधि कारण अर्थात् माया है। इस मत में जलाशय समुद्रादि में जो सूर्यप्रतिबिम्ब तत्समान ईश्वर है और छोटे-छोटे घटादिक में जो सूर्यप्रतिबिम्ब वह जीव है। यह जीव और परमेश्वर का भेद है। अविद्यात्मक उपाधि व्यापक है, इस हेतु तदुपाधिक ईश्वर का भी व्यापकत्व है। अन्तःकरणात्मक उपाधि परिच्छिन्न है। इस हेतु तदुपाधिक जीव का भी परिच्छिन्नत्व है। इस मत में अविद्याकृत दोष जैसे जीव में प्राप्त होते हैं, वैसे ईश्वर में भी प्राप्त होंगे क्योंकि उपाधि प्रतिबिम्ब का पक्षपाती होता है। इस हेतु यह मत समीचीन नहीं।

दूसरे कहते हैं कि ईश्वर चैतन्य-बिम्बात्मक है, उनका यह आशय है— एक ही चैतन्य बिम्बत्वाक्रान्त ईश्वर-चैतन्य है और प्रतिबिम्बत्वाक्रान्त जीव-चैतन्य है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब की कल्पनारूप उपाधि एक-जीववाद में अविद्या है। अनेक-जीववाद में अन्तःकरण ही है, इस मत में अविद्यारूपोपाधि परमेश्वर और अन्तःकरणरूपो-

पाधि जीव है। यह जीव-परमेश्वर में भेद है। उपाधिकृत दोष प्रतिबिम्बभूत जीव में ही रहेंगे, बिम्बस्वरूप परमेश्वर में नहीं क्योंकि उपाधि प्रतिबिम्ब का पक्षपाती होता है। इस मत में गगनस्थ सूर्य का जलादि में भासमान प्रतिबिम्ब सूर्य के समान जीव और परमेश्वर में भेद है अर्थात् गगनस्थ सूर्यवत् परमेश्वर है और जलादि में भासमान प्रतिबिम्ब सूर्यवत् जीव है।

इस मत में भी यह शंका होती है कि ग्रीवास्थ मुख का जैसे दर्पणप्रदेश में वैसे बिम्ब चैतन्य परमेश्वर का जीव प्रदेश में अभाव होने से ईश्वर का सर्वान्तर्यामित्व न होगा। इसका उत्तर यह है कि मेघ-नक्षत्रादि सहित आकाश का भी जलादिक प्रदेश में सम्बन्ध देखते हैं। परिच्छिन्न बिम्ब का यद्यपि प्रतिबिम्ब प्रदेश में सम्बन्ध न भी हो तथापि अपरिच्छिन्न ब्रह्मबिम्ब का प्रतिबिम्ब प्रदेश में सम्बन्ध हो सकता है, इसमें विरोध नहीं।

इस पर पुनः शंका करते हैं कि रूपहीन ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है ? क्योंकि रूपवान् वस्तु ही का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। इसके समाधान में कहते हैं कि रूपरहित भी रूप का प्रतिबिम्ब देखते हैं। नीरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता यह कोई नियम नहीं है और आत्मा द्रव्य भी नहीं, इस हेतु कहा गया है कि—

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल-चन्द्रवत्। यथा ह्ययं ज्योतिरात्माविवस्वा-नपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।। (वेदान्तपरिभाषा— विषयपरिच्छेद)

जल-चन्द्रवत् ईश्वररूप से एक और जीवरूप से नानारूप यह दीख पड़ता है। जैसे ज्योतिःस्वरूप सूर्य जल में अनेक दीखता है। इत्यादि वाक्य से ब्रह्म प्रतिबिम्ब के अभावानुमान का बाध होता है।

ईश्वर कौन है और जीव कौन ? इस पर प्रकटार्थ विवरण में इस प्रकार लेख है— एक माया है, जो अनादि है, अनिर्वाच्या है, भूत-प्रकृति-आकाशादि जगत् का उपादान कारण है और चिन्मात्रसम्बन्धिनी है अर्थात् चिन्मात्र की आश्रिता है। उस माया में जो चित् प्रतिबिम्ब ईश्वर है उसी के आवरणविक्षेपशक्तियुक्त अविद्या नामक अनन्त प्रदेशों में जो चित्प्रतिबिम्ब है, वह जीव है।

तत्त्वविवेक में इस प्रकार लेख है— त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति के दो रूप हैं। एक माया और दूसरी अविद्या, क्योंकि—

जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति।।

जीव और ईश्वर को आभास से बनाता है और माया और अविद्या स्वयमेव होता है। इस श्रुति द्वारा शुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति माया और मलिन सत्त्वप्रधाना प्रकृति अविद्या कहलाती है। इस प्रकार माया और अविद्या का भेद कल्पित करके

मायाप्रतिबिम्ब को ईश्वर और अविद्याप्रतिबिम्ब को जीव कहा है।

कहीं यह कहा गया है कि मूल प्रकृति की दो शक्तियाँ हैं— एक विक्षेपशक्ति और दूसरी आवरणशक्ति। विक्षेपशक्तिमती माया ईश्वर की उपाधि है और आवरणशक्तिमती अविद्या जिसको अज्ञान भी कहते हैं, जीव की उपाधि है। अत एव वह मूल प्रकृति जीवेश्वर साधारण चिन्मात्र सम्बन्धिनी भी है। तो भी जीव को ही अज्ञान सम्बन्ध है और ईश्वर को नहीं। इस प्रकार जीवेश्वर का विभाग किया है। संक्षेपशारीरक में लिखा है कि—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।।

इस श्रुति के अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर और अन्तःकरण में चित्प्रतिबिम्ब जीव है। श्रुति का अर्थ यह है— अन्तःकरणोपाधिक यह जीव है, कारण अर्थात् माया तदुपाधिक ईश्वर है। जैसे आकाश का घट से, वैसे अन्तःकरणरूप द्रव्य से चैतन्य का अवच्छेद होता है। तब तदवच्छिन्न चैतन्य को ही जीव कहना चाहिए, ऐसा नहीं। यहाँ और परलोक में जीवभाव से अवच्छेद्य चैतन्यप्रदेश के भेद से कृतहान और अकृताभ्यागम दोष होगा। और प्रतिबिम्ब उपाधि के गमनागमन में अवच्छेद्यवत् भिन्न नहीं होता। इस प्रकार प्रतिबिम्ब पक्ष में यह दोष नहीं। इस प्रकार जीव और ईश्वर के प्रतिबिम्ब पक्ष में जो बिम्बस्थानीय ब्रह्म है, वह शुद्धचैतन्य मुक्त पुरुषों का प्राप्य है।

पञ्चदशी के चित्रदीप-प्रकरण में इस प्रकार लेख आता है—

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा।।

कूटस्थ, ब्रह्म, जीव, ईश्वर इस प्रकार चैतन्य चतुर्विध हैं। जैसे घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाश हैं। प्रथम चित्रदीप में चैतन्य के तीन भेद माने थे। जीवचैतन्य, ईश्वरचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य। इस त्रैविध्य प्रक्रिया को छोड़कर चातुर्विध्य प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। घटावच्छिन्नाकाश को घटाकाश। तदाश्रित जल में प्रतिबिम्बित मेघ-नक्षत्रादिरहित आकाश को जलाकाश और अनवच्छिन्न आकाश को महाकाश कहते हैं। और महाकाश मध्यवर्त्ती जो मेघमण्डल उसमें जो जलरूप अवयव उनमें जो प्रतिबिम्बित आकाश वह मेघाकाश। वस्तुतः एक ही आकाश के चार प्रकार हैं तथा स्थूल, सूक्ष्म[१] देहद्वय के अधिष्ठानरूप

१. घ्राण, जिह्वा, नयन, श्रोत्र और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाणी, हस्त, चरण, पायु (मलेन्द्रिय), उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और प्राण-अपानादि पाँच वायु, मन और बुद्धिभेद द्विविध अन्तःकरण यह सप्तदशक लिंग-शरीर, सूक्ष्म-शरीर, सूक्ष्म-देह इत्यादि कहलाता है। और स्थूल शरीर प्रसिद्ध है। (लेखक)

होकर वर्त्तमान कूटवत् निर्विकार तदवच्छिन्न जो चैतन्य वह कूटस्थ चैतन्य है और कल्पित अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जो चैतन्य वह सांसारिक जीव है। और अनवच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है। तदाश्रित जो मायान्धकार उसमें स्थित जो सब प्राणियों की धी-वासनाएँ हैं, उनमें प्रतिबिम्बित जो चैतन्य वह ईश्वर कहलाता है। इस प्रकार चैतन्य की चातुर्विध्य कल्पना की अन्तःकरण और धी-वासना से उपरक्त अज्ञानोपाधि भेद से जीवेश्वर विभाग किया है। इसमें इतना और विशेष है कि चतुर्विध चैतन्यों में 'अहम्' इस प्रकार प्रकाशमान जो जीव वह कूटस्थ में अध्यस्त है जैसे शुक्ति में रजत।

उसी पञ्चदशी के ब्रह्मानन्द प्रकरण में भी विद्यारण्य गुरु इस प्रकार वर्णन करते हैं कि सुषुप्ति संयोग से माण्डूक्योक्त आनन्दमय जीव है क्योंकि जब जाग्रदादि अवस्थाओं में भोगप्रद कर्म के क्षय होने पर निद्रारूप से विलीन जो अन्तःकरण वह पुनः भोगप्रद कर्मवश से प्रबोधावस्था में घनीभूत होता है, तब तदुपाधिक जीव विज्ञानमय कहलाता है।

वही जीव सुषुप्ति समय में प्रलीनावस्थोपाधिक होकर आनन्दमय कहलाता है। उसी को माण्डूक्य में सुषुप्ति स्थान कहा है और यही जीव सर्वेश्वर सर्वाधिपति इत्यादि शब्दों से कहा गया है। यह कैसे कहा गया, इस पर कहते हैं कि परमात्मा के अधिदैवत और अध्यात्म रूप से सविशेष तीन रूप हैं। वहाँ तीन रूप अधिदैवत और एक शुद्ध चैतन्य, इस प्रकार ईश्वर के चार रूप हैं। चित्रदीप-प्रकरण में चित्रपट दृष्टान्त से इस विषय का इस प्रकार समर्थन किया है— जैसे स्वतः शुभ्र पट धौत, अन्नविलिप्त पट घट्टित, मस्याकारयुक्त पट लाञ्छित और वर्णपूरित पट रञ्जित कहलाता है, एक ही चित्रपट की यह चार अवस्थाएँ हैं, वैसे ही परमात्मा माया तत्कार्योपाधिरहित शुद्ध, मायोपहित ईश्वर, अपञ्चीकृत भूत कार्य समष्टि, सूक्ष्म शरीरोपहित हिरण्यगर्भ और पञ्चीकृत भूत कार्य समष्टि स्थूल शरीरोपहित, विराट् पुरुष कहलाता है। इस प्रकार एक ही परमात्मा की चार अवस्थाएँ हैं। इसी प्रकार विश्व, तैजस और प्राज्ञ भेद से अध्यात्म तीन रूप है। सुषुप्ति में विलीन जो अन्तःकरण उसमें अज्ञान मात्र साक्षी जो जीव वह प्राज्ञ कहलाता है जो यह आनन्दमय कहलाता है। स्वप्न में व्यष्टि सूक्ष्मशरीराभिमानी जीव तैजस और जागरावस्था में व्यष्टि स्थूलशरीराभिमानी जीव विश्व कहलाता है। उसी पञ्चदशी में कहीं त्रिविध जीव कहे गये हैं एक पारमार्थिक दूसरा व्यावहारिक और तीसरा प्रातिभासिक। उनमें अवच्छिन्न पारमार्थिक जीव है। उस जीव को आवरण करके स्थित जो माया, उसमें कल्पित जो अन्तःकरण, उस में जो चिदाभास उसे व्यावहारिक जीव कहते हैं। स्वप्न में उसी को आवृत करके

स्थित जो मायारूपिणी निद्रा उससे कल्पित जो स्वाप्नदेह, 'अहम्' यह अभिमानी जीव प्रातिभासिक कहलाता है।

दूसरे प्रकाशानन्दादि कहते हैं कि जीव न प्रतिबिम्ब है और न अवच्छिन्न है किन्तु ब्रह्म ही अपनी अविद्या से संसारी बनता और अपनी विद्या से मुक्त होता है। इसमें कौन्तेय-राधेय का दृष्टान्त दिया है। यह कथा प्रसिद्ध है कि कुन्ती के पुत्र कर्ण जन्म लेते ही माता से त्यक्त हो व्याधकुल में पोषित हुए। और तब से कर्ण अपने को व्याध ही समझने लगे। पोषण करने वाली व्याध-स्त्री का नाम राधा था। इसलिए वह राधेय कहलाते थे। कदाचित् एक ब्राह्मण ने आकर कर्ण को समझाया कि आप कुन्ती-पुत्र राजकुलोत्पन्न क्षत्रियकुमार हैं और अमुक-अमुक घटना के कारण इस व्याध-कुल में आपका आगमन हुआ है इस हेतु यहाँ से चलकर राजा दुर्योधन से मिलिये और उसकी सहायता कीजिये। इतना कहने पर राजा कर्ण व्याध-भाव को छोड़ राजकुल में अपने स्वरूप से परिचित हो आनन्द से रहने लगे। वैसे ही यह ब्रह्म अपनी अविद्या से भ्रम में पड़कर जीव कहलाने लगता है और वही पुनः विद्या द्वारा मुक्त होता है। अन्य कोई जीव नहीं। गाथा इस प्रकार है—

राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्त्तते।
तथैवमात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः।।

जैसे राजपुत्र कर्ण को स्मृति प्राप्त होने पर व्याधभाव निवर्त्तित हो गया। तद्वत् अज्ञ आत्मा का तत्त्वमस्यादि वाक्य से जीवभाव निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार अपनी अविद्या से जीवभाव को प्राप्त ब्रह्म ही सर्वप्रपञ्च का कल्पक होता है। ईश्वर भी सर्वज्ञत्वादि धर्मों के सहित स्वप्नोपलब्ध देवतावत् जीव कल्पित है।

वहाँ ही सिद्धान्तमुक्तावली में लिखा है कि एक ही नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव उपनिषद्मात्रगम्य परमात्मरूप वस्तु है। वही अज्ञान का आश्रित हो जीवभाव को पा देवों, पक्षियों और मनुष्यदेहों की कल्पना कर तदुपकरण चतुर्दश भुवनों को बना तत्तत् भुवनस्थ उन-उन देहों में कोई देव, कोई हिरण्यगर्भ, कोई सबों का स्रष्टा, कोई पालक विष्णु, प्रलयकाल में कोई सर्वसंहारकर्त्ता रुद्र इत्यादि-इत्यादि अनन्त कल्पनाएँ करके स्थित रहता है। उन हिरण्यगर्भादिकों की उपाधियाँ सत्त्वादि गुण हैं। उनके वश से इनको सब सामर्थ्य प्राप्त होता है। उस कल्पना में कोई अपने को ब्राह्मण-कुमार समझ उन देव, ब्राह्मण, आचार्य इत्यादिकों की भक्ति, पूजा, नमस्कारादि द्वारा करके विविध अनुष्ठान युक्त हो, श्रवणादि साधन का उपार्जन कर मोक्ष-सिद्धि करूँगा, इस प्रकार कल्पना करता है। इसी प्रकार नाना कल्पना युक्त वह ईश्वर होता है। पुनः यथा उक्त जागर प्रपञ्च को

उपसंहार कर स्वप्न में निद्रादोष के साथ तादृश ही प्रपञ्च को बना तत्तद्देहेन्द्रिय साध्यभोग को भोग वसिष्ठादि मुक्त हुये। अन्य बद्ध हैं। कोई मैं भी बद्ध, दुःखी संसारी मुक्त होऊँगा, इस प्रकार कल्पना कर पुनः उस अवस्था का उपसंहार कर जागरावस्था अथवा सुषुप्त्यवस्था के चक्र में घूमता रहता है। इस प्रकार एक ही परमात्मा जो सर्वत्र परिपूर्ण और स्वयं प्रकाशानन्दैकस्वभाव है। वही स्व अज्ञानवश जीव और संसारी इत्यादि कहलाता है। इससे भिन्न कोई संसारी नहीं। वही पुण्य-उपार्जन कर ज्ञान द्वारा पापों का क्षय कर वैराग्यसम्पन्न हो आचार्य के निकट जाकर तत्त्वमस्यादि वाक्य द्वारा आत्मस्वरूप को पहचान अज्ञान और तत्कार्य संसार से पृथक् हो स्वानन्द से तृप्त अपने महिमा में स्थित मुक्त कहलाने लगता है।

इस पर कोई शंका करे कि इसमें कल्पक कौन है ? और किसकी पूजा कौन करता है ? और प्रथम कौन भ्रम में पड़ा ? इत्यादि, इसके समाधान में कहा जाता है कि स्वप्न में एक ही स्वप्नद्रष्टा परमार्थ सत्य है और अन्य सब भ्रम कल्पित हैं। इसी प्रकार जागरावस्था में भी एक ही परमार्थ सत्य है और सब कल्पित हैं। जैसे स्वप्न में सभी वस्तुएँ सत्य ही प्रतीत होती हैं और रोना, पीटना, हंसी, खेल, राजा, प्रजा, न्याय, अन्याय सब कुछ लीला एक ही जीव किया करता है। तद्वत् जागरावस्था में भी सारी लीलाएँ एक ही जीव कर रहा है।

इस पक्ष में किसके ज्ञान से अविद्या का निवृत्तिरूप मोक्ष होगा ? यह प्रश्न करे, तो तेरे ज्ञान से होगा, यह उत्तर है अथवा किसी के ज्ञान से मोक्ष नहीं, यह उत्तर है क्योंकि इस मत में बन्ध का अत्यन्त असद्भाव आत्मा में है। नित्य मुक्त आत्मा का मोक्ष होगा अथवा हुआ है, यह कथन असंगत है और इसी अभिप्राय से मोक्ष-प्रतिपादक वाक्यों को अर्थवाद कहते हैं। और बन्ध है, आज तक कोई मुक्त नहीं हुआ है, भविष्यत् में पुरुषार्थ से मोक्ष होगा, इस अभिप्राय से वामदेवादिकों के मुक्ति-प्रतिपादक वाक्यों को अर्थवाद नहीं कहा। यदि बन्ध होते हुए वामदेवादिकों का मोक्ष नहीं हुआ तो आगे भी मोक्ष की आशा निष्फल है। इस बुद्धि से श्रवण में प्रवृत्ति का ही भाव होगा। अतः आत्मा में बन्ध का अत्यन्त असद्भाव है। नित्यमुक्त आत्मरूप जीवात्मा है। उसका मोक्ष सम्भावित नहीं। यह उत्तम भूमिकारूढ विद्वान् का निश्चय है। नित्यमुक्त आत्मस्वरूप के ज्ञान से दुःख-परिहार और सुख की प्राप्ति के निमित्त अनेकविध कर्त्तव्य बुद्धिजन्य क्लेश की निवृत्ति ही वेदान्त-श्रवण का फल है। आत्म-स्वरूप में बन्ध का नाशरूप अथवा परमानन्द का प्राप्तरूप मोक्ष वेदान्त-श्रवण का फल नहीं। वेदान्त-श्रवण से पूर्व भी आत्मा में बन्ध का लेश नहीं तथापि अत्यन्त असद्बन्ध की प्रतीति होती है। अतः भ्रम से

ही वेदान्त-श्रवण में प्रवृत्ति होती है। जिसको बन्ध भ्रम नहीं वैदिक कर्म में उसकी प्रवृत्ति भी नहीं। इसी पक्ष में सकल अद्वैत-शास्त्र का तात्पर्य है।

इस प्रकार जीव और ईश्वर के स्वरूप-निरूपण में नवीन ग्रन्थकारों ने बहुत विस्तार से लिखा है। वहाँ जीव के स्वरूप में एकत्व और अनेकत्व का भी विवाद है। और सर्वमत में ईश्वर एक है, सर्वज्ञ है, नित्यमुक्त है। ईश्वर में आवरण का अंगीकार किसी अद्वैतवाद के ग्रन्थ में नहीं। परन्तु नाना अज्ञानवाद में जीवाश्रित ब्रह्म-विषयक अज्ञान है, यह वाचस्पति का मत है। वहाँ जीव के अज्ञान से कल्पित ईश्वर और प्रपञ्च नाना मानते हैं, तथापि जीव अज्ञान से कल्पित ईश्वर भी सर्वज्ञ मानते हैं। ईश्वर में आवरण का अंगीकार नहीं।

श्री शंकराचार्य महाराज **'आभास एव च'** (वे॰ २.३.५०) इस सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि परमात्मा का आभास पड़ता है, न वह साक्षात् ईश्वर है और न उससे भिन्न है। इस विषय को पुनरपि— **'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्'** (वे॰ ३.२.१८) इस सूत्र के भाष्य में विस्पष्ट करते हैं कि जिस हेतु यह आत्मा चैतन्यरूप निर्विशेष वाङ्मनसातीत है। अत एव इसकी अपारमार्थिकी उपाधिनिमित्तक विशेषवत्ता के अभिप्राय से मोक्ष-शास्त्रों में जल-सूर्यकादिवत् यह उपमा दी गई है। यथा—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपोऽभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा इति।।
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।

जैसे यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वतः एक ही है किन्तु घटस्थित जलों में आभासित होने से बहुत प्रतीत होते हैं अर्थात् जितने घटस्थ जल हैं, उतने सूर्य आभासित होते हैं। तद्वत् यह अज आत्मा स्वप्रकाशस्वरूप एक ही है। मायारूप उपाधि से शरीरों में आभासित हो जीवरूप से अनेक प्रतीत होते हैं। एक ही सबका भूतात्मा प्रत्येक क्षेत्र में व्यवस्थित है। वह जल-चन्द्रवत् एकधा और बहुधा दृष्ट होता है।

इस पर कोई शंका करते हैं कि जल-सूर्यादि अथवा जल-चन्द्र इत्यादि दृष्टान्त ब्रह्म में संघटित नहीं हो सकता क्योंकि सूर्यादिक मूर्तिमान् पदार्थ हैं और उनसे पृथक् भूत अत्यन्त दूर देश में मूर्त्त जल-स्थित है। उस मूर्त्त जल में मूर्त्त सूर्यादिक-प्रतिबिम्ब का उदय हो सकता है किन्तु परमात्मा न मूर्त्त है और न उससे कोई पदार्थ दूरस्थ ही है क्योंकि वह सर्वगत और सर्वमिश्रित है। इस हेतु यह दृष्टान्त अयुक्त है।

इसके समाधान में श्री शंकराचार्य— **'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्ज-**

स्यादेवम्' (वे॰ ३.२.२०) सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि यह दृष्टान्त विवक्षितांश के सम्भव से युक्त ही है क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में कहीं किञ्चित् विवक्षितांश को छोड़कर सर्वसारूप्य कोई दिखला नहीं सकते। यदि सर्वसारूप्य हो, तब दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक भाव का उच्छेद हो जाय। इस हेतु अपनी बुद्धि से जल-सूर्यादिक दृष्टान्तों का प्रणयन नहीं हुआ है किन्तु शास्त्र-प्रणीत इसके प्रयोजन मात्र का यहाँ उपन्यास किया गया है। यहाँ विवक्षित सारूप्य तब क्या है ? इस पर कहते हैं कि जलगत सूर्य-प्रतिबिम्ब जलवृद्धि से बढ़ता है, जलह्रास से ह्रसित[1] होता है, जलभेद से भिन्न होता है। इस प्रकार जल धर्मानुयायी होता है परन्तु परमार्थतः सूर्य वैसा नहीं है। वैसे ही परमार्थतः अविकृत एक रूप ही सद्ब्रह्म देहादि उपाधियों में अन्तर्भूत होकर उपाधिधर्म सुख-दुःखादिकों को मानो प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का सामञ्जस्य है। इसमें श्रुति का प्रमाण है। यथा—

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्।। (बृ॰ उप॰ २.५.१८)

उसने द्विपदपुर मनुष्यादि देह बनाये। चतुष्पदपुर पशुदेह बनाये। इस प्रकार नाना पुर बनाकर स्वयं पक्षीरूप होकर उन-उन पुरों में उस पुरुष ने प्रवेश किया।

आभासवाद का खण्डन पूर्व में कर आये हैं। यदि ईश्वर का प्रतिबिम्ब वा आभास ही जीव है तो इसमें अनेक दोष होते हैं। जैसे घटों के फूट जाने से प्रतिबिम्ब बिम्बस्वरूप ही रह जाता है, तद्वत् घटस्थान मानवादि शरीरों के ध्वंस होने से प्रतिबिम्बस्थानी जीव ब्रह्मस्वरूप ही रह जाता है, तब शुभाशुभ कर्म करने ही की आवश्यकता क्या ? क्योंकि पापियों और धर्मात्माओं के शरीर के ध्वंस के पश्चात् तुल्य रूप से वे ब्रह्मरूप ही बने रहेंगे और कर्म के अनादित्व से जो विचित्र सृष्टियाँ होती हैं इत्यादि सकल व्यवस्थाओं का इस पक्ष में नाश ही है। इसलिए यह पक्ष सर्वथैव त्याज्य है। अब जो बृहदारण्यक का एक वचन देकर उसमें ईश्वर का प्रवेश कहा है, वह अद्वैत पक्ष का साधक नहीं, किन्तु द्वैत का साधक है क्योंकि परमात्मा द्विपाद, चतुष्पाद शरीर बनाकर और उनमें प्रविष्ट है, यह सर्वसिद्धान्त है। जैसे गृह में प्रविष्ट मनुष्य होता है तो गृह और मनुष्य एक ही नहीं हो जाता, इसी प्रकार परमात्मा सृष्टि बना-बना कर उसमें प्रविष्ट होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं।

---

१. हस्तलेख में 'हर्षित' पाठ है।

देहातिरिक्त जीवात्मा में प्रमाण

शंका— देहमात्रात्मदर्शी लौकायतिक देहव्यतिरिक्त आत्मा में प्रमाण नहीं मानते। वे कहते हैं कि पृथिवी, अप, तेज, वायु इन चार महाभूतों में यद्यपि चैतन्य गोचर नहीं होता, तथापि जब ये शरीराकार में परिणत होते हैं, तब इसमें चैतन्य आ जाता है। जैसे प्रत्येक भिन्न-भिन्न कण में मादक शक्ति नहीं देखी जाती किन्तु उन्हीं कणों से मदिरा बनाई जाती है, तब उसमें मद शक्ति आ जाती है। तद्वत् अन्न-पानादिक के खाने से रज-वीर्य के संयोग से यही चतुर्भूत चैतन्यरूप में भी परिवर्त्तित होते हैं। इस दृश्यमान जगत् में जो कुछ भक्ष्याभक्ष्य, लेह्य, चोष्य, पेय हैं और उनके साधन गोधूम, यव, शालि, आम्रादिक जितने दृश्यमान पदार्थ हैं, वे सब ही इन्हीं चार भूतों का परिणाम हैं। सुन्दर से सुन्दर यह विज्ञानमय मानव शरीर चार भूतों के संयोग से ही बनता है और इनके ही बिगड़ने से बिगड़ता है। जब इन चतुर्भूतों और इनके विकारों के अतिरिक्त कोई पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता और देखते भी हैं कि इन्हीं अन्नादिकों के खान-पान से प्राणियों में पुंस्त्व प्राप्त होता है और उनके संयोग से अन्यान्य शरीर बनते रहते हैं, तब कैसे कहा जाय कि इस शरीर से कोई भिन्न जीवात्मा विद्यमान है, जो स्वर्ग और अपवर्ग का साधक होता है। देखते हैं कि शरीर के रहने पर ही इसमें प्राण, चेष्टा, चैतन्य, स्मृति इत्यादि होते हैं। शरीर यदि न रहे तो प्राण, चेष्टादि भी न हों। जिसके होने से जो हो और जिसके न होने से जो न हो, वह उसी का धर्म कहा जाता है। शरीर के होते ही प्राण, चेष्टादिक होते हैं और शरीर के न होने से ही प्राण, चेष्टादि नहीं होते। अतः प्राण, चेष्टा, स्मृत्यादि देह के धर्म हैं, अतिरिक्त जीवात्मा के नहीं। इस प्रकार लौकायतिक नास्तिक शंका करते हैं।

समाधान— इसका समाधान वेदान्त सूत्र में और उसके भाष्य में विद्यमान है। शंकराचार्य इस प्रकार इसका समाधान करते हैं। कहते हैं कि— देह के अस्तित्व में ही यदि प्राण, चेष्टादि मानते हैं, तो उसी से मेरा सिद्धान्त भी सिद्ध होता है क्योंकि देहधर्म से वैलक्षण्य की ओर ध्यान दीजिये। जो देहधर्म रूपादिक हैं, वे सब देह में व्याप्त हैं परन्तु प्राण, चेष्टादिक मृत-देह में नहीं देखे जाते। मृत देह में रूपादि ज्यों के त्यों बने रहते हैं किन्तु आत्मधर्म जो चैतन्य, स्मृत्यादिक हैं, वे नहीं देखे जाते। इससे यह सिद्ध होता है कि देहधर्म रूपादिक हैं, जो जन्म से मरण काल पर्यन्त विद्यमान रहते हैं और चैतन्य, स्मृत्यादिक देहधर्म नहीं हैं क्योंकि मृत-देह में चेष्टा, स्मृत्यादिक नहीं पाये जाते।

दूसरी बात यह है कि शरीर में चतुर्विध भाव देखे जाते हैं। एक तो अधिष्ठान शरीर है। नख से शिखा पर्यन्त का नाम शरीर होता है। दूसरा इस

अधिष्ठान में इन्द्रिय-संघात है। पांच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और तृतीय मन, चित्त, अहंकार आदि अन्तःकरण [और] चतुर्थ आस्तिकों का एक आत्मा है। अब विचार कीजिये कि यदि वे ही चतुर्भूत शरीररूप में परिणत होते तो इनमें चतुर्विध भाव कैसे आते ? नयनादिक इन्द्रिय इस शरीर का अनुभव करने वाला है। बाह्य जगत् के सौन्दर्य को जैसे यह नयनादिक देखते, सुनते हैं, तद्वत् अपने शरीर की शोभादिक को भी देखते और सुनते हैं।

इससे प्रतीत होता है कि अधिष्ठान शरीर से विलक्षण ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शरीर भोग्य अथवा अधिष्ठेय और इन्द्रियगण भोक्ता अथवा अधिष्ठाता है। अब ये इन्द्रियाँ भी कुछ नहीं कर सकते, यदि इनके साथ अन्तःकरण मन का योग न हो। मन के संयोग न होने से इन्द्रियगण अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकते। इसके बहुत से उदाहरण पाये जाते हैं।

यह ऐतिहासिक बात है कि एक कोई इषुकार इषु और धनुष बना रहा था। उसके निकट से राजा और उसकी सेना चली गई। तत्पश्चात् कुछ देर में एक सिपाही ने आकर उस इषुकार से पूछा कि क्या इस मार्ग से ससैन्य राजा गये हैं। इषुकार ने उत्तर दिया कि मुझे कुछ मालूम नहीं। अन्यान्य पुरुषों ने बतलाया कि हाँ, इसी मार्ग से ससैन्य राजा गए हैं। उस इषुकार का मन सकल इन्द्रियों के सहित बाण-निर्माण में लगा हुआ था। अतः ससैन्य राजा का गमन उसे प्रतीत न हुआ। द्वितीय उदाहरण मुनियों के हैं। ऋषि-मुनियों के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी शतशः बातें कही गई हैं। जब भरद्वाज ऋषि समाधि में निमग्न थे, तो उनके निकट से बहुत से क्षत्रिय भागते चले गए। जब परशुराम ने आकर ऋषि से पूछा, तो ऋषि ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उस समय परशुराम को ऋषि का मिथ्यात्व अवश्य प्रतीत हुआ किन्तु पश्चात् अपने अज्ञान पर परशुराम को शोक हुआ। जनक महाराज की राजधानी की ऐसी-ऐसी बहुत सी बातें कही जाती हैं। एक समय एक ब्रह्म-जिज्ञासु जनक के निकट पहुँचा। जनक ने कहा कि आप प्रथम इस नगर को देख आइये किन्तु यह सिपाही आप के साथ जाता है और हाथ में एक खड्ग रहेगा जो आप के शिर से कुछ ऊपर पकड़े हुये रहेगा। यदि आप का मन इस खड्ग से किञ्चित् भी विचलित होगा तो उसी समय वह खड्ग आप के शिर के दो खण्ड कर देगा। इस प्रकार जब वह ब्रह्म-जिज्ञासु सम्पूर्ण नगर भ्रमण कर जनक के निकट पहुँचा, तो उन्होंने उससे पूछा कि आप ने नगर देखा। ब्रह्म जिज्ञासु ने उत्तर दिया कि राजन् ! मैंने कुछ भी नहीं देखा। मेरा मन खड्ग पर था। इस तरह के बहुत से उदाहरण कहे जाते हैं। अपने अनुभव में भी प्रतिदिन देखते हैं कि यदि मन किसी एक कार्य में विलग्न हो, तो इन्द्रियगण

अन्यान्य पार्श्वस्थ विषयों को ग्रहण नहीं करते।

इस हेतु इन्द्रियगणों से विभिन्न एक मन प्रतीत होता है जिसके संयोग और वियोग से इन्द्रियगण स्वविषय ग्रहण करने में समर्थ और असमर्थ होते हैं। अत एव नैयायिक और कणाद मन को पृथक् अणु द्रव्य मानते हैं। वेद में भी कहा है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

इत्यादि मन्त्रों में मन को ज्योतियों का ज्योति और नित्य कहा है। इससे सिद्ध है कि यह मन पृथिव्यादि भूतों का ही परिणाम नहीं।

अब यदि यह देह, इन्द्रियगण और मन भी हों, यदि इन तीनों से भिन्न एक चतुर्थ आत्मा न हो, तो व्यवहार का कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। यथा काशी में हमने एक मित्र को देखा। वह कुछ वर्षों के पश्चात् मेरे गृह पर आता है, उसे देखकर आत्मा में एक आह्लाद उठता है और मित्र की सारी बातें स्मृतिगोचर होती हैं। अब मैं पूछता हूँ कि यह आह्लाद किससे हुआ ? और सकल विषयों का स्मरण करने वाला कौन है ? इन्द्रिय और मन में वह शक्ति नहीं। अतः इनसे भिन्न कोई चेतन जीव है जिसमें यह सब वार्त्ताएँ स्फुरित होती रहती हैं।

अब विचार कीजिये कि चतुर्विध भाव एक ही वस्तु से कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। ये ही भूतचतुष्टय अधिष्ठान भी हों और अधिष्ठाता भी हों, और अनुभावयिता और स्मारक भी हों, यह कैसे हो सकता है ? अतः भूतचतुष्टय के ही परिणामस्वरूप शरीर, बाह्येन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय और जीवात्मा हैं, नास्तिकों का यह कथन सर्वथा असंगत है।

और भी, आप कहते हैं कि परलोकाभिगामी शरीरातिरिक्त जीव नहीं है। यदि आप कहें कि इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो मैं इस पर पूछता हूँ कि आप केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं, अनुमानादिक नहीं ? प्रत्यक्ष प्रमाण को पामर जन भी अस्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि यह गौ है, यह घट है, यह वस्त्र है, इत्यादि प्रत्यक्ष का लोप कोई नहीं कर सकता किन्तु अनुमान को भी पामर जन अनंगीकार नहीं कर सकता क्योंकि कृषकगण मेघोन्नति देख आज वृष्टि अवश्य होगी, यह अनुमान से निश्चय करते हैं। नदी में जलवृद्धि देख कहीं वृष्टि हुई है, यह अनुमान से ही कहते हैं। पौधों को लहलहाते हुए देख अनुमान से आशावान् होते हैं। बच्चों में कतिपय लक्षण देख कहते हैं कि यह सात्त्विक वा तामस होगा। इस प्रकार प्रत्यक्षवत् अनुमान का भी प्रयोग प्रतिक्षण लोग करते हैं। इसकी सत्ता का निषेध कोई नहीं कर सकता।

नास्तिक— इस प्रकार के अनुमान यदि हम स्वीकार भी कर लें तो क्या असम्भव बात का भी होना मान लें ? यदि कोई कहे कि पाटलिपुत्र नगर में एक निराधार भवन बनाया गया है जो पृथिवी से चार हाथ ऊपर स्थापित है, तो क्या इसको भी मान लें ? यदि कोई कहे कि काशी नगर में एक महादेव का भैरव दूत है, उसने उस दिन सकल विदेशियों को मारकर वहाँ से भगा अपने सेवक आदिकों को प्रसन्न किया। श्री महात्मा गान्धी जी तोप के बड़े-बड़े गोले से भी किञ्चित् आहत नहीं होते। जैसे ये सकल वृत्त असम्भव हैं, वैसे ही जीव का भी परलोक गमन असम्भव है क्योंकि इसमें कोई हेतु नहीं देखते।

आस्तिक— यदि आत्मा नित्य नहीं है तो ये विचित्र सृष्टि क्यों होती है?

नास्तिक— स्वभाव से।

आस्तिक— स्वभाव क्या वस्तु है ?

नास्तिक— जिस पदार्थ का जैसा गुण है, वही उसका स्वभाव कहलाता है, जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना है, शीतल जल का स्वभाव पिपासा मिटाना है। इसी प्रकार इन पृथिव्यादि भूतों में स्वभाव नियत है, जिसके द्वारा यह विचित्र सृष्टि हुआ करती है।

आस्तिक— यह भूतचतुष्टय चेतन है वा अचेतन ?

नास्तिक— न इन्हें चेतन वा न अचेतन कह सकते हैं।

आस्तिक— तो क्या चेतन और अचेतन दोनों हैं ?

नास्तिक— हाँ ! अवस्थाविशेष से दोनों कह सकते हैं।

आस्तिक— तो मैं पूछता हूँ कि इन्हीं में से कोई भोग्य और कोई भोक्ता, कोई खाद्य और कोई खादक, सिंहादि बलिष्ठ भक्षक पशु और शशक प्रभृति निर्बल खाद्य पशु कैसे बन गए ? सब जीवों के खादक मनुष्य कैसे हो गए ? क्या भूतचतुष्टय के परमाणुओं ने कोई ऐसी सम्मति कर ली कि हम कुछ परमाणु पुष्प बन जायँ और तुम कुछ परमाणु सुस्वादु फल बन जाओ। तुम बलिष्ठ पशु और ये कुछ निर्बल पशु बन जायँ इत्यादि विचार क्या इन परमाणुओं में ही हो सकते हैं ? कदापि नहीं। इसलिए इसका नियन्ता कोई परमात्मा विद्यमान है और जीव भी अनादि और अनन्त हैं, जिनके कर्मवश ये विचित्र सृष्टियाँ हुआ करती हैं। इस हेतु शरीर से अतिरिक्त जीवात्मा परलोकगामी है। नास्तिक मत का निराकरण आगे विस्तार से रहेगा। इति संक्षेपतः।

जन्म और पूर्व वासना

जिस पुण्य वा पापरूप कर्म का जो दिव्य वा नरक जन्मादिरूप फल होना होता है, उस फल के अनुकूल ही उस कर्म से वासना प्रकट होती है, प्रतिकूल

नहीं क्योंकि यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है कि दैव कर्म-फलोन्मुख हुआ। नरक तिर्यक् मनुष्य-भोग की वासना का निमित्त हो किन्तु दैव भोग के अनुकूल जो वासना है, उनका ही वह व्यञ्जक कहा जायेगा। ऐसा न माना जायेगा तो जिसको मनुष्य-जन्म से अनन्तर उष्ट्र-जन्म का लाभ हुआ है, उसकी कण्टक-भक्षण में प्रवृत्ति न होगी। इससे यह अवश्य मानना चाहिए कि उष्ट्र-योनि का प्रापक जो फलोन्मुख कर्म है, वह उष्ट्र-योनि के भोग के उपयोगी वासना का निमित्त है। इसी प्रकार नारकादि कर्मों में जान लेना चाहिए।

एवं च जिस जीव को जिस विपच्यमान कर्म से मनुष्य-योनि से अनन्तर मार्जार वा उष्ट्र-योनि की प्राप्ति होनी होगी, उस जीव के चित्त में उस कर्म से मार्जार वा उष्ट्र-योनि के भोग के उपयोगी ही वासना प्रकट होगी, अन्य योनि की वासना नहीं, यह सिद्ध हुआ।

यहाँ पर यदि कोई यह आक्षेप करे कि बहुत व्यवहित जो मार्जार वा उष्ट्र योनि पूर्व हो चुकी है, उसी की वासना अभिव्यक्त होगी और अव्यवहित जो मनुष्य-जन्म है, उसकी वासना प्रकट नहीं होगी, यह कथन समीचीन नहीं किन्तु अव्यवहित जो मनुष्य जन्म है, उसी की वासना का प्रकट मानना समाचीन है क्योंकि यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता [क्यों]कि अव्यवहित दिन में अनुभूत पदार्थ का स्मरण होता है, [व्यवहित का नहीं। इस आक्षेप का वारण करते हैं।

मार्जार वा उष्ट्र-योनि का प्रापक जो कर्म है, वह जब-जब अपने फल देने को उन्मुख होगा, तब पूर्व से उष्ट्र और मार्जार-योनि के संस्कारों को लेकर ही उन्मुख होगा। इससे चाहे शत जन्म के व्यवधान वाला वा दूर देश के व्यवधान वाला वा शतकल्प के व्यवधान वाला भी हो, तो भी पूर्वानुभूत जो व्यवहित मार्जार वा उष्ट्र-योनि है, उसके संस्कारों को लेकर ही उदय होगा, अन्य अव्यवहित संस्कारों को नहीं क्योंकि उष्ट्रादि-योनि का प्रापक जो कर्म है, वह उन संस्कारों का निमित्त है। इससे यद्यपि वह वासना व्यवहित है तथापि समान-कर्मजन्य होने से फलदृष्टि से उनका आनन्तर्य ही जानना चाहिए।

व्यवहित संस्कारों का भी फल-बल से आनन्तर्य (अव्यवधान) होता है, इसमें हेतु कहते हैं। जैसा अनुभव होता है, वैसा ही संस्कार होता है और तादृश ही उस संस्कार से स्मरण होता है। इस प्रकार स्मृति और संस्कारों के एकरूप होने से जात्यादि-व्यवहित उन पूर्वीय संस्कारों का ही प्रादुर्भाव होता है, अन्य अव्यवहितों का नहीं। यदि मनुष्य-जन्म की वासना का ही प्रादुर्भाव माना जायेगा तो उष्ट्र-जाति के भोग का स्मरण नहीं होगा क्योंकि उन दोनों का भिन्न रूप है। एवं च पूर्वोक्त ही समीचीन जानना चाहिए।

भाव यह है कि यद्यपि मनुष्य-वासना अव्यवहित है, तथापि उनके व्यञ्जक कर्म का अभाव होने से वह प्रकट नहीं हो सकती और उष्ट्रादि-वासना का तो उष्ट्र-योनि प्रापक जो कर्म है, वही व्यञ्जक है। व्यञ्जक के सद्भाव से उष्ट्रादि-वासनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है, अव्यवहित मनुष्य-वासना की नहीं। एवं च व्यवहित वासनाओं का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव होने से आनन्तर्य है, यह सिद्ध हुआ।

यहाँ पर यदि कोई यह आशंका करे कि जिस जीव को प्रथम कभी उष्ट्र-योनि की प्राप्ति हो चुकी है और फिर बहुत योनियों के अनन्तर उष्ट्र-योनि की प्राप्ति हुई है, वहाँ पर तो यह कह सकते हैं कि पूर्व उष्ट्र-योनि के संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है। परन्तु[१] प्रथम ही जो उष्ट्र-योनि की प्राप्ति हुई है, वहाँ किस प्रकार संस्कारों का प्रादुर्भाव माना जायेगा ? क्योंकि उससे पूर्व उष्ट्र-जन्म के सद्भाव में प्रमाण का अभाव है। इस आशंका के वारणार्थ संसार को अनादि कहते हुए वासना को अनादि कहते हैं।

निखिल प्राणिमात्र की जो आत्म-विषयक यह निरन्तर प्रार्थना है कि 'मेरा अभाव कभी मत हो, किन्तु सर्वदा ही मैं विद्यमान रहूँ' इस प्रार्थना के सर्वदा होने से वासना को अनादि जानना चाहिए।

भाव यह है कि यदि पूर्व-पूर्व जन्म के मरण-दुःख की वासना न मानी जायेगी, तो जातमात्र जन्तु को जो यह मरण-त्रास होता है, वह न होना चाहिए और होता है इससे वासना को अनादि तथा पूर्व-पूर्व जन्म का होना, यह अवश्य मानना चाहिए।

जो कि पूर्वजन्माभाववादी नास्तिक लोग यह कहते हैं कि जातमात्र जन्तु को जो यह मरण-त्रास है, वह स्वाभाविक है, नैमित्तिक नहीं, तो उनसे यह पूछना चाहिए कि यदि स्वाभाविक है तो सर्वदा क्यों नहीं होता क्योंकि जो स्वाभाविक होता है, वह किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं करता है।

यदि स्वाभाविक है तो इष्ट वस्तु तथा भयंकर वस्तु के दर्शन के बिना भी हर्ष और शोक होना चाहिए, किन्तु होता नहीं। इससे वासना-जन्य होने से नैमित्तिक ही मरण-त्रास है, स्वाभाविक नहीं, तथा च वासना अनादि है, यह सिद्ध हुआ।

यहाँ पर इतना विशेष यह भी जान लेना चाहिए कि यद्यपि अनादि अनेक जन्मों की विलक्षण वासना से जीव का चित्त अनुविद्ध है, तथापि सब वासना अभिव्यक्त नहीं होती है किन्तु जो कर्म फल देने को उन्मुख हुआ है, वही कर्म

१. हस्तलेख में 'और' पाठ है।

जिसका व्यञ्जक होता है। वही वासना उदय होकर पुरुष के भोग में निमित्त होती है, अन्य सब वासना नहीं।

अब यहाँ पर यह एक सन्देह उपस्थित हो सकता है कि इन वासनाओं का आश्रय जो चित्त है, सो मीमांसक-सम्मत महत्परिमाण वाला होने से विभु है वा नैयायिक-सम्मत अणुपरिमाण वाला होने से अणु है वा सांख्यादि-सम्मत मध्यम-परिमाण वाला होने से अणु और विभु से विलक्षण है ? इस सन्देह के उपस्थित होने पर भाष्यकारों ने प्रथम तो सांख्यमत को लेकर यह कहा है कि— **"घटप्रासाद-प्रदीपकल्पं विकाशि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः, तथा चान्तरा-भावः संसारश्च युक्त इति"** जैसे घट और प्रासाद (राजमन्दिर) रूप अल्प और महान् आश्रय के भेद से प्रदीप का प्रकाश संकोच और विस्तार वाला होता है, वैसे पिपीलिका और गजरूप अल्प और महान् आश्रय के भेद से चित्त भी स्वल्प और महत्परिमाण वाला होता है। इसी से ही उस-उस शरीर के परिमाण के तुल्य परिमाण वाला चित्त है। यह अपर सांख्य लोग मानते हैं (तथा च) शरीर परिमाण मानने से ही परलोकगमनरूप जो अन्तराभाव फिर वहाँ से आगमन रूप जो संसार यह दोनों युक्त होता है। अर्थात् यदि चित्त विभु माना जायेगा तो वह निष्क्रिय होने से परलोक में गमन और फिर वहाँ से यहाँ आगमन रूप क्रिया वाला नहीं होगा, इससे मध्यमपरिमाण मानना ही युक्त है। यह इस भाष्य का अर्थ है, फिर मीमांसक-मत को लेकर यह कहा है कि— **"वृत्तिरेवास्य विभुनः संकोच-विकाशिनीत्याचार्यः"** जैसे इस विभु चित्त की वृत्ति ही विकाश वाली है। चित्त कुछ संकोच विकाश वाला नहीं है क्योंकि चित्त विभु है। यह इसका भावार्थ है परन्तु इन दोनों पक्षों में से कौन सा पक्ष सिद्धान्त है, यह निर्णय करना केवल व्याख्याकारों का कृत्य है।

वहाँ वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों ने यह निर्णय किया है कि प्रथम पक्ष तो एकदेशी है और द्वितीय पक्ष सिद्धान्त है। चित्त विभु है, यह सिद्धान्त पक्ष है परन्तु विचार-दृष्टि से समालोचना की जाय तो प्रथम पक्ष ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है, द्वितीय नहीं क्योंकि प्रकृति से अतिरिक्त यावत् कार्यजात के सांख्य मत में परिच्छिन्न होने से मन को विभु मानना अयुक्त है। अत एव **"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्"** (हेतुमद्) कारण वाला अर्थात् कार्य (अनित्यम्) सदा न होने वाला (अव्यापि) सर्व जगत् में न होने वाला (सक्रियम्) क्रिया वाला (अनेकम्) प्रति शरीरों में भिन्न-भिन्न होने वाला (आश्रितम्) अपने अवयवों में निवास करने वाला अर्थात् प्रकृति से भिन्न जो कार्यजात है, वह इतने धर्म वाला है। सांख्य दर्शन प्रथम अध्याय का यह १२४वाँ सूत्र है। इस सूत्र से कपिल महर्षि

ने महत्तत्त्वादि निलिख कार्य को अव्यापक कहा है जो कि प्रभाकर ने "मन विभु है, नित्येन्द्रिय होने से, श्रोत्र की तरह" यह अनुमान किया है, वह भी अमान जानना चाहिए क्योंकि **"एतस्माज्जायते प्राणो[1] मनः सर्वेन्द्रियाणि च"** (मु॰ उप॰ २.१.३) इस परमात्मा से ही मन और निखिल इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं, यह मुण्डक श्रुति का अर्थ है। इस श्रुति से मन और श्रोत्र इन दोनों को जन्य मानने से हेतु और दृष्टान्त असंगत हैं।

अत एव कपिल मुनि जी ने **"न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा"** मन की व्यापकता नहीं। करण होने से, इन्द्रिय होने से, क्रिया वाला होने से, परलोक में गमन वाला होने से, यह सांख्य दर्शन के पञ्चम अध्याय के ६९–७० इन दोनों सूत्रों का अर्थ है। **"सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः"** इन दोनों सूत्रों से मन के विभुत्व का निराकरण कर **"न निर्भागत्वं तदयोगाद् घटवत्"** इस सूत्र से अणु परिमाण का खण्डन कर परिशेष से मध्यम परिमाण वाला ही मन माना है।

एवं च समान-तन्त्र-सिद्धान्त ही के स्वीकार के उचित होने से यहाँ पर जो विभुत्व का प्रतिपादन है, वह प्रौढिवाद से जानना चाहिए।

तथा च संकोच-विकाश वाला होने से चित्त मध्यम परिमाण वाला है, यह निष्पन्न हुआ। परन्तु वह चित्त अपने संकोच और विकाश में तथा शुभाशुभ वासना के प्रकट करने में स्वतन्त्र नहीं है किन्तु धर्मादि निमित्त की अपेक्षा वाला है, इससे संकोचादि कादाचित्क है।

वह धर्मादि निमित्त है, वह भी दो प्रकार का है। एक तो बाह्य और एक आध्यात्मिक। वहाँ शरीरेन्द्रिय, धनादि करके साध्य जो नमस्कार-स्तुति-दानादि वह बाह्य धर्मादि निमित्त है और केवल चित्तमात्र करके साध्य जो श्रद्धा-मैत्री आदिक आध्यात्मिक धर्मादि निमित्त है। मैत्री आदिक आध्यात्मिक धर्म हैं। यह पञ्चशिखाचार्य की भी सम्मति है। इसी से ही **"ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मनः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्त्तयन्ति।"** (यो॰ द॰ व्यासभाष्य ४.१०)– (ध्यायिनाम्) योगियों के जो ये मैत्री आदि विहार= अयत्न साध्य व्यापार हैं, वे बाह्य साधन की अपेक्षा से रहित हुए हुए प्रकट धर्म अर्थात् शुक्ल धर्म को (अभिनिर्वर्त्तयन्ति) उत्पन्न करते हैं, यह इसका अर्थ है। इस वाक्य से पञ्चशिखाचार्य ने मैत्र्यादि को प्रकृष्ट धर्म का साधन कहा है।

वहाँ इन दो प्रकार के धर्मों में बाह्य धर्म की अपेक्षा से मानस धर्म अतिबली है क्योंकि ज्ञान-वैराग्यादिरूप जो मानस धर्म हैं, उनसे अधिक प्रबल कोई बाह्य धर्म दृष्ट नहीं है अर्थात् बाह्य धर्म के बल से मानस धर्म का बल प्रबल है। अत

१. हस्तलेख में 'एतस्मात्प्रजायन्ते' पाठ है।

एव असाध्य कार्य है, वह मानस धर्म के बल से साध्य हो जाता है, जैसे कि रामचन्द्र जी का दण्डकारण्य का निर्जन कर देना।

इस प्रकार से वासना का अनादि कथन किया और प्रसंग से अन्य विचार का भी उपन्यास किया। अब यहाँ पर यह शंका उत्थित होती है कि यदि वासना अनादि है तो इसका उच्छेद न होना चाहिए क्योंकि जो अनादि होता है, वह नाश रूप धर्म से रहित होता है, जैसे कि पुरुष। इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं।

वासनाओं के अभिव्यञ्जक जो अविद्यादि हैं, उनका विवेकख्याति से नाश होने से वासना आप ही निवृत्त हो जाती है।

वहाँ अविद्यारूप दण्ड करके भ्रामित जो षडर (= छह अरे वाला) संसार चक्र है, वह वासना का हेतु जानना चाहिए। प्रथम जीव को धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है और फिर सुख से सुख और सुख के साधनों में राग और दुःख से दुःख और दुःख के साधनों में द्वेष, फिर राग-द्वेष से प्रयत्न अर्थात् मन, वाणी, शरीर की चेष्टा द्वारा परानुग्रह और परपीड़ा, फिर अनुग्रह और पीड़ा से धर्म और अधर्म, फिर इन दोनों से सुख और दुःख, फिर सुख-दुःख से राग-द्वेष, इस प्रकार अनादि काल से प्रवृत्त जो धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, राग, द्वेष रूप षड् अर (= छह अरे) वाला संसार चक्र है, वह वासना का हेतु है।

यह जो प्रतिक्षण आवर्त्तमान संसार चक्र है, वह भी स्वतन्त्र नहीं है किन्तु सब क्लेशों का मूल जो अविद्या है, वह इस संसार चक्र का प्रेरक है तथा च संसार चक्र द्वारा अविद्या ही वासना का हेतु है, यह सिद्ध हुआ और जिस पुरुषार्थ (मोक्षभोग) के उद्देश्य से धर्मादि का अनुष्ठान किया जाता है अर्थात् जिस फल की इच्छा से धर्मादिक वर्त्तमानावस्था वाले होते हैं, वह वासना का फल जानना और मन इन वासनाओं का आश्रय है परन्तु साधिकार मन ही वासना का आश्रय है। कुछ समाप्ताधिकार नहीं क्योंकि समाप्ताधिकार मन में वासनाओं की स्थिति का होना असम्भव है और जो वस्तु सम्मुख उपस्थित होकर जिस वासना की अभिव्यञ्जक होती है, वह उसी का आलम्बन है।

इस प्रकार हेतु-फल-आश्रय-आलम्बन इन चारों से वासना संगृहीत है अर्थात् इन चारों के अधीन वासना है। जब विवेकख्याति के उदय से इन चारों का अभाव हो जाता है, तब स्वयं वासनाओं का अभाव हो जाता है।

असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता, यह योग का सिद्धान्त है, तो फिर सत् रूप से विद्यमान वासनाओं की निवृत्ति कैसे ? इस सन्देह का वारण करते हैं।

यदि अतीत-अनागत-वर्त्तमानता रूप तीनों धर्मों की एक काल में समान

सत्ता मानी जाय, तब विरोध हो सकता है परन्तु वह हम मानते नहीं। किन्तु जिस काल में घट विद्यमान हुआ वर्त्तमानता रूप धर्म वाला होता है, उस काल में वर्त्तमानता रूप धर्म तो वर्त्तमान काल वाला है और अतीतता रूप धर्म अनागत काल वाला है और अनागतता रूप धर्म अतीत काल वाला है, यह मानते हैं। तथा च तीनों धर्मों के भिन्न-भिन्न काल वाले होने से एक काल में तीनों धर्मों का वर्त्तना विरुद्ध नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

भाव यह है कि जिस वस्तु की अभिव्यक्ति आगे होने वाली है, वह अनागत है और जिसकी अभिव्यक्ति पीछे हो चुकी है, वह अतीत है और जो वस्तु अपने व्यापार में उपारूढ़ होकर अभिव्यक्त हो रही है, वह वर्त्तमान है। ये तीनों प्रकार की ही वस्तुएँ योगी के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हैं। यह योग का सिद्धान्त है। तथा च यदि स्वरूप से अतीत और अनागत वस्तु न मानी जायेगी तो योगी को त्रैकालिक पदार्थ विषयक योगज प्रत्यक्ष ज्ञान न होगा क्योंकि बिना विषय की सत्ता के प्रत्यक्ष ज्ञान का होना असम्भव है। इससे अतीत, अनागत वस्तु भी स्वरूप से विद्यमान है, यह अवश्य मानना उचित है किन्तु यदि अनागत पदार्थ न माना जायेगा तो स्वर्ग और अपवर्ग के लिए जो परीक्षकों की साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति है, वह भी अयुक्त हो जायेगी क्योंकि असत् की उत्पत्ति का योगमत में अभाव है।

दण्डादिक जो कारण है, वह कुछ अपूर्व, असत् घट का उत्पादन नहीं करते हैं किन्तु अव्यक्त अवस्था से कारण[रूप] से विद्यमान जो घटादि कार्य हैं, उनको वर्त्तमान अवस्था वाला कर देते हैं परन्तु इतना विशेष है कि वर्त्तमान अवस्था वाला जो कारण है, वही कार्य की व्यक्त अवस्था के सम्पादन में समर्थ होता है, अतीतादि अवस्था वाला नहीं। इसी से ही अतीतावस्था वाले कारण से किसी कार्य का आविर्भाव नहीं होता है।

इतना विशेष यहाँ पर यह भी जान लेना चाहिए कि जैसे वर्त्तमान वस्तु अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई दिखाई देती है, वैसे अतीत और अनागत नहीं किन्तु भविष्यद् व्यक्ति रूप से अनागत वस्तु है और अनुभूत व्यक्ति रूप से अतीत वस्तु है। इससे वर्त्तमान काल में ही वस्तु के स्वरूप की स्पष्ट प्रतीति होती है, अतीत और अनागत काल में नहीं। परन्तु इतना तो अवश्य माना जायेगा कि एक अध्व के वर्त्तमान समय में अन्य दोनों अध्व भी धर्मी में समनुगत ही हैं, कुछ अत्यन्त अभाव वाले नहीं क्योंकि पूर्व न होकर फिर होना यह सिद्धान्त के विरुद्ध है अर्थात् जिस समय घट रूप धर्मी में वर्त्तमान रूप धर्म प्रकट होता है, उस समय अतीत-अनागततारूप दोनों धर्मों का भी घट में अनभिव्यक्त (सूक्ष्म) रूप से

समन्वय जानना चाहिए। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना चाहिए।

इस प्रकार काल भेद से धर्मों की व्यवस्था होने से अतीत और अनागत वस्तु भी स्वरूप से विद्यमान ही है, कुछ अत्यन्त असत् नहीं, यह सिद्ध हुआ।

एवं च पूर्व सूत्र में जो वासना का उच्छेद कहा था, उस वासना का अत्यन्ताभाव नहीं जानना चाहिए किन्तु वासनाओं की अतीतावस्था निष्पन्न होती है, यह जानना चाहिए, यह फलित हुआ।

पञ्चक्लेश

सूत्र– अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।। (यो॰द॰ २.३)

भाषा– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये[१] पाँच क्लेश हैं।

अविद्या आदि पञ्च क्लेश का हेतु होने से क्लेश कहे जाते हैं और यही पञ्च विपर्यय भी कहे जाते हैं।

यद्यपि मिथ्याज्ञान, विपर्ययज्ञान, अविद्या इन तीनों के एकार्थक होने से अविद्यासंज्ञक क्लेश ही विपर्ययस्वरूप है, तथापि अस्मिता आदि चारों क्लेशों का भी अविद्या-सद्भाव के अधीन सद्भाव और अविद्या-समुच्छेद के अधीन समुच्छेद होने से ये भी अविद्यामूलक होने से विपर्यय ही हैं।

ये क्लेश ही स्यन्दमान (उदारावस्था वाले) सत्त्वादि गुणों के कार्योत्पादन रूप अधिकार को दृढ करते हैं और पुनः ये क्लेश ही कार्य-कारण प्रवाह को उत्पन्न करते हैं और ये क्लेश ही परस्पर अनुग्रह के अधीन होकर कर्मों के फल का निष्पादन करते हैं।

भाव यह है कि जिस हेतु से ये क्लेश ही उदारावस्थापन्न होकर सत्त्वादि गुणों को कार्योत्पादन में औन्मुख्य कर गुणवैषम्य रूप परिणाम द्वारा प्रधान महत्तत्त्वादि परम्परा से कार्य-कारण रूप परम्परा को निष्पादन कर कर्म-फल जन्म आदि का हेतु होते हैं, इस हेतु से अनर्थ परम्परा के हेतुभूत ये क्लेश अवश्य ही हेय हैं।

अविद्यामूलक होने से ये क्लेश अवश्य ही हेय हैं। इस आशय से क्लेशों को अविद्यामूलक कहते हैं।

सूत्र– अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।। (यो॰द॰ २.४)

भाषा– (प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्) प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदार संज्ञक चार भेदों से विभक्त (उत्तरेषाम्) पूर्व सूत्रोक्त अविद्या से परवर्त्ती अस्मिता आदि चारों क्लेशों की (अविद्या) प्रथम उक्त अविद्या ही (क्षेत्रम्) मूल कारण है।

१. हस्तलेख में सर्वत्र बहुवचन में भी 'यह, वह' पाठ है।

प्रसुप्त आदि भेद से चार प्रकार के जो अस्मिता आदि चार क्लेश हैं, उन सबका अविद्या ही मूल कारण है।

प्रसुप्त– जो राग आदि क्लेश विदेह प्रकृतिलयों के चित्त में विद्यमान हुए बाह्य प्रकाशवान् नहीं होते हैं और न कुछ अपने कार्य करने में समर्थ होते हैं, किन्तु दुग्ध में दधि की तरह बीजभाव से अवस्थित हो स्वकार्यजनन की शक्ति वाले हैं, वे प्रसुप्त कहे जाते हैं।

पूर्व याद उक्त विदेह तथा प्रकृतिलय जब तक अपने ध्येय तत्त्व में लीन रहते हैं, तब तक उनके चित्त में अस्मिता-रागादि क्लेशों का न तो प्रकाश ही होता है और न वे क्लेश कुछ कार्य ही कर सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म रूप शक्ति मात्र (अनागतावस्था) से एतादृश विद्यमान रहते हैं कि मानों सोये ही पड़े हैं। अतः क्लेश प्रसुप्त कहे जाते हैं।

परन्तु ये सुप्त भी तभी तक रहते हैं कि यावत्काल इन दोनों की अवधि पूर्ण नहीं होती। और फिर जब अवधि के अनन्तर विदेह प्रकृतिलय उपस्थित हो जाते हैं, तब फिर उनके सम्मुख उत्तेजक विषय की उपस्थिति होने से वे क्लेश भी अंकुरित होकर अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं अर्थात् जैसे प्रसुप्त पुरुष किसी उत्तेजक से प्रबुद्ध हो अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, वैसे ये तत्त्वलीनों के क्लेश भी प्रबुद्ध हो अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं।

और जो पुरुष विवेकख्यातियुक्त हैं, उनके क्लेश प्रसंख्यान अग्नि से दग्ध हो जाते हैं। अतः वे क्लेश प्रसुप्त नहीं जानने चाहिएँ।

दग्ध क्लेशों से प्रसुप्त क्लेशों में यही वैलक्षण्य है कि प्रसुप्त क्लेशों का विषय-सन्निधि होने पर प्रबोध होता है और दग्ध क्लेशों का योग सम्पत्ति बल से विषय-सन्निधि होने पर भी प्रबोध नहीं होता है क्योंकि **"दग्धबीजस्य कुतः प्ररोहः"** अर्थात् दग्ध बीज का प्ररोह कैसे हो सकता है ?

जैसे दग्ध बीज अंकुरोत्पादन में असमर्थ हैं, वैसे दग्ध क्लेश भी अपने कार्य करने में असमर्थ हैं, यह फलित है।

विवेकख्याति द्वारा क्लेशों का दाह होने से ही यह योगी क्षीणक्लेश तथा कुशल और चर्मदेह वाला कहा जाता है।

तथा च यह दग्धबीजभाव संज्ञक पञ्चमी क्लेश अवस्था योगी के ही चित्त में विद्यमान रहती है, विदेहादिकों में नहीं, यह निष्पन्न हुआ।

यद्यपि सिद्धान्त में सत्कार्यवाद के अंगीकार से विद्यमान पदार्थ के अत्यन्ताभाव के अस्वीकृत होने से क्लेशों की विद्यमानता योगी के चित्त में भी अवश्य माननी उचित है, एवं च योगबल से विषयों की सन्निधि होने से प्रसुप्त

क्लेशों की तरह दग्ध क्लेशों का भी प्रबोध होना उचित है, तथापि विद्यमान क्लेशों का विवेक काल में बीजरूप सामर्थ्य नष्ट होने से विषय-सन्निधि होने पर भी इनका प्रबोध नहीं होता है, यह जानना चाहिए।

भाव यह है कि यद्यपि क्लेशों का अत्यन्ताभाव न होने से योगी के चित्त में क्लेश विद्यमान ही हैं, तथापि उनमें जो कार्य-कारण रूप सामर्थ्य था, सो विवेकख्याति से नष्ट हो गया है। अतः वे विषय-सन्निधि होने पर भी आविर्भूत नहीं होते हैं।

तनु– जो क्लेश अपने प्रतिपक्षीभूत (विरोधी) तपःस्वाध्याय आदि क्रियायोग के अनुष्ठान से उपहत हो सूक्ष्म हो जाते हैं, वे तनु कहे जाते हैं। यद्वा अविद्या आदि पाँचों के यथाक्रम विरोधीभूत सम्यग्ज्ञान, विवेकज्ञान, माध्यस्थ्य, अहंताममता-त्याग के होने से जो क्लेश कृशित हो जाते हैं, वे तनु कहलाते हैं।

विच्छिन्न– जो क्लेश बीच-बीच में विच्छिन्न-विच्छिन्न हो (अन्तरा पाकर) फिर उसी रूप से आविर्भूत हो जाते हैं, वे विच्छिन्न कहे जाते हैं।

अर्थात् राग के आविर्भाव काल में क्रोध का आविर्भाव न होने से जो अदृश्यमान क्रोध है वह विच्छिन्न कहा जाता है। एवं एकवस्तुविषयक उत्कट राग होने से जो अन्यवस्तुविषयक अनुत्कट अदृश्यमान राग, वह भी विच्छन्न जानना चाहिए।

भाव यह है कि किसी वस्तु में पुरुष का राग देखने से अन्य पदार्थ में 'यह पुरुष विरक्त है' ऐसा मत जानना, क्योंकि यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है कि चैत्र नामक पुरुष एकस्त्रीविषयक (प्रीतियुक्त) रक्त है और अन्य में यह विरक्त है किन्तु एकस्त्रीविषयक उत्कट होने से राग लब्धवृत्ति अर्थात् उदार है और अन्य स्त्रियों में राग भविष्यद्-वृत्ति अर्थात् विच्छिन्न है। परन्तु इतना विशेष है कि राग के आविर्भाव काल में जो अनुत्कट क्रोध है, वह विजातीय राग की उदारताप्रयुक्त विच्छिन्न है। और एक विषयक राग के आविर्भाव काल में जो अन्यत्र अनुत्कट राग है, वह सजातीय राग की उदारताप्रयुक्त विच्छिन्न है।

और यह भी नियम नहीं है कि जिस काल में एक क्लेश उदार होता है, उस काल में अन्य क्लेश विच्छिन्न ही होते हैं, किन्तु कहीं अन्य क्लेश प्रसुप्त हैं और कहीं तनु हैं और कहीं विच्छिन्न हैं।

उदार– अपने विषय में लब्धवृत्ति होने से जो उत्कटरूप से बाह्य प्रकाशमान हो अपने कार्य में तत्पर हैं, वे क्लेश उदार कहे जाते हैं।

यद्यपि उदारावस्थापन्न ही राग-द्वेषादि क्लेश का जनक होने से क्लेशपद वाच्य और हेय (त्याज्य) हो सकते हैं, अन्य नहीं, तथापि प्रसुप्त आदि तीनों भी

भविष्यत्काल में उदारावस्थापन्न हो, क्लेश के जनक होने से क्लेशपद वाच्य और हेय जानने चाहिएँ।

अत एव भाष्यकारों ने **"सर्व एवैते क्लेशविषयत्वन्नातिक्रामन्ति"** इस वाक्य से चारों अवस्था वाले रागादि को क्लेश कहा है।

यद्यपि क्लेशत्वेन क्लेश एक ही है, तथापि तत्तद् उदारादि अवस्था विशिष्ट को भिन्न-भिन्न मानकर चार प्रकार के जानने चाहिएँ।

ये चार भेदों में विभक्त जो क्लेश हैं, वे जैसे प्रतिपक्षीभूत क्रियायोग के अनुष्ठान से सूक्ष्म हो जाते हैं, वैसे विषयासक्ति, विषयचिन्तन प्रभृति उत्तेजक से उदार भी हो जाते हैं। एवं च यथा क्रियायोग क्लेशों की सूक्ष्मता का कारण है, तथा विषयासक्ति का अभाव भी क्लेशों की तनुता (सूक्ष्मता=कृशता) का हेतु जानना चाहिए।

ये सब पूर्वोक्त क्लेश अविद्या के ही भेद हैं क्योंकि इन सब में अविद्या ही अनुगत है अर्थात् जो वस्तु अविद्या से उपस्थित है, रागादि क्लेश भी उसी में लब्धवृत्ति वाले हो उदार हो जाते हैं। अतः अविद्या के अन्वय-व्यतिरेकानुसारी होने से ये सब अविद्यास्वरूप ही हैं।

अविद्यास्वरूप होने से ही ये क्लेश विपर्ययज्ञान काल में उपलब्ध होते हैं और सम्यग्ज्ञान द्वारा विपर्ययज्ञान के नाशकाल में ये नष्ट हो जाते हैं।

यद्यपि दग्धसंज्ञक पञ्चमी क्लेशावस्था का भी योगिजनानुभव सिद्ध होने से सूत्रकार को निरूपण करना उचित था, तथापि दग्धावस्था के अविद्यामूलकत्व के अभाव से प्रसुप्त आदि चार ही अवस्था का निरूपण किया गया है।

भाव यह है कि इस सूत्र में हेय क्लेशों की ही अवस्था का निरूपण किया गया है, कुछ उपादेय अवस्था का नहीं। क्योंकि पञ्चमी दग्धावस्था अविद्या की विरोधी होने से उपादेय है, अतः तत्कथनाभाव प्रयुक्त न्यूनत्व दोष नहीं जानना चाहिए।

यद्यपि तनु अवस्था के सम्पादनार्थ क्रियायोग का निरूपण करने से तनु अवस्था भी उपादेय ही है, कुछ हेय नहीं, एवं च तनु अवस्था को अविद्यामूलक कहना उचित नहीं, तथापि असम्प्रज्ञात योगी के लिए वह भी हेय होने से अविद्यामूलक ही है, यह जानना चाहिए।

क्रियायोग द्वारा क्लेशों की तनु अवस्था सम्पादन करने का यही प्रयोजन है कि वे तनु होकर प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीज हो जायँ। कुछ उपादेयता के लिए तनु अवस्था का सम्पादन नहीं।

दोहा– तत्त्वलीन जन सुप्तयुत, तनुयुत योगी जान।

कहुँ विच्छिन्न उदार पुनि, संसारिक जन मान।।

इन क्लेशों में से प्रथम अविद्या का स्वरूप कथन करते हैं।

सूत्र– अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।।

(यो० २.५)

भाषा– (अनित्याशुचिदुःखानात्मसु) अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्म इन चारों में यथाक्रम जो (नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः) नित्य, शुचि, सुख, आत्म ज्ञान वह (अविद्या) अविद्या पद का वाच्य है।

स्वर्गादि अनित्य प्रपञ्च में नित्य ज्ञान और अशुचि शरीरादि में शुचिज्ञान और दुःखरूप विषयभोग में सुखज्ञान, अनात्मभूत बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरादि में आत्मज्ञान यह चार प्रकार का विपर्ययज्ञान अविद्यापद का वाच्य है।

भाव यह है कि जन्य (कार्य) होने से अनित्य जो पृथिवी आदि प्रपञ्च इसमें 'पृथिवी तथा नक्षत्र चन्द्रादि सहित स्वर्ग नित्य है, एवं देवता भी अमृत= मरणरहित होने से नित्य हैं' इस प्रकार जो विपर्यय वह अनित्य में नित्य ज्ञान स्वरूप प्रथम अविद्या है।

एवं परमबीभत्स= अत्यन्त विकृत पूयशोणितपूरित अस्थिचित मांसलिप्त चर्मवेष्टित मूत्र-द्वारा विनिष्क्रान्त स्त्री के अशुचि शरीर में जो 'यह कन्या ऐसी कमनीया है मानो नूतन एक चन्द्र की रेखा है तथा मधु और अमृत के अवयवों से ब्रह्मा ने इसकी रचना की है। मानो अभी चन्द्रमण्डल को भेदन कर बाहर निःसृत हुई है और नीलकमलदलतुल्य विस्तृत नयनों से युक्त हुई हाव-भाव, कटाक्षादिगर्भित लोचनों से मानो जीवों को यह धैर्य दे रही है कि तुम मृत्यु से मत भीत हो, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी' इस प्रकार पवित्रता वा कमनीयता का ज्ञान वह अशुचि में शुचिज्ञानरूप द्वितीय अविद्या है।

यह पूर्वोक्त प्रत्यक्ष-सिद्ध शरीर की अपवित्रता ही योगभाष्यकारों ने–

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि।

कायमाधेयशौत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः।। (व्यासभाष्य २.५)

स्थान नाम स्थिति के आधार का है अर्थात् मल-मूत्र प्रभृति दुर्गन्ध वस्तु से लिप्त जो अत्यन्त अपवित्र माता का उदर है वह तो इस शरीर की उत्पत्ति का स्थान अर्थात् क्षेत्र है। एवं अत्यन्त मलिन जो माता-पिता का रज-वीर्य वह इसका (बीज) उत्पादन कारण है। एवं भुक्त, पीत अन्न-जलादि के परिपाक से उत्पन्न जो रुधिरादि रूप से परिणत रस वह इस शरीर का उपष्टम्भ है अर्थात् आश्रय है क्योंकि इस रस ने ही शरीर को धारण किया है। एवं मल-मूत्र-प्रस्वेद प्रभृति अपवित्र पदार्थों का इस शरीर से निष्यन्द होता है। एवं निधन अर्थात् प्राणवियोग

के अनन्तर यह शरीर अस्पृश्य हो जाता है क्योंकि चाहे वेदपाठी हो वा ज्ञानी हो, मृतक शरीर उनका भी अपवित्र ही माना जाता है। एवं यह शरीर आधेय शौच है अर्थात् जैसे कामिनी स्वतः निर्गन्ध अपने शरीर में अंगराग (उबटन) द्वारा गन्ध की आधेयता कल्पना= भावना कर लेती है वैसे जल-मृत्तिकादि द्वारा शरीर में शुद्धि का आधान किया जाता है। वस्तुतः उस मृत्तिकादि से वह शरीर पवित्र नहीं होता। इस प्रकार स्थान-बीज-उपष्टम्भ-निष्यन्द-निधन-आधेय-शौचता-रूप हेतुओं से पण्डितगण इस काय को अशुचि ही मानते हैं, शुचि नहीं। यह इस श्लोक का अर्थ है।

इस प्रकार के अशुचि शरीर का भला किसी चन्द्ररेखा से क्या सम्बन्ध है अर्थात् दुर्गन्धपूरित शरीर का मधु-अमृतादि उपमा के संग सम्बन्ध ही क्या ? परन्तु पूर्वोक्त प्रकार से अशुचि में शुचि रूप विपर्यय ज्ञान होता है। अतः यह भी अविद्या ही है।

अशुचि में शुचि बुद्धि के प्रदर्शन से अपुण्य, हिंसादि में जो मीमांसकों को पुण्यज्ञान तथा अर्जन-पालन प्रभृति दुःखबाहुल्य से अनर्थजनक धन में जो अर्थ ज्ञान वह भी अविद्या संज्ञक विपर्यय ही जानना।

एवं विषयभोगरूप दुःख में जो सुखज्ञान वह भी एक अविद्या ही है, जिस प्रकार विषय सुख-दुःखरूप है। वह सूत्रकार **"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।"** (यो॰ द॰ २.१५) आप ही कथन करेंगे। इससे यहाँ कहने की कुछ आवश्यकता नहीं।

एवं देह के उपकरणभूत आत्मभिन्न पशु-भृत्य आदि चेतन पदार्थ तथा शय्या, आसन, गृह, स्थानादि अचेतन पदार्थ, एवं भोगाधिष्ठान शरीर और पुरुष का उपकरणभूत मन इन सब अनात्म पदार्थों में जो आत्मज्ञान वह चतुर्थी अविद्या है।

पञ्चशिखाचार्य ने भी **"व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दति आत्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः"** (व्यासभाष्य २.५) इस वाक्य से पूर्वोक्त प्रकार से ही अनात्म विषयक आत्मख्याति का निरूपण किया है।

व्यक्त-अव्यक्त जो सत्त्व अर्थात् पुत्र, कलत्र, गृह, क्षेत्र प्रभृति चेतन-जड़ पदार्थ इन सबको आत्मत्वेन अभिप्रतीत कर अर्थात् आत्मा और आत्मीय जानकर जो पुरुष इनकी सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति मान कर आनन्द को प्राप्त होता है, एवं इनकी हानि को अपनी हानि मानकर शोक को प्राप्त होता है, उस पुरुष को अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जानना चाहिए, यह पञ्चशिखाचार्य जी के वाक्य का अर्थ है।

यह चार प्रकार की अविद्या ही राग-द्वेषादि क्लेश-प्रवाह का तथा राग-द्वेष-जन्य धर्म-अधर्म का एवं धर्माधर्म-जन्य सुखदुःखादि का मूल कारण है।

यहाँ पर अविद्या शब्द में नञ् का अर्थ विरुद्ध जानना चाहिए, कुछ अभाव नहीं। जैसे अमित्र शब्द में नञ् का अर्थ विरुद्ध होने से मित्र-विरुद्ध शत्रु रूप अर्थ प्रतीत होता है और अगोष्पद शब्द से गोखुर-विरुद्ध विपुल देश का बोध होता है, वैसे अविद्या शब्द में भी नञ् का अर्थ विरुद्ध मान कर विद्या-विरुद्ध विपर्यय-ज्ञान का ग्रहण करना चाहिए।

भाव यह है कि जैसे अमित्र शब्द न तो मित्राभाव का वाचक है और न मित्रमात्र का किन्तु मित्र-विरुद्ध शत्रुरूप अर्थ का वाचक है और अगोष्पद शब्द भी न तो गोखुर के अभाव का बोधक है [न गोखुरमात्र का] किन्तु गोखुर-विरुद्ध विस्तृत देश का वाचक है, वैसे यहाँ पर अविद्या शब्द भी न तो तत्त्वज्ञान का ही वाचक है और न तत्त्वज्ञान के अभाव का ही वाचक है किन्तु तत्त्वज्ञान से विरुद्ध जो मिथ्याज्ञान, उसका वाचक है।

इदानीं इस अविद्या का कार्यभूत जो बुद्धि पुरुष का अविवेक रूप द्वितीय अस्मिता संज्ञक क्लेश है, उसका लक्षण कहते हैं।

सूत्र— दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता।। (यो॰ २.६)

अर्थ— (दृग्दर्शनशक्त्योः) दृक्-शक्ति दर्शन-शक्ति संज्ञक पुरुष बुद्धि की जो (एकात्मता इव) अभिन्नता सी प्रतीत हो जाती है, वह (अस्मिता) अस्मिता संज्ञक क्लेश है।

दृक्-शक्ति नाम पुरुष का है क्योंकि यह सब का द्रष्टा है और दर्शन-शक्ति नाम बुद्धि का है क्योंकि यही विषयाकार से परिणत हो दृश्य विषयरूप को प्राप्त होती है। ये दोनों परस्पर अत्यन्त विभक्त हैं तथापि पूर्वोक्त अविद्या के बल से जो इन दोनों का एकरूपत्व वा तादात्म्य भाव सा प्रतीत हो जाना है, यह अस्मिता है।

इस अस्मिता के होने से ही (अहम्+अस्मि) अर्थात् मैं हूँ वा मैं सुखी हूँ इत्यादि व्यवहार होता है।

वस्तुतः बुद्धितत्त्व परिणामी मलिन तथा जड़ है और पुरुष कूटस्थ शुद्ध तथा चेतन है। इसलिये इन दोनों की एकता होनी असम्भव है परन्तु विवेक के अभाव से एकता-सी प्रतीत होती है। इसके बोधनार्थ सूत्रकार ने (एकात्मता इव) यह 'इव' पद दिया है।

अत्यन्त असंकीर्ण (विलक्षण) होने से परस्पर अत्यन्त भिन्न जो भोक्तृ-शक्ति भोग्य-शक्ति संज्ञक पुरुष और बुद्धि इन दोनों की जो यह अविभाग प्राप्तिरूप

अस्मिता है, यही पुरुष के भोग का हेतु है क्योंकि इस अस्मिता के होने से ही पुरुष अपने को कर्त्ता-भोक्ता मानता है।

और जब फिर विवेकख्याति द्वारा अस्मिता का नाश होने से पुरुष को अपने रूप का साक्षात्कार हो जाता है, तब भोग का अभाव होने से केवल हुआ कैवल्य संज्ञक मुक्ति पद के लाभ से पुरुष अपने को अभोक्ता मानता है।

एवं च अन्वय-व्यतिरेक से यह अस्मिता संज्ञक अविवेक ही सुख-दुःख आदि भोग का हेतु है, यह फलित हुआ।

पञ्चशिखाचार्य ने भी **"बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तम-पश्यन् कुर्यात् तत्राऽत्मबुद्धिं मोहेन"** (व्यासभाष्य २.६) इस वाक्य से इस अविवेक संज्ञक अस्मिता को ही मोह द्वारा भोग का हेतु कहा है।

आकार-शील-विद्या प्रभृति विलक्षण धर्मों से पुरुष के बुद्धि से भिन्न होने पर भी अनात्म विषयक आत्मज्ञान रूप मोह से भिन्न न जान कर बुद्धि में आत्म बुद्धि अविवेकी कर लेता है, यह पञ्चशिखाचार्य जी के वाक्य का अर्थ।

नित्य, शुद्ध, बुद्ध, कूटस्थ आत्मा को और मलिन, जड़, विकारी बुद्धि को भिन्न न जान कर मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ, इस प्रकार पुरुष अपने को मान लेता है, यह भाव है। यह अस्मिता संज्ञक चित् जड़ अविवेक ही वेदान्त मत में 'चित्जड़ग्रन्थि' इस नाम से व्यवहृत होता है।

इसी चित्जड़ग्रन्थि को ही—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। (मु॰ उप॰ २.२.८)

इस श्रुति में हृदयग्रन्थि कहा है।

उस आनन्द, अमृत रूप परावर परमात्मा के साक्षात्कार होने से हृदयग्रन्थि का भेदन हो जाता है और जितने इस जिज्ञासु को अविवेकप्रयुक्त संशय थे, वे भी साक्षात्कार से इसके छिन्न हो जाते हैं और देहारम्भक प्रारब्ध कर्म से भिन्न यावत् सञ्चित और आगामी कर्म थे, वे भी सब इस ज्ञानी के क्षय हो जाते हैं, यह श्रुति का अर्थ है।

अब क्रमप्राप्त अविवेक के कार्यभूत राग-द्वेष का लक्षण करते हैं।

सूत्र— सुखानुशयी रागः।। (यो॰द॰ २.७)

अर्थ— (सुख-अनु-शयी) सुख नाम सुखभोग से अनु नाम अनन्तर शयी नाम अन्तःकरण में रहने वाला जो अभिलाषविशेष वह (रागः) राग कहा जाता है।

सुखाभिज्ञ पुरुष को सुखस्मरणपूर्वक जो तत्सजातीय सुख तथा तत्साधनों में गर्ध (तृष्णा= लोभ, चाह), वह राग कहा जाता है।

सूत्र— दुःखानुशयी द्वेषः।। (यो॰द॰ २.८)

अर्थ— दुःख नाम दुःखभोग से अनु नाम अनन्तर शयी नाम चित्त में होने वाला जो दुःखविषयक क्रोध, वह द्वेष कहा जाता है।

दुःखाभिज्ञ पुरुष को दुःखभोगस्मरणपूर्वक जो दुःख तथा दुःख-साधनों विषयक मन्यु (= जिघांसा= क्रोध), वह द्वेष कहा जाता है।

इन दोनों सूत्रों का भाव यह है कि जिस काल में पुरुष को पहले किसी प्रकार के सुख वा दुःख का अनुभव हुआ था, उस काल में उन दोनों ने एक प्रकार का संस्कार भी चित्त में उत्पन्न किया था। उस संस्कार द्वारा ही उस पुरुष को समय-समय पर सुख वा दुःख का स्मरण होता रहता है। फिर उस स्मरण से ही अनुभूत सुख सजातीय सुखविषयक राग होगा। एवं दुःख तथा दुःख-साधन सामग्री-विषयक द्वेष उत्पन्न होगा। वह अवश्य ही सुखानुशयी (सुखस्मरणपूर्वक) और दुःखानुशयी (दुःखस्मरणपूर्वक) ही होगा, यह निष्पन्न हुआ।

वहाँ इतना विशेष है कि अनुभव किये हुये सुख-विषयक स्मरणपूर्वक राग है और वर्त्तमान काल में भोगारूढ सुख-विषयक स्वाभाविक राग है। एवं दुःख-विषयक भी जान लेना।

अब अवसर प्राप्त पञ्चम अभिनिवेश क्लेश का लक्षण कहते हैं—

सूत्र— स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।। (यो॰द॰ २.९)

अर्थ— (स्वरसवाही) वासना के बल से स्वभावसिद्ध ही जो (विदुषोऽपि) विद्वानों के चित्त में भी (तथा आरूढः) मूर्खों के तुल्य आरूढ (=विद्यमान) मरण-भय वह (अभिनिवेशः) अभिनिवेश संज्ञक क्लेश है।

निखिल प्राणिमात्र की आत्म-विषयक जो यह निरन्तर प्रार्थना है कि 'मेरा अभाव कभी मत हो किन्तु सर्वदा ही मैं विद्यमान रहूँ', इस कारण भय का नाम अभिनिवेश है।

यह मरण भय जिसने पूर्व मरणरूप धर्म का अनुभव नहीं किया है, उसको होना असम्भव है। अतः इस मरण भय द्वारा यह प्रतीत होता है कि पूर्व जन्म में इसने मरण का अनुभव किया है। अत एव यह अभिनिवेश स्वरसवाही अर्थात् पूर्व मरणानुभव की वासना से वहनशील है।

यह अभिनिवेश निखिल प्राणिमात्र साधारण तथा स्वभावसिद्ध है क्योंकि जिसने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाण द्वारा कभी मरणदुःख का अनुभव किया है एवम्भूत तत्काल उत्पन्न कीट प्रभृति को भी यह मरणत्रास दृष्ट है।

वह यह तत्काल उत्पन्न कीट आदि को दृश्यमान जो उच्छेद-ज्ञानस्वरूप मरणत्रास है, यही पूर्व जन्म में अनुभूत मरणदुःख का अनुमान करता है।

भाव यह है कि प्रौढ़ मनुष्यों को तो क्या करना है, उत्पन्न मात्र (तत्काल का जन्मा हुआ) बालक भी जिस समय मारक किसी भयंकर सिंह सर्पादि को देखता है, उस समय वह काँपता हुआ दिखाई देता है। एवं निकृष्टतम चेतन कीट को भी यदि कोई छेड़-छाड़ करता है, तो वह भी प्राणपरिपालन के लिए इधर-उधर चेष्टा करता हुआ काँपता ही दिखाई देता है। इस बालक और कीट आदि के कम्पन से यह जाना गया कि मरणरूप दुःख को समीप आगत जानकर, भययुक्त होकर यह काँप रहा है क्योंकि दुःख वा दुःख-कारण-भय वस्तुओं से ही भय दृष्ट है, अन्य से नहीं। और बालक वा कीट को अभी उत्पन्न होने से यह कह नहीं सकते कि शास्त्र से वा अन्य लोकों से श्रुत (सुना हुआ) ही मरणदुःख त्रास का हेतु है। और यह भी सम्भावना नहीं हो सकती कि अनुभव किया ही मरण दुःख स्मृत हुआ, इसके त्रास का हेतु है क्योंकि अभी इसकी उत्पत्ति होने से पहिले मरणदुःख के अनुभव का सम्भव नहीं, अतः परिशेष से यह सिद्ध हुआ कि पूर्व जन्म में अनुभव किये मरणदुःख को स्मरण कर ही यह बालक वा कीट भययुक्त है। एवं च यह सिद्ध हुआ कि यह मरणत्रास ही पूर्व जन्म में अनुभव किये हुए मरणदुःख का और पूर्व जन्म के सद्भाव का बोधक है।

तथा च पूर्वीय जन्मों में अनेक बार अनुभूत जो मरणदुःख, उस मरणदुःख के अनुभव से उत्पन्न जो वासनासमूह, वही इस मरणत्रास का कारण है। अत एव यह मरणत्रास स्वरसवाही है।

वह यह मरणभयरूप अभिनिवेश क्लेश जैसे अत्यन्त मूढ कीटादिकों में देखा जाता है तथा **"विदुषोऽपि रूढः"** अर्थात् विज्ञातपूर्वापरान्त विद्वानों के हृदय में भी वैसे ही दृढ आरूढ है क्योंकि पूर्वजन्मानुभूत मरणदुःख के अनुभव से 'मैं न मरूँ' यह वासना विद्वान्, अविद्वान् इन दोनों की ही समान है। यहाँ पर विद्वान् शब्द से सम्प्रज्ञात योगी वा विवेकी वा ज्ञानी का ग्रहण नहीं है किन्तु जो आगम, अनुमान द्वारा प्रकृति-पुरुष के विवेक को जानने वाला शास्त्रज्ञाता है, उसी का ग्रहण है, नहीं तो **"विद्वान् न बिभेति कदाचन"** (तै॰उप॰ २.४) इस श्रुति के ज्ञानी का भयाभाव कथन असंगत होगा। अत एव वाचस्पति मिश्र ने **"न सम्प्रज्ञातवान् विद्वानपि तु श्रुतानुमानविवेकी"** (तत्त्ववैशारदी २.९) इस वाक्य में शास्त्रज्ञ का ग्रहण किया है, ज्ञानी का नहीं। एवं च जो विज्ञानभिक्षु ने सम्प्रज्ञातयोगी का भी मरणभय कथन किया है, वह अज्ञानमूलक ही जानना चाहिए।

पूर्व प्रकरण से क्लेशों का लक्षण तथा प्रसुप्त आदि अवस्थाचतुष्टय का निरूपण किया और स्थूल क्लेशों की क्रियायोग से सूक्ष्मता भी कही। अब क्रियायोग से सूक्ष्म किये हुए क्लेशों की तथा प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीज हुए क्लेशों की निवृत्ति का उपाय दो सूत्रों द्वारा सूत्रकार निरूपित करते हैं।

सूत्र— ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।। (यो॰द॰ २.१०)

अर्थ— (ते) वे पूर्वोक्त पञ्च क्लेश (सूक्ष्माः) क्रियायोग से सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्नि से दग्ध हुए (प्रतिप्रसवहेयाः) असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा त्यक्त (= निवृत्त) करणीय हैं।

क्रियायोग से सूक्ष्म हुए क्लेश जब प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीज तुल्य हो जाते हैं तब समाप्ताधिकार वाले चित्त का अपनी प्रकृति में लीन होने से वे क्लेश भी संग के संग ही अस्तंगत अर्थात् लीन हुए, अन्य यत्न की अपेक्षा नहीं है।

स्थितानान्तु बीजभावोपगतानाम्। (व्यासभाष्य २.११)

सूत्र— ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।। (यो॰द॰ २.११)

अर्थ— (स्थितानाम्) जो क्लेश चित्त में स्थूल रूप से स्थित हैं। अत एव (बीजभावोपगतानाम्) बीज भाव से युक्त हैं अर्थात् दग्धबीजभाव नहीं हैं, उन क्लेशों की जो वृत्तियाँ हैं (तद्वृत्तयः) वे वृत्तियाँ (ध्यानहेयाः) क्रियायोग से सूक्ष्म कर प्रसंख्यान संज्ञक ध्यान से हेय अर्थात् दग्धबीजतुल्य करनी उचित हैं।

जो क्लेश वृत्तियाँ स्थूल और उदार हैं, वे प्रथम क्रियायोग से सूक्ष्म कर फिर प्रसंख्यान नामक ध्यान से दग्धबीजतुल्य सम्पादनीय हैं।

भाव यह है कि जैसे वस्त्रों का स्थूल मल बिना ही प्रक्षालन से विधूनन द्वारा निरस्त हो जाता है और सूक्ष्म मल प्रक्षालनादि यत्न तथा क्षार संयोगादि उपाय से निवृत्त होता है, तथा क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ स्वल्प प्रतिपक्ष वाली अर्थात् समाधि की इच्छा से सुकर और स्वल्प जो प्रसंख्यान उससे निवृत्त हो जाती हैं और जो सूक्ष्म क्लेशवृत्ति हैं, वे महा प्रतिपक्ष वाली अर्थात् सर्वापेक्षया उत्कृष्ट और दुस्साध्य जो असम्प्रज्ञात समाधि उससे निवृत्त होती हैं।

स्थूल क्लेशों को क्रियायोग से सूक्ष्म करें और सूक्ष्मों को ध्यान से दग्ध करें और दग्ध हुए क्लेशों का फिर असम्प्रज्ञात योग से समूल नाश करें, यह परमार्थ है।

शंका— जो पदार्थ जन्मादि दुःख द्वारा पुरुषों को क्लेशित (दुःखित) करता है, वही क्लेशपद का वाच्य हो सकता है अन्य नहीं, ऐसा धर्म और अधर्म है क्योंकि ये दोनों ही जन्म द्वारा लोकान्तर में गमनागमन सुख वा दुःख के हेतु हैं। एवं च अविद्या-राग-द्वेषादि को क्लेश न कहकर धर्माधर्म को ही क्लेश कथन उचित है ?

इस शंका का वारण करते हैं—

सूत्र— क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।। (यो॰द॰ २.१२)

अर्थ– (कर्माशयः) शुभ-अशुभ कर्मों का आशयभूत जो धर्म और अधर्म वह (क्लेशमूलः) अविद्यादि क्लेशमूलक ही होता है। वह कर्माशय कीदृश है ? (दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः) कोई धर्माधर्म दृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् इसी जन्म में फल देने वाला है और कोई अदृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् मरण से अनन्तर परजन्म में फल देने वाला है। पुण्य-अपुण्य संज्ञक जो कर्माशय है, वह काम, लोभ, मोह, क्रोध द्वारा जन्य होने से अविद्यादि क्लेशमूलक है। एवं च अविद्यादिमूलक ही धर्माधर्म के जन्मादि का हेतु होने से अविद्या आदि ही क्लेश का हेतु होने से क्लेश हैं, कुछ धर्माधर्म नहीं, यह फलित हुआ।

वहाँ इतना विशेष है कि अविद्या तथा अविवेक रूप दो क्लेश तो धर्म-अधर्म इन दोनों के कारण हैं और राग केवल धर्म का ही कारण है। एवं लोभ पर-द्रव्य अपहरण द्वारा और हिंसादि द्वारा केवल अधर्म का ही कारण जानना चाहिए। एवं क्रोध भी ब्रह्म-वधादि द्वारा अधर्म का कारण है परन्तु कहीं क्रोध धर्म का ही कारण हो जाता है। जैसे कि ध्रुव जी का। क्योंकि ध्रुव जी ने विमाता और स्वतात उत्तानपाद कृत निरादर से उत्पन्न हुये क्रोध से तप-अनुष्ठान द्वारा ऐसे धर्म का लाभ किया था कि जिससे अद्यावधि सर्वोपरि स्थान में वह विराजमान हो रहा है।

वहाँ जो धर्म अत्युग्र प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठित मन्त्र वा तप वा समाधि अथवा ईश्वर देवता, महर्षि महानुभावों के अत्युग्र आराधन द्वारा निर्वर्त्तित= निष्पादित (उत्पन्न) हो सद्यः (शीघ्र) ही अपने फल देने में उद्यत हुआ इसी जन्म में फल देता है, वह धर्म दृष्ट-जन्म-वेदनीय कहा जाता है, जैसा कि शिलाद मुनि का नान्दी नामक कुमार अत्युग्र महादेव के पूजन से मनुष्य-शरीर को त्याग कर उसी जन्म में देव-देह के लाभ से अमर हुआ था।[१]

एवं जो अधर्म भीतव्याधित कृपण जनों के प्रति क्लेश देने से वा विश्वास-पात्र पुरुषों को दुःख देने से वा महानुभाव तपस्वियों का अत्युग्र अपकार (पीड़ा) करने से उत्पन्न हुआ शीघ्र ही अपने अनिष्ट फल देने में उन्मुख होता है, वह अधर्म भी दृष्ट-जन्म-वेदनीय है। जैसा कि देवेन्द्र भाव को प्राप्त हुआ भी नहुष राजा शिविका-संलग्न (पालकी में लगे हुये) महानुभाव ऋषियों का पार्ष्णिप्रहाररूप अपकार करने से अगस्त्य मुनि के शाप द्वारा शीघ्र ही देव-देह को त्याग कर अजगर-सर्पभाव को प्राप्त हुआ था।[१]

अदृष्ट-जन्म-वेदनीय धर्माधर्म तो प्रसिद्ध ही हैं, जो हो निखिल धर्म और अधर्म क्लेशमूल ही हैं।

१. इन पौराणिक कथाओं का उल्लेख व्यासभाष्य में किया गया है।

यहाँ पर इतना विशेष है जो पुरुष नारक अर्थात् रौरवादि-नरक-प्रापक पाप का अनुष्ठान करते हैं, उन पुरुषों को जो अधर्म उत्पन्न होता है, वह दृष्ट जन्मवेदनीय नहीं होता है क्योंकि यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है कि इस मनुष्य लोक में ही सहस्र वर्षों तक भोगने योग्य रौरवादि नरकों की प्राप्ति हो जाय।

एवं जो क्षीणक्लेश योगी वा ज्ञानी हैं, उनका धर्म भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय नहीं होता है क्योंकि उनके सब धर्माधर्म प्रसंख्यान रूप अग्नि से दग्ध हो गए हैं।

कोई तो यह कहते हैं कि "नारकी पुरुषों को दृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्माशय नहीं" इस भाष्य का यह अर्थ है कि जो पुरुष नरकपतित हैं, उनको सामग्री के अभाव से वहाँ पर धर्माधर्म की उत्पत्ति न होने से दृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्माशय नहीं हो सकता है और जो स्वर्ग में स्थित हैं, वे तो लीला मनुष्य-विग्रह को धारण कर प्रयागादि तीर्थों में कर्मानुष्ठान द्वारा दृष्ट-जन्म-वेदनीय धर्मशील भी हो सकते हैं, इसलिए भाष्यकारों ने नारकी मात्र का निषेध किया है, स्वर्गी का नहीं।[१]

इस प्रकार धर्माधर्म को अविद्यादि-क्लेश-मूलक प्रतिपादित कर अब धर्माधर्म के अविद्यामूलक होने से विद्या की उत्पत्ति से अविद्यानाश के अनन्तर कारण के अभाव से आगामी धर्माधर्म का सञ्चय पुरुष को न हो परन्तु पूर्व अनेक जन्मसञ्चित धर्माधर्मों के विद्यमान होने से भी तत्प्रयुक्त आगामी जन्म आदि अनर्थ की निवृत्ति न होने से विद्या होने से भी आगामी जन्म का अभाव कैसे ? इस शंका के वारणार्थ त्रयोदश सूत्र का प्रारम्भ करते हैं।

सूत्र– सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।। (यो॰द॰ २.१३)

अर्थ– (मूले) धर्माधर्मादि के मूलभूत कारण अविद्यादि क्लेशों के (सति) विद्यमान होने से ही (तद्विपाकः) उन धर्माधर्मों का फल होता है, अन्यथा नहीं। वह यह विपाक अर्थात् कर्मों का फल तीन प्रकार का है (जात्यायुर्भोगाः) जाति= जन्म वा देव-मनुष्यत्वादि उत्तम-मध्यम-जाति, आयु= जीवनकाल अर्थात् कुछ काल पर्यन्त शरीर के संग प्राणों का सम्बन्ध, भोग= इन्द्रियादि द्वारा सुख-दुःख-मोहात्मक चित्त की वृत्ति।

अविद्या आदि क्लेशों के होने से ही यह धर्माधर्म अपने फल का जनक होता है, कुछ उच्छिन्नक्लेशमूल नहीं। जैसे तुषरूप सहकारी कारण से सम्बद्ध और अदग्धबीजभाव हुए ही शालि-तण्डुल अपने अंकुरोत्पादन में समर्थ होते हैं और तुषरहित तथा दग्धबीजभाव नहीं, वैसे अविद्यादि क्लेशरूप सहकारी कारण से सम्बद्ध हुए ही धर्माधर्म अपने फल देने में समर्थ होते हैं, अपनीत क्लेश वा

१. देखें– व्यासभाष्य (यो॰द॰ २.१२)।

प्रसंख्यानाग्नि से दग्धबीजभाव नहीं।

भाव यह है कि जैसे जल से सेचन की हुई भूमि में ही उप्त (बोये हुए) बीज उत्पन्न होकर अपने फल को देते हैं, वैसे अविद्यादि क्लेशरूपी सलिल से सेचन की हुई चित्तभूमि में ही पुण्य-पाप रूपी बीज उप्त हुए अंकुरित हो अपने सुख-दुःखादि फल को देते हैं, अन्यथा कदापि नहीं।

एवं च जैसे जल सेचनरूप सहकारी कारण के उप्त भाव क्षेत्र-उप्त बीज अपने फल को नहीं देते हैं, वैसे सहकारीभूत अविद्यादि के अभाव से अनन्त सञ्चित धर्माधर्म भी स्वफल को नहीं देते हैं। तथा च ज्ञान से सञ्चित धर्माधर्म का भी नाश होने से तत्प्रयुक्त आगामी जन्मादि का नाश सुतरां सम्भव हुआ।

अत एव भगवान् कृष्ण ने **"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन"** (गीता ४.३७) इस वाक्य से प्रसंख्यान अग्नि को यावत् धर्माधर्म का दाहक कहा है। अनन्त सञ्चित कर्मों का क्षण भर में नाश करने से ही **"नास्ति योगसमं बलम्"** इस वचन से योग को सबसे बली कहा है।

अब यहाँ पर प्रसंग में यह विचार किया जाता है कि क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है वा एक कर्म अनेक जन्म का कारण होता है ? द्वितीय विचार यह है कि क्या अनेक कर्म अनेक जन्म को निष्पादित करता है वा अनेक कर्म एक जन्म को ही उत्पन्न करता है ?

यदि एक ही कर्म आगामी एक जन्म का आरम्भ करता है, यह प्रथम पक्ष माना जायेगा तो अनादि काल से अनेक जन्मों का सञ्चित भोगावशिष्ट असंख्येय कर्म और वर्त्तमान काल में अनुष्ठित कर्म के फल का क्रम नियत न होने से लोगों की विश्वासाभाव से कर्म में प्रवृत्ति न होगी, परन्तु यह प्रवृत्ति का अभाव किसी को अभिमत नहीं क्योंकि यावज्जीवन पर्यन्त ही शुभकर्मानुष्ठान का उपदेश करता है अर्थात् कर्म तीन प्रकार का है। एक सञ्चित जो कि पहले अनेक जन्मों में निष्पादित किया हुआ स्थित है और द्वितीय प्रारब्ध कर्म जो कि उन्हीं सञ्चित कर्मों में से निकाला हुआ वर्त्तमान शरीर तथा भोगादि का हेतु है और तृतीय आगामी कर्म जो कि इस वर्त्तमान देह द्वारा आगामी फल के लिए अनुष्ठित किया जाता है। एवं च यदि यह ही माना जाय कि एक ही कोई कर्म उत्तरकालिक एक जन्म का आरम्भ करता है तो किसी पुरुष की आगामी पुण्य-अनुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि यह तो उसको निश्चय है नहीं कि प्रथम अमुक कर्म फल देगा किन्तु सञ्चित कर्मों में से ही कोई एक उत्तर जन्म देगा, यही उसको सम्भावना है। एवं च यह भी सम्भव हो सकता है कि उस जन्म में कहीं पाप का अनुष्ठान हुआ तो वर्त्तमानकालिक पुण्यानुष्ठान भी नष्ट हो जायेगा। तथा च पुण्यानुष्ठान

को निष्फल जान कर लोगों की शुभ कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होगी।

एवं एक ही कर्म आगामी अनेक जन्मों का कारण है यह द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं क्योंकि अनेक सञ्चित वा आगामी कर्मों में से एक ही किसी कर्म के अनेक जन्म देने से अवशिष्ट कर्म निष्फल हो जायेंगे क्योंकि उन कर्मों को फल देने का अवसर न मिलेगा। एवं च विफल जानकर आगामी कर्मों में प्रवृत्ति के अभाव से यह पक्ष भी अनिष्ट ही है।

एवं अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण हैं, यह तृतीय पक्ष भी समञ्जस नहीं क्योंकि यह अनेक कर्म एक ही काल में अनेक जन्म देंगे, वह तो सम्भव नहीं किन्तु क्रम-क्रम से देंगे। एवं च एक कर्म से एक जन्म हुआ, यह प्रथम पक्ष ही फलित हुआ। तथा च प्रथम पक्ष कथित दोषग्रस्त होने से यह भी असंगत ही है।

अतः जन्म से मरण पर्यन्त जो असंख्यात तथा विचित्र और गुणप्रधानाभाव से अवस्थित यावत् धर्माधर्म समूह है, वह सब ही मरणकाल में अभिव्यक्त होकर एक ही काल में एक साथ मिलकर आगामी एक ही जन्म का आरम्भ करता है, अनेक का नहीं, यह अन्तिम पक्ष ही समीचीन है।

मरणकाल से पूर्व बलीभूत प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्धक बल से सञ्चित कर्मों की अपने फल प्रदान के लिए अभिव्यक्ति 'उपस्थिति' नहीं होती है और मरणकाल में प्रतिबन्धक के अभाव से जितने सञ्चित कर्म हैं, वे सब ही उपस्थित हो जाते हैं। वह यह मरण विशेषाभाव से निखिल ही अप्रदत्त फल कर्मों का अभिव्यञ्जक होता है, कुछ एक-दो का नहीं क्योंकि निमित्तकारण के समान होने पर एक की अभिव्यक्ति होनी और एक की न होनी, यह कथन युक्ति से विरुद्ध है। क्या यह कभी सम्भव हो सकता है कि प्रदीप की सन्निधि की समानता होने पर घट का प्रकाश हो और पट का न हो ? एवं च मरणकाल में प्रतिबन्धक के अभाव से निखिल कर्म ही परस्पर संघटित 'मिल-जुलकर' प्रधान-गौणभाव को प्राप्त हो उत्तर-कालिक एक ही जन्म का आरम्भ करते हैं, अनेक का नहीं, यह निष्पन्न हुआ।

वे ये मिश्रित हुए अनेक कर्म जैसे आगामी जन्म का आरम्भ करते हैं, वैसे उस शरीर की आयु का और उस आयु में होने वाले सुख-दुःख-भोग के भी ये आरम्भक होते हैं।

अत एव यह कर्माशय जन्म, आयु, भोग इन तीनों फलों का कारण होने से त्रिविपाक कहा जाता है। इस प्रकार मिलकर एक जन्म देने से ही यह कर्माशय एकभविक कहा जाता है।

यद्यपि यह एकभविकमत समीचीन नहीं है क्योंकि यह कभी भी सम्भव

नहीं हो सकता है कि स्वर्गसाधन ज्योतिष्टोम आदि शुभ कर्म और नरकसाधन ब्रह्मवधादि अशुभ कर्म ये दोनों मिलकर एक ही उत्तम वा मध्यम जन्म का आरम्भ करते हैं क्योंकि विरुद्ध फलद्वय का एक काल में होना युक्ति से असम्बद्ध है, किन्तु ऐसा मानने से श्रुति से भी विरोध होगा क्योंकि सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् में यह लिखा है कि जो पुरुष इष्टापूर्त्त यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वे धूमादि मार्ग द्वारा चन्द्रलोक में गमन कर कर्मफल-भोग के अनन्तर फिर सञ्चित कर्म से मनुष्य-लोक में आकर जन्म धारण करते हैं। वहाँ जिन पुरुषों के सञ्चित पुण्य अवशिष्ट हैं, वे रमणीय ब्राह्मणादि जन्म को प्राप्त होते हैं और जिनके सञ्चित पाप अवशिष्ट हैं, वे कुत्सित शूद्रादि योनियों में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यदि मरण-समय में सब कर्म उपस्थित होकर एक ही जन्म देंगे तब तो चन्द्रलोक भोगोपयोगी जन्म से अनन्तर मनुष्य-लोक में फिर जन्म-बोधन करने वाली श्रुति असंगत होगी क्योंकि आप के मत में तो कोई कर्म शेष रहा ही नहीं जिससे मनुष्य-लोक में फिर जन्म हो।

और आपस्तम्ब मुनि ने तो **"वर्णाश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्ट-देश-जाति-कुल-रूपायु:-श्रुत-वृत्त-वित्त-सुख-मेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते"** इस वचन से स्पष्ट ही शेष का सद्भाव कहा है।

(स्वकर्मनिष्ठ जो वर्णी वा आश्रमी हैं, वे परलोक में अपने कर्मफलों को भोगकर फिर अवशिष्ट सञ्चित कर्म से विशिष्ट देश में उत्तम जाति, कुल, रूप, आयु, अध्ययन, आचार, धन, सुख, बुद्धि वाले होकर जन्म धारण करते हैं) यह आपस्तम्ब मुनि के वचन का अर्थ है।

एवं च श्रुति-स्मृति के साथ विरोध होने से यह मत असंगत ही है, तथापि एकभविकवाद के क्वाचित्कत्व होने से दोषाभाव जानना चाहिए।

अर्थात् दृष्ट-जन्म-वेदनीय नियत-विपाक-स्थल में ही एकभविकवाद का स्वीकार है, सर्वत्र नहीं। जो कि विज्ञानुभिक्षु ने "स्वर्ग वा नरक में अन्य धर्माधर्म की उत्पत्ति के अभाव से और प्राचीन सञ्चित कर्मों के भोग से समाप्ति होने से स्वर्गी वा नारकी का फिर जन्म न होगा, एकभविकवाद माना जायेगा।" इस प्रकार आशंका कर फिर "स्वर्ग देने वाला कर्म स्वर्गभोग से अनन्तर ब्राह्मणादि जन्म देने में समर्थ है और नरक देने वाला कर्म नरक से अनन्तर स्थावरादि जन्म देने में समर्थ है। इस प्रकार उन्हीं का ही ब्राह्मण-स्थावरादि योनि पर्यन्त फल होने से यह दोष नहीं है, इस प्रकार समाधान किया है, वह शारीरक के तृतीयाध्यायस्थ रंहतिपाद के शांकरभाष्य के अनध्ययन-प्रयुक्त है क्योंकि वहाँ पर यदि स्वर्ग के हेतु कर्मशेष ही से ब्राह्मणादि जन्म का लाभ माना जायेगा तो फिर

चन्द्रलोक से प्रत्यागत पुण्याचरण पुरुषों के लिए ब्राह्मणादि जन्म और पापाचरण पुरुषों के लिए चाण्डालादि-जन्म-प्रतिपादक वेद-वाक्य कदर्थित हो जायेगा क्योंकि स्वर्गहेतु पुण्य के शेष से ही यदि फिर मनुष्य-लोक में जन्मता है तो स्वर्ग से आगत पुरुषों की ब्राह्मणादि योनि ही होनी चाहिए, चाण्डालादि नहीं" इस प्रकार से इस समाधान का समूल नाश किया है। तथा च पूर्वोक्त समाधान ही उत्तम है, यह जानना चाहिए।

यहाँ इतना विशेष यह भी जान लेना चाहिए कि जो दृष्ट-जन्म-वेदनीय धर्माधर्म है वह कहीं भोगमात्र का ही जनक होने से एकविपाक 'एक फल देने वाला' होता है और कहीं आयु, भोग रूप दो फल देने से द्विविपाक होता है। वहाँ नन्दी नामक ब्राह्मण ने जो महादेव जी के आराधन से धर्मसम्पादन किया था, वह धर्म, आयु तथा दिव्य भोग देने से द्विविपाक है। और नहुष राजा ने जो ऋषियों के अपकार से अधर्म-सम्पादन किया था, वह सर्परूप जन्म देने से एकविपाक है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अदृष्ट-जन्म-वेदनीय धर्माधर्म त्रिविपाक है और दृष्ट-जन्म-वेदनीय धर्माधर्म कहीं द्विविपाक और कहीं एकविपाक है। इतना विशेष वहाँ अन्य भी जान लेना चाहिए कि जैसे धर्माधर्म को एकभविक कहा है, वैसे वासना को एकभविक नहीं जानना चाहिए क्योंकि यदि वासना को एकभविक माना जायेगा तो जो पुरुष-जन्म से अनन्तर शुभ जन्म को प्राप्त होगा, वह पशु जाति के भोगों को नहीं भोग सकेगा क्योंकि पूर्वीय मनुष्य-जन्म में पशुभोग के अनुभव का अभाव होने से उसको पशुभोग की वासना का अभाव है। और बिना वासना के भोग का होना असम्भव है। इस प्रकार पूर्व जन्म में जिसका अनुभव किया है, उसी अनुभव-जन्य वासना में ही उत्तर जन्म में भोग होगा। यह नियम नहीं किन्तु अनन्त वासना से चित्त के चित्रित होने से जैसा आगे जन्म होगा वैसा ही पूर्वीय किसी जन्म की वासना से उत्तर जन्म में भोग होता है, यह जानना चाहिए। इसी अभिप्राय से ही भाष्यकारों ने—

"क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसम्मूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः।।" (व्यासभाष्य २.१३)

इस वाक्य से वासनाओं को अनेकजन्मपूर्वक कहा है। यदि यह कहो कि यदि वासना से ही भोग होता है, तो आदि जन्म में किसी वासना के अभाव से भोग न होना चाहिए। तो इसका उत्तर यही कहा जायेगा कि वासना अनादि है। भाष्यकारों ने भी इसी आशय से वासना को अनादि कहा है। यथा—

"ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीनाः"

(व्यासभाष्य २.१३)

इस प्रकार सभी धर्माधर्म एकभविक हैं, यह भी नहीं है किन्तु जो नियत-विपाक धर्माधर्म है, वही एकभविक है।

अर्थात् धर्माधर्म दो प्रकार का है— एक तो नियतविपाक अर्थात् अवश्य ही फल देने वाला और एक अनियत-विपाक अर्थात् नियम से फल न देने वाला। वहाँ जो धर्माधर्म नियत-विपाक हैं, उन्हीं में यह नियम है कि सभी मिलकर उत्तरकालिक एक जन्म देते हैं, कुछ अदृष्ट-जन्म-वेदनीय अनियत-विपाक-स्थल में नहीं क्योंकि जो धर्माधर्म अदृष्ट-जन्म-वेदनीय अनियतविपाक हैं, उनकी तीन गतियाँ हैं— एक तो यह कि **"कृतस्याविपक्वस्य नाशः"** अर्थात् कृत कर्मों के बिना फल देने से नाश हो जाना और द्वितीय यह कि **"प्रधानकर्मण्यावापगमनम्"** अर्थात् किसी प्रधान कर्म के संग मिलकर ही फल देना, स्वतन्त्र नहीं। तृतीय यह कि **"नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य चिरमवस्थानम्"** अर्थात् अवश्य फल देने वाले प्रधान कर्म से अभिभूत होकर चिरकाल पर्यन्त अवस्थान होना।

इन तीनों गतियों में से किये हुए कर्म का बिना फल देने से नाश हो जाना यह है कि शुक्ल कर्म के उदय से बिना फल दिये कृष्ण कर्म का नाश हो जाना अर्थात् जिस पुरुष ने तपवेदाध्ययनादि शुक्ल कर्म का अनुष्ठान किया है, उसके पाप का नाश फल दिये बिना ही हो जाता है। एवं च यह पाप कर्म फल दिये बिना ही नाश होने से अनियतविपाक है।

शुक्ल कर्म से कृष्ण कर्म का नाश होता है। इस अपने कथन की पुष्टि के अर्थ भाष्यकारों ने—

"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्त्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ति"

(व्यासभाष्य २.१३ में उद्धृत)

यह श्रुति प्रमाण दी है।

इसका अर्थ यह है कि (पापकस्य) पापी पुरुष के (वेदितव्ये) भोगने योग्य जो (द्वे+द्वे) दो प्रकार के कर्म हैं, उन दोनों को (पुण्यकृत एको राशिः) तप वेदाध्ययनादि पुण्यकर्मजन्य जो एक शुक्लधर्म समूह है, वह (अपहन्ति) नाश कर देता है (तत्) उस हेतु से "सुकृतानि कर्माणि कर्त्तुमिच्छस्व" धर्ममात्र का जनक जो वेदाध्ययनादि शुक्ल कर्म उनके अनुष्ठान की इच्छा कर क्योंकि (इहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ति) इस मनुष्य-लोक में ही तुम्हें कर्मानुष्ठान [करना है यह] प्रतिपादित किया है, अन्य लोक में नहीं, यह विद्वान् लोग उपदेश करते हैं।

इस श्रुति से यह ज्ञात हुआ कि शुक्ल कर्म के उदय का एतादृश अपूर्व

प्रभाव है कि जो उत्पन्न मात्र ही कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण का नाश कर देता है।

एवं प्रधान कर्म में आवापगमन यह है कि यज्ञगत पशुहिंसादि का स्वतन्त्र दुःखरूप फल न होकर यज्ञ-जन्य स्वर्ग-फल के संग ही फल होना।

ज्योतिष्टोमादिक कर्म-जन्य स्वर्ग में हिंसा-पापजन्य दुःख का संसर्ग रहता है। यह भाष्यकारों ने पञ्चशिखाचार्य जी के वचन से स्पष्ट किया है। यथा—

"स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः कुशलस्य नापकर्षायालं कस्मात् ? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति" इति। (व्यासभाष्य २.१३)

एवं प्रधान कर्म से अभिभूत होकर चिरकाल पर्यन्त अवस्थान होना यह है कि बली पुण्य कर्म का निरन्तर भोग होने से पाप कर्म का पड़ा रहना वा बली पाप-कर्म का निरन्तर भोग होने से पुण्य-कर्म का पड़ा रहना।

पूर्व जो मरण-काल को निखिल कर्मों की उपस्थिति का हेतु कहा है, वह जो कर्म अवश्य फल देने वाले हैं, उन्हीं सब का ही कहा है, कुछ अनियत विपाक वाले का नहीं क्योंकि जो अनियत विपाक वाला होता है, वह तो कोई बली कर्म से नष्ट हो जाता है, कोई आवाप को प्राप्त होता है और कोई नियत फल वाले बली कर्म से दबा हुआ चिरकाल तक स्थित रहता है, सो यह कर्म चिरकाल पर्यन्त भी तभी तक स्थित रहेगा कि यावत् काल विरोधी बली कर्मों का फल न भोगा जायेगा वा इस कर्म के समानफल वाला दूसरा कोई बली कर्म इसका सहायक नहीं होगा परन्तु किस काल में यह कर्म विरोधी के अभाव से वा किसी सहायक से फलोन्मुख होगा, यह जानना कठिन है। कौन कह सकता है कि इस कर्म का फल इस में होगा।

इस प्रकार कर्म के फल का निश्चय न होने से ही शास्त्र में कर्मगति को विचित्र और दुर्विज्ञेय कहा है।

परन्तु यह संशय नहीं करना चाहिए कि जब सब कर्म मिलकर एक जन्म नहीं देते हैं तो एकभविक कैसे माना क्योंकि यथासम्भव ही एकभविकवाद का स्वीकार है, कुछ सर्वत्र नहीं अर्थात् नियत-विपाक-स्थल में एकभविक का सम्भव होने से वहाँ पर एकभविक माना जाता है और अनियत-विपाक में सम्भव न होने से वहाँ नहीं माना जाता है तथा च एकभविकमत के क्वाचित्क होने से कोई भी दोष नहीं है, यह फलित हुआ।

इस प्रकार कर्मों को क्लेशमूलक और विपाकों को कर्ममूलक कहा। अब यह विपाक किस क्लेश का मूल है, इस आशंका का वारण करते हुए विपाकों का फल कहते हैं।

सूत्र— ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।। (यो॰द॰ २.१४)

अर्थ— (ते) वे पूर्वोक्त जन्म, आयु, भोग नामक तीनों विपाक (पुण्यापुण्य-हेतुत्वात्) पुण्य और अपुण्यरूप कारणमूल होने से (ह्लादपरितापफलाः) आह्लाद और परिताप फल वाले हैं।

यद्यपि पापहेतुक जन्मादि के दुःखफलक होने से पाप कार्य ही जन्मादि योगी को त्यागने योग्य है, कुछ पुण्यहेतुक नहीं, तथापि जैसे दुःखप्रतिमूलक सर्वानुभव सिद्ध है, वैसे योगी को विषयसुख भी प्रतिकूल होने से दुःख है क्योंकि विषयसुख भोगकाल में भी योगी को सूक्ष्म दुःख का अनुसन्धान बना ही रहता है। अतः सुखफलक भी जन्मादि हेय ही हैं, यह जानना चाहिए।

विषयसुख काल में भी योगी लोग दुःख का अनुसन्धान करते हैं, यह किस युक्ति द्वारा कहा जाय, इस आकांक्षा का शमन करते हुए युक्तिपूर्वक विषयसुख को दुःखरूप कहते हैं।

परलोक का विवरण

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

(ऋ॰ ९.११३.७)

अर्थ— (पवमान) हे पवित्रकारक, सर्वव्यापक परमात्मन् ! (यत्र+लोके) जिस लोक में (ज्योतिः+अजस्रम्) ज्योति बहुत और अविनश्वर है (यस्मिन्+स्वः+हितम्) जिसमें शाश्वत सुख स्थापित है (तस्मिन्) उस (अमृते) मरणधर्मरहित अत एव (अक्षिते) अक्षीण (लोके) लोक में (माम्+धेहि) मुझको स्थापित कीजिये (इन्दो) हे सर्वप्रिय परमात्मन् ! (इन्द्राय+परिस्रव) मेरे आत्मा पर कृपा करो।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरो धनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृते कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

(ऋ॰ ९.११३.८)

अर्थ— (यत्र) जिस लोक में सब जीव (राजा) परस्पर स्वतन्त्र देदीप्यमान (वैवस्वतः) परस्पर हितकारी हैं (यत्र+दिवः+अवरोधनम्) जहाँ सूर्यप्रधान द्युलोक की भी समाप्ति है अर्थात् जहाँ स्वयं प्रकाश आश्चर्यमय ज्योति विद्यमान है। (यत्र) जिस लोक में (अमूः+यह्वती) ये स्वादिष्ठ शीतल स्वास्थ्यकर उपचयजनक बहुत से (आपः) जल और विविध पदार्थ विद्यमान हैं (तत्र) उस लोक में (माम्) मुझको (अमृतम्) मरणधर्मरहित (कृधि) कीजिए। (इन्दो) हे सर्वप्रिय परमात्मन् ! (इन्द्राय+परिस्रव) मेरे आत्मा पर कृपा कीजिये।

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

(ऋ॰ ९.११३.९)

अर्थ— (यत्र) जिस (त्रिनाके) त्रिविध सुखयुक्त (त्रिदिवे) त्रिविध ज्योतिर्युक्त (दिवः) दिव्यलोक में (अनुकामम्+चरणम्) इच्छापूर्वक विचरण होता है। (यत्र) जिसमें (लोकाः+ज्योतिष्मन्तः) सभी मुक्त जीव ज्ञान और सुखादि से ज्योतिष्मान् प्रफुल्लवदन, शान्तचित्त, सांसारिक दुःखागृहित और आमोदयुक्त विद्यमान हैं। (तत्र) उस लोक में (माम्) मुझको (अमृतम्+कृधि) मरणधर्मरहित कीजिये। (इन्दो) हे सर्वप्रिय परमात्मन् ! (इन्द्राय+परिस्रव) मेरे आत्मा के ऊपर कृपा कीजिये।

व्याख्या— त्रिनाक= अक= दुःख। न+अक= नाक (सुख)। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक ये तीनों सुख हों जिसमें उसे त्रिनाक सुख कहते हैं। त्रिदिव= मन्द, मध्यम और उत्तम तेज है जिसमें। दिवः यहाँ सप्तम्यर्थ में षष्ठी विभक्ति है।

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

(ऋ॰ ९.११३.१०)

अर्थ— (यत्र) जिस लोक में (कामाः) काम सब प्रकार के मनोरथों की सामग्री (निकामाः+च) अतिशय आनन्दप्रद जीवगण हैं (यत्र+ब्रध्नस्य+विष्टपम्) आनन्द का मानो वृक्ष है। (यत्र+स्वधा+च+तृप्तिश्च) जहाँ स्वानुकूल व्यापार अर्थात् यथेच्छ सत्संगादि व्यापार और सब प्रकार की तृप्तियाँ हैं। (तत्र+माम्+अमृतम् +कृधि) उस लोक में मुझको अमृत कीजिये। (इन्दो) हे सर्वप्रिय परमात्मन् ! (इन्द्राय+परिस्रव) मेरे आत्मा के ऊपर कृपा कीजिए।।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

(ऋ॰ ९.११३.११)

अर्थ— (यत्र) जिस लोक में (आनन्दाः+च+मोदाः+च) आनन्द और मोद (मुदः+प्रमुदः+आसते) मुद और प्रमुद हैं। मोद, मुद, प्रमुद इत्यादि आनन्द के भेद हैं। (यत्र) जिस लोक में (कामस्य+कामाः+आप्ताः) कामों के भी काम प्राप्त होते हैं (तत्र+माम्+अमृतम्+कृधि) उस लोक में मुझको अमृत कीजिये। (इन्दो+इन्द्राय+परिस्रव) हे सर्वप्रिय परमात्मन् ! मेरे आत्मा के ऊपर कृपा कीजिये।

मरने के पश्चात् ऊर्ध्वगमन।

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः।।

(ऋ० १०.१८.३)

अर्थ– हे प्रेत ! (ते) तुम्हारा (चक्षुः) चक्षुरिन्द्रिय (सूर्यम्+गच्छतु) सूर्य को प्राप्त हो (आत्मा) प्राण (वातम्) बाह्य वायु को प्राप्त हो। हे प्रेत ! तू (द्याम्+च+गच्छ) सुखमय द्युलोक में जाओ। (च) और (धर्मणा) कृतकर्मानुसार फल भोगने के लिए (पृथिवीम्+च) इसी पृथिवी पर रहो। (अपः+वा+गच्छ) गंगादि नदियों में जाकर जन्म ले। (यदि+तत्र+ते+हितम्) यदि वहाँ तेरा हित हो अथवा (शरीरैः+ओषधीषु +प्रति+तिष्ठ) शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना इत्यादिकों के साथ औषधियों गेहूँ, यवादिक में रहो।

व्याख्या– सूर्य से चक्षुरिन्द्रिय को उपकार पहुँचता है, इस हेतु नयन का गमन सूर्य में है। प्राण एक प्रकार का वायु है। इसलिए उनकी वात में प्राप्ति कही गई है। शरीर गेहूँ, यव इत्यादिक वस्तुओं के खाने से बनता है। अतः शरीर इन्द्रियादिकों की ओषधियों में प्राप्ति है। जल में भी सहस्रों जीवों की उत्पत्ति होती है अतः जल में गमन कहा गया है।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्।।

(ऋ० १०.१६.४)

अर्थ– (अजः) जो जन्म-मरण-रहित शरीरेन्द्रियादि भागव्यतिरिक्त अन्तःपुरुष लक्षण जीवरूप (भागः) भाग है। (तम्) उसको (तपसा+तपस्व) ताप से तप्त करो। (ते+शोचिः) तेरी ज्वाला (तम्+तपतु) उसको शुद्ध करे। (ते+अर्चिः) तेरी ज्वाला (तम्) उस भाग को शुद्ध करे (जातवेदः) हे सर्वज्ञ अग्निस्थ परमात्मन् ! (ते +याः+शिवाः+तन्वः) जो तेरे कल्याणमय आद्यन्तरहित अत्यन्त विस्तीर्ण संसाररूप शरीर हैं। (ताभिः) उन शरीरों से (सुकृताम्+उ) शोभन कर्मयुक्त जीवों का जो (लोकम्) लोक है। (एनम्+वह) उस लोक की ओर इन्हें ले जा।

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च।।

(मा० सं० १९.४७)

अर्थ– (मर्त्यानाम्) मरणधर्मी प्राणियों के (द्वे+सृती) दो मार्ग (अहम्+अशृणवम्) मैंने सुने हैं। वे दो मार्ग कौन हैं, इस पर कहते हैं कि (देवानाम्) देवताओं का एक मार्ग, जिसे देवयान कहते हैं (उत+पितॄणाम्) पितरों का द्वितीय मार्ग है, जो

पितृयान कहलाता है (ताभ्याम्) उन दोनों मार्गों से (इदम्+विश्वम्) यह सकल प्राणिमात्र (एतत्+समेति) अपने-अपने भोगस्थान में प्राप्त होते हैं। (पितरम्+मातरम्+च+यत्+अन्तरा) जो स्थान द्युलोक और भूलोक के मध्य में विराजमान है उसमें अपने-अपने कर्मानुसार जीवगण जहाँ-तहाँ प्राप्त होते हैं।

व्याख्या– इस प्रकार देवयान और पितृयान का भी वेद में वर्णन आता है। उपनिषदादियों में इन दो मार्गों का वर्णन विस्तारपूर्वक आया है, जिनको आगे लिखूँगा।

इस समय मन्त्रों के द्वारा जीवों का ऊर्ध्वादिगमन लिखा जाता है। बहुत से विद्वान् कहते हैं कि वेद में पुनर्जन्म प्रभृति का वर्णन नहीं है। इस हेतु इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। प्रथम ऊर्ध्वगमन लिखा जाता है, तत्पश्चात् पुनर्जन्म के बहुत से मन्त्र संगृहीत कर दिये जायेंगे। वे ये हैं–

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्।।

(ऋ० १०.१४.७)

अर्थ– हे मृत जीव ! हे शरीर त्याग कर ऊर्ध्वगामी जीव ! तू (पूर्व्येभिः) अतिशय अनादि काल प्रवृत्त (पथिभिः) मार्गों से (प्रेहि+प्रेहि) जा शीघ्र जा। (यत्र) जहाँ (नः) हम लोगों के (पूर्वे+पितरः) पूर्व-पूर्व पिता-पितामहादि पितर (परेयुः) गए हुए हैं। जहाँ जाकर (स्वधया+मदन्ता) आनन्द के साथ विराजमान (उभा+राजाना) दोनों राजाओं (यमम्) एक यम (च) और द्वितीय (वरुणम्+देवम्) वरुण देव को (पश्यासि) देखेगा।

व्याख्या– (यम) कर्मफल। वेदों में यम शब्द अनेकार्थ में आते हैं। कहीं सूर्यपुत्र यम माना गया है, जिसकी भगिनी यमी कही गई है। कहीं यम नाम परमात्मा का आया है, यथा–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

(ऋ० १०.१६५.४६)

कहीं संयम, कहीं कर्मफल, कहीं विशेषण, कहीं इन्द्रादि देव इत्यादि अर्थों में आया है। यहाँ कर्मफल का नाम यम है, वरुण का नाम ईश्वर प्रसिद्ध है। जिस हेतु कर्मफलदाता परमात्मा है, इसलिए इसका नाम वरुण होता है। वरुण का शब्दार्थ प्रेम से स्वीकार करने वाला है। जीव परमात्मा का सखा है, कर्मफल भोगने के लिए इतस्ततः योनियों में उसे जाना पड़ता है। जब ज़ीव कर्मफल भोग न्यायार्थ ईश्वर के निकट पहुँचता है, तब यह सत्कारपूर्वक उसको ग्रहण करता

है। और उसे यम अर्थात् कर्मफल दिखलाता है। कर्मफल का नाम यम है, इसमें और भी बहुत से प्रमाण हैं। यमपुरी में चित्रगुप्त लेखक माना[१] गया है, जो गुप्त रीति से सकल कर्मों को चित्रित अर्थात् लिखा करता है, उसे चित्रगुप्त कहते हैं। वह चित्रगुप्त मन है। इस मन के ऊपर हम लोग जो कुछ शुभाशुभ कर्म करते हैं, वे चित्रित= खचित हो जाते हैं। वही मन हम लोगों का साक्षी होता है, इससे भी सिद्ध है कि कर्मफल का नाम यम है। और भी यमपुरी में सप्तविध नरक[१] माने गए हैं। वे ये हैं— दो आँख, दो कान, दो नासिकाएँ और एक जिह्वा। जब ये सात दुष्ट कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तब वे नरकफल देने वाले होते हैं। इस हेतु इन्हें भी नरक कहते हैं। ये सात सर्वदैव जीव के साथ ही गमन करते हैं इत्यादि प्रमाणों से और वक्ष्यमाण हेतुओं से यम नाम कर्मफल का है। जब जीव ईश्वर के निकट पहुँचता है, तो उसे निज कर्मफल और ईश्वर दोनों सूझते हैं। इस हेतु मन्त्र में यम और वरुण दोनों देवों की चर्चा आयी है। यम के सम्बन्ध में आगे एक बृहद् लेख रहेगा।

संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः।।

(ऋ० १०.१४.८)

अर्थ— हे जीव ! तू (परमे+व्योमन्) परम उत्कृष्ट परमात्मा के निकट (पितृभिः) पितरों के साथ (सम्+गच्छंस्व) सम्मिलित हो, निवास कर। और (इष्टा पूर्त्तेन) वहाँ श्रौत और स्मार्त्त (यमेन) कर्मफल के साथ (सम्) संगत हो। कर्मफल भोग, तब (अवद्यम्) निज पाप को अर्थात् पापाचार स्वभाव को (हित्वाय) त्याग कर (पुनः) पुनरपि (अस्तम्) निज कर्मानुसार गृहरूप शरीर को प्राप्त कर अर्थात् पुनः जन्म ले। तब (सुवर्चाः) शोभन दीप्तियुक्त (तन्वा) शरीर के साथ (सम्+गच्छस्व) संगत हो।

व्याख्या— इष्टापूर्त्त= विविध श्रौत कर्मों का नाम इष्ट है और तडाग, वापी, कूप, धर्मशाला, धर्मक्षेत्र, अन्नक्षेत्र इत्यादि कर्मों का नाम आपूर्त है। यहाँ **"पुनरस्तमेहि"** 'फिर घर में आ' इतना कहने से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। अस्त नाम वेद में गृह का है। इसी को आगे विस्पष्ट किया है कि सुन्दर शरीर के साथ प्राप्त हो, और पाप का भी तू त्याग कर क्योंकि पापाचार से ही तुझे नाना योनियों में जाना पड़ता है। इसलिए नाना योनियों के दुःखों को जान, पापों से विरत हो जा इत्यादि इसका भाव है। इसके साथ-साथ इष्टापूर्त्त शब्द पर सदैव ध्यान रखना चाहिए। वैदिक और लौकिक दोनों कर्म सदैव साथ-साथ कर्त्तव्य हैं।

१. पुराणों में ?

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै।।

(ऋ० १०.१४.९)

अर्थ— हे दुष्टकर्मो, हे दुराचारो, हे पापो ! (अतः) इस मृत पुरुष से (अपेत) अत्यन्त दूर चले जाईये (वीत) दूर भाग जाईये (च) और (वि+सर्पत) दूर-दूर भाग जाईये (अस्मै) इस पुरुष के लिए (एतम्+लोकम्) इस धर्माधर्मप्रधान कर्मलोक को (पितरः+अक्रन्) पितृगण बनावें (यमः) धर्माधर्मनिर्णायक कालरूप देव ! (अहोभिः) दिनों (अद्भिः+अक्तुभिः) सुखकारी रात्रियों द्वारा (व्यक्तम्) विस्पष्टतया सुखकर (अवसानम्+अस्मै+ददाति) अवसान इसके लिए देवें।

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितृन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति।।

(ऋ० १०.१४.१०)

अर्थ— हे मृत जीव ! (साधुना+पथा) समीचीन मार्ग से धर्माधर्म उपार्जन कर (चतुरक्षौ) चार आँख वाले (शबलौ) विविध वर्ण वाले (सारमेयौ) सर्वदा गमनागमन करने वाले (श्वानौ) इन दो कुत्तों को (अति+द्रव) अतिक्रमण कर अर्थात् लाँघ कर जा (अथ) तदनन्तर (सुविदत्रान्) परमज्ञानी (पितॄन्) पितरों को (उपेहि) प्राप्त कर। (ये) जो पितृगण (यमेन+सधमादम्+मदन्ति) धर्माधर्मरूपी देव के साथ एक स्थान में आनन्द भोग रहे हैं।

इस मन्त्र का और अगले दो मन्त्रों का साथ ही विस्तृत वर्णन रहेगा। बारहवें मन्त्र के अर्थ के अन्त में देखिये।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि।।
उरुणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्।।

(ऋ० १०.१४.११,१२)

अर्थ— (यम) हे धर्माधर्मरूपी देव ! (यौ+ते) जो तेरे (रक्षितारौ) रक्षा करने वाले (चतुरक्षौ) चार आँख वाले (पथिरक्षी) मार्ग में रक्षा करने वाले (नृचक्षसौ) मनुष्यों के धर्माधर्म देखने वाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं। (ताभ्याम्) उन कुत्तों के निकट (एनम्) इस जीव को (परिदेहि) समर्पित कीजिये। (राजन्) राजन् ! (च+अस्मै) और इसको (स्वस्ति) कल्याणक्षेम, (अनमीवम्+च) और आरोग्य (धेहि) दीजिये।

(उरुणसौ) दीर्घनासिकायुक्त (असुतृपौ) दूसरों के प्राणों से तृप्त होने वाले (उदुम्बलौ) परम बलिष्ठ (यमस्य+दूतौ) यम के कुत्ते रूप दो दूत (सूर्याय+दृशये) सूर्य के दर्शनार्थ (अद्य++इह) आज इस कर्म में (भद्रम्+असुम्) समीचीन प्राण (पुनः+अस्मभ्यम्) पुनरपि हम लोंगों को (दाताम्) देवें।

व्याख्या– इन दशवीं, एकादशी, द्वादशी ऋचाओं में केवल यम के दूत दो कुत्तों का वर्णन है। हम कह चुके हैं कि यम सूर्य का पुत्र कहलाता है। इससे यह सिद्ध है कि यह जो अखण्ड, आद्यन्तविहीन महाकाल है, जिसका परिच्छेद अहोरात्र और भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान से होता है, इसी का नाम यम है, अत एव इसको काल कहते हैं। यही काल शरीरधारी प्राणियों का अन्त करता है। इसलिए इसका नाम अन्तक है। अपने नियम में सबको बद्ध रखता है, इसलिए इसका नाम यम हुआ। जिस हेतु वेद में प्रत्येक वस्तु का चेतनत्वारोप करके और इसके विविध नाम देकर वेद भगवान् वर्णन करते हैं और जिस हेतु मानो यही काल धर्माधर्म का भी निर्णायक है क्योंकि प्रत्येक जीव की आयु का एक न एक परिमाण नियत है, उसी नियत काल में राजा से रंक तक, सूर्य से पिपीलिका तक का प्राणहरण करता है। इसलिए यह न्यायी, दण्डधर, राजा इत्यादि नामों से भी अलंकृत होता है। सब नामों में से सार्थक नाम यम है क्योंकि यह यमन अर्थात् नियम में सबको रखता है। लोक में भी मुमूर्षु जन को देखकर कहते हैं कि इस का अब काल आ गया है, यह अब न बचेगा। जब यह सिद्ध हुआ कि इस अखण्ड काल का नाम यम है, तब इसके दो दूत कौन हैं ? निस्सन्देह वे दो दूत दिन और रात्रि हैं। वे श्वान इसलिए कहे गए हैं कि जैसे श्वान जन्तु स्वामी के बड़े भक्त और अनुगामी होते हैं, वैसे ही ये दोनों अहोरात्र रूप दो कुत्ते निखिल प्राणियों के अनुगामी हैं। पुनः वे सारमेय कहलाते हैं। सरमा से सारमेय बना है। जो सदा आता जाता रहे, उसे सरमा कहते हैं, वह काल है। तत्सम्बन्धी होने से इसे सारमेय कहते हैं।

चतुरक्षौ– दिन के पूर्व और उत्तर भाग और रात्रि के पूर्व उत्तर भाग, मानों ये चारों इसकी चार आखें हैं।

शबलौ– अहोरात्र में अनेक रूप-रंग बदलते रहते हैं। कभी वर्षा, कभी शिशिर, कभी मेघाच्छन्न, कभी सायं और प्रातःकाल रक्त इत्यादि कारणवश ये विविध वर्ण वाले कहलाते हैं।

पथिरक्षी– निस्सन्देह मनुष्यों के पथों के ये रक्षक हैं, यदि ये शुभ कर्म में लगाये जायँ। अन्यथा ये भक्षक हो जाते हैं, जैसा द्वादशी ऋचा में आया है।

नृचक्षसौ– ये ही दूत, मानो मनुष्यों के सकल कर्मों के देखने वाले हैं।

उरुणसौ– इनकी नासिका बहुत ही बड़ी है क्योंकि प्राणी कहीं भी छिप कर दुष्कर्म करे, वे सूंघ कर ही मानो जान लेते हैं। पशुओं में घ्राण-शक्ति की अधिकता है, यह प्रसिद्ध है।

असुतृपौ– यही अहोरात्र काल, मानो दुर्व्यसनी जनों के प्राण से तृप्त होते हैं क्योंकि उनके प्राण शीघ्र समाप्त हो जाते हैं।

उदुम्बलौ– वे परम बलिष्ठ हैं, यह प्रत्यक्ष है क्योंकि राजा से रंक तक को भी छोड़ने वाले नहीं। पुनः वे प्रत्येक मनुष्य के पीछे विचरण करते हैं। इन सब का आशय बहुत विस्पष्ट है। यदि हम अपने समय को शुभ कर्म में लगावें तो इसका फल बहुत मधुर और चिरस्थायी हो यदि दुर्व्यसन में इसे लगावें तो इसका फल नरकादि भोग है। इससे यम के स्वरूप का भी बोध यथोचित रूप से हो सकता है। जिसका दूत ही अहोरात्र है, वह कौन है ? निस्सन्देह वह अखण्ड काल है। जिस हेतु अखण्ड काल का परिच्छेद सूर्य द्वारा होता है और इससे दो अयन, छह ऋतु और दिन-रात होते हैं, इसलिये यह काल सूर्य-पुत्र भी कहलाता है। इस काल के साथ इस जीव का बहुत सम्बन्ध है क्योंकि इसी काल के हेर-फेर से इसका जनन और मरण होता रहता है। अतः इसी के साथ ऊर्ध्वगमन और इसके साथ सदैव निवास का वर्णन आता है। इति संक्षेपतः।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा।। (ऋ० ५.७८.८)

अर्थ– (यथा+वातः) जैसे गमनशील सदागति वायु (एजति) चलता रहता है और सब जीव को प्राण पहुँचाता रहता है (यथा+वनम्) जैसे वन वायु के कारण सदैव गतिमान रहता है (यथा+समुद्रः+एजति) और जैसे उस वायु के कारण ही सदैव समुद्र भी गतियुक्त रहता है और ये वात, वन और समुद्र तीनों परमोपकारी पदार्थ हैं (एव) इसी प्रकार (दशमास्य) हे गर्भनिवासी दशमास कालिक जीव ! (त्वम्) तू (जरायुणा+सह) जरायु के साथ (गर्भस्थ बालक जिस पतले चर्म से वेष्टित रहता है, उसको जरायु और उल्ब कहते हैं)। (अवेहि) मातृगर्भ से निकल और निकल कर वात, वन और समुद्रवत् जगत् में उपकारी बन। और जैसे वायु और समुद्र सदैव गतिमान् ही रहते हैं, उनको चलने के लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता, तद्वत् मातृगर्भ में स्थिर न रहकर वहाँ से निकल कर जगत् का उपकारी बन।

दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरेतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि।। (ऋ० ५.७८.९)

अर्थ– (मातरि+अधि) माता के उदर में (दशमासान्+शशयानः) दश

मासावधि निवास करता हुआ (कुमारः+जीवः) कुमार जीव (अक्षतः+निरैतु) किसी प्रकार आहत न होकर निकले। (जीवन्त्या+अधि) माता को किसी प्रकार आघात न हो। वह चिरजीवनी हो। उस जीती हुई माता के गर्भ से (जीवः) गर्भवासी जीव वायुवत् सहजतया निकल आवे, हे ईश्वर ऐसी कृपाकर, यह ईश्वर से प्र्थना है।

आत्म-नित्यत्व

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १६४वाँ सूक्त अत्यन्त उपयोगी और सर्वथा ज्ञातव्य है। इस सम्पूर्ण सूक्त का अर्थ यहाँ लिखा जाता किन्तु यह बहुत बृहत् है और इसमें ५२ ऋचाएँ हैं, जिसकी व्याख्या कम से कम सौ पृष्ठ घेर लेगी। अतः अत्यावश्यक और आत्मसम्बन्धी दो-चार ऋचाएँ यहाँ इस सूक्त से सार्थक उद्धृत की जाती हैं।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।।

(ऋ॰ १.१६४.३०)

अर्थ— (पस्त्यानाम्) शरीर रूप गृहों के (आ+मध्ये) मध्य में विराजमान (जीवम्) यह जीव (अनत्) प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँचों व्यापारों को करता हुआ (तुरगातु) अपने व्यापार में गमनशील (एजत्) और सांसारिक सुख-दुःखों के संसर्ग से चल-विचल होता हुआ (ध्रुवम्) निश्चित रूप से कुछ काल (शये) ठहरता है। तत्पश्चात् (मृतस्य) मृत शरीर का सम्बन्धी (जीवः) यह जीव शरीर को छोड़कर (स्वधाभिः) अपने स्वभावों के साथ अथवा धमाधर्म अदृष्टों के साथ (चरति) विचरण करता रहता है। वह जीव कैसा है, इस पर कहते हैं कि (अमर्त्यः) मरणधर्मरहित शरीर के साथ यह जीव मरता नहीं किन्तु यह अमर है। पुनः यह जीव कैसा है (मर्त्येन) मरणधर्मी शरीर के साथ (सयोनिः) समानस्थानी अर्थात् शरीर में रहकर शरीर और जीव दोनों एकस्थानी कहलाते हैं।

व्याख्या— पूर्वार्द्ध ऋचा में जीव शब्द नपुंसक और उत्तरार्द्ध में पुँल्लिग देखकर पाठक को कदाचित् भ्रम होगा किन्तु ऐसे प्रयोग वेद में बहुत आते हैं। अथवा पूर्वार्द्ध ईश्वरपरक और उत्तरार्द्ध जीवपरक है। 'शये' यह उत्तम पुरुष का एकवचन का रूप है। तब इसका अर्थ यों होगा कि ब्रह्म स्वयं कहता है कि (जीवम्) जीव को लेकर (पस्त्यानाम्+आ+मध्ये) शरीर रूप गृहों के मध्य में (अनत्) प्राण देता हुआ (तुरगातु) व्यापार करवाता हुआ और (एजत्) इस जीव के साथ चल-विचलित प्रतीत होता हुआ मैं (ध्रुवम्+शये) ध्रुवरूप से वर्त्तमान रहता हूँ किन्तु (मृतस्य+जीवः) मृत शरीर का जीव इतस्ततः शरीर को छोड़ विचरण

करता रहता है इत्यादि, यहाँ विस्पष्टरूप से जीव को अमर्त्य कहा है अर्थात् कभी वह मरता नहीं और शरीर को मर्त्य= मरणधर्मी कहा है। और इस शरीर के साथ यह जीव सयोनिः अर्थात् एकस्थानी कहलाता है, इससे पुनर्जन्म का प्रतिपादन करती है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः।।

(ऋ॰ १.१६४.३१)

अर्थ— पुनः ईश्वर कहता है कि हे मनुष्यो ! मैं (अपश्यम्) इस जीव को देखता हूँ किन्तु तुम लोग अति सूक्ष्मता के कारण इसे देख नहीं सकते। वह जीव कैसा है ? (गोपाम्) इस शरीर रूपी पुरी का रक्षक है। पुनः (अनिपद्यमानम्) शोक-विषादरहित है। पुनः (आ+च+परा+च) इधर-उधर (पथिभिः) नाना मार्गों से (चरन्तम्) विचरण करने वाला है। ऐसे जीव को मैं देखता हूँ किन्तु तुम लोग नहीं। पुनः (सः) वह जीव (सध्रीचीः) अनुकूल योनियों में पुनः (सः) वह जीव (विषूचीः) प्रतिकूल योनियों में (वसानः) बसाता हुआ (भुवनेषु+अन्तः) नाना भुवनों में (आ+वरीवर्त्ति) पुनः-पुनः आवृत्ति (आवागमन) करता रहता है।

इस ऋचा में जीव की सूक्ष्मता और मरण के पश्चात् नाना भुवनों में जाकर जन्म लेना इत्यादि वर्णन किया गया। अगली ऋचा में जीव का गर्भवास और अज्ञेयता दिखलाते हैं, ऋचा यह है—

य ईं चकार न सो अस्य वेद स ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।।

(ऋ॰ १.१६४.३२)

अर्थ— यहाँ गर्भवासजन्य क्लेशों को दिखलाते हुए तत्परिहार के लिए आत्मा ज्ञातव्य और उद्धरणीय है, यह भी सूचित करते हैं। मन्त्रार्थ यह है— (यः+ईम्) जो पुरुषार्थी पुरुष इस गर्भ को (चकार) करते हैं (सः) वह पुरुष (अस्य+न+वेद) इसके तत्त्व को नहीं जानते अर्थात् इस गर्भाधान से पुत्रादिक होगा वा नहीं होगा अथवा क्या होगा, इसको कोई नहीं जानता। (यः+ईम्) जो तत्त्वज्ञानी (ददर्श) उदरवृद्धि आदि के अनुमान से देखते हैं, अथवा आत्मतत्त्व को कुछ जानते हैं (तस्मात्) उनसे भी (हिरुक्+इत्+नु) निस्सन्देह यह छिपा ही है (सः) वह जीवात्मा (मातुः+योना+अन्तः) माता के शरीर में (परिवीतः+बहुप्रजाः) बहुत बार जन्म लेने वाला होता है और जन्म लेकर (निर्ऋतिम्+आ+विवेश) नाना दुःखों को पाता है। इसकी व्याख्या सरल सुबोध है।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।

उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।।

(ऋ० १.१६४.३३)

अर्थ– इस मन्त्र द्वारा जीव कहता है कि (द्यौः) सर्वत्र व्यापक परमात्मा अथवा द्युलोक (मे+पिता) मेरा पिता पालक है। न केवल वह पालक ही है किन्तु (जनिता) वह उत्पादयिता है। आगे इसमें उपपत्ति कहते हैं (अत्र) इस द्युलोक में (नाभिः) इस सम्पूर्ण शरीर का बन्धन है क्योंकि यह द्युलोक अपनी आकर्षण शक्ति से इस पृथिवी को बाँधता है और यह पृथिवी हम जीवों को बाँधती है अथवा 'नाभि' यह पद 'द्यौ' का ही विशेषण है क्योंकि यह सबको बाँधता है। अत एव (बन्धुः) यह द्युलोक हम लोगों का बन्धु अर्थात् बाँधने वाला भी है अर्थात् उसी द्युलोक से हम प्राणियों में प्राण का भी सञ्चार होता है और (इयम्+मही) यह पूज्या (पृथिवी) पृथिवी (मे+माता) मेरी माता है क्योंकि नाना गोधूमादि अन्नों से यह पूज्या पृथिवी ही हम लोगों को पालती है। (उत्तानयोः) अत्यन्त विस्तृत (चम्वोः) सबके भोग साधन ये जो द्युलोक और पृथिवी हैं (अन्तः+अत्र) इन्हीं के मध्य (योनिः) सकल प्राणियों का जन्म-मरण स्थान है। इस प्रकार (पिता) पिता जो द्युलोक और (दुहितुः) दूर में स्थित जो माता पृथिवी उसमें (गर्भम्+आधात्) गर्भ की स्थापना करते हैं।

व्याख्या– बत्तीसवें और तैतीसवें मन्त्र में यह सम्बन्ध है कि प्रथम में कहा गया है कि प्राणी स्वभूत प्रिया में गर्भ स्थापित करते हैं और उनसे जीव आविर्भूत होते हैं, किन्तु वास्तव में द्युलोक ही गर्भविधायक है। वह दुहिता= अर्थात् दूरस्थिता पृथिवी में गर्भ की स्थापना करता है और उसी से मानो ये सकल जीव आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि द्युलोकजन्य मेघ और मेघजन्य वर्षा को प्राप्त कर यह पृथिवी माता नाना उद्भिज्जों को उत्पन्न करती रहती है। और इन उद्भिज्जों को खा, पुष्ट और वीर्यवान् होकर इतर तीन प्रकार के शरीरधारी जीव– जरायुज, अण्डज और ऊष्मज उत्पन्न होते रहते हैं। यदि पृथिवीस्थ पदार्थों को इतर तीन जीव प्राप्त न करें तो इनमें गर्भाधानादि सामर्थ्य नहीं हो सकते। अतः वास्तव में गर्भधाता द्युलोक है और उसके साहाय्य से इतर जीव भी गर्भविधायक हैं। इस हेतु मेरे वास्तविक पिता द्यौ हैं और माता पृथिवी है। पार्थिव माता और पिता केवल जन्मदाता मात्र हैं। अतः उन माता-पिता के विषय में कुछ जिज्ञासा जीवात्मा पुनः इस प्रकार करता है–

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम।।
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।

अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।।

(ऋ० १.१६४.३४,३५)

अर्थ– मैं (त्वा) आप गुरु इत्यादियों से (पृथिव्याः+परम्+अन्तम्+पृच्छामि) पृथिवी का परम अन्त पूछता हूँ। जहाँ यह सम्पूर्ण पृथिवी समाप्त हो जाती है, उसे पूछता हूँ और भी (यत्र+भुवनस्य+नाभिः+पृच्छामि) जहाँ सकल भुवनों और प्राणियों का बन्धन है, उसे भी पूछता हूँ और भी (त्वा) आप से (वृष्णः) सुखों का वर्षयिता (अश्वस्य) बहुव्यापक इस द्युलोक का जो (रेतः) कारण है (पृच्छामि) उसे भी पूछता हूँ और (वाचः) वाणी का (परमम्) उत्कृष्ट (व्योम) स्थान (पृच्छामि) पूछता हूँ। यहाँ मैं चार प्रश्न पूछता हूँ– १. पृथिवी का अन्त कहाँ है ? २. भुवन का नाभि कौन है ? ३. द्युलोक का कारण कौन है ? ४. वाणी का स्थान कौन है ?

(पृथिव्याः) पृथिवी का (परः+अन्तः) पर अन्त (इयम्+वेदिः) यह वेदी है। द्वितीय प्रश्न का उत्तर आगे कहते हैं (भुवनस्य+नाभिः+अयम्+यज्ञः) भुवन का नाभि यह यज्ञ है। तृतीय प्रश्न का उत्तर यह है (वृष्णः+अश्वस्य+रेतः) सुख की वर्षा करने वाले बहुव्यापक द्युलोक का कारण (अयम्+सोमः) यह सोम है। चतुर्थ प्रश्न का उत्तर यह है (वाचः+परमम्+व्योम) वचन का उत्कृष्ट स्थान (अयम्+ब्रह्मा) यह ब्रह्मा है।

व्याख्या– यहाँ "द्यौ" और "पृथिवी" के सम्बन्ध में पूछना था परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य भी दो प्रश्न पूछे गये हैं। कारण यह है कि सर्वसाधारण को यह भ्रम न हो कि यह द्यौ और यह पृथिवी कोई चेतन देव हैं। "द्यौ" स्वामी है और "पृथिवी" स्त्री है। उस स्त्री में द्यौ गर्भाधान किया करता है। इस भ्रम की निवृत्ति के लिये दो प्रश्न और भी किये गये हैं। द्युलोकस्थ सूर्य और पृथिवी चेतन देव नहीं। और न ये दोनों ही जीव के उत्पादक हैं किन्तु इस द्यौ का भी कारण सोम अर्थात् परमात्मा है। और जिस सोम से वेदवाणी उत्पन्न होती है, जिसको यज्ञ में ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् विविध प्रकार से दिखलाते हैं।

यहाँ याग से सृष्टि की उपमा दी गई है। वेदि, यज्ञ, सोम और ब्रह्मा ये चारों यज्ञ में होते हैं। पृथिवी का अन्त क्या है, इसके उत्तर में कहा जाता है कि वेदि है। वेदि शब्द का अर्थ ज्ञान है। जब मनुष्य ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करता है, तब सहजतया इसका अन्त प्रतीत होने लगता है। जैसे अति क्षुद्र गृह का अथवा एक क्षेत्र का तद्वत् गणित और विज्ञान द्वारा इस पृथिवी का अन्त विदित हो जाता है। अतः वहाँ वेदि शब्द का प्रयोग है। यदि केवल इस पृथिवी का कोई निर्णीत अन्त बतला दिया जाता तो किन्हीं को विश्वास और किन्हीं को अविश्वास हो जाता।

अतः इस पृथिवी का अन्त जानना चाहते हो तो वेदि अर्थात् ज्ञान का उपार्ज्जन करो। भुवन का नाभि कौन है, इसके उत्तर में यज्ञ कहा गया है। यज्ञ नाम परमात्मा का है, यह सबका बन्धन है, इसमें सन्देह ही क्या है ? और इस अश्व अर्थात् द्युलोक का भी कारण कौन है ? इसके उत्तर में सोम कहा गया है। सोम नाम भी परमात्मा का है। यही सब का कारण भी है। अब वाणी का परम स्थान कौन है ? इसके उत्तर में ब्रह्मा कहा गया है। यह नाम वेद, चतुर्वेदवक्ता इत्यादि अर्थों में आया है। वेद ही वाणी का परम स्थान है और वेदवक्ता पुरुष भी वाणी का उत्तम स्थान है इत्यादि व्याख्या जाननी चाहिये।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्।।

(ऋ० १.१६४.३८)

अर्थ— इस मन्त्र द्वारा शरीर और आत्मा का भेद और ज्ञेयत्वाज्ञेयत्व बतलाते हैं (अमर्त्यः) अमरणधर्मा यह आत्मा (मर्त्येन+सयोनिः) मरणधर्मा शरीर के साथ समानस्थानी होकर (स्वधया+गृभीतः) निज शुभाशुभ कर्मों से गृहीत हो (अपाङ्) अधोलोक और (प्राङ्) ऊर्ध्व लोक (एति) जाता रहता है। (ता+शश्वन्ता) शरीर और आत्मा वे दोनों प्रवाह रूप से शाश्वत अर्थात् सर्वदैव स्थायी हैं क्योंकि एक देह को छोड़ दूसरे देह में, दूसरे को छोड़ तीसरे में, इस प्रकार मुक्ति पर्यन्त न आत्मा देहरहित होता है और न देह आत्मरहित होता है अर्थात् एक न एक देह बनता ही रहता है। स्थूल देह के छूटने पर भी लिंग देह आत्मा के साथ सदा बना रहता है। इस प्रकार मानो, वे दोनों शाश्वत पुनः (विषूचीना) सर्वत्र गमन करने वाले और (वियन्ता) पुनः गमन करने वाले हैं। इन दोनों में से (अन्यम्) इतर शरीर को (नि+चिक्युः) सब कोई जानते हैं (अन्यम्) देहातिरिक्त आत्मा को (न+नि+चिक्युः) कोई नहीं जानते।

व्याख्या— ३०वें मन्त्र में भी **'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः'** यह पद आया है। उस मन्त्र में भी स्वधा शब्द का प्रयोग है। अत एव दोनों मन्त्र जीवपरक हैं, इसमें सन्देह नहीं। भेद इतना ही है कि जीव अमर्त्य है किन्तु शरीर और आत्मा का सम्बन्ध सृष्टि के आदिकाल से चला आता है। इस शरीर को तो सब एक प्रकार से जानते हैं किन्तु इस आत्मा को काई नहीं जानता है, इत्यादि वर्णन इस सूक्त में बहुत आया है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से सब लेख यहाँ नहीं लिखा जा सकता, तथापि दो-चार मन्त्र इस सूक्त से पुनरपि उद्धृत करता हूँ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठे अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।।

(ऋ० १.१६४.१)

अर्थ— (तस्य+अस्य) उस समय (वामस्य) भजन योग्य (पलितस्य) जगत् पालक (होतुः) सदैव आह्वानयोग्य परमात्मा का (भ्राता) सखा यह जीव है। जो (मध्यमः) परमात्मा और प्रकृति के बीच में रहने वाला है अथवा सब शरीर के मध्य में रहने वाला है। पुनः (अश्नः+अस्ति) यह जीव भोक्ता है (अस्य+तृतीयः+भ्राता) तीसरा सखा (घृतपृष्ठः) घृतादिकों से पुष्ट होने वाला देह है। (अत्र) उस इस परमात्मा में (अपश्यम्) उस जीव को देखता हूँ जो (विश्पतिम्) इन्द्रिय मनोरूप प्रजाओं का पति है और जो (सप्तपुत्रम्) सप्तपुत्रवान् है अर्थात् दो आँख, दो कान, दो नासिकाएँ और एक मुख। ये सातों मानो इस जीवात्मा के पुत्र हैं क्योंकि जीवात्मा के होते ही सातों होते हैं अथवा दो हाथ, दो पाँव, एक मलेन्द्रिय, एक मूत्रेन्द्रिय और यह मध्य शरीर ये सात इसके पुत्र हैं। इसलिये जीवात्मा का नाम सप्त पुत्र है।

व्याख्या— इसी सूक्त में **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"** इस ऋचा में परमात्मा और जीवात्मा दोनों परस्पर सखा कहे गये हैं। सखा और भ्राता प्रायः समानार्थक हैं। अतः इस प्रथम ऋचा में भ्रातृ शब्द का प्रयोग हुआ है। लोक में भी **"त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव"** इत्यादि कहा गया है **"स नो बन्धुर्जनिता"** यहाँ परमात्मा को बन्धु कहा है, बन्धु नाम भाई का है, यह प्रसिद्ध है। जब हमारा बन्धु परमात्मा है, तब उसके भी बन्धु हम लोग हुये। अतः भ्रातृ शब्द के प्रयोग से किसी को शंका होनी नहीं चाहिए। वेद में ऐसे प्रयोग बहुत हैं। परमात्मा जीव और शरीर इन दोनों में व्यापक है। इस हेतु द्वितीय भ्राता जीव और तृतीय भ्राता देह और प्रथम भ्राता स्वयं आप है, यह कहा गया है। अथवा यह केवल जीव का वर्णन है—

(तस्य+अस्य) उस इस (वामस्य) देह से विपरीत देह से भिन्न (पलितस्य) इन्द्रियादिकों का पालक अथवा पूर्ण और (होतुः) निखिल वैदिक यज्ञकर्त्ता जीवात्मा का भ्राता प्राण है जो (मध्यमः) सब के मध्य में विराजमान और (अश्नः+अस्ति) सम्पूर्ण देह में व्यापक है, जिस हेतु शरीर के मध्य में और इन्द्रियों के मध्य में यह विराजमान रहता है, इसलिये इसको मध्यम कहते हैं और प्रथम जीव, तब प्राण, तब देह होता है, इस कारण भी प्राण को मध्यम कहते हैं। (अस्य+तृतीयः+भ्राता) इसका तीसरा भ्राता (घृतपृष्ठः) घृतादिकों से पुष्ट होने वाला देहसंघात है (अत्र+विश्पतिम्) इसमें इन्द्रियादि प्रजापति और (सप्त पुत्रम्) नयनादिक सात पुत्रवाले जीव को (अपश्यम्) देखता हूँ।

व्याख्या— यहाँ दो-तीन सूक्त केवल आत्म-वर्णनपरक हैं। इस सूक्त के पूर्व

दो सूक्त अश्वमेध यज्ञ में सायणाचार्यादिक विनियुक्त करते हैं किन्तु अश्वमेध शब्द का तात्पर्य जीवात्मा से ही है क्योंकि इन्द्रिय गणों का नाम अश्व है। उन इन्द्रियों को कैसे वशीभूत कर सकते हैं, इस लीला को दिखाने के लिये यह महा यज्ञ अश्वमेध किया जाता है।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः।।

(ऋ० १.१६४.२)

अर्थ– (एक+चक्रम्+रथम्) उत्तम चक्रवाले यद्वा एक चक्रवाले रथ में (सप्त युञ्जन्ति) सात अश्व युक्त हैं, उनमें (एकः+अश्वः) एक प्रधान अश्व (वहति) इस शरीर का वहन करता है। जो (सप्तनामा) सप्तनामा है। अर्थात् जिसका नाम ही सप्त है (चक्रम्) यह चक्र (त्रिनाभि) तीन नाभि वाला है (अजरम्) जरावस्था रहित है (अनर्वम्) और हिंसारहित है (यत्र) जिसमें (इमा+विश्वा+भुवना) ये सम्पूर्ण भुवन (अधि+तस्थुः) स्थित हैं।

व्याख्या– यह शरीर ही रथ है, रथ में दो चक्र होते हैं किन्तु इसमें एक ही चक्र है क्योंकि एक आत्मा ही इसका चक्र है, जिसकी सहायता से यह रथ घूम रहा है। इसमें सात अश्व– दो नयन, दो कर्ण, दो नासिकाएँ और एक जिह्वा है। फिर इसमें एक मुख्य अश्व प्राण है, जो सप्तनामधारी है क्योंकि नेत्रादिकों को भी प्राण कहते हैं। इस जीवात्मरूप चक्र में तीन नाभियाँ तीन बन्धन हैं। एक कर्मेन्द्रिय, दूसरा ज्ञानेन्द्रिय और तीसरा मन आदि अन्तरिन्द्रिय है।

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्तनाम।।

(ऋ० १.१६४.३)

अर्थ– (ये+सप्त) जो सात (इमम्+रथम्+अधि+तस्थुः) इस रथ के ऊपर बैठते हैं (सप्त+अश्वाः) और सात अश्व (सप्त+चक्रम्+वहन्ति) सात चक्र वाले देह का वहन करते हैं (सप्त+स्वसारः) सात बहिनें (अभि+सम्+नवन्ते) सब प्रकार से एक कार्य में लगी हुई हैं। (यत्र) जिसमें (गवाम्+सप्त+नाम+निहिता) गौओं (= इन्द्रियों) के सात नाम स्थापित हैं।

व्याख्या– कभी-कभी वेद का वर्णन प्रहेलिकावत् होता है। द्वितीय ऋचा में एक चक्र और एक अश्व का वर्णन है किन्तु तृतीय ऋचा में सप्त चक्र और सप्त अश्व पद आये हैं। आशय इसका यह है कि जब इस शरीर में आत्मा और मुख्य प्राण की ही प्रधानता मान लेते हैं, तब यह एक चक्र और इसमें एक अश्व कहलाता है किन्तु जब इन्द्रियों की प्रधानता मान कर वर्णन किया जाता है, तब

यह सप्तचक्र और इसमें सात अश्व कहे जाते हैं। तब इसका आशय इस प्रकार है कि यह शरीर ही रथ है जिसमें नयनादिक सात और हस्तादिक सात चक्र हैं अर्थात् दो नयन, दो कर्ण, दो पैर, एक मलेन्द्रिय, एक मूत्रेन्द्रिय और एक मध्य शरीर, ये दो सप्तक इस शरीर के मानो दो चक्र हैं। एक चक्र ज्ञानप्रधान है और दूसरा कर्म प्रधान है। सप्त अश्व भी ये ही नयनादिक हैं, जैसे अश्व पशुओं में अतिवेगवान् होता है, तद्वत् ये इन्द्रिय अत्यन्त वेगवान् होने से अश्व कहलाते हैं।

सप्त स्वसारः= पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और आत्मा ये सातों साथ रहने वाले हैं। इस हेतु स्वसा= बहिनें कहलाती हैं। स्वसा शब्द का धात्वर्थ साथ रहने वाला है। ये सातों मिलकर शरीर के सब कार्यों का वहन करते हैं और इसी शरीर में (गवाम्) गायें अर्थात् इन्द्रियाँ हैं। गो नाम इन्द्रिय का प्रसिद्ध है। उन इन्द्रियों के सात नाम हैं, इस हेतु यहाँ सप्तनाम कहे गये हैं। मस्तक में दो नयन, दो कर्ण, दो नासिकाएँ और एक मुख ये सात ही छिद्र दिखते हैं और इनके अधिष्ठाता सप्त नयनादिक इस शरीर के चालक और साधक हैं। पुनः मस्तक के नीचे दो हस्त, दो पाद, एक मलेन्द्रिय, एक मूत्रेन्द्रिय ये छह और सप्तम मुख से नीचे कटि से ऊपर यह मध्य शरीर है। यही चतुर्दश विभाग हैं। इनका वेदों में नाना प्रकार से वर्णन आता है। इस मन्त्र में भी इसी विषय का वर्णन है।

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्।।

(ऋ० १.१६४.४)

अर्थ– (प्रथमम्) प्रथम (जायमानम्) इस जगत् में शरीर धारण कर आविर्भूत इस आत्मा को (कः+ददर्श) कौन देखता है ? जो आत्मा (अस्थन्वन्तम्) शरीर में आने से अस्थि (हड्डी) मज्जा, मांस इत्यादि से युक्त हाने के कारण अस्थिमान् कहलाता है। (यत्) जिसको (अनस्था) अस्थि रहित प्रकृति (बिभर्ति) धारण करती है। (आत्मा) जो आत्मा (भूम्याः+असुः) इस भूमि का प्राणस्वरूप है और (असृक्) देहादि के संयोग से रक्तवान् वा रक्तस्वरूप कहलाता है। (क्व+स्वित्) यह आत्मा कहाँ रहता है और कहाँ जायगा ? इत्यादि कौन जानता है ? (कः) कौन शिष्यादिक (एतत्+प्रष्टुम्) इस आत्मगहन विषय को पूछने के लिये (विद्वांसम्+उप+गात्) विद्वान् के निकट जाता है।

व्याख्या– अस्थन्वन्तम्– अस्थिमान् शब्द के स्थान में अस्थन्वान् शब्द का प्रयोग वेद में आता है, जिसका अस्थवन्तम् यह प्रयोग है। शरीर के साथ यह जीवात्मा अस्थिमान् कहलाता है।

अनस्था– अस्थिरहिता– प्रकृति। यह जो सम्पूर्ण प्रकृति है, इसमें इस

आत्मा की सत्ता देखते हैं, इससे भिन्न इस की सत्ता नहीं देखी जाती है। इस हेतु इस आत्मा की भरण-पोषण करने वाली प्रकृति कही जाती है और जिस हेतु यह आत्मा पृथिवी की शोभा है। इसलिये असु प्राण कहलाता है।

असृक्— रक्त। शरीर के योग से मानो यह आत्मा रक्तादिमान् है, अतः इसे असृक् कहते हैं। अथवा शरीर और आत्मा दोनों का यह वर्णन है। (प्रथमम्) प्रथम (अस्थन्वन्तम्) अस्थिमान् इस शरीर को (जायमानम्) उत्पन्न होते हुये (कः+ददर्श) किसने देखा ? (यत्) जिस देह को (अनस्था) अस्थिरहित (बिभर्त्ति) धारण करता है। जो देह (भूम्याः+असुः) पृथिवी का प्राण अर्थात् शोभाप्रद है और (असृक्) शोणितादियुक्त है। यहाँ तक शरीर का वर्णन हुआ। आगे आत्मा का वर्णन करते हैं (आत्मा+क्व+स्वित्) इस शरीर में आत्मा कहाँ से आया और पुनः कहाँ चला जाता है। (एतत्+प्रष्टुम्) इस विषय को पूछने के लिये (कः+विद्वांसम्+उप+गात्) कौन विद्वान् के निकट जाता है। इत्यादि वर्णन परक यह मन्त्र है।

आत्मविषय अत्यन्त गहन है, इस हेतु आगे दो ऋचाओं द्वारा इसकी गहनता दिखलाते हैं।

पाकः पृच्छामि मनसा विजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से वष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ।।

(ऋ० १.१६४.५)

अर्थ— (पाकः) जिस कारण अपक्वमति मैं पूछता हूँ। इसलिए (मनसा+अविजानन्) मन की सर्वशक्ति द्वारा भी न जानता हुआ (पृच्छामि) पूछता हूँ क्योंकि (एना+पदानि) ये सब पद (देवानाम्+निहिता) परम विद्वान् के निकट स्थापित हैं, हम लोगों के निकट नहीं। (कवयः) वे ही कविगण (ओतवै+उ) ओत-प्रोत भाव से व्याख्या करने के लिये (वष्कये+वत्से+अधि) सत्यस्वरूप वत्सात्मा में (सप्त+तन्तून्) सात सूतों को (वि+तत्+निरे) विस्तीर्ण करते हैं।

व्याख्या— **पाकः**— वेद में यह पाक शब्द अपक्व-मत्यर्थ में आता है। जिसकी बुद्धि अभी परिपक्व नहीं हुई है किन्तु कालान्तर में होने वाली है, उसे पाक कहते हैं। "वट् कषतीति— वष्कयः" जो सत्यस्वरूप हो, उसको वष्कय कहते हैं। आत्मा सर्वप्रिय है इसलिये इसको वत्स भी कहते हैं।

ओतवै— कपड़े के बुनने के अर्थ में वेञ् धातु का प्रयोग होता है। उसी धातु से ओतवै यह शब्द बना है। जिस हेतु विद्वद्गण इस आत्मा को लक्ष्य करके सात तन्तुओं को बुनतें हैं अर्थात् नेत्रादिक सात और हस्तादिक सात इनकी व्याख्या करते हैं, इस हेतु मानो कविगण एक प्रकार से तन्तुवाय (तांती) है और

उन्हीं से मैं इन सबका तत्त्व पूछता हूँ क्योंकि मैं अज्ञानी हूँ। इससे यहाँ आत्म तत्त्व की गहनता दिखलाई हैं।

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।।

(ऋ० १.१६४.६)

अर्थ— (अचिकित्वान्) तत्त्वों को न जानने वाला (न+विद्वान्) न विद्याभ्यासी मैं हूँ। इस हेतु (अत्र) स तत्त्व की जिज्ञासा के निमित्त (चिकितुषः+चित्) तत्त्ववित् (कवीन्) पण्डितों से (विद्मने) अपनी ज्ञानवृद्धि के लिये (पृच्छामि) पूछता हूँ। (यः) जो (इमा+षट्+रजांसि) इन छह लोकों को (वि+तस्तम्भ) धारण किये हुये है, उसको मैं पूछता हूँ और (अजस्य+रूपे) जीवात्मा के रूप में (एकम्+किम्+अपि+स्वित्) एक लोक क्या विद्यमान है ? इसको मैं पूछता हूँ।

व्याख्या— छह लोक— रज नाम लोक का है, छह लोक कौन हैं ? सात लोक का वर्णन बहुधा वेद में आता है, परन्तु यहाँ छह ही लोक का वर्णन है। वे छह लोक कौन हैं ? वे ये हैं— दोनों नयन दो लोक, दोनों कर्ण दो लोक, दोनों नासिकाएँ दो लोक ये सब मिलकर छह लोक हुये। सप्तम लोक का वर्णन यहाँ नहीं। उसी सप्तम लोक के विषय में कहा गया है कि अज के रूप में एक लोक क्या है ? क्योंकि सप्तम लोक जिह्वा है, उसी से जीवात्मा अपने सकल भाव प्रकट करता है। वाणी द्वारा ही अपने स्वरूप का भी वर्णन करता है। इस हेतु यह सप्तम लोक अज के रूप में छिपा हुआ है। इत्यादि वर्णन इस वेद मन्त्र में किया गया है जिससे विस्पष्ट प्रतीत हुआ है कि यह सूक्त आत्मवर्णनपरक है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि **"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** जैसे यह सूर्य स्थावरों और जंगमों का आत्मा है और एक स्थान में विराजमान होकर सर्वत्र प्राण और प्रकाश दे रहा है। मानो, इस समष्टि सौर्य जगत् का सूर्य आत्मा है। तद्वत् इस शरीररूप व्यष्टि जगत् का यह जीवात्मा प्राणप्रद और प्रकाशक है, इस हेतु सूर्य और आत्मा दोनों में घट जाते हैं। मैं इस सम्पूर्ण सूक्त का वर्णन न कर अब दो-एक अत्यावश्यक मन्त्रों का यहाँ अर्थ करता हूँ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

(ऋ० १.१६४.२०)

जैसे किसी एक ही वृक्ष के ऊपर मित्र भाव से दो पक्षी निवास करें, तद्वत् यह जीवात्मा और परमात्मा एक प्रकृतिरूप वृक्ष के ऊपर विराजमान हैं। इसी विषय का वर्णन इस ऋचा में आया हुआ है। यथाः—

अर्थ— (द्वा+सुपर्णा) दो पक्षी (समानम्+वृक्षम्) समान वृक्ष के ऊपर (परिषस्वजाते) बैठे हुये हैं जो (सयुजा) सर्वदैव साथ रहने वाले (सखाया) सखा हैं। (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक (पिप्पलम्) परिपक्व (स्वादु) स्वादिष्ट फल (अत्ति) खाता है और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न कुछ खाता हुआ (अभि+चाकशीति) केवल देखता है।

व्याख्या— ये दो पक्षी एक जीवात्मा और परमात्मा है। वेद अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, इस हेतु यहाँ पक्षी की उपमा से इस विषय को दिखलाते हैं और सुपर्णा शब्द का यद्यपि पक्षी अर्थ है तथापि अन्यान्य पक्षी वाचक शब्दों का प्रयोग न कर इस शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि पर्ण नाम पूर्ण का होता है, जिस हेतु जहाँ देखो वहाँ ही जीव की सृष्टि है। इस पृथिवी पर क्या स्थल, क्या जल कोई स्थान नहीं जहाँ जीवधारी न हों। इस लिये मानो यह पृथिवी जीव से पूर्ण है, यह तो प्रत्यक्ष ही देखते हैं और परमात्मा ही इसमें परिपूर्ण है। इसलिये ये दोनों सुपर्ण शब्द से विहित हुए हैं इसमें सन्देह नहीं कि जीवात्मा का सखा परमात्मा है किन्तु अपने परम सखा से विमुख होकर वह नाना सुख-दुःख भोगता है किन्तु परमात्मा इसकी लीला को देखता रहता है। परमात्मा जीव के कर्मानुसार जीवसृष्टि बनाता है, इस हेतु जीव तो फल भोगता और परमात्मा केवल उसका साक्षी रहता है।

यत्र सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश।।

(ऋ० १.१६४.२१)

अर्थ— (यत्र) जिस आत्मा में मानो ग्रथित (सुपर्णाः) ये सुपतनशील इन्द्रियरूप पक्षी हैं। स्व-स्व विषय ग्रहण में शोभन पतनशील हैं, इस हेतु सुपर्ण कहलाते हैं। वे इन्द्रियगण (अनिमेषम्) निमेषरहित प्रतिक्षण (विदथा) ज्ञानपूर्वक (अमृतस्य) अमृत आत्मा के (भागम्) भाग को (अभिस्वरन्ति) प्रकट करते हैं। जो आत्मा (इनः) इन सब इन्द्रियों का स्वामी है (इन नाम स्वामी का है)। (विश्वस्य+भुवनस्य) देहसंघात रूप सम्पूर्ण भुवन का (गोपाः) रक्षक है। (सः+धीरः) वह ज्ञानवान् चेतन आत्मा (पाकम्) और परिपक्व (मा) मुझ सेवक को लक्ष्य करके (अत्र+विवेश) इस शरीर में प्रविष्ट हुआ है।

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद।।

(ऋ० १.१६४.२२)

अर्थ— (यस्मिन्+वृक्षे) जिस आत्मरूप वृक्ष में अर्थात् आत्मा के उपलक्ष में (मध्वदः) मधुफल खाने वाले (सुपर्णः) अपने-अपने विषय में शोभन पतन वाले इन्द्रियगण (निविशन्ते) निविष्ट हैं और (विश्वे) ये सब (अधि+च) उसमें निविष्ट होकर (सुवते) नानाकर्म उत्पन्न करते हैं (तस्य+इत्) उसी आत्मा का (पिप्पलम्+स्वादु) परिपक्व स्वादु फल है। (आहुः) ऐसा कविगण कहते हैं। (यः+पितरम्+न+वेद) जो इस पालक आत्मा को नहीं जानता है (तत्+न+उत्+नशत्) वह इसको नहीं पाता है।

व्याख्या— वेद में रूपक का वर्णन बहुत है, इस हेतु वृक्ष, सुपर्णादि शब्द बारम्बार प्रयुक्त होते हैं। इन्द्रियगणों का पालक जीवात्मा है। इस हेतु इसको पिता कहते हैं।

आत्मशब्द का प्रयोग

यजुर्वेद से यहाँ अत्यावश्यक दो चार आत्मशब्द के प्रयोग दिखलाते हैं। यहाँ प्रथम एक ऋचा वह लिखी जाती है, जिसका सम्बन्ध अगले मन्त्र से है। ऋचा यह है—

अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि।। (यजुः० ४.१४)

अर्थ— (अग्ने+त्वम्+सुजागृहि) हे अग्ने ! व्यापक परमात्मन् आप सदैव जागिये। (वयम्+सुमन्दिषीमहि) हम जीव गण इस रात्रि में अच्छी तरह से शयन करें। आप (अप्रयुच्छन्) सावधान हो (नः+रक्ष) हमको स्वप्नकृत दोषों से बचावें (पुनः) पुनरपि (प्रबुधे) जागरण के लिये (नः+कृधि) हमको सचेत कीजिए।

व्याख्या— वेदों में अतिशय ईश्वरभक्ति का वर्णन हैं। वह सर्वज्ञ, सर्व कर्त्ता, सर्वशक्तिमान् पिता है। इसलिये प्रचुर स्नेह के साथ ऐसी स्तुति, प्रार्थना वेद में आती है। सुषुप्त्यवस्था के अनन्तर पुनः मानसिक व्यवस्था कैसी होती है, उसका अगले मन्त्र में निरूपण है जिसमें आत्मशब्द का भी प्रयोग आया है। सुमन्दिषीहि— मदि मोदमदस्तुतिस्वप्नकान्तिगतिषु। मदि धातु मोद, मद, स्तुति, स्वप्न, इच्छा और गति अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ स्वप्नार्थक है। अप्रयुच्छन्— युछ प्रमादे। प्रमादार्थक युछ धातु से युच्छन् बनता है। प्रबुधे— बुध धातु से यहाँ क्विप् प्रत्यय है।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रम्म आगन्। वैश्वानरोऽदब्धास्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्।।

(यजुः० ४.१५)

अर्थ— प्रातःकाल उठकर परमपिता जगदीश से इस प्रकार प्रार्थना करे। हे भगवन् ! आप की कृपा से (पुनः+मनः) पुनः मन जो स्वप्न काल में इतश्चेतश्च घूमता फिरता था अथवा आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त हो गया था, अपनी प्रकृति में (आगन्) प्राप्त हो। (पुनः+मे+आयुः) पुनरपि मेरी आयु (पुनः+प्राणः) पुनरपि प्राण (पुनः+मे+आत्मा+आगन्) पुनरपि मेरा आत्मा अपने-अपने कार्य प्रकृति में प्राप्त (पुनः+चक्षुः+पुनः+मे+श्रोत्रम्+आगन्) पुनः चक्षुः और मेरा श्रोत्र अपनी-अपनी पूर्व शक्ति में प्राप्त हो। तत्पश्चात् (वैश्वानरः) सकल मनुष्यों के हितकारी सर्वपुरुषोपकारक (अदब्धः) अविनश्वर (तनूपाः) शरीररक्षक (अग्निः) अग्नि वाच्य परमात्मा है वह तू (अवद्यात्) अवद्य—निन्दित (दुरितात्) पाप से (नः+पातु) हम लोगों को बचा।

व्याख्या— यहाँ मन, आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र के साथ आया हुआ आत्म शब्द निस्सन्देह जीववाचक है। यह स्वाभाविक प्रार्थना है। मानो, रात्रि एक प्रलय काल है (रात्रि को प्रलयकाल कह कर ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत वर्णन आता है)। अनेक दोष इसमें प्राप्त होते हैं। इस लिये इसे दोषा भी कहते हैं। इस हेतु उठकर ईश्वर से अवश्यमेव स्तुति-प्रार्थना करे और तत् द्वारा बलिष्ठ हो कोई अपराध न करे। जिस हेतु हमारा पिता वैश्वानर सकल नरों का हितकारी है, तनूपाः— शरीर का रक्षक है और अदब्धः— अविनश्वर है, इस हेतु उससे प्रार्थना करनी उचित है। अन्त में क्या प्रार्थना करें, वह आगे कहा गया है। वह यह है अवद्य= जिस कर्म को करके पछताना पड़े और जिसको कह भी न सकें। (वदितुमयोग्यमवद्यम्= जिसको कह नहीं सकते, उसको अवद्य कहते हैं) ऐसे यदि दुरित, दुर्व्यसन= पाप प्राप्त हों तो उससे परमात्मा बचावे।

ओजश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽगानि च मेऽस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।। (यजुः० १८.३)

अर्थ— (मे+ओजः+च) मुझको बल (मे+सहः+च) मुझको शारीरिक तेज (मे+आत्मा+च) मुझे आत्मा (मे+तनूः+च) मुझे रम्य शरीर (मे+शर्म+च) मुझे सुख (मे+वर्म+च) मुझे कवचादि (मे+अंगानि+च) मुझे हस्तादि अवयव (मे+अस्थीनि+च) मुझे शरीरगत हड्डियाँ (मे+परूंषि+च) मुझे अंगुल्यादि पर्व (मे+शरीराणि+च) मुझे नूतन शरीरावयव (मे+आयुः+च) मुझे पूर्ण आयु (मे+जरा+च) मुझे वार्द्धक्यान्त आयु ये सब (यज्ञेन+कल्पन्ताम्) यज्ञ के द्वारा प्राप्त हों।

व्याख्या— आप देखते हैं कि कैसी हृदयग्राहिणी मनोज्ञा श्रोत्रप्रिया स्वाभाविकी प्रार्थना है। यज्ञ के द्वारा ये सब प्राप्त हो सकते हैं। सकल शुभ कर्मों का एक

वैदिक नाम यज्ञ है। बल, तेज, अवयव, आत्मा आदि सब प्राप्त ही हैं। तो प्राप्त की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करना व्यर्थ है। इस आशंका की निवृत्ति इस प्रकार कर सकते हैं कि एक ऋषियों के अंगों की तुलना और दूसरा सर्वसाधारण की तुलना परस्पर क्यों नहीं होती ? कारण यह है कि शुभ कर्म द्वारा ऋषियों, आचार्यों और ईश्वरप्रियों के चक्षुरादि सकल अवयव अपने-अपने उत्तमोत्तम विषयग्रहण करने में परम बलिष्ठ होते जाते हैं जिनसे वे ऋष्यादिक अलौकिक कार्य करते हैं। इतर जनों में शुभादि कर्मों के अभाव से वे शक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। इसका कारण केवल शुभ कर्मों का सेवन और असेवन है। अतः प्रत्येक शुभ कर्म के अन्त में अपने पिता जगदीश से आयु प्रभृति को दृढ़ बनाने के लिये आशीर्वाद मांगे। अत एव यजुर्वेद में आशीर्वादात्मक बहुत से वाक्य आते हैं। यहाँ ओज, सह, तनू, शर्म इत्यादि शब्दों के साथ आया हुआ आत्म शब्द अवश्य जीव वाचक है।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा।। (यजुः० १८.२९)

अर्थ— (यज्ञेन) वेद विहित्त धर्म द्वारा (आयुः+प्राणः+चक्षुः+श्रोत्रम्+वाग्+मनः+आत्मा+कल्पन्ताम्) आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन, आत्मा प्राप्त हों। पुनः (ब्रह्मा) वेद और आचार्य (ज्योतिः) ज्योति (स्वः) सुख (पृष्ठम्) सुखस्थल यज्ञ के द्वारा प्राप्त हों। पुनः (स्तोमः) त्रिवृत् पञ्चदशादि (यजुः) अनियतपाद अर्थात् वाक्यात्मक मन्त्र (ऋक) नियत पादात्मक मन्त्र (साम) गीतिप्रधान मन्त्र (बृहत्+च+रथन्तरम्+च) बृहत और रथन्तर ये दो प्रकार के सामगान होते हैं। ये सब यज्ञ द्वारा हमें प्राप्त हों। ये सब यदि प्राप्त हों तो उसका फल क्या होता है ? वह आगे कहा जाता है। मानो, हम उपासक गण (देवाः) देव होकर (स्वः+अगन्म) सुख अथवा सुखस्थान को प्राप्त हो (अमृताः+अभूम) अमर हुये। (प्रजापतेः+प्रजाः+अभूम) सकल-सृष्टि-कर्त्ता परमात्मा की प्रजाएँ अच्छे सन्तान हुये। (वेट्+स्वाहा) वेट् शब्द उच्चारण कर स्वाहा करते हैं। वषट्कार का नाम वेट् है।

व्याख्या— यहाँ प्रथम आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन और आत्मा की सामर्थ्य-प्राप्ति के लिये आशीर्वाद माँगा है। वह कैसे हो सकता है ? अतः आगे

ब्रह्मा शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य वा वेदाध्ययन से हो सकता है, जिसके अध्ययन से ज्योति और सब सुख प्राप्त होते हैं। अत एव ज्योति स्वः और पृष्ठ शब्द के प्रयोग हैं। उस वेद के कौन से भेद हैं ? इस पर दो-चार शब्द बतलाते हैं, वे ये हैं– स्तोम, यजुः, ऋक्, साम, बृहत् और रथन्तर। इन सब से फल क्या होता है ? वह आगे कहा गया है– मरणधर्मी मनुष्य अमृत होते हैं अर्थात् मुक्ति प्राप्त करते हैं और परमात्मा के सच्चे सन्तान कहलाते हैं। इत्यादि

मा त्वा तपत् प्रिय आत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्व आ तिष्ठिपत्ते।
मा ते गृध्नुरविशस्ताऽतिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः।।

(यजुः० २५.४३)

अर्थ– यह मरण काल की प्रार्थना है। लिंग शरीर का नाम वेद में अश्व आता है, उस लिंग शरीर से कहा जाता है कि हे लिंग शरीर ! (अपियन्तम्) इस शरीर को छोड़ महायात्रा करते हुये (त्वा) आप को (प्रियः+आत्मा) यह प्रिय शरीर (मा+तपत्) तप्त न करे अर्थात् दुःख न दे क्योंकि इस शरीर को आप छोड़ रहे हैं, अतः यह शरीर दुःखप्रद न हो क्योंकि इसमें बहुत दिन रह चुके हैं (स्वधितिः) शस्त्र अर्थात् शस्त्रादिजन्य कोई भी क्लेश (ते+तन्वः) आप के शरीर में (मा+अतिष्ठिपत्) न रहे। (गृध्नुः) लुब्धक= लोभी (अविशस्ता) अहिंसा में अकुशल दुर्व्यसनादि अधर्म (अतिहाय) उचित मार्ग को त्याग (ते+गात्राणि) आप के अंगों को (असिना) खड्गादि अस्त्र से (मिथुः) मिथ्या रूप से (मा+छिद्रा+कः) छिद्रयुक्त न करे।

व्याख्या– मरण काल में इस शरीर को छोड़ते हुये जीव को स्वाभाविकी माया उत्पन्न होती है। कोई-कोई अज्ञानी रोने भी लगते हैं। इस हेतु कहा गया है कि यह प्रिय देह तुम को दुःखजनक न हो। अब आगे रूपकालंकार में वर्णन आता है। तुम्हारे अंग में कोई अस्त्रादिजन्य क्लेश न रहे। यह लोभी दुर्व्यसनादि अधर्म भी तुम्हारे शरीर को छिन्न-भिन्न न करे किन्तु आत्मयुक्त तुम नवीन शरीर को प्राप्त कर ईश्वरभक्ति द्वारा मुक्ति लाभ करो। यहाँ आत्मा शब्द का देह अर्थ विस्पष्ट है।

'मा त्वा तपत्' इत्यादि बहुत से मन्त्र अश्वमेध यज्ञ में विनियुक्त हुये हैं। यह सब वर्णन लिंग शरीर का है, जो आत्मा के साथ सर्वदैव विद्यमान रहता है। इसके प्रमाण के लिये अगले मन्त्र का भी अर्थ यहाँ कर दिया जाता है।

न वा उ एतन् म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य।।

(यजुः० २५.४४)

अर्थ– हे लिंग शरीर ! तू (वै+उ) निश्चय (न+एतत्+म्रियसे) इस प्रकार नहीं मरता अर्थात् शरीर के छूटने से तेरी वास्तव में मृत्यु नहीं होती। (न+रिष्यसि) तू कहीं भी किसी प्रकार हिंसित नहीं होता क्योंकि (सुगेभिः+पथिभिः) सुन्दर मार्गों से (देवान्+इत्+एषि) देवों को ही प्राप्त होता है। (ते) तुम्हारे साथ (हरी+युञ्जा) दो प्रकार के हरण करने वाले इन्द्रियगण युक्त हैं जो (पृषती+अभूताम्) नाना वर्ण के होते हैं और (रासभस्य+धुरि) रसप्रिय तेरे आगे (वाजी+उपास्थात्) कर्मफलोदय उपस्थित हो।

व्याख्या– यहाँ देखते हैं कि वह अवश्य न मरता है और न हिंसित होता है क्योंकि वह शुभ मार्गों से देवत्व को प्राप्त होता है। वह अश्व अवश्य लिंग शरीर है। अत एव आगे कहा जाता है कि इसके हरण करने वाले द्विविध इन्द्रिय हैं। एक ज्ञानेन्द्रिय-संघात और दूसरा मन आदि अन्तःकरण। अत एव "हरी" यह द्विवचन आया है। वे ही द्विविध इन्द्रिय पृषत् अर्थात् विविध कर्म कराने वाले होते हैं।

रासभ– यह नाम गर्दभ का भी है। अश्विद्वय के सम्बन्ध में भी बहुधा प्रयुक्त हुआ है। यहाँ अश्व का विशेषण है, इत्यादि वर्णन से प्रतीत होता है कि ये मन्त्र लिंग शरीर के प्रतिपादक हैं। "अश्वमेध यज्ञ"[१] इस नाम के ग्रन्थ में इन मन्त्रों का विस्तार से वर्णन रहेगा।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश।।

(यजुः० ३२.११)

अर्थ– ब्रह्मज्ञानी जन (भूतानि+परीत्य) सब भूतों, प्रणियों तथा पृथिव्यादि महाभूतों को जान (लोकान्+परीत्य) पृथिवी से लेकर सूर्य पर्यन्त लोक-लोकान्तरों को जान (सर्वाः+दिशः+प्रदिशः+च) सकल पूर्वादि दिशाओं और उपदिशाओं को जान (प्रथमजाम्+उपस्थाय) और वेदवाणीविहित नाना कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड इन सब को प्राप्त कर (आत्मना) जीव भाव से अथवा आत्मरूप साधन से (ऋतस्य+आत्मानम्) सत्य का आत्मा, परमात्मा को (अभि+संविवेश) अच्छे प्रकार अनुभव करने लगता है।

व्याख्या– यह प्रसिद्ध बात है कि ज्ञान से मुक्ति होती है। ज्ञान कहने ही से परमात्मा, प्रकृति और जीव इत्यादि पदार्थों की अपेक्षा होती है। जब तक ईश्वरीय रचना की कुशलता और उसके विविध कर्मों का बोध नहीं होता, तब

१. यह ग्रन्थ लिखा गया या नहीं– यह अन्वेषणीय है।

तक ईश्वर की प्राप्ति अथवा पूरा अनुभव नहीं होता। ज्यों-ज्यों ईश्वरीय सृष्टि का ज्ञान विज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों परमात्मा का पूरा परिचय होता है और यही ईश्वर का अनुभव है। बहुत आदमी "आत्मानम् अभिसंविवेश" इस वाक्य का अर्थ परमात्मा में ज्ञानियों का लय करते हैं और कोई वह ज्ञानी ईश्वर रूप ही हो जाता है अथवा जीव जो भ्रान्त ईश्वर है, वह अपने स्वरूप में स्थित होता है, इत्यादि अर्थ करते हैं। परन्तु ये अर्थ सब वेदविरुद्ध हैं क्योंकि पूर्व मन्त्र (यजुः० १८.२९) में विस्पष्ट वर्णन है कि ज्ञानी देवरूप होकर अमृत होते हैं और प्रजापति की प्रजाएँ होते हैं। अतः इस वाक्य का अर्थ ईश्वर का अनुभव करना ही उचित है। यहाँ प्रथमजा का अर्थ वेदवाणी है।

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा।। (यजुः० १२.८५)

अर्थ— औषध के वर्णन के प्रसंग में यह एक मन्त्र आया हुआ है (यत्) जब ही (इमा+ओषधीः) इन सोमलता इत्यादि ओषधियों को (वाजयन्) सत्कार करता हुआ (अहम्+हस्ते+आदधे) मैं हाथ में रखता हूँ। तब भी (यक्ष्मस्य+आत्मा+नश्यति) यक्ष्म रोग का आत्मा= स्वरूप= सत्ता नष्ट हो जाता है। (यथा+पुरा+जीवगृभः) यहाँ दृष्टान्त देते हैं कि जैसे कोई चाण्डाल जीते हुये मनुष्य को हनन के लिये लावे और यदि उसे मालूम हो कि मुझको मारने के लिये यह चाण्डाल ले जा रहा है तो जैसे उसके प्राण भय से पहिले ही निकल जाते हैं, तद्वत् यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ स्वरूप वा सत्ता है। इस प्रकार यजुर्वेद में भी आत्मा शब्द अनेकार्थक आया है।

परलोक

परलोक गमन का यजुर्वेद में बहुत वर्णन है। संक्षेप से दो-चार उदाहरण यहाँ लिखते हैं **"स्वर्गाय स्वाहा"** (यजुः० २२.३४) स्वर्ग के लिये स्वाहा। **"स्वर्गाय लोकाय भागदुघम्"** (यजुः० ३०.१३) स्वर्ग के लिये भागधुक् कहते हैं। जो वैदिक कर्म, ज्ञान, उपासना द्वारा अपने भाग को बनाते हैं अथवा भाग भजनीय जो परमात्मा उसको अच्छी तरह से जानते हैं, वे स्वर्ग के लिये होते हैं। **"नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु** (यजुः० १५.१०)— (नाकस्य+पृष्ठे) दुःख रहित वस्तु की अवधि= स्वरूप (स्वर्गे+लोके) स्वर्ग लोक में (यजमानम्+सादयन्तु) यजमान को स्थापित करें। अक=दुःख। न+अक=सुख। सुख का पृष्ठ अर्थात् सुख की जहाँ तक अवधि है। इस अध्याय के ११वें, १२वें, १३वें और १४वें मन्त्र में भी यही बात है।

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः।।

(यजुः० ८.५२)

अर्थ— हे भगवन् ! आप (सत्रस्य+ऋद्धिः+अस्य) सत्र अर्थात् यज्ञ जिससे सज्जनों का त्राण हो अर्थात् जितने वेदविहित कर्म हैं, उन सबकी आप समृद्धि हैं। आप की कृपा से (ज्योतिः+अगन्म) हम उपासकगण ज्योति को प्राप्त हुये (अमृताः+अभूम) अमृत हुये (पृथिव्याः+दिवम्+अध्यारुहाम) पृथिवी से द्युलोक में आरुढ़ हुये। (देवान्+अविदाम) सब तत्त्वों को जाना। (स्वर्ज्योतिः) सुखस्वरूप ज्योति को प्राप्त हुये। यहाँ स्वर्ज्योतिः परमात्मा ही है क्योंकि सुखस्वरूप ज्योति उसको छोड़ दूसरा कौन हो सकता है ?

इसी प्रकार का वर्णन यजुः० ९.२१ में है। यहाँ भी स्वर्देवा, अगन्म, अमृता, अभूम ये पद आये हैं। इस प्रकार का वैदिक वर्णन अद्वैतवाद का बाधक है। इन सबसे द्वैत की सिद्धि होती है, अद्वैत की नहीं।

स्वो रुहाण अधिनाकमुत्तमम्। (यजुः० ११.१२)

अर्थ— हे भगवन् ! (स्वः+रुहाणः) सुख की इच्छा करते हुये हम उपासक गण विविध कर्म करते हैं। जो सुख (नाकम्) दुःख मिश्रित न हो और (उत्तमम्) उत्कृष्ट हो।

येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्निं स्वराभरन्तः।
तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निं यमाहुर्मनवस्तीर्णबर्हिषम्।।

(यजुः० १५.४९)

(ऋषयः) वेदविद् गण (येन+तपसा) जिस तप से (सत्रम्+आयन्) यज्ञ को प्राप्त होते हैं। जो ऋषि गण (अग्निम्+इन्धानाः) अग्निहोत्र के लिये अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और (स्वः+आभरन्तः) सुखस्वरूप परमात्मा को हृदय में लाते हुये यज्ञ को प्राप्त करते हैं। (तस्मिन्) उस तपस्वरूप तपःफलभूत (नाके) सुख के निमित्त (अहम्+अग्निम्+निदधे) मैं अग्नि की स्थापना करता हूँ। (यम्) जिस अग्नि को (मनवः) मननकर्त्ता विद्वद्गण (स्तीर्णबर्हिषम्+आहुः) निखिल पापहन्ता कहते हैं। निस्सन्देह, शुभ कर्म करने से ही यह जीव पाप से निवृत्त होता है। अग्निहोत्र कर्म करने वाले इस लिये पाप में नहीं बद्ध होते हैं क्योंकि वे सायं-प्रातः प्रतिदिन ईश्वर के निकट पहुँचते हैं। अग्निहोत्र द्वारा ईश्वर के निकट पहुँचना निखिल भावी दुरितनिवारक है।

मन आदि में पुनर्जन्म

[बन्धु आदि गौपायन दृष्ट ऋ० १०.५७ की व्याख्या]

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
माऽन्तस्थुर्नो अरातयः।।१।।
यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः।
तमाहुतं नशीमही।।२।।

अर्थ— (इन्द्र) हे सर्वेश्वर सर्वद्रष्टा जगदीश ! आप की कृपा से (वयम्) हम गौपायन[1] आदि निखिल मनुष्य (पथः+मा+प्रगाम) समीचीन वैदिक मार्ग से कभी भी दूर न जायँ। एवं (सोमिनः+यज्ञात्) सोमविशिष्ट यज्ञ से दूर न जायँ। तथा (नः+अन्तः+अरातयः+मा+तस्थुः) हमारे मध्य शत्रु स्थित न हों।। १।।

(यः+यज्ञस्य+प्रसाधः) जो परमात्मा यज्ञ का प्रकृष्ट साधक है, जो (तन्तु) सब का सूत्रात्मा है, जो, (देवेषु+आततः) देव में विस्तरित है। (तम्+आहुतम्) उस समन्तात् पूज्य देव को (नशीमही) हम उपासक गण प्राप्त करें।। २।।

नशतिर्व्याप्तिकर्मा (निघ० २.१८)। नश प्राप्ति-अर्थ में है। इसकी व्याख्या ऐतरेय ब्राह्मण (३.११) में है।

मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन। पितॄणाञ्च मन्मभिः।। ३।।
आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे।। ४।।
पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं सचेमहि।। ५।।
वयं सोम व्रते तव मन स्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि।। ६।।

अर्थ— सर्व कार्य में समाहित मन अपेक्षित है, परन्तु स्तुति-प्रार्थनोपासनात्मक महाक्रतु तो असमाहित चित्त से हो ही नहीं सकता। अतः मन की एकाग्रता के लिये आगे प्रार्थना है— (नु+मनः+आ+हुवामहे) हम मनुष्य प्रथम अवश्य ही इतस्ततः भ्रमणशील अति वेगवान् मन को अपने निकट चारों ओर से बुलावें अर्थात् मन को स्थिर करें (नाराशंसेन+सोमेन) मनुष्य-कीर्ति-वर्धक जो सोमयाग है। (च+पितॄणाम्+मन्मभिः) और पितरों के माननीय जो स्तोत्र हैं, इन दोनों साधनों से मन को स्थिर करें। सच्चरित्र शुभकर्म पालन दुष्कर्म निवृत्ति आदि से मनुष्य प्रशंसित होता है, यही नाराशंस याग है। पितरों के जो सन्मार्ग सम्बन्धी अनेक इतिहास हैं, वे इसके स्तोत्र हैं। इन दोनों सच्चरित्र पालन से और महात्मा-पूर्वजों के इतिहास-श्रवण से मन कर्त्तव्यपालन में स्थिर हो जाता है।।३।।

१. कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋ० १०.५७ सूक्त बन्धु-श्रुतबन्धु-विप्रबन्धु गौपायन ऋषियों द्वारा दृष्ट है।

अब उपासक गण अपने जीवात्मा से कहते हैं कि हे बन्धु मुख्य प्राण जीवात्मन् ! आप का मन जो इतस्ततः भ्रमण कर रहा है, वह (ते+मनः+पुनः+आ+एतु) आपका मन पुनः आवे अर्थात् स्थिर होवे। (क्रत्वे) क्रतु अर्थात् वैदिक-लौकिक कर्म के लिए (दक्षाय+जीवसे) बल के लिए और जीवन के लिए (च+ज्योक्+सूर्यम्+दृशे) और चिरकाल सूर्य के दर्शन के लिए मन स्थिर रहे। मन की स्थिरता से यज्ञ, यज्ञ से बल, बल से जीवन और जीवन से सूर्यादि ईश्वरीय पदार्थ का दर्शन होता है।।४।।

(पितरः) हे प्राण, अपान आदि पितृगण ! (नः) हमको (दैव्यः+जनः+पुनः+मनः+दातु) दैव्य जन= दिव्यशक्ति पुनः प्रशस्त मन देवे, जिससे (जीवम्+व्रातम्) जीवित समूह को (सचेमहि) हम प्राप्त हों। मन का अस्थिर और चञ्चल होना एक प्रकार से मरण है। अतः प्रार्थना है कि हमें समाहित मन प्राप्त हो, जिससे जीवित प्राणियों के तत्त्व का अनुभव करें।।५।।

(सोम) हे यजनीय देव ! (तनूषु+मनः+बिभ्रतः+वयम्) शरीर में मन स्थिर करते हुए हम उपासक गण (तव+व्रते) आपके व्रतपालन के निमित्त ही (प्रजावन्तः+सचेमहि) प्रजावान् होवें। इस सम्पूर्ण सूक्त में देखते हैं कि यज्ञ के लिए मन की एकाग्रता के हेतु प्रार्थना है।।६।।

इस से अगले अष्टापञ्चाशत्तम सूक्त में भी मन की चञ्चलता दिखलाते हुए उसके वशीकरण की प्रार्थना है।

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।१।।
यत्ते दिवं यत् पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।२।।
यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।३।।
यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।४।।
यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।५।।
यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।६।।

अर्थ— हे सुबन्धो जीवात्मन् ! (यत्+ते+मनः) जो तेरा मन

(वैवस्वतम्+इमम्+दूरकम् +जगाम) इस सौर[१] जगत् में दूर तक चला गया है (ते+तत्) तेरे उस मन को (इह+क्षयाय+जीवसे) यहाँ वास और जीवन हेतु (आ+वर्त्तयामसि) लौटा लेते हैं अर्थात् लौटा कर स्थिर करते हैं। क्षय निवासे, क्षि निवासे।।१।। (यत्ते+दिवम्) जो तेरा मन अति दूर द्युलोक और पृथिवी पर चला गया है, तेरे मन को इत्यादि।।२।। (यत्ते+भूमिम्) जो तेरा मन पृथिवी के चारों तरफ लग गया है, तेरे उस मन को इत्यादि।।३।। (यत्ते+चतस्रः) जो तेरा मन चारों दिशाओं में।।४।।, (यत्ते+समुद्रम्) जो तेरा मन समुद्र में।।५।।, (यत्ते+मरीचीः) जो तेरा मन सूर्यकिरणों में चला गया है।।६।। इत्यादि।

यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।७।।
यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।८।।
यत्ते पर्वतान् बृहतो मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।९।।
यत्ते विश्वमिदं जगमन्मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।१०।।
यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।११।।
यत्ते भूतञ्च भव्यञ्च मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।१२।।

अर्थ— जो तेरा मन जल और ओषधियों में ।।७।। जो तेरा मन सूर्य और उषा में ।।८।। जो तेरा मन बृहत् पर्वतों में ।।९।। जो तेरा मन इस सब जगत् में ।।१०।। जो तेरा मन दूर से दूर स्थान में ।।११।। जो तेरा मन भूत, भविष्यत् विषय में ।।१२।। दूर चला गया है, उस-उस विषय से हटाकर हे सुबन्धो ! हम स्थिर हैं। यह सर्वानुभवसिद्ध है कि मन अति चञ्चल है, नाना विषयों में दौड़ता रहता है। यह जीव जब मनःकथा में पड़ जाता है, तब क्या-क्या नहीं अद्भुत बात सोचने-विचारने लगता है इसका कोई कवि वर्णन नहीं कर सकता, कभी सोचता है कि राजा जगद्विजयी बनता, कभी न्यायी, कभी दानी, कभी कुछ, कभी कुछ बनता रहता है। इसको वश में करना अति दुष्कर कर्म है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सुबन्धु नाम के मृत पुरुष के मन को लौटा रहे हैं। पुनः ऋ॰ १०.५९

१. हस्तलेख में 'और' पाठ है।

सूक्त में कहा है—

प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः स्थातारेव क्रतुमता रथस्य।
अध च्यवान उत्तवीत्यर्थं परातरं सुनिर्ऋतिर्जिहीताम्।।१।।

अर्थ— हे भगवन् ! आपकी कृपा से (आयुः+प्रतारि) हम उपासकों की आयु बढ़े (नवीयः+प्रतरम्) नवीन प्रवृद्धतर आयु बढ़े। (इव) जैसे (क्रतुमता) कर्मकुशल सारथि के द्वारा (रथस्य+स्थातारा) रथारूढ जन सुख पाते हैं। तद्वत् सुख से आयु की वृद्धि हो (अध+च्यवानः) यह पतित जीवात्मा आपकी कृपा से (अर्थम्+उत्तवीति) अभिलषित अर्थ बढ़ावे। हे भगवन् (निर्ऋतिः) यह पाप देवता अर्थात् पापात्मक कार्य (परातरम्+सुजिहीताम्) दूर से दूर चला जाय।।१।।

सामन्नु राये निधिमन्वन्नं करामहे सुपुरुध श्रवांसि।
ता नो विश्वानि जरिता ममत्तु परातरं सुनिर्ऋतिर्जिहीताम्।।२।।

अर्थ— (राये+नु) परमायुरूप— सम्पत्तिलाभार्थ हम सब (सामन्) अवश्य सामगान करें। तद्द्वारा ही (निधिमत्+नु+अन्नम्+करामहे) ईश्वरप्राप्तिरूप निधियुक्त अन्न पावेंगे। एवं (सुपुरुध+श्रवांसि) बहु यश पावेंगे। (जरिता) हमसे आदृता होके वह निर्ऋति (नः+ता+विश्वानि) हमारे उन भौतिक सम्पूर्ण धनों को (ममत्तु) भले ही खा जाये परन्तु (परातरम्+निर्ऋतिः+सुजिहीताम्) वह निर्ऋति अत्यन्त दूर देश चली जाये।।२।।

अभी ष्वर्यः पौंस्यैर्भवेम द्यौर्न भूमिं गिरयो नाज्रान्।
ता नो विश्वानि जरिता चिकेत परातरं सुनिर्ऋतिर्जिहीताम्।।३।।

अर्थ— (द्यौः+न+भूमिम्) जैसे सूर्य पृथिवी को अभिभूत करे (गिरयः+न+अज्रान्) जैसे वज्र मेघों को छिन्न-भिन्न करे, तद्वत् (पौंस्यैः+अर्यः+अभि+सु+भवेम) हम उपासक पुरुषार्थ और उद्योगों से पापरूप शत्रुओं का सुन्दर प्रकार से अभिभव करें (जरिता) स्तुता अर्थात् हमसे आदृता होके वह निर्ऋति (तां+नः) हमारे भौतिक सम्पूर्ण धनों को (चिकेत) जाने परन्तु (परातरम्) हमसे दूर चली जाये। अर्यः= अरीन्, शत्रून्।।३।।

मो षु णः सोम मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सुर्यमुच्चरन्तम्।
द्युभिर्हितो जरिमा सूनो अस्तु परातरं सुनिर्ऋतिर्जिहीताम्।।४।।

अर्थ— (सोम) हे यजनीय देव ! (मृत्यवे) मृत्यु के हस्त में (नः+मो+सु+परादाः) हमको मत समर्पित कीजिये। हे देव ! जिससे कि हम (उच्चरन्तम्+सूर्यम्+पश्येम+नु) उदित सूर्य देखें एवं जिससे (नः+जरिमा) हमारा वृद्धत्व (द्युभिः+हितः) दिन-दिन प्रेरित होकर (सु+अस्तु) सुखपूर्वक अतिवाहित हो (निर्ऋतिः) पूर्ववत्। जरिमा=

जराभाव, जरात्व, वृद्धत्व। द्यु नाम दिन का है।।४।।

ये चार ऋचाएँ अन्यान्य[1] प्रार्थना सदृश स्वाभाविक प्रार्थनाएँ हैं। हम उपासक गण ईश्वर से आयु वृद्धि की प्रार्थना करते हैं परन्तु जब तक "निर्ऋति" अर्थात् पापाचरण हम में विद्यमान रहेंगे, कदापि हम चिरजीवी और सुखी नहीं हो सकते।[2] द्वितीय, तृतीय ऋचाओं में क्या ही सुन्दर भाव प्रकट किया गया है कि हम पापाचार को आदरपूर्वक कहते हैं कि यह हमारा सर्वस्व लेकर भी हम से दूर चला जाय। यही बारम्बार प्रार्थना आई है। पुनः चतुर्थी ऋचा में उपासक प्रार्थना करते हैं। हे सोम हमको मृत्यु के वश न कीजिये। ईश्वरीय विभूति देखें और हमारी जरावस्था सुखपूर्वक व्यतीत हो। इनमें सुबन्धु के मरने का गन्धमात्र वर्णन नहीं। न जाने पुनः आचार्य गण मृत्युपरक अर्थ कैसे करते हैं ?

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सुप्रतिरा न आयुः।
रारन्धि नः सूर्यस्य सं दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व।।५।।
असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नः स्वस्ति।।६।।

अर्थ— जैसे पाप देवता को निर्ऋति वैसे प्राणप्रदायिनी देवी को असुनीति कहते हैं (असुनीते) हे प्राणदात्री देवी ! (मनः+अस्मासु+धारय) हम उपासकों में पुनः मन रखिये। (जीवातवे+नःआयु+सुप्रतिर) जीने के लिये पूर्ण आयु हमको दीजिये (सूर्यस्य+[संदृशि+नः+रारन्धि) सूर्य के चिर सन्दर्शन में हमें स्थापित कीजिये।] (घृतेन+तन्वम्+वर्धयस्व) आप स्वयं घृत से अथवा घृतोपलाक्षित यज्ञ से शरीर पुष्ट कीजिये।। ५।।

(असुनीते) हे प्राणप्रदायिनी देवी ! (पुनः+चक्षुः) हममें पुनः चक्षु, पुनः प्राण और भोग स्थापित कीजिये। हम उदित सूर्य को चिरकाल तक देखें (अनुमते) हे प्राणदेवी ! हमें सुखी कीजिये, कल्याण हो।। ६।।

पुनर्न असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः।।७।।
शं रोदसी सुबन्धवे यह्वी ऋतस्य मातरा।
भरतामपयद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मोषु ते किंचनाममत्।।८।।

अर्थ— (पुनः+नः) पुनः हमको पृथिवी प्राण देवे द्यौ और अन्तरिक्ष पुनः प्राण देवें सोम हमको पुनः शरीर देवे। पूषा पथ्या (हितकारिणी) वाणी देवे (या+स्वस्तिः) जो ऐहिक-पारलौकिक कल्याण है, वह प्राप्त हो।।७।।

१. हस्तलेख में 'अन्याय' पाठ है। २. हस्तलेख में लिपिकर ने यहाँ से आगे इस प्रकरण के अन्त तक पाठ अस्त-व्यस्त कर दिया है।

(सुबन्धवे) जीवात्मा के लिये (यह्वी) महती (ऋतस्य+मातरा) सत्यनिर्मात्री (रोदसी) यह द्यावा पृथिवी (शम्) सुखकारिणी हो (यद्+रपः) जो पाप है उसको (अप+भरताम्) दूर करें (द्यौः) द्यौ, पृथिवी पाप को दूर करे। हे आत्मन् आप को (रपः+मो+सु+किञ्चन) (अममत्) कोई पाप अपहत न करे।।८।।

आत्मदेवता

जैसे ऋग्वेद में सूक्तों की देवताएँ अग्नि, वायु, इन्द्र, मरुत्, मित्र, वरुण और अश्विद्वय इत्यादि बारम्बार आते हैं, तद्वत् ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, जीवात्मा इत्यादि नामों से देवता का विधान बहुत स्वल्प देखते हैं, तथापि इसका अभाव नहीं है। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में ऋषि वामदेव के सम्बन्ध में बहुत ही आश्चर्य प्रकार की बातें आती हैं। वामदेव की गाथा सब ही वैदिक ग्रन्थों में तथा महाभारत, रामायण, मनुस्मृति और षड्दर्शनों में भी पाई जाती हैं। यदि दो-एक विषय इस सम्बन्ध में उद्धृत न किये जायँ तो यह विषय एक तरह से अपूर्ण रहेगा क्योंकि साधारण जन साक्षात् यत्किञ्चित् भी वेदार्थ से परिचित हों यह मेरा मानस है। अत एव जिस सूक्त के कतिपय मन्त्रों का साक्षात् आत्मा ही देवता है, प्रथम उनकी व्याख्या यहाँ की जाती है।

मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः।
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः।।

(ऋ० ४.४२.१)

अर्थ— (मम) स्वयमात्मा कहता है कि मेरा (राष्ट्रम्) राज्य (द्विता) दो प्रकार का है (क्षत्रियस्य) जो मैं स्वयं क्षत्रिय अर्थात् देह और इन्द्रियों का रक्षक (विश्वायोः) सब का अधीश (वरुणस्य) सब के दुःखों का निवारक (कृष्टेः) खेती करने वाला (उपमस्य) सबके समीप रहने वाला और (वव्रेः) रूपवान् हूँ। और (राजामि) सबका राजा होता हूँ (नः) उस मेरे (विश्वे) सब (अमृताः+देवाः) अमरण-धर्मा सूक्ष्म चक्षुरादि इन्द्रिय गण (यथा+क्रतुम्+सचन्ते) जैसे मेरे कर्म को सेवें अर्थात् मेरे अनुकूल होवें, हे भगवन् ! ऐसा विधान करो।

व्याख्या— क्षत्रिय का कार्य शासन है। यह आत्मा भी इस शरीर पर और इन्द्रियों पर पूरा शासन करता है। अतः यह क्षत्रिय कहा गया है। इन्द्रियों और शरीर का यह अधीश प्रसिद्ध है, इस हेतु विश्वायु कहा गया है और उत्तम आत्मा इन्द्रियों को अपने वश में रखकर कुकर्मों से उनका निवारण भी करता है, इस हेतु यह वरुण[1] कहा गया है। आत्मा से बढ़कर कृषक कौन है ? यह सर्वदैव

१. हस्तलेख में 'कारण' पाठ है।

इन्द्रिय गणों के साथ विचार रूप क्षेत्रों को जोतता रहता है। अतः यह कृष्टि है, इसका परिमाण[१] अणु है और यत्किञ्चित् रूपवान् है। इस हेतु यह वव्रि कहा गया है। जो कोई आत्मा को नीरूप मानते हैं, वे यहाँ वव्रि शब्द के ऊपर ध्यान दें। अन्य व्याख्यान सुगम है।

अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त।
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः।।

(ऋ० ४.४२.२)

अर्थ— (अहम्+वरुणः+राजा) पुनरपि आत्मा कहता है कि मैं इन्द्रिय गणों का दुःखनिवारक हूँ। (मह्यम्) मेरे लिए इन्द्रिय गण (प्रथमा) सर्वोत्तम (तानि+असुर्याणि) उन वीर्यों को (धारयन्त) धारण करते हैं अर्थात् मेरे लिए ही चक्षुरिन्द्रिय दर्शनशक्ति को, कर्णेन्द्रिय श्रवणशक्ति को धारण करते हैं (क्रतुम्+सचन्ते) इत्यादि पदों का अर्थ पूर्व मन्त्र में हो चुका है। इसका भावार्थ सहज है।

अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रजसी सुमेके।
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च।।

(ऋ० ४.४२.३)

अर्थ— (अहम्) मैं इस शरीर में (इन्द्रः) इन्द्र हूँ अर्थात् निखिल नमुचादि नामा पापों का विहन्ता हूँ (वरुणः) मैं ही अपने पाश में वश कर इन्द्रियों को रखने वाला हूँ (महित्वा) अपने महत्त्व से (उर्वी) अति विस्तीर्ण (गभीरे) गभीर (सुमेके) अच्छी प्रकार मिश्रित (रजसी) द्युलोक और पृथिवी लोक में विराजमान और (त्वष्टा+इव) प्रकृत सूक्ष्मकारी नियम के समान (विश्वा+भुवनानि) इस शरीरस्थ सम्पूर्ण भुवनों को (विद्वान्) जानता हुआ (समैरयम्) यथास्थान में प्रेरित करता हूँ। (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (धारयम्+च) धारण करता हूँ।।

व्याख्या— यहाँ पर स्थूल शरीर स्कन्ध से नीचे, मानो पृथिवी है और शिर यह द्युलोक है। जैसे द्युलोक से प्रकाश आता है, इसी प्रकार इस शिर से सम्पूर्ण देह में प्रकाश आता है। इस हेतु यही द्युलोक और पृथिवी लोक है और इस शरीर में जो इन्द्रियों का पृथक्-पृथक् विभाग है, वे ही मानो अनेक भुवन हैं। एक चक्षुरिन्द्रियभुवन, द्वितीय मलेन्द्रियभुवन, तृतीय अस्थिभुवन इत्यादि मानो अनेक भुवन हैं। इन सबका शासक जीवात्मा है।

अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथद्वि भूम।।

१. हस्तलेख में 'परिणाम' पाठ है।

(ऋ० ४.४२.४)

अर्थ— (अहम्) मैं ही इन इन्द्रियों और शरीर के ऊपर (उक्षमाणाः+अपः) सेचनकारी शीतल जल (अपिन्वम्) सींचता हूँ अर्थात् इन इन्द्रियों और शरीर को शीतल रखता हूँ (ऋतस्य+सदने) सत्य के भवन इस मस्तक में (दिवम्+धारयम्) द्युलोक के समान प्रकाश को धारण किये हुए हूँ। और मैं (अदितेः) इस बुद्धि का (ऋतेन+पुत्रः) नियमानुसार पुत्र बना हूँ। (ऋतावा) मैं केवल नियमविधाता हूँ (उत) और (भूम) मेरे लिए परमात्मा सर्वत्र व्यापक (त्रिधातु) त्रिविध धातु पूर्ण आकाश (वि+प्रथयत्) विस्तीर्ण करता है।

व्याख्या— व्यष्टि शरीर का नाम दिति है। जैसे मेरा शरीर, उसका शरीर, गौ का शरीर, पशु-पक्षी का शरीर इत्यादि। और समष्टि शरीर का नाम अदिति है, जैसे यह सम्पूर्ण भुवन। क्षण-क्षण में विनश्वर और खण्ड का नाम दिति है क्योंकि अवखण्डनार्थक 'दो' धातु से दिति बनता है और दिति से जो विपरीत अर्थात् चिरस्थायी अखण्ड उसका नाम अदिति है। यहाँ अदिति बुद्धि के अर्थ में आया है। बुद्धि के विवश यह आत्मा है, इस हेतु अदिति का यह पुत्र कहलाता है। आत्मा की भी ज्ञानशक्ति का कभी भी नाश नहीं और यह ज्ञान भी अखण्ड है। इसलिए यह अदिति कहलाता है। और इसी जीवात्मा के भोग के लिए यह सम्पूर्ण सृष्टि है जो सृष्टि त्रिधातु= सत्त्व, रज, तम इन तीन धातुओं से युक्त अथवा द्यौलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक इन तीनों से युक्त अथवा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय मन इत्यादि से युक्त है। इस हेतु इसे त्रिधातु कहते हैं। और यह अत्यन्त विस्तीर्ण है, अतः इसका नाम भूम= भूमा है।

इति श्रीशिवशंकरप्रणीते त्रैतसिद्धान्तादर्शे
आत्मास्तित्वादर्शः समाप्तः।।४।।[१]



१. हस्तलेख में यह पुष्पिका नहीं है।

प्रकृतित्वादर्श

यहाँ प्रकृति शब्द उपादान कारण में प्रयुक्त हुआ है। शंका होती है कि जड़ जगत् का उपादान कारण कौन है, ईश्वर अथवा सांख्याभिमत प्रधान, यद्वा कणभक्ष परिगृहीत परमाणु ? ईश्वर शब्द से पृथिवी पर के समस्त धर्म-पुस्तकों के माननीय इष्ट देवों का ग्रहण है, जिनसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, भगवती, अल्ला, जिहोवा, गौड और तीर्थंकर, जिन, ऋषभ, बुद्ध आदि अभिप्रेत हैं। सांख्यशास्त्र में जो जगत् का उपादान कारण अंगीकृत है, उसके प्रकृति, प्रधान और अव्यक्त आदि नामधेय हैं। यह प्रकृति त्रिमूर्त्तिमयी और केवल सांख्य-योग शास्त्रों का ही विषय है। परमाणुवाद यद्यपि वैशेषिक-न्याय शास्त्रों का विषय है, तथापि यह सर्वसाधारण जनों का मन्तव्य है। कारण इसमें यह है कि कणाद जी अपने मत को अत्यन्त जटिल और विविध कल्पना युक्त न बना कर दैनिक प्रत्यक्षानुभूत आधार पर स्थापित करते हैं। प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रत्येक पदार्थ असंख्य अवयवों से संयुक्त है। कठोर से कठोर धातु भी चूर्ण-चूर्ण हो जाता है। उससे भी एक खण्ड लीजिये और उसे भी लेकर चूर्ण कीजिये तो उससे भी अगण्य अवयव निकलेंगे। इस प्रकार जिसका पुनः अवयव न हो, उसको परमाणु कहते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि इस जगत् का ईश्वर, प्रधान और परमाणु इन तीनों में से कोई एक उपादान कारण है। ईश्वर उपादान कारण नहीं, इस प्रसंग को ईश्वरास्तित्वादर्श में विस्तार से दिखलाया गया है। अब प्रकृति और परमाणु बचे। हम सांख्याभ्युपगत प्रधानवादी नहीं, किन्तु केवल उपादानार्थ में हम प्रकृति शब्द को और उसके वाचक शब्दों को अपने शास्त्र में प्रयुक्त करते हैं। अतः हमारे मत में प्रकृति और परमाणु पर्यायवाचक हैं। इनके वैदिक नाम आरम्भण, पतत्र और स्वधा आदि हैं। ये सब उपादान में प्रयुक्त हुए हैं। आगे लेख देखिये।

उपादानार्थक प्रकृति शब्द

१. **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।।** (वैशेषिकदर्शन १.४.२३) यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ उपादान कारण है। यह शंकराचार्य कहते हैं।

२. **जनिकर्त्तुः प्रकृतिः।।** (पा॰ सू॰ १.४.३०) जन धातु का जो कर्त्ता उसकी प्रकृति= उपादान कारण, उसकी अपादान संज्ञा होती है। यथा— "तन्तुभ्यः पटो जायते। मृदो घटो जायते। वंशाद् वंशो जायते। जलाल्लवणं जायते" इत्यादि। तन्तुओं से पट, मृत्तिका से घट, बाँस से बाँस और जल से लवण होता है। व्याकरण शास्त्र में प्रकृति नाम ही मूल कारण का है। जैसे— "भवति" यहाँ (भू) धातु को प्रकृति और तिप्, शप् आदि को प्रत्यय कहते हैं।

गीता में भी उपादानार्थक प्रकृति शब्द का विस्पष्ट प्रयोग है। यथा—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्त्तते।। (गीता ९.८,१०)

हे अर्जुन ! स्वाधीन प्रकृति को लेकर मैं इन विवश चतुर्विध समस्त प्राणियों को पुनः-पुनः विविध रूपों में बनाता रहता हूँ क्योंकि मैं भी और ये चतुर्विध भूतग्राम प्रकृति के वश में हैं। हे कुन्तीपुत्र ! मेरी अध्यक्षता में ही यह प्रकृति चराचर जगत् रचती है। इसी कारण यह जगत् पुनः-पुनः होता रहता है।

अब विचार करना है कि जगत्प्रकृतित्व किसमें है, ब्रह्म में अथवा प्रधान में यद्वा परमाणुओं में ? निस्सन्देह परमाणुओं में ही उपादानता स्थापित हो सकती है, अन्य किसी में नहीं क्योंकि वेद, उपनिषद् शास्त्र तदितर ग्रन्थ और तर्क-युक्तियाँ इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हैं। इसका उपादान कारण भी ब्रह्म है, यह कथन केवल बालकों का ही हो सकता है। सांख्यकार-कपिलोक्त प्रकृति भी इसकी जनयित्री नहीं हो सकती क्योंकि सांख्य की त्रिगुण कल्पना स्वकीया और दुर्बोधा है। तब परिशेष परमाणु ही इसकी प्रकृति हो सकती है। इसी विषय को आगे विस्तार से दर्शायेंगे।

आरम्भणादि शब्द के प्रयोग

"किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्।।" (ऋ॰ १०.८१.२) यहाँ उपादान में आरम्भण शब्द का प्रयोग है।

"सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" (ऋ॰ १०.८१.३) यहाँ परमाणु का नाम पतत्र है, जो जड़ जगत् का उपादान कारण है।

"आनीदवातं स्वधया तदेकम्" (ऋ॰ १०.१२९.२) यहाँ स्वधा शब्द प्रकृति वाचक है।

यदि वेद से लेकर आधुनिक संस्कृत शास्त्र तक की पूरी समीक्षा की जाय, तो यही सिद्ध होगा कि ब्रह्म, जीव और प्रकृति ये तीनों अनादि हैं और नित्य हैं।

श्री शंकराचार्य गीता को भी ईश्वरवाक्य ही समझते हैं, तब आश्चर्य लगता है कि गीता में प्रकृतिवाद उन्हें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। **"प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य"**, **"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः"** इत्यादि श्लोकों की क्या-क्या दुर्दशा ये नवीन वेदान्ती करते हैं। पुनः जिन ब्रह्मसूत्रों के ऊपर इनका आधार है, वे सूत्र भी क्या कहते हैं ? इन सूत्रों पर दृष्टि दीजिये—

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्। अपीतौ तद्वत् प्रसंगादसमञ्जसम्। असद् व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्। (वेदान्त २.१.७,८,१७) इत्यादि सूत्रों की यदि संगति लगाई जायेगी, तो सत्कार्यवाद ही सिद्ध होगा। पुनः श्वेताश्वतरोपनिषद् को भी श्री शंकराचार्य प्रभृति अद्वैतवादी श्रुति कहते हैं। उसमें भी सांख्याभिप्रेत प्रकृति का निरूपण है।

गुणत्रयविभाग

उपनिषदों में श्वेताश्वतर और गीता ये दोनों सांख्य के अभ्युपगम को विशद रूप से दिखलाती हैं। तब सांख्य का अशब्द और आनुमानिक आदि शब्दों से शंकराचार्य प्रभृति निरादर नहीं कर सकते। जिस विवर्त्तवाद के अभिमानी ये नव्य वेदान्ती हैं, उसका एक चिह्न भी श्रुतियों से नहीं बतला सकते। सांख्य शास्त्र का प्रताप अत्यन्त अद्भुत रीति से यहाँ प्रसृत हुआ। इसने अपने समय में सकल विद्वानों को अपनी विलक्षण आकर्षण शक्ति से अपनी ओर खींच लिया। इसका प्रबल प्रमाण त्रिगुणविभाग है। गुण द्रव्य हैं और वे संख्या में तीन ही हैं। इस मन्तव्य के आविष्कार करने हारे प्रथम श्री कपिलाचार्य ही हैं क्योंकि चारों वेदों, उपनिषदों और ब्राह्मणग्रन्थों में इसकी कहीं भी चर्चा नहीं है। अति प्रख्यात और प्राचीन ईशादि दश उपनिषदों में भी इन गुणों का कोई प्रसंग नहीं पाया जाता। उन उपनिषदों के बहुत पश्चात् सांख्य का आविष्कार हुआ। इसका चमत्कार इतना बढ़ा कि इसके त्रिगुण सिद्धान्त को सब ने मान लिया और अपने-अपने शास्त्रों में इन त्रिगुणों की खूब व्याख्या करने लगे। यद्यपि इनके स्वरूप को लोग बिगाड़ने लगे, तथापि परीक्षक जन अच्छी तरह समझ सकते हैं। कोई भी सुप्रसिद्ध ग्रन्थ नहीं जिसमें त्रिगुण का प्रसंग न आया हो। आगे सांख्य शास्त्र के पोषक श्वेताश्वतरोपनिषद् से दो-चार प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। इसको भी शंकराचार्य प्रभृति वेद और श्रुति मानते हैं। ब्रह्मसूत्र में भी इसकी चर्चा है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्थान-स्थान पर इस उपनिषद् के प्रमाण दिये हैं। शंकराचार्य का भी आगे जिसके ऊपर सांख्य का सिद्धान्त स्थापित है, उसका अर्थ और श्री शंकर के विचारसहित लिखा जाता है।

स्वयं श्री शंकराचार्य प्रथम शंका करते हैं कि—

"सांख्यशास्त्रपरिकल्पित प्रधान को अशब्द कहना उचित नहीं अर्थात् प्रधान के अस्तित्व में श्रुतियों का प्रमाण नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार प्रकृति का वर्णन आता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

(श्वे॰उप॰ ४.५)

(सरूपाः) समान रूप वाली (बह्वीः+प्रजाः) बहुत सी प्रजाओं को (सृजमानाम्) उत्पन्न करती हुई (लोहित+शुक्ल+कृष्णाम्) लोहित (=रक्त) रजोगुण, शुक्ल (=श्वेत) सत्त्वगुण, कृष्ण (=काला) तमोगुण— इन तीन गुण वाली (एकाम्+अजाम्) एक अजा (=प्रकृति) को (जुषमाणः) सेवता हुआ (एकः+अजः+हि) निश्चय अज एक जीव (अनुशेते) उस प्रकृति में फँस कर कभी सुखी, दुःखी, मूढ़ होकर बद्ध होता है (अन्यः+अजः) दूसरा विवेकी जीव (भुक्तभोगाम्+एनाम्) भुक्तभोगा इस अजा (=प्रकृति) को (जहाति) छोड़ देता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।"

इसका तात्पर्य श्री शंकराचार्य इस प्रकार लिखते हैं कि "इस मन्त्र में आये हुए लोहित, शुक्ल, कृष्ण शब्द से क्रमपूर्वक रज, सत्त्व और तम कहे जाते हैं। रञ्जनात्मक होने से रजोगुण का नाम लोहित, प्रकाशात्मक होने से सत्त्वगुण का नाम शुक्ल और आवरणात्मक होने से तमोगुण का नाम कृष्ण है। उनकी साम्यावस्था अवयवधर्मों से लोहित, शुक्ल, कृष्ण कहलाती है। "न जायते इति च अजा" जो उत्पन्न नहीं हो उसे अजा कहते हैं क्योंकि **"मूलप्रकृतिरविकृतिः"** मूल प्रकृति अविकृति है अर्थात् वह किसी का कार्य नहीं। ऐसा सांख्यवादी मानते हैं। यद्यपि छागी (बकरी) में अजा शब्द रूढ है किन्तु वह रूढ ही है। यहाँ उस रूढि का आश्रय नहीं लिया जा सकता क्योंकि यहाँ विद्या का प्रकरण है। उस प्रकृति को अज एक पुरुष सेवता हुआ दुःख पाता है अर्थात् उसी को अविद्या द्वारा निज स्वरूप मानकर सुखी, दुःखी, मैं मूढ हूँ— इस अविवेकता से संसारी बनता है। अन्य अज पुरुष उत्पन्न विवेकज्ञान और विरक्त होकर इस भुक्तभोगा प्रकृति को छोड़ देता है अर्थात् मुक्त होता है।[१] भोग और अपवर्ग जो कर चुकी है, उसे भुक्तभोगा कहते हैं।"

भामतीकार वाचस्पति मिश्र इसका तात्पर्य इस प्रकार लिखते हैं "यद्यपि यह अजा शब्द छागी में रूढ है तथापि यहाँ आत्मविद्या के अधिकार से वह अर्थ नहीं लिया जा सकता। इस हेतु रूढि के असम्भव से योगार्थ करना चाहिए। तब क्या इस मन्त्र से स्वतन्त्र प्रधान का ही अनुवाद है। अथवा तेज, बल और अन्न को उत्पन्न करने वाली पारमेश्वरी माया शक्ति का वर्णन है। इन दोनों में से किस का ग्रहण होगा ? तब तक समझें कि प्रधान ही का यहाँ ग्रहण होगा क्योंकि सांख्य जैसा प्रधान मानता है, वैसा ही इस मन्त्र में अन्यूनानतिरिक्त प्रतीत होता है क्योंकि यह प्रधानलक्षण प्रकृति अजा, एक और लोहितशुक्लकृष्णरूपा है। अजा इसलिए कि वह 'न जायते इति अजा' उत्पन्न नहीं होती, वह अनादिस्वरूप है।

१. द्र०— शांकरभाष्य (वेदान्त॰ १.४.८)।

यद्यपि लोहितादि वर्ण रजोगुण प्रभृतियों में प्रयुक्त नहीं होते, तथापि जो लोहित कुसुम्भादि है, वह रक्त करता है। रजोगुण भी रक्त करता है, अतः उसे लोहित कहते हैं। इसी प्रकार प्रसन्न जल शुद्ध होता है, वैसा ही सत्त्व गुण भी प्रसन्न होने से शुक्ल कहलाता है। इसी प्रकार आवरक मेघादि कृष्ण होते हैं। तमोगुण भी आवरक है, इसलिए कृष्ण कहलाता है। दूसरे, वेदान्ती भी अव्याकृत (परमात्मा) का स्वरूप भी लोहितत्वादि धर्मों से युक्त है, ऐसा कह नहीं सकते किन्तु तत् कार्य जो तेजोबल (तेजस+अप+आन्न) का रोहितत्वादि कारण में कल्पनीय होगा। वह हमारा भी तुल्य ही है क्योंकि **"अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः"** यहाँ आत्मभेद का विस्पष्ट रूप से वर्णन है। अतः सांख्यस्मृति का ही इस मन्त्रवर्ण में प्रत्यभिज्ञान है, न कि अव्याकृत प्रक्रिया का प्रसंग है। वह एक ही है, ऐसा वेदान्तियों का अभ्युपगम है किन्तु यहाँ आत्मभेद दिखलाया गया है। अतः स्वतन्त्र प्रधान अशब्द नहीं।[१]"

इत्यादि भामतीकार ने शंकराचार्य के भाष्य की टीका-टिप्पणी की है। यह सदैव स्मरणीय रहे कि श्री वाचस्पति मिश्र जी ने षड्दर्शनों के ऊपर टीका-टिप्पणी की है। अतः जिस दर्शन का जो अभिप्राय है तदनुकूल ही उसका निर्णय भी किया है। ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) पर श्री शंकर का भाष्य है, उस भाष्य के ऊपर वाचस्पति मिश्र की भामती नाम्नी टिप्पणी है। अतः शांकरभाष्य के अनुसार ही खण्डन-मण्डन करते हैं। इनकी विद्वत्ता इसमें है कि शांकरभाष्य का पूरा आशय लेते हुए अपनी मनोहर संस्कृत तथा निज युक्तियों से टिप्पणी को अलंकृत करते हैं।

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका की भी विद्वत्तापूर्ण टीका की है, जिसका नाम "सांख्यतत्त्वकौमुदी" है। इसके प्रारम्भ में "अजामेकाम्" इस श्रुति के कतिपय शब्दों का परिवर्त्तन कर श्री मिश्र जी इस प्रकार मंगलाचरण करते हैं। यथा—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्।।१।।

(नमामः) हम उस प्रकृति को नमस्कार करते हैं जो (अजाम्) अजा और (एकाम्) एकाकिनी है, जो (लोहित+शुक्ल+कृष्णाम्) रक्त-श्वेत-कृष्णरूपा अर्थात् रजःसत्त्वतमः स्वरूपा है और (बह्वीः+प्रजाः+सृजमानाम्) बहुत प्रजाओं की जनयित्री है। (ये+अजाः) जो अजन्मा बद्ध पुरुष (ताम्+जुषमाणाम्+भजन्ते) उस सेवाध र्मपरायणा प्रकृति को सेवते हैं, उन्हें भी नमस्कार करते हैं और (भुक्तभोगाम्) भुक्तभोगा (एनाम्) इस मूल प्रकृति को (जहति) छोड़ते हैं। (तान्+नुमः) उन मुक्त

१. द्र०— भामती (वेदान्त० १.४.८)।

पुरुषों को भी नमस्कार करते हैं अर्थात् मूल प्रकृति, बद्ध पुरुषों और मुक्त पुरुषों इन तीनों को नमस्कार करते हैं।

टिप्पणी— प्रजाः= (प्रजायन्त इति प्रजाः) प्रकृति के महदादि कार्यों को यहाँ प्रजा कहते हैं क्योंकि जो उत्पन्न हो वह प्रजा कहलाती है। स्वधर्म सुखादिकों को मूल प्रकृति आत्मा में स्थापित करती है, वे आत्मा प्रकृति के सुखादि धर्मों को निज धर्म समझने लगते हैं। तब से ही वे बद्ध हो जाते हैं और इसमें निगड़ित हो कभी सुखी, कभी दुःखी और कभी मूढ़ हो नाना क्लेशों को सहते हैं। इत्यादि, अब इस 'अजामेकाम्' श्रुति का जो अर्थ ब्रह्मसूत्रों की सहायता से श्री शंकराचार्य करते हैं, वह विचारणीय है।

इस मन्त्र में सांख्यकल्पित प्रधान का अच्छी तरह से वर्णन है। इस हेतु सांख्य शास्त्र भी शब्दमूलक होने से प्रामाणिक है। जड़ कारणावस्था का अनादित्व सिद्ध करता है, यद्यपि ऐसा है, तथापि अद्वैत मत के यह विरोधी होने से शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इस तात्पर्य को प्रकृति में न लगाकर अन्य वस्तु में लगाया है। शंकराचार्य कहते हैं—

"इस मन्त्र से सांख्य शास्त्र का श्रुतिमूलकत्व आश्रयितव्य नहीं क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्रतापूर्वक किसी एक अर्थ का समर्थन नहीं करता क्योंकि अनेक वस्तुओं में जिस किसी कल्पना से अजत्वादि गुण का आरोप कर सकते हैं। सांख्यवाद ही यहाँ अभिप्रेत है, इसमें कोई यहाँ प्रमाण नहीं। इसमें दृष्टान्त चमस है। जैसे **"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः"** (बृ॰ उप॰ २.२.३) इस मन्त्र में स्वतन्त्रतापूर्वक इस नाम का यह चमस है ऐसा अभिप्राय निरूपित नहीं कर सकते हैं, सर्वत्र ही कथञ्चित् अर्वाग्बिलत्वादि धर्म की कल्पना हो सकती है। इस प्रकार यहाँ भी **"अजामेकाम्"** इस मन्त्र का अविशेष होने से सर्वत्र कल्पना कर सकते हैं। इस मन्त्र में प्रधान ही अजा अभिप्रेत है, यह नहीं कह सकते हैं।"[१]

शंका— इस मन्त्र में **"इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः"** यह शिर ही अर्वाग्बिल और ऊर्ध्वबुध्न चमस है। जिसका छिद्र नीचे हो वह "अर्वाग्बिल" और जिसका मूल ऊपर हो वह "ऊर्ध्वबुध्न" इस वाक्यशेष से चमसविशेष का ग्रहण होता है किन्तु यहाँ किस अजा का ग्रहण कीजियेगा ?

समाधान— इस पर ब्रह्मसूत्र १.४.९ की सहायता से श्री शंकराचार्य कहते हैं कि परमेश्वर से उत्पन्न तेज, जल, अन्न युक्त जो चतुर्विध भूतग्राम (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज) उसकी प्रकृतिभूता वह अजा कहला सकती है। भूतत्रय लक्षण ही यहाँ अजा जाननी चाहिए, गुणत्रय लक्षण नहीं क्योंकि

१. द्र०— शांकरभाष्य (वेदान्त० १.४.८)।

उपनिषत्तत्त्वाभिज्ञ कोई एक शाखी तेज, बल और अन्नों की परमेश्वर से उत्पत्ति कहकर उनके ही लोहितादि रूप का वर्णन करते हैं। जैसे **"यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्। यच्छुक्लं तदपाम्। यत्कृष्णं तदन्नस्य।"** (छा॰ उप॰ ६.४.१) अग्नि का जो लोहित रूप है, वह तेज का रूप है। जो शुक्ल रूप है, वह ज़ल का रूप है। जो कृष्ण रूप है, वह अन्न का रूप है। वे ही तेज, जल और अन्न शब्दों से यहाँ प्रत्यभिज्ञात हुए हैं क्योंकि रोहितादि शब्द की समानता है। रोहितादि शब्दों का रूपविशेष में मुख्यत्व है और गुणों में गौणत्व है। असन्दिग्ध से सन्दिग्ध का निगमन न्याय मानते हैं। और भी **"ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं कारणं ब्रह्म"** (श्वे॰ उप॰ १.१) ब्रह्मवादी कहते हैं कि वह ब्रह्म किंकारणस्वरूप है ? किन कारणों को लेकर सृष्टि रचता है ? इतना कहकर **"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्"** (श्वे॰ उप॰ १.३) उन ब्रह्मवादियों ने ध्यानाख्य योग से परमात्मा में अनुप्रविष्ट होकर परमात्मा की आत्मभूता परतन्त्र और स्वगुणों से छिपी हुई अध्यस्त माया शक्ति को देखा। इस मन्त्र से पारमेश्वरी समस्त जगत् विधायिनी शक्ति का बोध होता है और वाक्यशेष में भी **"मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्", "यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः"** (श्वे॰ उप॰ ४.१०,११) माया को प्रकृति और ईश्वर को मायी जानें, जो प्रत्येक योनि में व्याप्त है। इस मन्त्र से उसी माया का बोध होने से किसी स्वतन्त्र अजा प्रकृति का मन्त्र में ग्रहण नहीं, प्रकरण से उसी दैवी अव्याकृत नामरूपा शक्ति की प्रागवस्था द्योतित है, इसी विषय को इस मन्त्र से दिखलाते हैं। उसी की स्वविषयक विकार से त्रिरूपता है।

शंका— तेज, जल और अन्न इन तीनों रूपों से त्रिरूपा अजा कैसे मानी जा सकती है ? जब तक कि तेज, जल और अन्न में अजा की आकृति न हो और तेज, जल और अन्न की जाति के ग्रहण से अजातिनिमित्त भी अजा शब्द का सम्भव नहीं ?

समाधान— श्री शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र १.४.१० के भाष्य में कहते हैं कि "यहाँ अजाकृत निमित्तक अजा शब्द नहीं और न यौगिक किन्तु यहाँ कल्पना का उपदेश है। अजारूप कल्पना तेज, जल और अन्नलक्षणक चराचर योनि का यहाँ उपदेश है। इसको यों समझिये कि जैसे लोक में स्वेच्छया कोई अजा (छागी) रोहित, शुक्ल, कृष्ण वर्णयुक्ता हो। उसको कोई अज (बकरा) सेवन करता हुआ दुःखी हो और कोई भुक्तभोगा इसे त्यागे। इसी प्रकार यहाँ भी तेज, जल और अन्न लक्षण वाली त्रिवर्णा भूत प्रकृति बहुत सरूप चराचरलक्षणक विकारजात को उत्पन्न करतीं है। अनभिज्ञ जीवात्मा से वह भुक्त होती है और विद्वान् जीवात्मा से त्याज्य होती है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि एक क्षेत्रज्ञ (जीव) दुःख

पाता है और दूसरा क्षेत्रज्ञ उसे त्याग सुखी होता है, इससे क्षेत्रज्ञों का भेद पारमार्थिक सिद्ध होता है ? क्योंकि यहाँ क्षेत्रज्ञ भेद का वर्णन करना इष्ट नहीं किन्तु बन्ध-मोक्षव्यवस्था दिखला रहे हैं। यह प्रसिद्ध है कि भेद का अनुवाद कर बन्ध-मोक्षव्यवस्था होती है किन्तु भेद उपाधिनिमित्तक और मिथ्याज्ञान कल्पित है, पारमार्थिक नहीं। कहा गया है कि—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" (श्वे॰ उप॰ ६.११) एक परमात्मा देव सब भूतों में गूढ, सर्वव्यापी और सर्वभूतान्तरात्मा है इत्यादि, पूर्वोक्त आरोप के समान उपनिषदों में अनेक उदाहरण हैं जैसे अमधु आदित्य को मधु, अधेनु वाणी को धेनु, अनग्नि द्युलोकादिकों को अग्नि कहते हैं इत्यादि कल्पना होती है। इसी प्रकार अनजा के अजात्व की कल्पना की गई है। इस हेतु तेज, जल और अन्न में अजा शब्द का प्रयोग विरुद्ध नहीं" इत्यादि श्री शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इस अजा मन्त्र का वर्णन किया है।

इस मन्त्र का अर्थ सिद्धान्तमुक्तावली में प्रकाशानन्द इस प्रकार करते हैं कि "असत्य जो यह जगत् वह अविद्याहेतुक है। वह अविद्या जन्या है वा अजन्या ? इस शंका की निवृत्ति के लिए वह जन्या नहीं, इस अर्थ को दिखलाने को "अजाम्" यह पद आया है। यदि कहा जाय कि यहाँ अविद्यावाचक शब्द नहीं है तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ अजा शब्द स्त्रीलिंग होने से अविद्या "एकाम्" यह पद आया है। लोहितादि शब्दों से त्रिगुणात्मयुक्त इसका विचित्र कार्य जनन सामर्थ्य दिखलाते हैं। तादृश अविद्योपहित जीव की उत्पत्ति के निवारणार्थ "अज" पद आया है। "एक" शब्द से उस जीव के अनेकत्व का निषेध करते हैं। यदि कहा जाय कि लोक में जीवगत अनेकत्व का अनुभव होता है, तब कैसे जीव का एकत्व है ? ऐसी आशंका की निवृत्ति के लिए अभेद उपनिषद् प्रसिद्ध और युक्तिसिद्ध है। इसलिए प्रसिद्धार्थक "हि" शब्द आया है।

शंका— स्वयंप्रकाश ब्रह्म जीव से अभिन्न है, तब जीव की विलक्षणावस्था कैसे ?

इसके **उत्तर** में "अनुशेते" कहते हैं। उस अविद्या का अनुसरण करके निद्रित के समान वह जीव होता है अर्थात् अज्ञानावृत होकर मुद्रित-ज्ञान-नेत्र होता है। पश्चात् कार्यकार से स्थित उसी अविद्या को सेवता हुआ स्वप्नद्रष्टा के समान संसारी होता है। इस अर्थ को "जुषमाण" यह पद दिखलाता है।

यदि अविद्या अनादि और अविनाशी है तो जीव को भी मोक्ष नहीं हो सकता ? इस शंका की निवृत्ति के लिए "जहात्येनाम्" कहते हैं अर्थात् वेदवाक्य द्वारा आत्मतत्त्व-साक्षात्कार से उस अविद्या को छोड़ देता है। यदि वह अविद्या

त्याज्या है, तब उसका आश्रय कैसे लिया ? इस आशंका में कहते हैं कि अविद्या का आश्रय भोग के लिए है, उस भोग को अविद्या उत्पन्न करती है, अब स्वात्मदर्शन से उस अविद्या को प्रयोजनशून्या समझ छोड़ देता है। "भुक्तभोगा" इस पद का विग्रह इस प्रकार है— "भुक्तो भोगो यया सा भुक्तभोगा" पुनः शंका करते हैं कि अविद्याविशिष्ट का ही नाम जीव है, तब जीव का स्वरूप अविद्या के अन्तर्गत होने से "जहाति" यह कैसे कहा गया ? इस पर "अजोऽन्यः" यह पद कहा गया है। अज जो जीव वह अविद्या से अन्य ही है किन्तु अविद्या के अन्तर्गत जीव नहीं क्योंकि अविद्या जड़ और जीव चेतन कहा गया है। जीव की उपाधि अविद्या है, इसमें सन्देह नहीं।"[१]

छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि प्रथम तेज की, तब जल की, तब अन्न की (पृथिवी की) उत्पत्ति हुई। ये ही तीन सम्पूर्ण संसार के बीज हैं। इनके भी अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज ये तीन बीज हैं। इन पूर्वोक्त तेज, अप् और अन्न का मिश्रण सब वस्तु में है। इसको अभी विस्तार से यहाँ ही दिखलाया है। [छा॰ उप॰ छठे अध्याय के] चतुर्थ खण्ड में यों वर्णन आता है कि अग्नि का जो रोहित रूप है, वह तेज का। जो शुक्ल रूप है, वह जल का। जो कृष्ण रूप है, वह अन्न का। और भी जो विद्युत् का रोहित रूप है वह तेज का, जो शुक्ल रूप है, वह जल का, जो कृष्ण रूप है, वह अन्न का। इत्यादि। इसी प्रकार भुक्त अन्न भी तीन रूपों में बदलता है। भुक्त अन्न का जो स्थूल धातु है, वह पुरीष होता है। जो मध्यम धातु है, वह मांस होता है। जो अणुतम है, वह मन होता है। और भी जल पीत होने पर त्रिविध होता है। उसका जो स्थूल धातु है, वह मूत्र। जो मध्यम धातु है, वह लोहित। जो अणुतम धातु है, वह प्राण होता है। और भी तेज भुक्त होने पर त्रिविध होता है। उसका जो स्थूल धातु है, वह हड्डी। जो मध्यम धातु वह मज्जा। जो अणुतम धातु है, वह वाणी होती है। इत्यादि वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में आता है।

यहाँ आप लोगों ने देखा कि तेज, जल और अन्न की उत्पत्ति कही गई है और इनके मिश्रण भी सूर्यादि पदार्थों में दिखलाए गए हैं। अब "अजामेकाम्" इस श्रुति से क्या छान्दोग्योपनिषद् के अर्थ को विस्पष्ट करते हैं ? क्या श्वेताश्वतरोपनिषद् छान्दोग्योपनिषद् की टिप्पणी का भाष्यस्वरूप है ? यह कदापि नहीं हो सकता क्योंकि ईशोपनिषद् से लेकर श्वेताश्वतरोपनिषद् तक एक-दूसरे की व्याख्या नहीं करतीं किन्तु ये एकादश उपनिषदें स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने विषय का निरूपण करती हैं। किसी में विस्तार और किसी में संक्षेप प्रसंग हैं। अब श्री शंकराचार्य

१. द्र॰— सिद्धान्तमुक्तावली— प्रकाशानन्दव्याख्या।

जिन ब्रह्मसूत्रों की सहायता से "अजामेकाम्" इस श्रुति का अर्थ करते हैं। वे ये हैं—

१. चमसवदविशेषात्।

२. ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके।

३. कल्पनादेशाच्च मध्वादिवदविरोधः। (वेदान्त १.४.८-१०)

इन्हीं सूत्रों के भाष्य में शंकराचार्य ने "अजामेकाम्" इस का अर्थ बतलाया है। इतनी कठिनता इस श्रुति के अर्थ करने में शंकराचार्य क्यों दिखलाते हैं ? इसके कई एक कारण हैं—

१. यही श्रुति सांख्य के श्रुतिमूलक होने में मुख्य प्रमाण है।

२. इस श्रुति में "अजा" और 'एका' शब्द स्त्रीलिंग हैं जो प्रकृतिवाचक होते हैं क्योंकि प्रकृति भी स्त्रीलिंग है। और वह कारणस्वरुप होने से 'अजा' और असहाय होने से एका कहलाती है।

३. सांख्य शास्त्र प्रकृति को त्रिगुणमयी मानता है। यद्यपि तीनों गुणों के नाम नहीं हैं तथापि "लोहितशुक्लकृष्णाम्" यही स्त्रीलिंग विशेषण आया है। लोहित (रक्त), शुक्ल (श्वेत), कृष्ण (काला) सांख्य शास्त्र के मन्तव्य में भी रजो गुण का रूप रक्त, सत्त्वगुण का शुक्ल, और तमोगुण का कृष्ण है। अतः "लोहित-शुक्लकृष्णाम्" इस विशेषण से त्रिगुणमयी प्रकृति समझी जाती है।

४. सांख्य शास्त्र का मन्तव्य है कि आत्मा अनेक हैं। कोई आत्मा प्रकृति से बद्ध है और कोई विवेकी आत्मा प्रकृति के स्वरूप को जान, इसे त्याग, भुक्तभोगी होता है। इसी विषय का इस मन्त्र में भी वर्णन है।

इत्यादि अनेक कारणवश इस श्रुति की व्याख्या में शंकराचार्य को बड़ी कठिनता हुई। उपनिषदों में त्रिविधत्व एक स्थल में शंकराचार्य को मिला। छान्दोग्योपनिषद् "तेजोऽबन्न" इन तीनों का वर्णन करती है और इन तीनों के लोहित, शुक्ल और कृष्ण रूप का भी वर्णन करती है। अतः श्री शंकराचार्य कहते हैं कि "लोहितशुक्लकृष्णाम्" इस विशेषण से "तेजोऽबन्न" का ग्रहण है। सांख्यकल्पित प्रकृति का नहीं। यद्यपि "तेजोऽबन्न" अजा नहीं क्योंकि वे तीनों उत्पन्न वस्तुएँ हैं, तथापि श्री शंकराचार्य इसको एक कल्पना मात्र मानते हैं। जैसे अधेनु वाणी में धेनुत्व इत्यादि की कल्पना है। इसी प्रकार "अनजा=तेजोऽबन्न" में अजात्व की कल्पना हुई। पुनरपि एक अज बद्ध और दूसरा मुक्त होता है, इसका उत्तर शंकराचार्य ने कुछ नहीं दिया। इस लिये शंकराचार्य को महाकाल्पनिक कहते हैं। पूर्व में मैं दिखला आया हूँ कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में सांख्य के बहुत से लक्षण पाये जाते हैं। अतः "अजामेकाम्" यह श्रुति सांख्यार्थपरक प्रतीत होती है।

अब जिन तीन सूत्रों का अभिप्राय अपने मन्तव्यानुकूल बतलाते हैं, वे तीन सूत्र अन्य अर्थ में भी घटाये जा सकते हैं।

प्रकाशानन्द शंकराचार्य के अनुकूल अर्थ नहीं करते। वे अविद्यापरक अर्थ करते हैं। कठिनता यह है कि वेदान्तशास्त्र निस्सन्देह क्रिश्चियनत्रिवाद के समान महाजटिल है। क्रिश्चियन कहते हैं कि पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा ये तीन हैं। वास्तव में ये तीन नहीं, एक ही हैं। इसी प्रकार वेदान्त शास्त्र कहता है कि शुद्ध ब्रह्म, जीव और माया ये तीन हैं किन्तु वे वास्तव में एक ही हैं। माया कभी इन से छुटती नहीं। सृष्टि का प्रकरण जब आता है, तब माया वर्णन करते हैं। जब भेद ज्ञान आता है तब जीव के पृथक्त्व का निरूपण करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि इस प्रकार की कल्पना से शास्त्र कैसे बन सकता है ? शास्त्र वही कहला सकता है जो नियमों से शृंखलित है। वेदान्त अद्वैतवाद कभी शृंखलित न हुआ, न होगा। जब उनसे पूछा जाता है कि माया के मानने से आप का मत द्वैत, जीव के मानने से त्रैत सिद्ध होता है तब वे कहते हैं कि माया कोई चीज नहीं। इसलिए मेरा मत अद्वैत नाम से प्रसिद्ध है। तो यह सृष्टि आदि कैसे भासित होती है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वास्तव में सृष्टि नहीं किन्तु ब्रह्म ही यह स्वप्न देख रहा है। शुद्ध ब्रह्म में यह भ्रम कहाँ से आया ? माया से। माया कहाँ आई ? वह अनादि है। इस प्रकार माया को अनादि मानते हुये भी माया कोई वस्तु नहीं, यह कहना कितनी जटिल है। एवमस्तु, श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त की समीक्षा इसके अनेक स्थल में विद्यमान है।

समीक्षा

क्या आश्चर्य है कि ऐसे विद्वान् श्री शंकराचार्य भी कैसे पक्षपाती थे ? इसका एक उदाहरण "अजामेकाम्" यह मन्त्र है। शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र की सहायता से इस श्रुति का जो अर्थ करते हैं, उससे विलक्षण अर्थ प्रकाशानन्द करते हैं। शंकराचार्य का अभिप्राय माया से है क्योंकि **"मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनन्तु महेश्वरम्"** (श्वे० उप० ४.१०) इस श्रुति का उद्धरण कर अजा माया को कहते हैं। शोक की बात है कि नामभेद के लिये लड़ना विद्वानों को शोभा नहीं देता। सांख्यवाद का प्रसंग श्वेताश्वतरोपनिषद् में है, इसमें सन्देह नहीं। इसको न मान कर तेजोऽबन्नलक्षणभूत प्रकृति में लगाना सर्वथा बलात्कार है। अतः हमारे पाठक प्रथम श्वेताश्वतर के सांख्यपक्ष में दो चार प्रमाण श्रवण करें।

१. इस उपनिषद् में सांख्य शास्त्र के अनेक लक्षण पाये जाते हैं जिनसे विदित होता है कि यह सांख्य सिद्धान्त का प्रदर्शक अवश्यमेव है। पूर्व दशोपनिषदों में सांख्यप्रणेता कपिल सांख्याभ्युपगत प्रकृति-प्रधान और सांख्य ये ही शब्द नहीं

आये हैं किन्तु इसमें वे सब ही सुश्रुत होते हैं यथा—

"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति"। (श्वे० उप० ५.३)

जो परमात्मा कपिल ऋषि को ज्ञान-विज्ञानों से परिपूर्ण करता है, इतने कथन से ऋषि कपिल की परम श्रेष्ठता, परम ज्ञानदर्शिता और जीवनमुक्तता दिखलाई गई है। इतर व्यास प्रभृति दर्शन-रचयिताओं का अभिसन्धि किन्हीं सुप्रसिद्ध उपनिषदों में नहीं। पुनः—

२. छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः।।
(श्वे० उप० ४.९)

इसमें कहा गया है कि वह मायी इस समस्त जगत् को रचता है। उसी में माया द्वारा सब उपादान पदार्थ सन्निरुद्ध हैं। यहाँ शंका होती है कि वह मायी और माया क्या है ? इस पर आगे कहते हैं—

३. मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। (श्वे० उप० ४.११)

प्रकृति को ही माया और ईश्वर को ही मायी कहते हैं। यहाँ प्रकृति शब्द का दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। सांख्यशास्त्राभ्युपेत प्रकृति है, अन्य नहीं। उसी के अवयवों से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। उसके अवयव सत्त्व, रज और तम ये ही तीन हैं। वेदान्ताभिमत माया के अवयव नहीं अतः यह वेदान्त का वर्णन कहा नहीं जा सकता। पुनः—

४. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः। इत्यादि (श्वे० उप० १.९)

प्रधान क्षर और परमात्मा अमृताक्षर है। क्षर नाम परिणामी का है। प्रधान यद्यपि नित्य माना गया है, तथापि यह परिणामी अर्थात् परिणामी नित्य है। यहाँ भी सांख्याभिप्रेत प्रधान ही ज्ञात होता है। प्रकृति का एक नाम प्रधान है। पुनः—

५. यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः देव एकः स्वमावृणोति। इत्यादि। (श्वे० उप० ६.१०)

जो देव ऊर्णनाभ के समान प्रधानज अर्थात् प्रधान द्वारा उत्पन्न सृष्टिरूप तन्तुओं से निज कृत जगत् को आच्छादन किये हुए विद्यमान है। यहाँ भी प्रधानज तन्तुओं से महदादि कार्य ही अभिप्रेत है। पुनः—

६. तत्कारणं सांख्ययोगाभिगम्यम्। (श्वे.उप० ६.१३)

सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र द्वारा उस कारण का अधिगम होता है। इत्यादि अनेक प्रमाण इस उपनिषद् से उद्धृत किये जा सकते हैं, जो सांख्यमत

के प्रतिपादक हैं।

अब विवादास्पद विषय को लीजिये—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

(श्वे॰ उप॰ ४.५)

प्रथम "तेजोऽबन्न" अजा नहीं क्योंकि वे तीनों कार्य हैं। द्वितीय वे एक नहीं किन्तु तीन हैं। तद्विपरीत प्रकृति एक है और अजा भी है "न जायत इत्यजा"। पुनः यहाँ आत्मभेद का प्रतिपादन है। कोई भुक्त और बद्ध जीवात्मा होता है। यह अभ्युपगम वेदान्त का अनिष्ट है। अतः यह मन्त्र सांख्यप्रतिपादक है। जब पूर्वोक्त अनेक बातें सांख्य की इसमें पायी जाती हैं, तब इस श्रुति को अन्यपरक लगाना हठमात्र है। एतत्समान ही वक्ष्यमाण श्रुति पर ध्यान दीजिये। यथा—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं सदा विन्दते ब्रह्मैतत्।।

(श्वे॰ उप॰ १.९)

(ज्ञाज्ञौ) ज्ञ= विवेकी और अज्ञ= बद्ध (द्वौ+अजौ) इस प्रकार द्विविध जीवात्मा है (ईशानीशौ) विवेकी जीव ईश्वर अर्थात् मुक्त और मूढ जीव अनीश है और (एका+अजा) एक अजा प्रकृति है, जो प्रकृति (भोक्तृभोगार्थयुक्ता) पुरुषों के लिये भोग और अपवर्ग सिद्ध करने में सदा युक्ता है (अनन्तः+च+आत्मा) पुरुष अनन्त है (विश्वरूपः) समस्त रूपधारी और (अकर्त्ता) अकर्त्ता है। (त्रयम्) दो बद्ध और मुक्त जीव और तीसरी प्रकृति ये तीनों जब ब्रह्म को पाते हैं, तब ही सुख प्राप्त होता है।

इस विषय को अतिविस्तृत करना नहीं चाहता। स्वयं विद्वद्वर्ग इस उपनिषद् को विचारें। इतने लेख से अवश्य विदित होता है कि वेदान्तप्रणेता और भाष्यकार दोनों सांख्यशास्त्र के महाशत्रु थे। शास्त्रकर्त्ताओं को उचित है कि वे अपने-अपने तन्त्रों और स्मृतियों को स्वतन्त्रता से रचें, विविध युक्तियाँ दिखलावें और यदि अभेद हो तो दूसरे के मतों को सत्यस्वरूप में प्रकाशित करें। किमधिकम्।

श्री शंकराचार्य प्रभृत्यनुसार ईश्वर-वाक्य गीता भी अद्वैत की पोषिका नहीं किन्तु त्रैतवाद की ही, सेश्वर सांख्यमत की ही, पुष्टिकारिका गीता है। आगे इसी विषय को दिखलाते हैं।

गीता और प्रकृति

जब सांख्यशास्त्र का प्रचार प्रबलता और अधिकता से देश में हो गया था

और लोग सांख्य का तत्त्व न समझ ईश्वरविमुख होते जाते थे, उस समय नाना भावों को लेकर किन्हीं कवि ने गीता रची है। सांख्य के बहुत से मन्तव्यों का स्वीकार और बहुत का गुप्त रीति से खण्डन भी करती है। गीता में आदि से अन्त तक सांख्यमत का अभिसन्धि (सम्बन्ध) पाया जाता है। हम यहाँ गीता से अनेक प्रमाण उद्धृत करते हैं।

सांख्ययोगौ पृथग् बाला प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। (गीता ५.४,५)

सांख्य और योग दोनों पृथक्-पृथक् हैं, यह बालक कहते हैं, पण्डित नहीं। इन दोनों में से किसी एक मार्ग के अनुष्ठाता इन दोनों का फल पाते हैं।।४।। सांख्यों से जो स्थान पाया जाता है, योगों से भी उसकी प्राप्ति होती है।।५।।

वर्तमानकालिक सांख्य और योग शास्त्र के देखने से सिद्धान्तों में दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। साधारण जन को विदित होता है कि योग तो आस्तिक शास्त्र है और सांख्य नास्तिक है। यदि सांख्य नास्तिक शास्त्र होता, तो बौद्ध, जैनादिवत् इसको भी त्यागते किन्तु आर्यों में अब तक इसका प्रचार चला आता है। अतः सांख्य भी आस्तिक शास्त्र है, इसमें सन्देह नहीं। अतः गीता भी कहती है कि सांख्य और योग दोनों एक ही हैं। पुनः—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्त्तते।। (गीता ९.८,१०)

यहाँ सांख्य शास्त्राभिप्रेत प्रकृति का विशेषरूप से वर्णन है। इन दोनों श्लोकों का अर्थ पूर्व[१] में लिखा गया है। गीता की माया भी इसी प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

गीता के सप्तम अध्याय में प्रथम गुणों का निरूपण कर उनके प्रताप को इस प्रकार दिखलाते हैं, यथा—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिःसर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।। (गीता ७.१३)

त्रिविध गुणमय भावों से यह सब जगत् मोहित है। अतः वह मुझको नहीं

१. द्र॰– पू॰ पृ॰ ३२५।

जानता, मैं उन गुणों से पर और अव्यय (निर्विकार) हूँ। इससे विस्पष्ट है कि जगत् त्रिगुणों से मोहित हो ईश्वर को भूलता जाता था। अब आगे दिखलाते हैं कि इससे कैसे छूट सकते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। (गीता ७.१४)

दैवी और गुणमयी (सत्त्वादिगुणविकारात्मिका) मेरी माया दुरत्यया= दुस्तरा है, यह लोक में प्रसिद्ध है, तथापि जो अव्यभिचारिणी भक्ति से मुझ ईश्वर की शरण में प्राप्त होते हैं वे इस माया से पार होते हैं।

यहाँ देखते हैं कि सांख्यशास्त्रांगीकृत त्रिगुणमयी माया का ही वर्णन है। सांख्य ही गुण को तीन भागों में बाँटता है। जिनका क्रम से सत्त्व, रज और तम नाम रखता है। अतः नवीन वेदान्त स्वीकृत माया का गीता में अभिसन्धि (सम्बन्ध) नहीं क्योंकि वेदान्त शास्त्र माया को त्रिगुणमयी नहीं कहता है। अतः शंकराचार्य प्रभृतियों की परम माननीया भगवद्वाक्य गीता भी अद्वैत मत की पोषयित्री नहीं है। तब श्री शंकराचार्य आदि किस आधार पर अद्वैत मत का अभिमान करते हैं।

सिद्धानां कपिलो मुनिः। (गीता १०.२६)
मुनीनामप्यहं व्यासः। (गीता १०.३७)

गीता में ऊपर के दो पद्यांश उद्धृत हुए हैं। यहाँ कपिल आचार्य को सिद्ध मुनि कहते हैं, इससे गीता का मर्म अच्छी तरह विदित हो जाता है। वेदान्तसूत्ररचयिता व्यास जी किसी नवीन शास्त्र के प्रणेता नहीं थे। केवल औपनिषद धर्म के रक्षक व्याख्याता और संगतिकारक थे। उपनिषदों के रक्षार्थ इन्होंने सूत्र रचे। कपिलाचार्य एक नवीन शास्त्र के कर्त्ता थे। प्रत्युत तर्क शास्त्र की उत्पत्ति ही इनसे हुई। दर्शन शास्त्र के आदि मूल कारण ये ही कपिल जी हुए। इनके नूतन आविष्कृत विचार ने भारतवासियों के हृदयपटल पर दृढतर घर बना लिया। इनका प्रभाव यहाँ तक प्रवृद्ध हुआ कि इस शास्त्र के उद्देश्य से अपने समय के परम प्रसिद्ध मुनि श्वेताश्वतर ने एक उपनिषद् ही रच दी। योगशास्त्र ने भी इसकी कतिपय न्यूनता को पूर्ण करता हुआ सांख्य का पूर्ण शिष्य बन इसकी पुष्टि की। इत्यादि विशेष कारणवशीभूत गीतारचयिता को कहना पड़ा कि कपिल जी सिद्ध मुनि थे। व्यास केवल मुनि थे। मैं यहाँ दिखलाता कि निरीश्वर सांख्य के प्रवाह को रोकने, उससे कतिपय उत्तम शिक्षा लेने और अन्यान्य[1] उस

१. हस्तलेख में 'अन्याय' पाठ है।

समय के प्रचलित भावों इत्यादिकों को बढ़ाने-घटाने के लिए ही गीता की प्रवृत्ति हुई है। किन्तु ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ वैसा नहीं कर सकता। आगे अतिसंक्षिप्त से दो-चार बातें गीता से लेकर लिखी जाती हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। (गीता ७.४)

१. भूमि, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. मन, ७. बुद्धि, ८. अहंकार यह अष्टधा अपरा प्रकृति कहलाती है। यह सांख्य का ही वर्णन है क्योंकि पञ्च महाभूतों और मन आदि का निरूपण इसी आशय को कह रहा है। बुद्धि शब्द से अव्यक्त और महत्तत्त्व का ग्रहण है। महत्तत्त्व का कार्य अहंकार है और अहंकार का कार्य मनोरूप इन्द्रिय है। दश इन्द्रियों का भी उपलक्षक मनः शब्द है। आगे इसी अष्टधा प्रकृति के चतुर्विंशति भेद बतलावेंगे। यथा—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा।। (गीता १३.५)

यहाँ पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त (प्रकृति), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियविषय= शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। ये सब मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। इन चौबीस तत्त्वों को आठ में ही अन्तर्हित किया है। इनमें आत्मा की गिनती नहीं है। आत्मा का वर्णन आगे है। ये तत्त्व जड़ हैं। इस हेतु इनको एक वर्ग में रखा है। आत्मा चेतन है, अतः इससे पृथक् उसका निरूपण है। एवमस्तु, अब आगे जीवरूपा परा प्रकृति को देखें। यथा—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। (गीता ७.५,६)

पूर्वोक्त अष्टधा प्रकृति अपरा अर्थात् निकृष्टा है क्योंकि वह जड़स्वरूपा है। इससे परा प्रकृति वह है जो जीव संज्ञक है। यह उत्कृष्टा प्रकृति है क्योंकि चेतना है, इससे यह जगत् धृत है। हे महाबाहो ! इस चराचर जगत् की ये ही जड़रूपा और चेतनरूपा दोनों प्रकृतियाँ योनि= मूल कारण हैं। हे अर्जुन ! वास्तव में मैं ही इस जगत् का प्रभव (उत्पत्तिस्थल) और प्रलय हूँ। नवीन वेदान्तियो! कहिये यह वर्णन सांख्य का है या किसी अन्य का ? और इससे प्रकृति, जीव और ब्रह्म इन तीनों के अनादित्व, नित्यत्व और करणत्व सिद्ध होते

हैं या नहीं ? तब अद्वैतवाद का घण्टाघोष कहाँ चला जायेगा ? क्या इससे त्रैतसिद्धान्त की सिद्धि नहीं होती ? पुनः—

तेरहवें अध्याय में इसी विषय का पुष्टिकारक यह श्लोक है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। (गीता १३.१९)

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को अनादि समझो। देहेन्द्रियविकारों और गुण परिणाम सुख-दुःख-मोहों को प्रकृतिजन्य समझो।

कार्यकरणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।।(गीता १३.२०-२२)

कार्य= शरीर। करण= सुख, दुःख साधन इन्द्रिय इनका जो कर्त्तृत्व= तदाकार परिणाम उसमें हेतु प्रकृति ही कपिलादि मुनि द्वारा कही गई है। पुरुष जो जीव वह सुख-दुःखों के भोक्तृत्व का हेतु कहा गया है। भाव इसका यह है कि यद्यपि अचेतना प्रकृति का स्वतः कर्त्तृत्व नहीं हो सकता और अविकारी पुरुष का भी भोक्तृत्व सम्भव नहीं। तथापि क्रियानिर्वर्त्तकत्व कर्त्तृत्व का लक्षण है। वह कर्त्तृत्व अचेतन प्रधान का भी पुरुषों के अदृष्टवश हो सकता है, जैसे वह्नि का ऊर्ध्वजलन, वायु का तिर्यग्गमन, वत्स के अदृष्टवश स्तनों से दुग्धक्षरण इत्यादि चेतन के अधिष्ठातृत्व में होता है। इसी प्रकार पुरुष के सन्निधान से प्रकृति में कर्त्तृत्व कहा जाता है। सुख-दुःख के ज्ञान का नाम भोक्तृत्व है। यह चेतन का ही धर्म है। अतः प्रकृति अर्थात् बुद्धि के सन्निधान से पुरुष में भोक्तृत्व कहा जाता है।।२०।। तथापि अविकारी जन्मरहित पुरुष में भोक्तृत्व कैसे ? इस शंका की निवृत्ति के लिये आगे के दो श्लोक कहे जाते हैं। प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृतिजन्य बुद्धि में स्थित हो, बुद्धि को भिन्न न समझता हुआ जीव प्रकृतिजन्य गुणों को भोगता है। (सदसद्योनिजन्मसु) देवादि योनि सती योनि और पक्षिप्रभृतियों की योनि असती योनि कहलाती है। इनमें जो जन्म उनके साथ जो इस आत्मा का शुभाशुभ कार्य इन्द्रियों के साथ वह कारण कहलाता है। इसका भाव यह है कि आत्मा अजन्मा है, तथापि इसका जन्म-मरण कहा जाता है। यह जन्म-मरण शब्द देह के संयोग से आत्मा में उपचरित होता है। वास्तव में जीवात्मा का जन्म-मरण

नहीं। उस प्रकृति के संयोग से ही जीवात्मा का संसार होता है।।२१।। किन्तु यह जीवात्मा प्रकृति के कार्य इस देह में रहता हुआ भी पर अर्थात् भिन्न है क्योंकि वह उपद्रष्टा= पृथक् रहता हुआ समीप में स्थित हो यह केवल साक्षिमात्र है। अनुमन्ता= सन्निधिमात्र से अनुग्राहक। भर्त्ता= विधारक। भोक्ता= पालक। महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है। परमात्मा इसलिये कि वह महान् आत्मा है। पुनः—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।(गीता १३.२३,२४)

गुणों के साथ प्रकृति को और पुरुष को जो इस प्रकार जानता है। वह यहाँ वर्त्तमान रहकर भी पुनरपि जन्म नहीं लेता।।२३।। कोई ध्यान योग से आत्मा में आत्मा द्वारा (मनो द्वारा) आत्मा को कोई सांख्य से, योग से और कर्म योग से आत्मा को देखते हैं।।२४।।

यही निरीश्वर सांख्य का मन्तव्य है। जब प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि कहे जाते हैं और तीसरा आस्तिक चिन्तनीय परमात्मा स्वीकृत है, तब अद्वैतवाद की सिद्धि शंकराचार्य प्रभृत्यनुसार गीता से कैसे होती है ? हाँ, पक्षपात के वशीभूत हो, ये श्लोक व्यावहारिक कह दिये जायँ अथवा इनका आशय और बतलाया जाय यह दूसरी बात है। आठवें अध्याय में इस प्रकार वर्णन है। यथा—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।(गीता ८.१८,१९)

हे पार्थ ! अहरागमे= सृष्टि के आदि में सभी व्यक्तियाँ= चराचर भूत उसी अव्यक्त= प्रकृति से होती हैं। प्रलयकाल में उसी अव्यक्तसंज्ञक प्रधान में सब व्यक्तियाँ लीन होती हैं।।१८।। कृतनाश और अकृताभ्यागम की प्राप्ति नहीं, इस शंका की निवृत्ति के लिए प्रलयप्रवाह का भी अविच्छेद आगे के श्लोक से दिखाते हैं। चराचर प्राणियों का समूह जो पहिले था वही आदि सृष्टि में होकर प्रलयकाल में प्रकृति में लीन हो जाता है।।१९।।

वास्तव में गीता सांख्यसिद्धान्त को बहुत विस्पष्ट करती है। पहले बतला चुकी है कि प्रकृति से सृष्टि होती है और यहाँ यह सृष्टि उसी में लीन होती है,

ठीक है। कार्य कारण में लीन होता है। अब इससे बढ़कर त्रैत-सिद्धान्त का पोषक अन्य प्रमाण क्या हो सकता है ? इसी का पोषक नवम अंध्याय का यह श्लोक है। यथा–

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।(गीता ९.७)

हे कुन्तीपुत्र ! प्रलयकाल में सब भूत मेरी प्रकृति त्रिगुणात्मिका माया में लीन होते हैं। पुनः कल्पादि में उनका मैं विसर्जन करता हूँ अर्थात् प्रकृति से निकाल प्रकाशित करता हूँ। इत्यादि।

गुणत्रयविभाग

गुणत्रयविभाग गीता में अधिकता से वर्णित है। यह प्रभाव सांख्य शास्त्र का ही है। इसके सम्बन्ध में श्लोक बहुत हैं। उन सबका उद्धरण यहाँ नहीं हो सकता। केवल यहाँ कतिपय श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। यथा–

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनाम्।।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालास्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।(गीता १४.५-१०)

हे महाबाहो ! सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। इस निर्विकार आत्मा को इस देह में ये तीनों गुण पशुवत् बाँधते हैं।।५।। इनमें सत्त्व गुण निर्मल, प्रकाशक और अनामय है। हे अनघ ! सुखसंग से और ज्ञानसंग से आत्मा को बाँधता है।।६।। रजो गुण रागात्मक और तृष्णा और संग से उत्पन्न होता है। यह कर्मसंग से आत्मा को बाँधता है।।७।। तमो गुण अज्ञानजन्य और सर्वात्माओं का मोहन है। प्रमादालस्य और निद्रा इत्यादि से आत्मा को बाँधता

है।।८।। सुख में सत्त्व का, कर्म में रज का संग है। प्रमाद में ज्ञान को ढाँककर तम का संग होता है। रज और तम का अभिभव कर सत्त्व की, रज और सत्त्व का अभिभव कर तम की और तम और सत्त्व का अभिभव कर रज की प्रवृत्ति होती है।।१०।।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।
नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।(गीता १४.१७-२०)

सत्त्व से ज्ञान, रज से लोभ, तम से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं।।१७।। सत्त्वस्थ ऊर्ध्व जाते हैं। राजस मध्य में रहते हैं। तामस अधोलोक में जाते हैं।।१८।। जब यह आत्मा गुणों से पर ईश्वर को समझता है, तब वह मुक्ति लाभ करता है।।१९।। देहोद्भव इन तीनों गुणों का उल्लंघन कर जन्म, मृत्यु, जरा और अन्यान्य क्लेशों से यह जीवात्मा मुक्त हो अमृतत्व को पाता है।

मैं गीता से कहाँ तक प्रमाण दिखलाऊँ। आगे एक प्रमाण दिखा कर इसको समाप्त करूँगा। गीता एक प्रसिद्ध पुस्तक है, इस देश में इसका बहुत प्रचार है। इसके ऊपर दो हजार टीका-टिप्पणियाँ हुई हैं। देश के किञ्चित् बुद्धिमान् जन भी गीता की टीका अवश्य लिख छोड़ जाते हैं। कितने टीकाकारों की टीकाएँ अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं, न होंगी। संस्कृत से लेकर भाषा तक में इसकी बड़ी व्याख्याएँ विद्यमान हैं किन्तु यह भी अन्धगोलांगल न्यायवत् ही अनुसरण हैं। गीता में ऐसी कोई विलक्षणता नहीं कि जिसके ऊपर इतनी टीकाएँ और टिप्पणियाँ हों। जब देश में अन्ध परम्परा चल पड़ती है तब ऐसा ही हुआ करता है। इस समय यूरोप देश प्रकाश में है, इसलिए वहाँ ऐसी-ऐसी बातें नहीं होतीं किन्तु नवीन-नवीन आविष्कार प्रतिदिन होते रहते हैं। यहाँ भारतवासियों में बहुत दिनों से आविष्कारशक्ति और नूतनरचनाशक्ति का ह्रास हो चुका है। अत एव प्राचीन ग्रन्थों को ही अपने-अपने अनुकूल बनाने में सारी शक्तियाँ लगा बिताते हैं। गीता का यह श्लोक सत्कार्यवादपक्ष में स्मरणीय है–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।(गीता २.१६)

इसका आशय यह है कि अभाव से भाव नहीं होता और भाव का भी अभाव नहीं होता। तत्त्वदर्शी इसको अच्छी तरह से जानते हैं। योगशास्त्र भी सेश्वर सांख्य को ही पुष्ट करता है, अद्वैत को नहीं। अतः यह भी त्रैतसिद्धान्त का ही प्रदर्शक है। इसको अतिसंक्षेप से आगे दिखलाते हैं। जिस दृश्य के संग संयोग होना ही निखिल दुःखों का कारण कहा है, उस दृश्य का स्वरूप कथन करते हैं—

सूत्र— प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।।
(यो॰ २.१८)

अर्थ— (प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्) प्रकाशशील, क्रियाशील, स्थितिशील जो यथाक्रम सत्त्व, रज, तम यह गुणत्रय है वह (दृश्यम्) दृश्य कहा जाता है। यह गुणत्रय कीदृश है कि (भूतेन्द्रियात्मकम्) महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्र, इन्द्रिय तथा भूतरूप से परिणत होने से भूतेन्द्रियस्वरूप है। किसके लिए गुणत्रय भूतादि रूप से परिणत होते हैं ? इसका उत्तर कहते हैं (भोगापवर्गार्थम्) पुरुष के भोग और अपवर्ग रूप प्रयोजन के अर्थ भूतेन्द्रियादि रूप से परिणत जो प्रकाशादि धर्मशील तीनों गुणों का [समुदाय, वह] दृश्य है।

ये प्रकाशादि स्वभाव वाले संयोग-विभाग धर्मशील तीनों गुण ही साम्यावस्था को प्राप्त हुए प्रधान वा प्रकृति शब्द के वाच्य हो जाते हैं। यद्यपि ये तीनों गुण भिन्न-भिन्न धर्म वाले हैं, तथापि इनका भाग परस्पर उपरक्त ही रहता है। अत एव ये तीनों गुण परस्पर अंगांगी भाव से मिलकर ही एक कार्य को उत्पन्न करते हैं, कुछ पृथक्-पृथक् नहीं। परस्पर अंगांगी भाव होने पर भी इन गुणों की शक्ति भिन्न-भिन्न ही रहती है। अतः निखिल कार्य विलक्षण हैं। मिलकर कार्य करने से ही ये तीनों गुण तुल्यजातीय, अतुल्यजातीय कार्यों के आरम्भक होते हैं।

परन्तु इतना विशेष है कि स्व-स्वप्राधान्य काल में ये गुण उद्भूतवृत्ति वाले होते हैं और गौण काल में सहकारी रूप से प्रधान के अन्तर्गत हुए अनुद्भूतवृत्ति वाले होने से अनुमित होते हैं। ये तीनों गुण किसी अन्य निमित्त के बिना केवल पुरुषार्थकर्त्तव्यता प्रयुक्त समर्थशील हुए एक प्रधान गुण का अनुसरण कर अयस्कान्त मणि के तुल्य सन्निधि मात्र से पुरुष के उपकारी होते हैं, एतादृश धर्मशील गुणों का ही नाम प्रधान है और यही दृश्य कहा जाता है।

वह यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है अर्थात् सूक्ष्म-स्थूल भूतरूप से तथा सूक्ष्म-स्थूल इन्द्रियरूप से परिणत होने से भूतेन्द्रियरूप है। सो वह जो भूतादि रूप से प्रकृति का परिणाम है, वह निष्प्रयोजन नहीं किन्तु सप्रयोजन है। अत एव

'भोगापवर्गार्थम्' यह कहा है अर्थात् पुरुष के भोगापवर्गार्थ ही यह प्रकृति भूतादि रूप से परिणत होती है, कुछ निष्प्रयोजन नहीं।

वहाँ अविभागापन्न गुणों के इष्टानिष्ट स्वरूप का अवधारण करना भोग है और गुणों से विभक्त भोक्ता पुरुष के स्वरूप का अवधारण करना अपवर्ग है। इन दोनों प्रयोजनों से अन्य कोई तीसरा प्रधानवृत्ति का प्रयोजन नहीं है।

पञ्चशिखाचार्य ने भी **"अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तृषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छंकते"**[१] इस वाक्य से अविभागापन्न गुणों के स्वरूपनिश्चय को ही भोग कहा है।

यद्यपि ये भोग-अपवर्ग रूप दोनों पुरुषार्थ बुद्धिकृत होने से और बुद्धि में वर्त्तने से बुद्धि के ही धर्म हैं, तथापि जैसे जय वा पराजय योद्धा में वर्त्तमान होने पर भी स्वामीभूत राजा में व्यवहृत होते हैं क्योंकि वह उसके फल का भोक्ता है, एवं बन्ध वा मोक्ष बुद्धि में वर्त्तमान हुआ ही पुरुष में व्यवहृत होता है क्योंकि पुरुष बुद्धि का स्वामी और उसके फल का भोक्ता है।

वहाँ भोग-अपवर्ग रूप पुरुषार्थ का समाप्त न होना ही बुद्धिनिष्ठ बन्ध है और विवेकख्याति की उत्पत्ति से उस पुरुषार्थ की परिसमाप्ति हो जाना मोक्ष है।

जिस प्रकार बन्ध-मोक्षरूप बुद्धि धर्मों का पुरुष में आरोप किया जाता है, इसी प्रकार ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, तत्त्वज्ञान, अभिनिवेश आदि धर्म भी बुद्धि में वर्त्तमान हुए पुरुष में आरोपित किए जाते हैं क्योंकि यही उनके फल का भोक्ता है।

अब पूर्वोक्त दृश्यगुणों के स्वरूप और अवान्तर भेद के निरूपणार्थ उत्तर सूत्र का आरम्भ करते हैं—

सूत्र— विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि।। (यो॰ २.१९)

अर्थ— विशेष, अविशेष, लिंगमात्र, अलिंग यह चार तीनों गुणों के पर्व हैं।

विशेष— अविशेषसंज्ञक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक पञ्चतन्मात्राओं के कार्य जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी ये पाँच भूत और अहंकार के कार्यभूत जो श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण नामक पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, हस्त, पाद, गुद, उपस्थ नामक पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और एकादश सर्वार्थ (ज्ञानकर्मेन्द्रिय-स्वरूप) मन ये षोडश गुणपरिणाम विशेष कहे जाते हैं क्योंकि ये सब शान्त, घोर, मूढ रूप विशेष धर्मों से युक्त हैं।

अविशेष— एकलक्षण शब्दतन्मात्र, द्विलक्षण स्पर्शतन्मात्र, त्रिलक्षण रूपतन्मात्र,

१. योगदर्शन—व्यासभाष्य (२.१८) में उद्धृत।

चतुर्लक्षण रसतन्मात्र, पञ्चलक्षण गन्धतन्मात्र ये पाँच और इनका कारणभूत अहंकार ये षट् अविशेष हैं।

ये अविशेषसंज्ञक षट् सत्तामात्र महान् आत्मा (महत्तत्त्व) के परिणाम हैं क्योंकि इन षट् से पर और इन छहों का कारणभूत जो सत्तामात्र महत्तत्त्व है, उस सत्तामात्र महत्तत्त्व में सूक्ष्मरूप से स्थित हुए ही ये षट् पञ्चभूतादि कार्योत्पादन द्वारा स्थूलरूप में वृद्धि काष्ठा को प्राप्त होते हैं और फिर लयोन्मुख हुए भी ये षट् उस सत्तामात्र महत्तत्त्व में सूक्ष्म रूप से अवस्थित हुए जो निःसत्ता-सत्त-निःसदसद्-निरसद्-अव्यक्त-अलिंग प्रधान है, उसमें लीन हो जाते हैं। षट् महत्तत्त्व के परिणाम हैं।

लिंगमात्र— महत्तत्त्व का कारणभूत जो निःसत्तासत्त पदवाच्य गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधानाख्य परिणाम, वह लिंग है।

इन गुणों की चारों अवस्थाओं में से विशेष, अविशेष, लिंगमात्र ये तीनों अवस्थाएँ पुरुषार्थकृत होने से अनित्य हैं और अलिंगावस्था नित्य है क्योंकि अलिंगावस्था में पुरुषार्थतारूप कारण के अभाव से वह पुरुषार्थकृत न होने से अजन्य है।

अर्थात् जब शब्दादि स्थूल विषय उत्पन्न होंगे, तब ही पुरुष को भोग हो सकता है, ऐसे नहीं, और स्थूल विषय महत्तत्त्व आदि द्वारा उत्पन्न होते हैं। अतः विशेष, अविशेष, लिंगमात्र ये तीनों गुणपरिणाम पुरुषार्थयुक्त होने से अनित्य हैं और अलिंगसंज्ञक प्रधानावस्था पुरुषार्थयुक्त न होने से नित्य है।

यहाँ इतना विशेष यह भी जान लेना चाहिए कि— इन सब परिणामों में अनुगत जो गुणत्रय है, वह वस्तुतः न तो उत्पन्न ही होते हैं और न कहीं लय ही होते हैं किन्तु अतीत-अनागत-वर्त्तमान-उत्पत्ति-विनाश-धर्मशील महत्तत्त्वादि द्वारा उत्पत्ति-विनाशशील प्रतीत होते हैं। जैसे कि लोक में देवदत्त दरिद्र हो गया क्योंकि इसका धनहरण हो गया और गाय आदि पशु सब मर गए हैं। यह दरिद्र व्यवहार गाय आदि के मरने से ही देवदत्त में आरोपित किया जाता है, वैसे महत्तत्त्वादि की उत्पत्ति-नाश से गुणों की उत्पत्ति वा नाश व्यवहृत होता है, कुछ वस्तुगत्या गुणजन्य वा नाशशील नहीं।

यहाँ पर सत्कार्यवाद होने से प्रथम कार्य जो लिंगमात्र महत्तत्त्व है, वह उत्पत्ति से पूर्व प्रधान में सूक्ष्म रूप से स्थित होकर ही फिर सृष्टिकाल में प्रधान से विभक्त हो जाता है, कुछ पहिले असत् नहीं था, यह जानना चाहिए। एवं षट् जो अविशेष हैं, वे भी लिंगमात्र में पहले सूक्ष्मरूप से स्थित होकर ही फिर अभिव्यक्त होते हैं। एवं विशेष भी अविशेष में प्रथम स्थित होकर ही फिर विभक्त

होते हैं।

और षोडश विशेष संज्ञक पदार्थों से आगे कोई तत्त्व है नहीं, अतः विशेषों का कोई अन्य तत्त्व कार्य नहीं है। अतः उनमें न कोई सूक्ष्म रूप से ही स्थित है और न कोई तत्त्वान्तर उत्पन्न हो विभक्त होता है। अत एव इन सोलह पदार्थों का नाम विकृति कहा जाता है।

यद्यपि इन स्थूल पदार्थों का तत्त्वान्तर रूप परिणाम नहीं है, तथापि धर्म-लक्षण-अवस्था संज्ञक तीन परिणाम वाले[१] होने से ये परिणामी जानने चाहिएँ।

इसी प्रकार दृश्य का निरूपण कर अब द्रष्टा के स्वरूपनिश्चयार्थ यह अग्रिम सूत्र आरब्ध किया जाता है—

सूत्र— द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।। (यो० २.२०)

अर्थ— (दृशिमात्रः) निखिल धर्मों से रहित जो चेतनमात्र अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुष वह (द्रष्टा) द्रष्टा कहा जाता है। यदि ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान का आश्रय कैसे ? इसका उत्तर कहते हैं "शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः" अर्थात् यद्यपि वह स्वभाव से ज्ञान का आधार न होने से शुद्ध ही है तथापि प्रत्यय संज्ञक बुद्धि धर्म ज्ञान को अनुसरण कर ज्ञान का आधार कहा जाता है।

अर्थात् यद्यपि पुरुष ज्ञानस्वरूप ही है, तथापि बुद्धिदर्पण में प्रतिबिम्बित हो उस बुद्धि के धर्मभूत ज्ञान का अनुकारी होने से यह पुरुष प्रत्ययानुपश्य कहा जाता है।

सो यह दृशिमात्र चेतनभूत पुरुष न तो बुद्धि के समान रूप वाला है और न अत्यन्त विभिन्न रूप वाला है अर्थात् यह पुरुष बुद्धि से विलक्षण है क्योंकि ज्ञात-अज्ञात विषय होने से बुद्धि परिणामिनी[२] है अर्थात् बुद्धि के विषयभूत जो गो, घट, पट आदि पदार्थ हैं, वे कभी ज्ञात होते हैं और कभी अज्ञात होते हैं। और पुरुष का विषयभूत जो बुद्धितत्त्व है, वह सदा पुरुष को ज्ञात ही रहता है। अतः पुरुष[३] सदा एकरस होने से अपरिणामी है क्योंकि पुरुष का विषयभूत बुद्धितत्त्व सदा ज्ञात ही रहता है। अतः ये दोनों परस्पर विलक्षण हैं। एवं संहत्यकारकत्व होने से बुद्धि परार्थ है और पुरुष स्वार्थ है। अतोऽपि (इससे भी) दोनों विलक्षण हैं। एवं शान्त, घोर, मूढाकार से परिणत हो बुद्धि शान्त, घोर मूढ पदार्थ विषयक अध्यवसायशील होने से त्रिगुण तथा अचेतन है और पुरुष गुणों का उपद्रष्टा मात्र होने से गुणातीत और चेतन है। अतः ये दोनों विलक्षण होने से असरूप हैं।

एतावता ये दोनों अत्यन्त विरूप हैं, यह भी नहीं जानना चाहिए क्योंकि

१.द्र०— योग० ३.१३। २. हस्तलेख में 'पुरुष अपरिणामी' पाठ है। ३. हस्तलेख में 'बुद्धि' पाठ है।

यह पुरुष प्रत्ययानुपश्य है अर्थात् बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान को प्रकाशता हुआ बुद्धिवृत्ति रूप न होने पर भी बुद्धिवृत्तिस्वरूप से भान होता है।

पञ्चशिखाचार्य ने भी **"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते।"**[१]

इस वाक्य से बुद्धिवृत्ति के अनुकार से पुरुष को द्रष्टा कहा है। इस प्रकार दृश्य और द्रष्टा का स्वरूप वर्णन कर अब स्व-स्वामिभावरूप सम्बन्ध का उपयोगी जो दृश्यनिष्ठ पुरुषार्थत्व, उसका निरूपण करते हैं–

सूत्र– तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।। (यो॰ २.२१)

अर्थ– (दृश्यस्य) पूर्वोक्त दृश्य का जो (आत्मा) स्वरूप है, वह (तदर्थ एव) उस द्रष्टृभूत पुरुष के ही अर्थ है। अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुष की विषयता को प्राप्त हुआ जो बुद्धि आदि दृश्य है, उसका स्वरूप स्वार्थ नहीं है किन्तु पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप पुरुषार्थ का सम्पादक होने से परार्थ है।

जिस हेतु से यह दृश्य का जड़ रूप पुरुष के भोगापवर्गार्थ है, इस हेतु से ही पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ के सम्पादन से अनन्तर यह दृश्य विवेकी पुरुष के प्रति अदृश्य हो जाता है।

भाव यह है कि सुखाद्यनुभवरूप भोग तथा विवेकख्यातिरूप अपवर्ग ही दृश्य का प्रयोजन है और जब पुरुष को निजरूप का ज्ञान हो जाता है, तब प्रयोजन के अभाव से दृश्य का विलय हो जाता है क्योंकि विवेकख्याति रूप अन्तिम प्रयोजन के सम्पादन से अनन्तर अन्य प्रयोजन के अभाव से दृश्य की प्रवृत्ति का सम्भव नहीं।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि यदि विवेकख्याति के उदय से दृश्य का स्वरूपहान होने से नाश हो जाता है, तो अन्य पुरुषों के भोगापवर्ग का सम्पादन कैसे होगा ? क्योंकि विवेकी की दृष्टि से ही दृश्य नष्ट हुआ है, कुछ सर्व की दृष्टि से नहीं। अतः जिनको विवेकज्ञान नहीं हुआ, उनकी दृष्टि से दृश्य के विद्यमान होने से अन्यों का भोगापवर्ग होना सम्भव है।

वही सूत्रकार कहते हैं–

सूत्र– कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वाद्।। (यो॰ २.२२)

अर्थ– (कृतार्थम्+प्रति) विवेकख्याति की उत्पत्ति द्वारा सम्पादन कर दिया

१. द्र॰– योग॰ व्यासभाष्य (२.२०)।

है अर्थ जिस पुरुष का उस पुरुष के प्रति (तत्+नष्टम्+अपि) यह दृश्य नाश को प्राप्त होता हुआ भी है तो भी (अनष्टम्) अन्य विवेकी की अपेक्षा से अनष्ट पदार्थ विद्यमान ही है क्योंकि (अन्यसाधारणत्वाद्) वह दृश्य अन्य सब पुरुषों का साधारण है। अर्थात् दृश्य का जो भोगापवर्गसम्पादन रूप प्रयोजन है, वह कुछ एक पुरुष के लिये नहीं है, जिससे एक पुरुष को विवेक-उदय होने से दृश्य के अभाव से अन्य पुरुषों का भोगापवर्ग सम्पादन न हो, किन्तु निखिल पुरुषों के लिये दृश्य की साधारण प्रवृत्ति होने से विवेकी पुरुष की दृष्टि में कृतकार्य दृश्य नष्ट भी है परन्तु अविवेकी की दृष्टि से कृतकार्य न होने से वह अनष्ट (विद्यमान) ही है। अतः उन पुरुषों की विषयता को प्राप्त हो यह दृश्य चेतनरूप आत्मा के द्वारा निजरूप से लब्ध सत्ता वाला ही होता है, कुछ अभाव प्राप्त नहीं। अत एव प्रकृति-पुरुष के नित्य विद्यमान होने से इन दोनों के संयोग को अनादि कहा जाता है। ऐसे ही पञ्चशिखाचार्य जी ने कहा है यथा– **"धर्मिणामनादिसंयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः।"**[१] इस प्रकार अनादि स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध का निरूपण कर अब तत्प्रयुक्त संयोग के स्वरूप कथनार्थ यह अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है–

सूत्र– स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।। (यो॰ २.२३)

अर्थ– (स्वस्वामिशक्त्योः) स्वशक्ति, स्वामिशक्ति संज्ञक बुद्धि पुरुष के (स्वरूपोपलब्धिहेतुः) स्वरूप की उपलब्धि का हेतुभूत जो सम्बन्ध वह (संयोगः) संयोग कहा जाता है। अर्थात् दृश्य के पुरुष के अर्थ होने से वह स्वशक्ति है और दृश्यकृत भोगादिरूप उपकार का भाजन होने से पुरुष स्वामिशक्ति है। इन दोनों के स्व-स्वामिभावप्रयुक्त अनादि संयोग से अविवेक द्वारा जो दृश्य से भिन्न अपने रूप का यथार्थ ज्ञान है, वह अपवर्ग है। यही स्वरूपोपलब्धि है तथा च भोगापवर्ग का हेतु जो प्रकृति-पुरुष का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है, वह संयोग है, यह निष्पन्न हुआ।

सो यह प्रकृति-पुरुष का संयोग जैसे अनादि है, वैसे अनन्त नहीं जानना चाहिए क्योंकि विवेकख्याति पर्यन्त ही संयोग रहता है, फिर नहीं। अत एव दर्शन को वियोग का कारण कहा जाता है। दर्शन अदर्शन का प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) है। अतः जैसे दर्शन वियोग का कारण है, वैसे अदर्शन संयोग का कारण है।

यहाँ पर इतना विशेष यह भी जान लेना चाहिए कि ज्ञान के अज्ञान का विरोधी होने से यह ज्ञान अज्ञान का ही नाशक है, कुछ सुखादिरूप बन्ध का नहीं। अतः ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु अज्ञाननिवृत्तिप्रयुक्त

१. योग॰ व्यासभाष्य (२.२२) में उद्धृत।

बन्धनिवृत्ति द्वारा परम्परा से मोक्ष का कारण है। अर्थात् अज्ञान के अभाव से जो बन्ध का अभाव हो जाना है, वही यहाँ मोक्ष है। और ज्ञान के होने से ही बन्ध कारण अज्ञान का अभाव होता है, अतः इस अभिप्राय से ही दर्शन को कैवल्य का कारण कहा जाता है, कुछ साक्षात् कैवल्य ज्ञानजन्य नहीं है। अब यहाँ पर प्रसंग से यह विचार किया जाता है कि जिस अज्ञान का ज्ञान से अभाव होता है, वह अज्ञान किंस्वरूप है अर्थात् अविद्या किसका नाम है ? क्या गुणों के कार्यारम्भण सामर्थ्य का नाम अविद्या है ? वा द्रष्टृरूप स्वामी के भोगापवर्ग रूप अर्थ का सम्पादक चित्त का अनुत्पाद अर्थात् पुरुषार्थ की समाप्ति न होने से ज्ञान का अभाव अविद्या है ? वा गुणों की अर्थवत्ता अथवा चित्त की उत्पत्ति का बीजभूत और प्रलयकाल में चित्त के सहित ही प्रकृति में लीन जो विपर्यय-ज्ञान-वासना वह अविद्या है ? अथवा प्रधान-सम्बन्धी स्थिति-संस्कार के क्षय होने पर गति-संस्कार की अभिव्यक्ति अविद्या है ? अर्थात् प्रधान में दो प्रकार का संस्कार रहता है— एक स्थिति-संस्कार जो कि प्रलयकालीन साम्यावस्था का कारण है और एक गति-संस्कार जो कि महत्त्वादि विकारों का आरम्भक है। ऐसे ही पञ्चशिखाचार्य जी ने कहा है। यथा—

"प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्, उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव समानश्चर्चः।"[१]

एवं च गति-संस्कार के होने से जो महदादि कार्य का आरम्भ क्या इसी का नाम अविद्या है ? और कोई यह कहते हैं कि " **प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः**"[१] इस श्रुति में दर्शन-शक्ति ही अविद्या पद का वाच्य है। अर्थात् यद्यपि निखिल पदार्थ के ज्ञान में पुरुष समर्थ है, तथापि प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व पुरुष [उस]को नहीं देख सकता और सर्व कार्य करने में समर्थ दृश्य भी उसे दिखाई नहीं देता है। अतः प्रधान की प्रवृत्ति से जो पुरुष का दर्शन-सामर्थ्य क्या उसका नाम अविद्या है।

कोई यह कहते हैं कि प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों में जो परस्पर दर्शन-शक्ति वह अविद्या है। यद्यपि दृश्य जड़ है और पुरुष निर्धर्मक है, अतः दोनों का ही धर्म-दर्शन और बुद्धिरूप दृश्य की अपेक्षा से पुरुष का धर्म-दर्शन जानना अर्थात् बुद्धि और चेतन का परस्पर अविवेक होने से दोनों का ही दर्शन धर्म है। और कोई यह कहते हैं कि— शब्दादि विषयों का जो ज्ञान यही अविद्या है।

इस प्रकार अविद्या के स्वरूपनिरूपण में अनेक प्रकार के शास्त्र में विकल्प

१. योग॰ व्यासभाष्य (२.२३) में उद्धृत।

किये हैं परन्तु यह सब विकल्प सर्व पुरुषों के संग प्रकृति-संयोग में कारण होने से साधारण हैं अर्थात् यह सब पूर्वोक्त अविद्या का लक्षण उसी अविद्या में रह सकता है, जो कि प्रकृति-पुरुष के संयोग द्वारा निखिल प्रपञ्च का हेतु है। और जो अविद्या प्रत्येक पुरुष के संग बुद्धि-संयोग द्वारा सुख-दुःख-भोग के वैचित्र्य में हेतु है, उसका यह लक्षण नहीं, अतः यह लक्षण साधारण है। यदि प्रत्येक पुरुष के संग बुद्धि-संयोग का हेतु यह पूर्वोक्त अविद्या नहीं हो सकती तो फिर सुख-दुःखादि-भोग के हेतुभूत संयोग का कारण कौन अविद्या है। इसका उत्तर देते हैं—

सूत्र— तस्य हेतुरविद्या।। (यो॰ २.२४)

अर्थ— (तस्य) उस पूर्वोक्त दुःखहेतु प्रकृति-पुरुष संयोग का (हेतुः) कारण (अविद्या) विपयर्य-ज्ञान-वासना है।

अर्थात् अनादि जो विपर्यय-ज्ञान-जन्य वासना वही अविद्या पद का वाच्य है और यही असाधारण संयोग का हेतु है। भाव यह है कि जिस काल में विपर्यय-ज्ञान-वासना से बुद्धि वासित= ओत-प्रोत (संवलित) होती है, उस काल में विवेक-ख्याति रूप अन्तिम कर्त्तव्य की निष्ठा को न प्राप्त होकर साधिकार होने से प्रकृति में लीन होकर भी बुद्धि फिर उत्थित हो पुनरावृत्तिशील हो जाती है। और जब विवेक के उदय से विपर्यय-ज्ञान-वासना के अभाव से पुरुष-ख्याति-पर्यवसान हुई बुद्धि अपनी अन्तिम कर्त्तव्यनिष्ठा को प्राप्त होने से समाप्त-अधिकार हो जाती है, तब अज्ञान से रहित हुई संसार-कारण अज्ञान के अभाव से पुनरावृत्ति रहित हो जाती है, एवं च अन्वय-व्यतिरेक द्वारा विपर्यय-ज्ञान-वासना के निवर्त्तक विवेकज्ञान के उदय के अनन्तर जब ज्ञान-प्रसाद-मात्र परवैराग्य उदय हो जाता है, तब विवेक-ख्याति के निरोध द्वारा चित्त-निवृत्ति-रूप मोक्ष भी पुरुष के हस्तगत हो जाता है। अत एव विपर्यय-ज्ञान-नाश के अनन्तर बुद्धि अपुनरावृत्तिशील हो जाती है।

यहाँ पर कोई नास्तिक षण्डक के उपाख्यान से इस पूर्वोक्त वैकल्य का आक्षेप करता है, अर्थात् किसी मुग्धा भार्या ने अपने नपुंसक पति के प्रति यह कहा कि हे आर्यपुत्र ! जैसे मेरी भगिनी पुत्रवती है, तैसे मैं पुत्रवती क्यों नहीं ? तब वह नपुंसक बोला कि मरकर मैं भी तेरी सन्तान को उत्पन्न कर तुझे पुत्रवती कर दूँगा। जैसे यहाँ पर नपुंसक का वचन असंगत है, तैसे आपका मोक्षप्रतिपादन भी असंगत है अर्थात् जिसने जीवते हुए पुत्र उत्पन्न नहीं किया, वह मरकर पुत्र उत्पन्न करेगा ! जैसे यह प्रत्याशा असम्भव है, तैसे विद्यमान विवेक-ख्याति ने जब चित्तनिवृत्तरूप मोक्ष नहीं किया, तो परवैराग्य से विनष्ट हो विवेकख्याति मोक्ष

उत्पन्न करेगी, यह भी असम्भव है ? इस आक्षेप का वारण कोई आचार्यदेशीय इस प्रकार से करते हैं कि बुद्धि के भोग विवकख्यातिरूप परिणाम ही की निवृत्ति का नाम मोक्ष है, कुछ बुद्धि की निवृत्ति का नहीं अर्थात् बन्धकारण अज्ञान के अभाव से जो बुद्धि के परिणाम की निवृत्ति, उसका नाम मोक्ष है। और बन्ध के कारण अज्ञान की निवृत्ति का कारण नहीं है कि जिससे निरुद्ध होकर ज्ञान को चित्तनिवृत्ति का कारण मान कर कोई दोष हो तथा च व्यर्थ ही नास्तिकों का यह मतिविभ्रम है।[1]

चार व्यूहों में से हेय-दुःख तथा हेय-कारण संयोग का निमित्तपूर्वक निरूपण करते हैं—

सूत्र— तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।।(यो॰ २.२५)

अर्थ— (तदभावात्) उस पूर्वोक्त अज्ञान के अभाव से जो (संयोगाभावः) बुद्धि और पुरुष के संयोग का अभाव वह (हानम्) हान कहा जाता है (तद्) यह हान ही (दृशेः) ज्ञानस्वरूप पुरुष का (कैवल्यम्) केवलतारूप मोक्ष है। अर्थात् अज्ञान के अभाव द्वारा जो बुद्धि-पुरुष-संयोगाभाव-रूप आत्यन्तिक बन्धन का अभाव, वह हान है और यही पुरुष का कैवल्य अर्थात् अमिश्रीभावरूप फिर गुणों से पुरुष का संयोगाभाव है। जिस काल में दुःखकारण संयोग की निवृत्ति से दुःख का उपरम (अभाव) हो जाता है, उस काल में यह पुरुष केवल स्वरूपप्रतिष्ठित कहा जाता है।

प्रकृति और पुरुष का स्वरूप दिखला कर अब योग के अनुसार ईश्वर का स्वरूप लिखते हैं। यथा—

सूत्र— क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।।

(यो॰ १.२४)

अर्थ— (क्लेश) वक्ष्यमाण अविद्या आदि पञ्च क्लेश (कर्म) रागादि क्लेशजन्य शुभाशुभ कर्म (विपाक) धर्माधर्मजन्य सुख-दुःखरूप फल (आशय) सुख-दुःख-भोगों से जन्य विविध वासना— इन चारों पदार्थों से (अपरामृष्टः) असम्बद्ध जो (पुरुषविशेषः) अन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन वह ईश्वर है।

अर्थात् चित्त के संग एकरूपतापन्न जीव के जो औपाधिक अविद्या आदि धर्म हैं, उन धर्मों के सम्पर्क से विरहित जो विशुद्ध सत्त्वगुणप्रधान चित्तोपाधिक नित्यज्ञानैश्वर्यादि धर्मविशिष्ट सत्यकाम, सत्यसंकल्प चेतन वह ईश्वर पद का वाच्य है और सब पुरुषों से यह विशेष है।

शंका— लक्षण वही कहा जाता है जो असाधारणधर्म हो और असाधारण-

१. यह वाक्य दुःश्लिष्ट एवं अस्पष्टार्थक है।

धर्म वह है कि लक्ष्य से अन्य में न रहकर केवल लक्ष्यमात्र में ही विद्यमान रहे। एवं च यह लक्षण यदि ईश्वरमात्र में रहकर अन्य किसी में विद्यमान न होगा, तभी असाधारणधर्म होने से लक्षण कहा जायेगा अन्यथा नहीं। और यहाँ पर क्लेशादि-राहित्य रूप ईश्वरलक्षण के ईश्वर और पुरुष इन दोनों में वर्त्तने से असाधारण-धर्मत्व का सम्भव नहीं। अतः सुतरां यह लक्षण अतिव्याप्तिरूप दोष से युक्त होने से दुष्ट हुआ।

अर्थात् सांख्य-योग मत में क्लेशादि विविध धर्मों को चित्तनिष्ठ मानकर पुरुष को असंग माना जाता है। एवं च यथा ईश्वर क्लेशादिकर्मनिर्मुक्त है। तथा पुरुष भी क्लेशादिविमुक्त ही है। तथा च क्लेशादिराहित्य रूप धर्म के लक्ष्य ईश्वर से अन्य अलक्ष्य पुरुषों में वर्त्तने से यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त होने से असंगत है। एवं ईश्वर और पुरुषों के समान होने से ईश्वर को पुरुषों से विशेष कहना भी अयुक्त ही है।

समाधान— यह सत्य है कि ईश्वर और पुरुष ये दोनों स्वाभाविक क्लेशादि के सम्पर्क से शून्य हैं परन्तु इतना विशेष है कि पुरुष अविवेक से चित्त को अपने से भिन्न न जानकर उपाधिभूत चित्तनिष्ठ क्लेशादि से सम्बद्ध हो जाता है। और ईश्वर विवेक द्वारा सदा क्लेशनिर्मुक्त ही रहता है। एवं च औपाधिक क्लेशों के सम्पर्क से रहित जो चेतन वह ईश्वर है, यह लक्षण निर्दुष्ट हुआ क्योंकि पुरुषों में औपाधिक क्लेशों का सम्पर्क होने से यह लक्षण वहाँ पर वर्त्तता नहीं।

तात्पर्य यह है कि यथा राजा और सेना का परस्पर स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होने से सेनाकर्तृक जय-पराजय का स्वामिभूत राजा में व्यवहार होता है क्योंकि वह उसके फल का भोक्ता है, तथा चित्त और पुरुष का भी परस्पर स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होने से चित्त में वर्त्तमान ही अविद्यादि क्लेशों का पुरुष में व्यवहार होता है क्योंकि वह उसके फल का भोक्ता है। एवं च पुरुष में जो क्लेशादि का सम्बन्ध वा सुखादि भोग वह सब चित्तरूप उपाधिप्रयुक्त होने से औपाधिक ही है, स्वाभाविक नहीं। अत एव कठ उपनिषद् में **"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः"** (कठ॰ १.३.४) इस श्रुति द्वारा उपाधि-सम्बन्ध-प्रयुक्त ही पुरुष को भोक्ता कहा है। सो यह औपाधिक क्लेश का सम्बन्ध अविवेक-प्रयुक्त होने से विवेकशाली ईश्वर में पुरुषों से विशेषता है।

शंका— यदि क्लेशादि के सम्पर्क से रहित ही ईश्वर कहा जाता है तो मुक्त पुरुष वा प्रकृतिलीन पुरुष ही ईश्वर पद के वाच्य क्यों नहीं माने जाते क्योंकि वे भी क्लेशादि के सम्पर्क से रहित ही हैं। अत एव कपिल मुनि ने

ईश्वर-प्रतिपादक श्रुतियों को **"मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा"** (सां॰ १.९५) इस सूत्र से मुक्त और सिद्ध पुरुषों के निरूपणपरक प्रतिपादन कर फिर तृतीय अध्याय में **"स हि सर्ववित्सर्वस्य कर्त्ता", "ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा"** (सां॰ ३.५६,५७) इन सूत्रों से प्रकृतिलीनों को ईश्वर मानकर प्रकृति-पुरुष से व्यतिरिक्त ईश्वर का अभाव माना है। एवं च पुरुषविशेष कथन फिर भी असंगत हुआ क्योंकि बद्ध पुरुषों से यद्यपि विशेष है, तथापि मुक्त पुरुषों से विशेष नहीं है।

समाधान— यद्यपि मुक्त पुरुष भी क्लेशों से विनिर्मुक्त हैं, तथापि वे नित्यमुक्त नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे पूर्व क्लेशयुक्त हुए ही फिर साधनों के अनुष्ठान द्वारा प्राकृत-वैकारिक-दाक्षिणक रूप तीन बन्धनों का छेदन कर क्लेशरहित हुए हैं। एवं प्रकृतिलीन भी नित्यमुक्त नहीं क्योंकि वे भी अपनी अवधि से अनन्तर संसार में आने से भावी क्लेशों के सम्बन्ध से युक्त हैं और ईश्वर का इन क्लेशों से सम्बन्ध न भूत काल में था, न आगामी होने वाला है, इससे यह नित्ययुक्त होने से मुक्त और प्रकृतिलीन पुरुषों से विशेष है।

अर्थात् यथा मुक्त पुरुष की पूर्व बन्ध कोटि थी, ऐसे ईश्वर की भूतकाल में भी बन्ध कोटि नहीं है। एवं जैसे प्रकृतिलीन की उत्तर बन्ध कोटि की सम्भावना है, वैसे आगामी भी बन्ध कोटि ईश्वर में नहीं है किन्तु वह सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर है। अतः इन दोनों पुरुषों से विशेष है।

भाव यह है कि जो चेतनभूत, वर्त्तमान, भविष्यत् कालत्रय में ही औपाधिक क्लेशों से विमुक्त है, वही हमारे मत में ईश्वर है और मुक्त प्रकृतिलीन पुरुष कालत्रय में क्लेशों से विमुक्त नहीं है क्योंकि मुक्त पुरुष कैवल्य से पूर्व क्लेशयुक्त थे और प्रकृतिलीन पुरुष लय होने से पूर्व और अवधि के अनन्तर क्लेशयुक्त होते हैं। अतः वे ईश्वर नहीं हैं।

और पूर्वोक्त सांख्यसूत्र तो अभिप्रायान्तर पर हैं, यह अन्यत्र स्पष्ट है। किञ्च ईश्वररूप प्रेरक न मानने से जड़भूत प्रकृति की संसार-रचना में प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होगी क्योंकि यह लोक में दृष्ट है कि जो जड़ पदार्थ है, वह विना चेतन की प्रेरणा से स्वकार्य-जनन में असमर्थ होता है। जैसा कि सारथि के विना रथ, और पुरुष के असंग निष्क्रिय होने से प्रेरकत्व का सम्भव नहीं, अतः विशुद्ध सत्त्वोपाधिक नित्यज्ञानक्रियैश्वर्यशाली चेतनभूत ईश्वर अवश्य ही माननीय है। अत एव श्वेताश्वतर उपनिषद् में **"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्"** (श्वे॰उप॰ ४.१०) इस मन्त्र से ईश्वर को मायासंज्ञक प्रकृति का प्रेरक कहा है।

और गीता में भी **"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"** (गीता ९.१०) इस वचन से भगवान् ने अपने को माया का अध्यक्ष मानकर (मेरी ही प्रेरणा से

प्रकृति चराचर प्रपञ्च को उत्पन्न करती है) इस प्रकार ईश्वर को माया का प्रेरक कहा है।

यद्यपि चेतनभूत ईश्वर में ज्ञान वा प्रेरणादि क्रियारूप परिणाम का होना सम्भव नहीं हो सकता है क्योंकि वह रजस्तमो गुण रहित विशुद्ध चित्त का धर्म है और चित्त के संग नित्यमुक्त ईश्वर का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध असम्भव है, तथापि जैसे अन्य पुरुषों का अविद्याप्रयुक्त चित्त के संग स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है, वैसे ईश्वर के संग अविद्याप्रयुक्त नहीं है किन्तु चित्त के स्वभाव को जानता हुआ ज्ञानधर्मोपदेश द्वारा तापत्रयपीड़ित जनों के उद्धारार्थ ही वह विशुद्ध सत्त्वरूप चित्त को धारण करता है, कुछ अज्ञानप्रयुक्त नहीं।

एवं च अज्ञानपूर्वक ही चित्त के संग की परिणामिता का कारक होने से ईश्वर में ज्ञान वा प्रेरणा की असम्भविता नहीं है।

अर्थात् जो अविद्या के स्वभाव को न जानकर अविद्या का सेवन करता है वही भ्रान्त कहा जाता है, कुछ जानकर सेवन करने वाला नहीं। तथा च जैसे नट अपने में राम-कृष्णादिभाव का आरोप कर अनेक लीलाएँ करने से भ्रान्त नहीं कहा जाता है, वैसे ईश्वर भी चित्त द्वारा अनेक लीला करने से भ्रान्त नहीं किन्तु विद्वान् ही है।

यद्यपि धर्मज्ञानोपदेश द्वारा पुरुषों का उद्धार करने की इच्छा होने से परमेश्वर मायासंज्ञक विशुद्धसत्त्वस्वरूप चित्तरूप उपाधि को धारण करता है और उपाधि के ही धारण करने से पूर्वोक्त इच्छा होती है, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष का सम्भव होता है, तथापि बीजांकुरवत् संसार के अनादि होने से व्यवस्था सम्भव कर दोषाभाव जान लेना चाहिए।

अर्थात् जैसे कोई पुरुष यह प्रणिधान (चिन्तन) कर शयन करे कि मैं प्रातःकाल इस समय में उत्थित होकर अमुक कार्य को अवश्य करूँगा, तो वह उस संस्कार के वश से अवश्य ही उत्थित होकर उस कार्य में प्रवृत्त हो जाता है, वैसे उत्पत्ति-प्रलय-रूप प्रवाह के अनादि होने से किसी सर्ग के अवधिकाल में जब परमेश्वर को संहार करने की इच्छा होती है, तब अपने चित्त में 'जब प्रलयकाल का अवधि होगा, तब फिर मैं विशुद्ध चित्त को ग्रहण करूँगा' ऐसे प्रणिधान कर ही प्रलय में उन्मुख होने से प्रधान में लीन हुआ भी चित्त प्रणिधान संस्कार के वश से फिर कार्योन्मुख हो जाता है। तथा च ईश्वर के प्रणिधान को और विशुद्ध चित्त के ग्रहण के अनादि होने से अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है।

शंका— जो यह पूर्वोक्त ईश्वर में विशुद्धसत्त्वमय चित्त के ग्रहण द्वारा सर्वोत्कृष्टता निरूपित की है, सो यह उत्कृष्टता सनिमित्त= सप्रमाणक (प्रमाणसिद्ध)

है वा निष्प्रमाणक है ? यदि सप्रमाणक है, तो वह प्रमाण कौन है ? और यदि प्रमाणरहित है, तो वह माननीय कैसे ? यदि यह कहा जाय कि श्रुति-स्मृति-पुराण आदि शास्त्र ही ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता में प्रमाण हैं, तो यह सम्भव[१] नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष वा अनुमान से अनुभव किये हुए पदार्थ का प्रतिपादक जो वाक्यविशेष सो ही शास्त्र कहा जाता है और ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता किसी को प्रत्यक्ष नहीं है। अतः शास्त्र भी प्रमाण नहीं हो सकता है। यदि कहो कि भ्रम-प्रमादादि पुरुषनिष्ठ दोषविरहित सर्वज्ञ ईश्वर का प्रत्यक्षभूत वेद ही ईश्वर की सर्वज्ञता में प्रमाण है, तो यह भी अन्योऽन्याश्रय दोषग्रस्त होने से असमञ्जस ही है क्योंकि प्रथम वेदरूप प्रमाण से ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध हो, तो ईश्वरप्रणीत वेद प्रमाण हो और वेद में प्रामाण्यज्ञान हो, तो उस प्रमाण द्वारा ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध हो।

समाधान— यद्यपि अन्य कोई शास्त्र ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता में प्रमाण नहीं हो सकता, तथापि सर्वज्ञ ईश्वरप्रणीत वेद को उसमें प्रमाण मानने में कोई क्षति नहीं क्योंकि अन्य प्रमाण द्वारा ईश्वर के निर्भ्रान्त और सर्वज्ञ सिद्ध होने में ईश्वर प्रणीत वेद की प्रमाणता स्वतः सिद्ध है।

अर्थात् ईश्वरप्रणीत तत्तत्कार्यसाधक मन्त्र तथा तत्तद्रोगनिवर्त्तक औषध-प्रतिपादक आयुर्वेद के प्रामाण्य में तो किसी को सन्देह ही नहीं क्योंकि उनका फल प्रत्यक्षदृष्ट है। केवल अन्य भाग में प्रामाण्य का सन्देह है क्योंकि अन्य भाग के अलौकिक अर्थप्रतिपादक होने से प्रत्यक्ष का वहाँ सम्भव नहीं, सो यह अन्य भाग में प्रामाण्य का सन्देह भी तावत्काल ही है कि यावत्काल इसके वक्ता में सर्वज्ञत्व और यथार्थवक्तृत्व का निश्चय न हो। जब फिर मन्त्रायुर्वेद भाग के निर्माण से यह निश्चय हुआ कि ईश्वर सर्वज्ञ और यथार्थवक्ता है, तब यह सन्देह भी सुतरां उच्छिन्न हुआ क्योंकि स्थालीपुलाक न्याय से अन्य भाग के वक्ता की भी सर्वज्ञता युक्तिसिद्ध है। एवं च वेदों के प्रमाण होने से वेदप्रतिपादित ईश्वर की सर्वज्ञता सत्यकामता, नित्यज्ञानैश्वर्यशालिता रूप उत्कृष्टता सप्रमाणक है, यह सिद्ध हुआ।

सो यह पूर्वोक्त सर्वज्ञतादि रूप धर्म तथा वेदरूप शास्त्र ये दोनों ही ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त में विद्यमान हैं, अनादि ही इन दोनों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव सम्बन्ध है। इस पूर्वोक्त उत्कृष्टतादि से ही यह ईश्वर नित्यमुक्त और नित्यैश्वर्यशाली कहा जाता है।

जिस प्रकार यह ईश्वर मुक्त पुरुषों से विलक्षण है, इसी प्रकार अणिमादि ऐश्वर्यशाली योगियों से भी यह विशेष है क्योंकि इस का यह ऐश्वर्य सामान्य और

१. हस्तलेख में 'असम्भव' पाठ है।

अतिशय से रहित है अर्थात् जैसे योगियों का ऐश्वर्य अन्य किसी योगी के समान वा किसी योगी की अपेक्षा से न्यून होता है, वैसे ईश्वर का ऐश्वर्य नहीं, किन्तु सर्वोत्कृष्ट है। भाव यह है कि इसका ऐश्वर्य किसी अन्य अधिक ऐश्वर्य कर अतिशय विशिष्ट नहीं हो सकता है क्योंकि यह हमारा सिद्धान्त है कि जो सर्वापेक्षया अतिशय ऐश्वर्य वाला है, वही ईश्वर पद का वाच्य है अर्थात् जहाँ पर ऐश्वर्य की काष्ठा (अवधि) हो, वही ईश्वर है।

इसी तरह ईश्वर के समान ऐश्वर्य वाला भी कोई नहीं है क्योंकि जो अन्य माना जायेगा तो वह सत्य-संकल्पादि धर्मविशिष्ट ही माना जायेगा क्योंकि यही ईश्वर का लक्षण है। एवं च जब किसी एक वस्तु विषयक उन दोनों तुल्य बलशीलों का 'यह नूतन हो, यह पुराण हो, यह आज ही मरे, यह सदा अमर रहे' इस प्रकार विरुद्ध-विरुद्ध संकल्प होगा, तब दोनों का संकल्प सिद्ध नहीं होगा क्योंकि एक वस्तु में दो प्रकार के विरुद्ध धर्मों के रहने का सम्भव नहीं और यदि एक का संकल्प सत्य और अन्य का मिथ्या माना जाय, तब जिसका मिथ्या संकल्प, वह ईश्वर ही कैसा ? यदि यह कहो कि दोनों का अभिप्राय एक होने से दोनों ही सत्यसंकल्प हैं, तो अनेक ईश्वर मानने में प्रयोजन ही क्या ? यदि यह कहो कि सब मिलकर कार्य करते हैं, तो सभा (पञ्चायत वा कमेटी) होने से कोई भी ईश्वर नहीं हुआ। एवं च ईश्वर के समान ऐश्वर्य वाला अन्य कोई नहीं, यह निर्विवाद है। तथा च जो जीव की तरह क्लेशभागी वा पुण्यपाप का कर्त्ता वा सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है और जिसका ऐश्वर्य साम्य-अतिशय से विनिर्मुक्त है, वह क्लेशमुक्त, नित्य, निरतिशय, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, पुरुषविशेष ईश्वर पद का वाच्य है, यह फलित हुआ।

इस प्रकार ईश्वर की सत्ता तथा ज्ञान-क्रिया-शक्ति की उत्कृष्टता में तद्रूप शास्त्र तथा ज्ञानी, योगियों का अनुभव प्रमाण होने पर भी वादि-भ्रान्ति निवारणार्थ सूत्रकार अनुमानरूप प्रमाणान्तर का उपन्यास करते हैं—

सूत्र— तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।। (यो॰ १.२५)[१]

[**अर्थ**— (तत्र) वहाँ] (सर्वज्ञबीजम्) सर्वज्ञता का बीज (कारणभूत) जो ज्ञान वह (निरतिशयम्) अतिशय से रहित है अर्थात् अन्तिम उन्नति से विद्यमान रहता है।

अर्थात् सत्त्वगुण के न्यूनाधिक होने से कोई पुरुष वर्त्तमानकालिक ही पदार्थ को जानता है और कोई अतीत-अनागत-वर्त्तमान कालत्रय के ही पदार्थ विषयक ज्ञान वाला होता है और कोई स्थूल वस्तुविषयक और कोई सूक्ष्म वस्तु

१. हस्तलेख में 'तत्र.......बीजम्' सूत्रपाठ नहीं है।

विषयक ज्ञानशील होता है। एवं कोई एक वस्तु विषय के और कोई अनेक वस्तु विषय के ज्ञान वाला होता है। इस प्रकार सातिशयता (कम-ज्यादेपन) धर्म वाला जो सर्वज्ञता का कारण-भूत ज्ञान, वह वृद्धि को प्राप्त हुआ जहाँ निरतिशयता को प्राप्त होता है, वह सर्वज्ञ ईश्वर है।

भाव यह है कि जो पदार्थ न्यूनाधिक्यरूप (कम-ज्यादेपन) धर्मविशिष्ट होने से सातिशय होता है, वह अवश्य ही कहीं काष्ठा को प्राप्त हुआ निरतिशय हो जाता है, जैसा कि अणु परिमाण परमाणु में और महत्त्व परिमाण आकाश में काष्ठा को प्राप्त हुआ निरतिशय हो जाता है। सो यहाँ भी न्यूनाधिकरूप धर्म-विशिष्ट होने से ज्ञान की निरतिशयता अवश्य ही होनी उचित है। तथा च जिसमें जाकर ज्ञान काष्ठा को प्राप्त होकर निरतिशय रूप से विद्यमान रहता है, वही ईश्वर है।

अर्थात् यथा— सर्षप, दाना, चणक, आमलक, बिल्व, कटहल प्रभृति में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से उत्तरोत्तर में बृहत् (बड़ा) परिमाण और उत्तरोत्तर की अपेक्षा से पूर्व-पूर्व में अणु (छोटा) परिमाण होने से इन दोनों परिमाणों की सातिशयप्रयुक्त परमाणु और आकाश में विश्रान्ति होने से वहाँ निरतिशयता हो जाती है तथा कीट, पशु, पक्षी, मनुष्य, मुनि, योगी आदि में विद्यमान सातिशय ज्ञान भी जहाँ जाकर काष्ठा को प्राप्त हो जाता है, वहाँ इसकी निरतिशयता है और वह जिसमें निरन्तर विद्यमान है, वह निरतिशय ज्ञानशाली परमेश्वर कहा जाता है।

इस कथन से यह अनुमान किया कि पुरुषों में दृश्यमान जो सातिशय (एक से एक में अधिकतर) ज्ञान, वह कहीं निरतिशय है क्योंकि सातिशय होने से जो वस्तु सातिशय होता है, वह कहीं निरतिशय अवश्य होता है, जैसे कि बिल्वादि में दृश्यमान महत्त्व का आकाश में और सर्षपादि में दृश्यमान अणुत्व का परमाणु में है।

इस अनुमान द्वारा जिसमें निरतिशय ज्ञान सिद्ध होता है, वही ईश्वर है। जिस प्रकार ज्ञान की काष्ठा का आधार ईश्वर कहा है, इसी प्रकार धर्म, वैराग्य, यश, ऐश्वर्य, श्री प्रभृति सम्पत्ति की काष्ठा का भी आधार ईश्वर ही है। एवं वायुपुराणोक्त षट्-अंग तथा दश-अव्ययता का आधार ईश्वर ही है। वायुपुराण का प्रमाण यह है—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोरधिज्ञाः षडाहुरंगानि महेश्वरस्य।।

अर्थात् सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिज्ञान, स्वतन्त्रता, अलुप्तचेतन, अनन्तशक्ति ये षट् अंग हैं। पुनः—

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च।।
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शंकरे।।

अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व, आत्म-सम्बोध, अधिष्ठातृत्व ये दश अव्यय हैं। अव्यय नाम नाश के अभाव का है अर्थात् ये दश सदा ही ईश्वर में विद्यमान रहते हैं।

शंका— यदि एतादृश नित्यतृप्त, वैराग्यातिशयशाली ईश्वर है, तो उसकी संसार-रचना में प्रवृत्ति कैसे ? क्योंकि राग और प्रयोजन ही प्रवृत्ति में कारण हैं और नित्यतृप्त, वैराग्यशाली परमेश्वर में इन दोनों की सम्भावना नहीं। यदि यह कहो कि अपनी कृपा से संसार रचने में प्रवृत्त हुआ है, तो सृष्टि के आदि काल में प्राणियों के अभाव से कृपा का विषय ही कौन ? किञ्च, यदि कृपा से ही प्रवृत्त होता है, तो किसी को सुखी, किसी को दुःखी, किसी को धनिक, किसी को रंक इस प्रकार विषम दृष्टि क्यों ? क्योंकि कृपालु पुरुष की प्रवृत्ति सुखजनक ही होती है, कुछ दुःखजनक नहीं।

समाधान— यद्यपि ईश्वर की नित्यतृप्त, वैराग्ययुक्त होने से आत्मप्रयोजन के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, तथापि कल्पमहाप्रलय में लीन पुरुषों पर अनुग्रहार्थ प्रवृत्ति सम्भव हो सकती है और अदृष्ट के अनुसार फल देने से विषम दृष्टि भी नहीं है। एवं च ज्ञानधर्मोपदेश द्वारा प्राणियों का उद्धार करना ही प्रवृत्ति का प्रयोजन होने से प्रवृत्ति निष्प्रयोजन भी नहीं।

अर्थात् संसार के अनादि होने से पूर्व-पूर्व सर्ग में कृत कर्मों के फलप्रदान के लिए और ज्ञानधर्मोपदेश द्वारा प्राणियों के उद्धार के लिये नित्यतृप्त की भी करुणा से प्रवृत्ति सम्भव हो सकती है और जैसे लोक में राजा प्रभृति स्वामी अपने सेवकों को कार्यानुसार न्यून-अधिक द्रव्यप्रदान रूप विषम फल देने से विषम दृष्टि वाला नहीं कहा जाता है, वैसे ईश्वर भी पूर्व-पूर्व सर्गकृत कर्मों के अनुरूप फल देने से विषम दृष्टि वाला नहीं है। और कृपा ईश्वर की यही है कि कर्म का फल अवश्य ही देता है। एवं च भूतानुग्रह ही प्रवृत्ति का कारण है, अन्य कोई नहीं, यह सिद्ध हुआ।

अपने प्रयोजन के न होने पर भी कृपा से प्रवृत्ति होती है, यह निरीश्वरवादी पञ्चशिखाचार्य जी भी मान लेते हैं क्योंकि उन्होंने यह कहा है कि आदि विद्वान् परमर्षि कपिल मुनि ने योगबलनिर्मित चित्त का आश्रयण कर कृपा से जिज्ञासु आसुरि नामक ब्राह्मण के प्रति पञ्चविंशति तत्त्वों का उपदेश किया।[१]

१. द्र०— योग० व्यासभाष्य (१.२५) में उद्धृत वचन।

अब पूर्वसूत्रोक्त अनुमान द्वारा ब्रह्मादि ही निरतिशय ज्ञान का आधार क्यों नहीं होते, इस आशंका का निवारण करते हुए ब्रह्मादिकों से भी ईश्वर को विशेष कहते हैं—

सूत्र— स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।। (यो॰ १.२६)

अर्थ— (स एषः) सो यह परमेश्वर (पूर्वेषाम्) पूर्व उत्पन्न ब्रह्मादि देवताओं का (अपि) भी (गुरुः) उपदेष्टा वा जनक है क्योंकि (कालेनानवच्छेदात्) कालकर अवच्छिन्न (परिमित) न होने से।

अर्थात् जैसे ब्रह्मादि देवता सृष्टि-महाप्रलय में उत्पत्ति-विनाशशील होने से कालपरिछिन्न हैं, वैसे ईश्वर नहीं क्योंकि यह सर्वदा विद्यमान होने से कालपरिच्छेद से रहित है। अतः ब्रह्मादि देवताओं को उत्पन्न कर उनके प्रति ज्ञान देने से यह ईश्वर उन सबका गुरुः= जनक और उपदेष्टा है।

एवं च जैसे वर्त्तमान सर्ग के आदि में ज्ञानैश्वर्ययुक्त परमेश्वर सिद्ध है, वैसे पूर्व सर्गों के आदि में भी एतादृश विद्यमान होने से यह परमेश्वर ही अनादि, सर्वज्ञ, निरतिशय ज्ञान का आधार है, ब्रह्मादिक नहीं, यह सिद्ध हुआ। ब्रह्मा को उत्पन्न कर उसके प्रति ज्ञानोपदेश किया है **"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै"** (श्वे॰ उप॰ ६.१८) इत्यादि देववाक्यों से प्रसिद्ध ही है।

इस प्रकार षड् दर्शनों में से योग दर्शन भी त्रैतवादी है, अद्वैतवादी नहीं। इस दर्शन में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों का जितना स्फुट निरूपण है उतना किसी में नहीं। इसका अपना आविष्कार यह है कि जीव को सर्वदा "द्रष्टा", प्रकृति को "दृश्य" और ब्रह्म को "पुरुष, ईश्वर" आदि शब्दों से कहकर व्यवहार करता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति अवश्यमेव द्रष्टव्य है। जीव देखने वाला है। सबमें व्यापक होने से ईश्वर पुरुष है। निरीश्वर सांख्य में जो न्यूनता रह गई थी, उसको यह दर्शन पूर्ण करता है। इसके अतिरिक्त यह पूर्णतया आस्तिक दर्शन है। इसका खण्डन शंकराचार्य अपने भाष्य में करते हैं।

सूत्र— एतेन योगः प्रत्युक्तः।। (वेदान्त॰ २.१.३)

इस सूत्र के भाष्य में श्री शंकराचार्य कहते हैं कि इस सांख्य-स्मृति के प्रत्याख्यान (खण्डन) से योगवृत्ति का भी प्रत्याख्यान द्रष्टव्य है। योगदर्शन में भी श्रुतिविरुद्ध प्रधान को स्वतन्त्र ही कारण माना गया है और लोक-वेद में अप्रसिद्ध महदादि कार्य कल्पित[1] हुए हैं। इतना कहकर स्वयमेव शंकर शंका करते हैं कि यदि ऐसा है, तब सामान्य न्याय से ही पूर्वोक्त खण्डन से इसका भी प्रत्याख्यान हो ही गया, तब किस प्रयोजन से यह अतिदेश किया जाता है ? इसका स्वयं

१. हस्तलेख में 'कपिल' पाठ है।

समाधान इस प्रकार करते हैं— यहाँ अधिक आशंका है क्योंकि वेद में योग को यथार्थ दर्शन कहते हैं। यथा **"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"**—(बृ॰ उप॰ ४.५) वह आत्मा श्रोतव्य, मन्तव्य और ध्यान योग्य है। पुनः **"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्"**—(श्वे॰ उप॰ २.८) छाती, ग्रीवा और शिर इन तीनों को अच्छे प्रकार सीधा कर तब ध्यान करे। इस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में योग के आसन आदि का विस्तार से वर्णन आया है और योगविषयक वैदिक लिंग भी सहस्रशः पाये जाते हैं यथा **"तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्"** (कठ॰ उप॰ २.३.११), **"विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्"** (कठ॰ उप॰ २.३.१८) इत्यादि। इन प्रमाणों का अर्थ यह है कि उस पूर्वोक्त धारणा को योगविद् पुरुष योग अर्थात् परम तप कहते हैं। इस ब्रह्मविद्या को और ध्यानादि योगविधि को मृत्यु से पाकर नचिकेता अतिशय कृतकृत्य हुआ। योगशास्त्र में भी कहा गया है कि **"अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः"**[1] योग शास्त्र में तत्त्वदर्शन के अनेक उपाय विहित हैं। इस प्रकार योग का निरूपण वेदों में अधिक पाया जाता है। अतः इसके सम्बन्ध में शंका भी अधिक है। इस हेतु सांख्यशास्त्र से उसको पृथक् करके प्रत्याख्यान करते हैं।

इत्यादि आशय श्री शंकराचार्य का है। वहाँ भाष्य देखिये। इस पर हमें आश्चर्य प्रतीत होता है कि जिस योग का उपनिषदों में ऐसा गम्भीर उपयोगी उपदेश है, शंकराचार्य उसका इसलिये खण्डन करते हैं कि प्रधान को यह शास्त्र स्वतन्त्र ही कारण मानता है। एवमस्तु। अब योग की भी दो-चार बातें सुनाई गईं। आगे बढ़िये। अब मैं वदों और उपनिषदों से उत्पत्तिप्रकरण का उद्धरण कर दो-एक शंकाओं की निवृत्ति स्थालीपुलाक न्याय से दिखलाता हूँ। मुझे लेखविस्तर का सदा भय बना रहता है। शब्द नित्य है क्योंकि ईश्वर और जीव ये दोनों अनादि हैं और ये दोनों चेतन, भाषणकर्त्ता, विवेकशील और ज्ञानमय हैं, सर्वास्तिकवाद का यहाँ ऐकमत्य है। तब ईश्वर और जीव गूँगे नहीं किन्तु ईश्वर सकल पदार्थ का ज्ञान रखता है। पदार्थ का ज्ञान शब्द के साथ सम्बन्ध रखता है। जीव यद्यपि अल्पज्ञ है, तथापि वह भी मूक और बधिर नहीं। अतः शब्द[2] की नित्यता ईश्वर-जीव की नित्यता से स्वयं सिद्ध है। अब स्वयंसिद्ध वेद त्रैतवाद के सम्बन्ध में क्या कहते हैं, सुनिये—

उत्पत्ति और वेद

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।

१. शांकरभाष्य (वेदान्त २.१.३) में उद्धृत। २. हस्तलेख में 'शूद्र' पाठ है।

यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।।

(ऋ० १०.८१.२)

प्रथम जगत् के उपादान कारण के सम्बन्ध में स्वयं वेदभगवान् कुछ प्रश्न करते हैं कि लोक में देखते हैं कि यह बनाने वाला कुलाल (कुम्भकार) और गृहादि बनाने वाले किसी स्थान में बैठ और मृत्तिका, काष्ठादि सामग्री लेकर घट और गृहादि बनाते हैं, तद्वत् जगत् का रचयिता परमात्मा का उत्पादन-वेला में (अधिष्ठानम्) बैठने की जगह (किम्+स्वित्+आसीत्) कौन सी थी ? (आरम्भणम्) जगत् का आरम्भक उपादान कारण (कतमत्+स्वित्) कौन सा था ? (कथा+आसीत्) और किस प्रकार का वह था ? (विश्वकर्मा) सम्पूर्ण का कर्त्ता (विश्वचक्षाः) सर्वद्रष्टा सर्वत्र परमात्मा ने (महिना) अपने महत्त्व से (यतः) जिस उपादान कारण से (भूमिम्+जनयन्) पृथ्वी को उत्पन्न करता हुआ (द्याम्) द्युलोकादि जगतों को (वि+और्णोत्) मकड़ी के जाले के समान फैलाया।

व्याख्या– अधिष्ठान= अधितिष्ठत्यस्मिन्नित्यधिष्ठानम्= जहाँ लोग बैठें, उसे अधिष्ठान कहते हैं। आरम्भण– आरभ्यतेऽनेनेत्यारम्भणमुपादानकारणम्= जिससे आरम्भ किया जाय, उसे आरम्भण कहते हैं। उपादान कारण का नाम आरम्भण है। सायणाचार्य और महीधर प्रभृति सबने आरम्भण शब्द का अर्थ उपादान कारण किया है। यहाँ स्वयं वेद भगवान् जगत् के उपादान कारण की जिज्ञासा करते हैं। इसके उत्तर में आगे की ऋचा कही जाती है–

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।।

(ऋ० १०.८१.३)

(विश्वतश्चक्षुः) जो सर्वद्रष्टा है, जिसका चक्षु= दर्शनशक्ति सर्वत्र व्याप्त है (उत+विश्वतोमुखः) जो सर्वमुख है, जिसका मुख चारों ओर ऊपर, नीचे सर्वत्र व्याप्त है (विश्वतोबाहुः) जिसके बाहु सर्वत्र हैं (उत+विश्वतस्पात्) जिसका पैर सर्वत्र है अर्थात् सर्व प्रकार से सर्वव्यापक है (प्रथमः–एकः+देवः) एक ही असहाय वह परमात्मदेव (बाहुभ्याम्+पतत्रैः+सम्+धमति) बाहुओं से परमाणुओं से (द्यावाभूमी) द्युलोक और भूमि इत्यादि सर्व वस्तुओं को (सम्+जनयन्) उत्पन्न करता हुआ सदा वर्त्तमान रहता है।

व्याख्या– पूर्व अर्धर्च विस्पष्ट है। द्वितीय अर्धर्च में **पतत्र** शब्द आया है। पतनशील= सदा गतिमान् परमाणु का नाम यहाँ पतत्र है। द्वितीय ऋचा में जो यह पूछा गया था कि इस जगत् का आरम्भण अर्थात् उपादान कारण कौन सा है ? उसके उत्तर में यहाँ **पतत्र** शब्द का प्रयोग है। जिनसे द्यावा, भूमि को वह

बनाता है, वे पतत्र हैं। वे कौन वस्तु हैं ? निस्सन्देह जगत् का उपादान कारण हैं। उन्हें प्रकृति कहिये अथवा उनका नाम माया रखिये अथवा उन्हें नामधेय परमाणु कहिये। **पतत्र** शब्द में करणार्थक तृतीया है। सायणाचार्यादिकों ने वेदान्त-पक्ष लेकर इन मन्त्रों को अद्वैत पक्ष में लगाया है। वह कदापि नहीं हो सकता क्योंकि वह एक देव द्यावा, भूमि को बनाता है। प्रथम शुद्ध ब्रह्म वेदान्त पक्ष में जगद्रचयिता नहीं। यहाँ ब्रह्म में रचयितृत्व विस्पष्ट रूप से वर्णित है। अब किन सामग्रियों से जगत् रचता है ? इसकी अपेक्षा में पतत्र शब्द कहा जाता है। अतः जड़ जगत् के उपादान कारण का नाम यहाँ पतत्र है, इसमें सन्देह नहीं।

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।

(ऋ० १०.८१.४)

पुनरपि जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं (यतः) जिससे (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिव्यादि सकल जगत् (निष्टतक्षुः) बनाये गए। (वनम्+किम्+स्वित्) वह कौन सा वन था ? [(कः+उ+सः+वृक्षः) और कौन वह वृक्ष था] अर्थात् कौन सा उपादान कारण था ? जिससे यह सम्पूर्ण जगत् बनाया गया। (मनीषिणः) हे मननशील पुरुषो ! (मनसा+पृच्छत+इत्) मन से इस बात की जिज्ञासा करो। और (भुवनानि+धारयन्) समस्त लोक-लोकान्तरों को धारण करते हुए परमात्मा ने (यत्+अधि+अतिष्ठत्) जिस वस्तु का अधिष्ठान किया (तत्) उसकी भी मन से जिज्ञासा करो। अर्थात् सृष्ट्यादि में किस पर खड़ा होकर और किन सामग्रियों से परमात्मा इस जगत् को रचता है। इसकी परस्पर जिज्ञासा करो। जिससे आप लोगों की बुद्धि की उत्कर्षता हो।

व्याख्या– इन ऋचाओं से सिद्ध है कि जगत् का उपादान कारण ईश्वर और जीववत् सदा से चला आता है। परमात्मा कुलालवत् उन सामग्रियों को लेकर सृष्टि रचा करता है। इस हेतु इस जगत् का निमित्त कारण परमात्मा है, उपादान कारण नहीं। इसी विषय को ऋग्वेद के उपान्त्य सूक्त में बतलाया है–

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। (ऋ० १०.१९०.३)

पूर्व-पूर्व कल्प के समान ही वह सूर्य, चन्द्र इत्यादि बनाया करता है। इससे भी सिद्ध होता है कि सृष्टि अनादि है और जिससे यह बनती है वह भी अनादि है।

प्रकृति अथवा माया अथवा जगत् का उपादान कारण अनादि काल से चला आता है और परमेश्वर के साथ ही विद्यमान रहता है। इसमें यह ऋचा प्रमाण है–

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास।।

(ऋ० १०.१२९.२)

(तर्हि) उस प्रलय काल में (न+मृत्युः+आसीत्) न मृत्यु थी (न+अमृतम्) न अमृत था (न+रात्र्या+अह्नः+प्रकेतः+आसीत्) और न रात्रि और दिन का कोई चिह्न था। किन्तु (तत्+एकम्) वही एक परमात्मा (स्वधया) प्रकृति= जगत् के उपादान कारण के साथ (अवातम्) वायुरहित होकर भी (आनीत्) श्वास-प्रश्वास ले रहा था। (तस्मात्+ह+परः+अन्यत्) उससे दूसरा (किम्+चन+न+आसीत्) कुछ नहीं था अर्थात् एक परमात्मा और उसके साथ एक प्रकृति थी और दूसरी वस्तु कुछ नहीं।

"ऋतं च सत्यम्" (ऋ० १०.१९०) इस सूक्त का और **"नासदासीत्"** (ऋ० १०.१२९) इस सूक्त का अर्थ पूर्व प्रकरण[1] में किया गया है। अब पुरुष सूक्त (ऋ० १०.९०) से दो-चार मन्त्र उद्धृत कर पुनरपि स्थूणानिखनन न्याय से त्रैतवाद दृढ़ किया जाता है। वास्तव में यह पुरुष सूक्त यज्ञ[2] के स्वरूप को संक्षेप से दिखलाने के लिये उपदिष्ट हुआ है। सृष्टिविधान पर यह सूक्त नहीं किन्तु प्रसंगवश सृष्टि का भी कुछ निरूपण आ गया है। मन्त्रार्थ विचार कीजिये, यथा—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।।

(ऋ० १०.९०.१३)

इसका अर्थ इस प्रकार है (मनसः+चन्द्रमाः) मन से चन्द्रमा (जातः) उत्पन्न हुआ (चक्षोः+सूर्यः+अजायत) चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ (श्रोत्राद्+वायुः+च+प्राणः+च) श्रोत्र से वायु और प्राण उत्पन्न हुए (मुखाद्+अग्निः+अजायत) मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ। इस अक्षरार्थ से विस्पष्ट अर्थ का बोध नहीं होता क्योंकि निरवयव ईश्वर के मुख, नयन आदि की कल्पना नहीं हो सकती और भी शरीर के भिन्न-भिन्न स्थान से सृष्टि रचने का कुछ विशेष प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता। तब इसका आशय यह प्रतीत होता है कि "मन के लिये चन्द्र, नयन के लिये सूर्य, कर्ण के लिये वायु और प्राण और मुख के लिये अग्नि उत्पन्न हुआ।" यदि सूर्य न हो, तो आँखें कार्य नहीं कर सकतीं। यह प्रत्यक्ष रात्रि में दिखता है। जैसे अन्धकारमयी रात्रि में श्रोत्र आदि इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं, वैसे नयनेन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण नहीं करता। अत एव नयन को सूर्य की अपेक्षा है, इस हेतु नयन के लिये सूर्य उत्पन्न हुआ। जहाँ सूर्य का प्रकाश और

१. द्र०– पू० पृ० १६०–१६८। २. हस्तलेख में 'य्य' अस्पष्ट पाठ है।

ताप नहीं पहुँचता, वहाँ नयनेन्द्रिय नहीं बनता। इसी प्रकार यदि वायु न हो, तो कर्णेन्द्रिय भी व्यर्थ है क्योंकि वायु ही शब्द को कर्ण तक पहुँचाता है, तब हम लोग शब्द सुनते हैं। अतः कहा गया है कि श्रोत्र के लिये वायु की उत्पत्ति हुई। यदि अग्नि नहीं तो मुख से वाणी न निकले और पाचनशक्ति भी न हो। इसी प्रकार यदि चन्द्र न हो तो मन भी नहीं बन सकता। अतः मनोविनोदार्थ ही चन्द्र की उत्पत्ति कही गई है। अब आगे द्वितीय मन्त्र पर विचार कीजिये—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। (ऋ० १०.९०.९)

इसका अक्षरार्थ यों है (सर्वहुतः) सब मन्त्रों तथा विद्वानों से हूयमान (तस्माद्+यज्ञात्) उस यज्ञ से (ऋचः+सामानि+जज्ञिरे) ऋचाएँ और साम उत्पन्न हुए (तस्मात्+छन्दांसि+जज्ञिरे) उससे छन्द उत्पन्न हुए (तस्माद्+यजुः+अजायत) उससे यजु उत्पन्न हुआ। यहाँ भी यज्ञ के लिये ऋचाएँ, साम, छन्द और यजु उत्पन्न हुए, यह आशय प्रतीत होता है।

द्वितीय अर्थ यह लिया जाय कि ईश्वर से ये ऋगादिक उत्पन्न हुए। तब इसका आशय क्या हो सकता है ? निश्चय पहले ईश्वर में शब्द[1] थे, वे ही ऋगादि रूप से प्रकट हुए, जैसे कहा है कि वाल्मीकि से रामायण उत्पन्न हुआ। वाल्मीकि के कण्ठ में अथवा मन में सब शब्द पहले से विद्यमान थे, वे ही श्लोक रूप में प्रकट हुए। शब्द के बनाने हारे वाल्मीकि नहीं थे, तो भी लोक में प्रयोग होता है कि उस कवि से रामायण उत्पन्न हुआ। तद्वत् भगवान् से ऋगादि उत्पन्न हुए। इसी प्रकार भूमि आदि की सृष्टि उस ईश्वर से हुई। यहाँ भी निमित्त कारण ईश्वर सिद्ध होता है। यहाँ इतना ही दिखला कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। आगे उपनिषद्वाक्यों पर विचार कीजिये—

उत्पत्ति और उपनिषद्

मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार उत्पत्ति का वर्णन है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।।

(मु० उप० १.१.७)

(यथा) जैसे (ऊर्णनाभिः) मकड़ा (सृजते) बाह्य सामग्रियों की अपेक्षा न करके अपने शरीर से ही स्वजाल रचता है। (गृह्णते+च) और उसको ग्रहण भी करता है (यथा) जैसे (पृथिव्याम्+ओषधयः+सम्भवन्ति) पृथिवी में नाना व्रीह्यादि

१. हस्तलेख में 'शूद्र' पाठ है।

से लेकर स्थावरान्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। (यथा) जैसे (सतः+पुरुषात्) विद्यमान जीवित पुरुष से (केशलोमानि) केश और लोम उत्पन्न होते हैं (तथा) उन पूर्वोक्त दृष्टान्तों के समान (इह) इस संसार मण्डल में (अक्षरात्) अक्षरवाच्य परमात्मा से (विश्वम्+सम्भवति) सब कुछ उत्पन्न होता है।

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।।

(मु॰ उप॰ २.१.१)

(तत्+एतत्+सत्यम्) वह यह सत्य है (यथा) जैसे (सुदीप्तात्+पावकात्) सुदीप्त अग्नि से (सहस्रशः+सरूपाः) बहुत से समान रूप वाले (विस्फुलिंगाः+प्रभवन्ते) विस्फुलिंग (अग्न्यवयव= छोटी-छोटी चिनगारियाँ) उत्पन्न होती हैं (तथा) वैसे ही (सोम्य) हे प्रिय ! (अक्षरात्) उस अक्षरवाच्य परमात्मा से (विविधाः+भावाः+प्रजायन्ते) विविध प्रकार की सृष्टियाँ हुआ करती हैं। (तत्र+एव+च) और उसी में (अपि+यन्ति) लीन हो जाती हैं। भाव= सृष्टि।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।।

(मु॰उप॰ २.१.३)

(एतस्मात्) उस समय से (प्राणः+मनः+सर्वेन्द्रियाणि+च) प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ (खम्+वायुः+ज्योतिः+आपः) आकाश, वायु, ज्योति, अग्नि, जल (विश्वस्य+धारिणी+पृथिवी) सब के धारण करने वाली पृथिवी इत्यादि सकल पदार्थ (जायते) उत्पन्न होते हैं।

तैत्तिरीय[उपनिषद्] में उत्पत्ति का इस प्रकार वर्णन है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।। (तै॰ उप॰ २.१)

(तस्मात्+वै+एतस्मात्) निश्चय उस इस (आत्मनः) आत्मवाच्य ब्रह्म से (आकाशः+सम्भूतः) आकाश समुत्पन्न हुआ। (आकाशात्+वायुः) आकाश से वायु (वायोः+अग्निः) वायु से अग्नि (अद्भ्यः+पृथिवी) जल से पृथिवी (पृथिव्याः+ओषधयः) पृथिवी से ओषधियाँ (ओषधीभ्यः+अन्नम्) ओषधियों से अन्न (अन्नात्+रेतः) अन्न से रेत (रेतसः+पुरुषः) रेत से पुरुष (सः+वै+एषः+पुरुषः) निश्चय वह यह पुरुष (अन्नरसमयः) अन्न-रसमय है।

वरुणपुत्र भृगु अपने पिता के निकट जा बोले कि भगवन् ! मुझे ब्रह्म का

ज्ञान दीजिये। इसके उत्तर में वरुण ने इस प्रकार कहा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।। (तै॰ उप॰ ३.१)

(यतः+वै) निश्चय जिससे (इमानि+भूतानि) ये सूर्य से लेकर तृण पर्यन्त सकल भूत (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं (जातानि) उत्पन्न होकर (येन+जीवन्ति) जिससे जीते हैं (यत्+प्रयन्ति) जिसके निकट पहुँचते हैं (अभिसंविशन्ति) जिसमें प्रविष्ट होते हैं (तत्+विजिज्ञासस्व) उसको जानने की इच्छा कर। (तत्+ब्रह्म+इति) वह ब्रह्म है।

ऐतरेयोपनिषद् में उत्पत्ति का इस प्रकार वर्णन है—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। (ऐ॰ उप॰ १.१)

स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः। (ऐ॰ उप॰ १.२)

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। (ऐ॰ उप॰ १.३)

(अग्रे) सृष्टि के पूर्व (इदम्) यह दृश्यमान जगत् (एकः+एव) एक ही (आत्मा+वै+आसीत्) आत्मस्वरूप ही था अर्थात् सृष्टि के पूर्व ब्रह्म, जीव और प्रकृति ये तीनों भिन्न-भिन्न रूप से व्यक्त नहीं थे किन्तु आत्मवाच्य परमात्मा में ही वे दोनों विलीन थे। इस हेतु जैसे आज वैसे सृष्टि के पूर्व भी आत्मवाच्य एक परमात्मा ही विद्यमान था। आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।[१]

(यत्+च+आप्नोति) आप्ति शब्द का अर्थ यहाँ ज्ञान और व्याप्ति है। जिस हेतु अपनी सत्ता और स्फुरण से सबको व्याप्त किये हुए है और सर्वज्ञ है, उसे आत्मा कहते हैं। इससे सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व दिखलाया गया है। (यत्+आदत्ते) जिस हेतु वह लेता है (यत्+इह+विषयान्+च+अत्ति) जिस हेतु यहाँ विषय ग्रहण करता है। (यत्+च+अस्य+सन्ततः+भावः) जिस हेतु इसकी सत्ता व्यापिनी है। (तस्मात्) इस कारण (आत्मा+इति+कीर्त्यते) आत्मा कहलाता है (न+अन्यत्+किञ्चन+मिषत्) अन्य कुछ नहीं उस समय व्यापार वाला था किन्तु एक आत्मा ही था (सः+ईक्षत) उसने ईक्षण किया कि (लोकान्+नु+सृजै+इति)[२] [लोकों को

१. अन्वेषणीय। २. प्रतिलिपिकार ने इस उपवाक्य और अगले दोनों वाक्यों के अर्थ छोड़ दिये हैं।

अवश्य बनाऊँ।।१।। (सः+इमान्+लोकान्+असृजत+अम्भः+मरीचीः+मरम्+आपः) उसने इन लोकों का सर्जन किया— अम्भः, मरीची, मर और आप् का, (अदः+अम्भः+परेण+दिवम्) यह सामने अम्भः है जो द्यौ से परे है, (द्यौः+प्रतिष्ठा+अन्तरिक्षम्+मरीचयः) द्यौ सीमा है, अन्तरिक्ष मरीचि हैं, (पृथिवी+मरः) पृथिवी मर= मर्त्यलोक है, (याः+अधस्तात्+ताः+आपः) जो नीचे हैं, वे जल= आपःलोक हैं।।२।। (सः+ईक्षत+इमे+नु+लोकाः+लोकपालान्+नु+सृजै+इति) उसने ईक्षण किया— ये लोक तो बन गए, अब] लोकपालों को बनाऊँ।

तब इन वाक्यों का आशय क्या होगा ?

समाधान— जैसे लोक में कहते हैं कि यह कुम्भकार अतिशय निपुण है। इसी के बनाये घट, हाण्डिका, कोहा, कटिया इत्यादि-इत्यादि सहस्रशः उपयोगी भाण्ड यहाँ दीखते हैं। इसी की बुद्धि से ये विलक्षण मृत्तिका-पात्र निकले हैं। इस तन्तुवाय (जुलाहा= कपड़ा बुनने वाला) की कैसी चमत्कृत विशद बुद्धि है कि जिससे रंग-विरंग के मनोहर नाना किनारियों से युक्त शतशः वस्त्र बनाए गए हैं। इसी की बुद्धि के वैभव से ये सब विविध वसन, शाटिकाएँ और धोतियाँ निकली हैं, जिनके कारण देश इस समय कुसुमवाटिका के समान सुशोभित हो रहा है। ग्रीष्म वा शीत, वर्षा वा हेमन्त, शिशिर वा शरद किसी ऋतु में चौक पर जाकर देखिये विविध वर्णों के कपड़ों से सुसज्जित नर और नारियों से चोहट्टा बाजार कैसा जगमगा रहा है। ये सब इसी एक महात्मा की कृपा है। एवंविध लौकिक वाक्य जैसे और जिस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, इसी के समान अर्थ में वैदिक वाक्य भी प्रयुक्त हुए हैं। गँवार से गँवार भी नहीं कहा करता कि मिट्टी ने ये घड़े बनाए हैं, तन्तुओं ने ये रंग-विरंगे कपड़े तैयार कर लिये हैं। इन मनोज्ञ आभूषणों के कर्त्ता-धर्त्ता सुवर्ण हैं। इत्यादि। गँवार भी निमित्त कारण का ही नाम लेता है, उपादान कारण का नहीं। किन्तु कभी-कभी उपादान के भी प्रयोग यों आते हैं, जैसे यह स्वर्णकार सोने के अच्छे-अच्छे अलंकार गढ़ता है। इन दुकानों पर सोने और चाँदी के ही बर्त्तन बिकते हैं।

ये नूतनाविष्कृत एलुमिनियम धातु से बने पात्र बड़े ही काम के होते हैं। इस प्रकार के भी साहित्य और दैनिक भाषण में प्रयोग होते हैं। तद्वत् पृथिवी इत्यादि महाभूतों को देख तत्समान कारणों के नाम लिये जाते हैं। अब विचारना चाहिये कि "इन घटादि भाण्डों के बनाने हारे कुम्भकार हैं" इत्यादि प्रकार के वचन बोलते हैं। तब इनका क्या अर्थ होता है। क्या कुम्भकार भी कोई देव है, जो अपने शरीर से किसी दैवी शक्ति द्वारा मृत्तिका निकाल घटादि भाण्ड गढ़ता है ? कदापि ईदृगाशय नहीं समझा जाता किन्तु खेतों से मिट्टी ला, जलादि

सामग्रियों को जोड़, तब यह बर्त्तन गढ़ा करता है। मिट्टी बनाने की शक्ति इसमें नहीं है। इसी प्रकार स्वर्णकारादि के पक्ष में भी जानना चाहिए।

विश्वकर्मादि शब्द[१]

जैसे कुम्भकार, स्वर्णकार, चर्मकार, तन्तुवाय और ग्रन्थकर्त्ता आदि शब्द हैं, तद्वत् ईश्वर के सम्बन्ध में विश्वकर्मा, जनिता (जनयिता) और योनि आदि शब्द हैं। बुद्धि पर बल देकर विद्वान् विचारें कि यदि सृष्टि रचने के लिये अनादि और नित्य साधन विद्यमान नहीं थे, तो वह कैसे इस विविध जगत् को बना लेता। जो ये पञ्च महाभूत पृथिव्यादि प्रत्यक्ष रूप से भासते हैं और जो आकाश में अदृश्य रूप से विद्यमान हैं, क्या वे कभी शशशृंगवत् अभाव दशा में थे ? नहीं, वे सदा से ऐसी ही अवस्था में चले आते हैं। केवल व्यक्तियों का परिणाम होता रहता है। जैसे चतुर्विध— जरायुज, अण्डज, ऊष्मज और उद्भिज्ज प्राणी प्रतिदिन कोटि-कोटि उत्पन्न होते और मरते रहते हैं किन्तु इनका दिव्य शाश्वत प्रवाह कभी बन्द नहीं होता, जहाँ एक जीव नष्ट हुआ वहाँ उसके बीज से दूसरा बन गया, इस प्रकार व्यक्ति का आविर्भाव और तिरोभाव होता है, जाति का नहीं। इसी दृष्टान्त के अनुसार इस विश्व को जानना चाहिए। इस विश्व में प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष और भी पदार्थ हैं। वे सदा थे, अब हैं और रहेंगे। ये अभाव रूप में कदापि नहीं थे। अतः परमात्मा केवल निमित्त कारण है, प्रधान इस जगत् का उपादान है।

पञ्चमी विभक्ति

बहुत से आचार्य कहते हैं कि पञ्चमी विभक्ति से प्रतीत होता है कि ईश्वर निमित्त और उपादान दोनों कारण ऊर्णनाभवत् है। अतः संक्षेप से इसकी भी मीमांसा करनी है। प्रथम इसी सम्बन्ध में दो-एक प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। यथा—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।

(मैत्रा॰ उप॰ ६.३७)

अग्नि में जो आहुति डाली जाती है, वह आदित्य को प्राप्त होती है। आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजाएँ। अब विचार कीजिये कि क्या सूर्य वृष्टि का उपादान कारण है ? कदापि नहीं, तो भी यहाँ पञ्चमी विभक्ति और जन धातु का प्रयोग है। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में सहस्रशः प्रयोग विद्यमान हैं। हिमालय से गंगा उत्पन्न होती है, यज्ञ से वृष्टि होती है, जल से

१. हस्तलेख में 'विश्वकर्मादिशूद्र' पाठ है।

कमल उत्पन्न होता है इत्यादि वाक्यों का अर्थ विचार करने से ही वैदिक वाक्यों का अर्थ विस्पष्ट हो जायेगा।। किमधिकम्।।

सत्कार्यवाद

कार्य द्वारा कारणमात्र का बोध होता है अर्थात् कार्य देख सामान्य भाव से जगत् के सूक्ष्म मूल कारण का बोध होता है। वह कारण कौन है, वह कुछ कहा नहीं जाता। यहाँ वादिगणों की अनेक विप्रतिपत्तियाँ (विरुद्धोक्तियाँ) हैं। कोई-कोई शून्यवादी बौद्धगण कहते हैं कि असत् से सत् होता है अर्थात् अभाव से भाव वस्तु की उत्पत्ति होती है। दूसरे सम्प्रदायी अद्वैत ब्रह्मवादिगण कहते हैं कि एक ही परमार्थ सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही सद्वस्तु है। उसी का विवर्त्त (सर्प रूप से रज्जु का अन्यथाभाव न्याय) कार्य वर्ग है। यह सकल कार्य सत् नहीं किन्तु मिथ्या है। अन्य नैयायिक और वैशेषिक कहते हैं कि सत् कारण परमाणु से असत् कार्य उत्पन्न होता है। सत्कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होती है, यह सांख्य शास्त्र का अभिमत है।

उक्त पक्षचतुष्टय के मध्य प्रथम तीन पक्षों से प्रधान की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रधान अर्थात् जगत् के मूल कारण का स्वभाव अर्थात् स्वरूप सत्त्व, रज और तम गुणत्रय है। सुख सत्त्व का, दुःख रज का और मोह तम का धर्म है। सांख्यमत में कार्य और कारण का अभेद है और सुख-दुःखादि विषय का धर्म है अर्थात् पूर्वोक्त प्रधान सुख-दुःख-मोहरूप विशेषयुक्त और स्वरूप का परिणाम शब्दप्रपञ्च से अभिन्न अर्थात् सुखदुःखादि विशिष्ट शब्दादि सत्प्रपञ्च प्रलयकाल में अव्यक्त प्रधान में लीन रहकर सृष्टिकाल में उससे आविर्भूत होता है।

असत् से सत् की उत्पत्ति शून्यवादियों के मत में मानी गई है। यह कैसे हो सकती है ? क्योंकि असत् निरुपाख्य अर्थात् अनिर्वचनीय है। तब कैसे वह सुखादिस्वरूप शब्दादि से अभिन्न होगा ? सत् असत् का तादात्म्य (अभेद) नहीं हो सकता। नवीन वेदान्ती का मत यह है कि एक परमार्थ सत् पदार्थ का विवर्त्त (स्वज्ञानकल्पित मिथ्या) शब्दादि प्रपञ्च है। यहाँ भी "सत् से असत् का जन्म होता है" यह कथा कही नहीं जा सकती क्योंकि उक्त मत में अद्वितीय ब्रह्म शब्दादि प्रपञ्चात्मक है, यह नहीं माना गया किन्तु प्रपञ्चरहित ब्रह्म का प्रपञ्चाभिन्न रूप में जो ज्ञान वह भ्रममात्र है। कणभक्षी श्री कणाद और अक्षपाद गौतम के मत में सत्कारण परमाणु से असत्कार्य द्व्यणुकादि की उत्पत्ति मानी गई है। इनके मत में भी सत् और असत् का ऐक्य सम्भावित नहीं। अतः कारण कार्यात्मक है अर्थात् कार्य से अभिन्न [है, यह] नहीं कहा जा सकता। अतः प्रधान की सिद्धि नहीं। अत एव प्रधान की सिद्धि के निमित्त प्रथम सत्कार्यवाद अवश्य ज्ञातव्य है।

तात्पर्य— बौद्धगण चार प्रकार के हैं— माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। माध्यमिक सर्वशून्यवादी हैं, योगाचार बाह्यशून्यवादी अर्थात् विज्ञानवादी हैं। सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ के अनुमेयतावादी हैं और वैभाषिक बाह्य पदार्थ के प्रत्यक्षतावादी हैं। सब के मत में पदार्थ क्षणिक अर्थात् एक क्षण स्थायी है। शून्यवाद ही बौद्ध का अभिमत था किन्तु शिष्यगण एकरूप उपदेश श्रवण करने पर भी अपने-अपने अधिकार के लिए पूर्वोक्त चार सम्प्रदायों में विभक्त हुए क्योंकि बोद्धा के भेद से एकरूप वाक्य के श्रवण होने पर भी नानाविध अर्थों का बोध हो सकता है। इसमें उन लोगों का प्रधान दृष्टान्त "गतोऽस्तमर्कः" है। शून्यवादी माध्यमिक गण के मत में अभाव से भाव कार्य का जन्म होता है। वे कहते हैं कि **"अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्।"** शून्वादी गण स्वमत के पोषण में **"असदेवेदमग्र आसीत्"** (छा॰ उप॰ ३.१९.१) इत्यादि श्रुतिप्रमाण देते हैं। बीजादि का नाश होने से ही अंकुरादि का जन्म होता है। दुग्धादि के नाश से दध्यादि का जन्म होता है। इससे मालूम होता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। इस मत में आत्मा का स्वरूपोच्छेद ही मुक्ति है। शून्यमत में प्रधान की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि अलीक= असत् पदार्थ क्योंकर सत्कार्य से अभिन्न होगा। सांख्यकार के मत में प्रधान सत् है और उसका कार्य भी सत् है। इस प्रकार कार्य और कारण का अभेद है।

अद्वैतमत में जगत् मिथ्या है एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही सत्य है। रज्जु विषय में अज्ञान और रज्जु और सर्प का सादृश्यज्ञानजन्य संस्कार रहने से ही रज्जु में सर्पज्ञान होता है। यह ज्ञान "अयं सर्पः प्रत्यक्षः" इस प्रकार होता है। अत एव एक अनिर्वचनीय सर्प उत्पन्न होता है। उसी को ज्ञानाध्यास और विषयाध्यास कहते हैं। अज्ञान की आवरण और विक्षेप दो शक्तियाँ हैं। आवरण शक्ति द्वारा रज्जु रूप अधिष्ठान का आच्छादन होता है अर्थात् रज्जु का रज्जुरूप में बोध नहीं होता। विक्षेप शक्ति द्वारा सर्पादि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अनादि काल से ब्रह्म में जीवगण का अज्ञान है। जीवगण अपने को ब्रह्म नहीं समझता। चिरकाल से मैं सुखी इत्यादि अनुभव और तज्जन्य संस्कार चला आता है। उक्त अज्ञान की आवरण शक्ति द्वारा ब्रह्मरूप का आच्छादन होता है। संस्कार के साथ विक्षेप शक्ति द्वारा अद्वैत ब्रह्म में द्वैत आकाशादि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि का आदि नहीं, भ्रमज्ञान से संस्कार और संस्कार से पुनरपि भ्रम, इस प्रकार संस्कार और भ्रम का चक्र घूम रहा है।

परिणाम दो प्रकार का है, एक विकार और दूसरा विवर्त्त—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीर्यते।

अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः।।

यथार्थ रूप से एक वस्तु को अन्य रूप में परिणत होने का नाम विकार है, जैसे मृत्तिका का विकार घट, दुग्ध का विकार दधि। अयथार्थ[१] रूप से एक वस्तु को अन्य रूप में परिणत (परिज्ञात वस्तु का परिवर्त्तन कुछ नहीं होता, केवल भ्रान्त व्यक्ति एक को दूसरी वस्तु जानता है) होने का नाम विवर्त्त है। जैसे रज्जु का विवर्त्त सर्प। शुक्ति का विवर्त्त रजत। जगत् मिथ्या है और उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं। उसकी व्यावहारिक सत्ता है अर्थात् व्यवहार दशा में उसकी सत्ता प्रतीत होती है। उक्त मत में अद्वितीय ब्रह्म से सत्य जगत् की उत्पत्ति नहीं होती। प्रपञ्चरहित ब्रह्म प्रपञ्चविशिष्ट रूप में जाना जाता है। अतः सत् से सत् की उत्पत्ति न होने से प्रधान की सिद्धि नहीं हो सकती।

न्याय-वैशेषिक मत में परमाणु जगत् का मूल कारण है। वह सत् है, उस सत् कारण से असत् (अर्थात् जो उत्पत्ति के पूर्व नहीं था। प्रागभावप्रतियोगी) द्व्यणुकादि की उत्पत्ति होती है। कार्यनाश होने से उस कार्य की सत्ता नहीं रहती। कार्यध्वंस प्रतियोगी होता है। अत एव समस्त कार्य जिनमें अव्यक्त रह कर कारण समवधान से आविर्भूत एवं तिरोहित होकर अव्यक्त रूप में पुनरपि जिसमें अवस्थान करे, इस प्रकार के मूल कारण प्रधान की सिद्धि उक्त मत में कैसे हो सकती है ? वादिगण कदाचित् कह सकते हैं कि प्रधानसिद्धि का प्रयोजन क्या ? इस प्रकार आशंका की निवृत्ति के लिये प्रधानसिद्धि के निमित्त ही सत्कार्यवाद की अवतारणा है।

इस पर सांख्यकारिका इस प्रकार है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकारणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।९।।

अर्थ— (असदकरणात्) असत् वस्तु की रचना न होने से (उपादानग्रहणात्) उपादान के ग्रहण से। (सर्वसम्भवाभावात्) सब में सबके अभाव से (शक्तस्य शक्यकारणात्) कार्यानुकूल शक्तिमान् कारण ही शक्तिनिरूपक कार्य के उत्पादन में समर्थ होता है, इससे और (कारणभावाच्च) कारण के सद्भाव से (कार्यं सत्) कार्य सत् है।

तात्पर्य— उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य सत् है क्योंकि कार्य यदि असत् हो तो उसको कोई उत्पन्न नहीं कर सकता। कार्य और कारण का नियत सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। अन्यथा सकल वस्तु से सकल वस्तु की उत्पत्ति हो जाय। सत् और असत् का सम्बन्ध कदापि नहीं होता। अत एव कार्य सत् है। शक्त कारण से ही

१. हस्तलेख में 'यथार्थ' पाठ है।

शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है, असत् कार्य शक्ति का निरूपण नहीं, अत एव कार्य सत् है। कार्य कारण से भिन्न नहीं। कारण भी सत् है। अत एव कार्य भी असत् नहीं है।।९।।

सांख्यतत्त्वकौमुदी बनाने हारे श्री वाचस्पति मिश्र इस प्रकार इस कारिका का आशय लिखते हैं—

कारणव्यापार से पूर्व भी कार्य सत् ही है, इस पर नैयायिक तनय सिद्ध साधन दोष नहीं दे सकते। यद्यपि बीज, मृत्तिका आदियों के प्रध्वंस के पश्चात् ही अंकुर, घटादि की उत्पत्ति देखी जाती है, तथापि प्रध्वंस का कारणत्व नहीं अपितु भाव ही बीजादि के अवयव का कारणत्व है। अभाव से भाव की उत्पत्ति हो, तब अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सर्वदा सर्वकार्योत्पादन सर्वत्र हो, इत्यादि न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका में विस्तार से कहा है। बाधक न होने पर जगत् को मिथ्या कहना वेदान्तियों का युक्तियुक्त नहीं। तब कणभक्ष= कणाद और अक्षचरण= गौतम का मत अवशिष्ट रह जाता है। वहाँ यह प्रतिज्ञा की जाती है कि कार्य सत् है। इसमें आगे हेतु देते हैं (असदकारणात्) कारणव्यापार से पूर्व कार्य यदि असत् हो, तो उसको कोई कर नहीं सकता क्योंकि सहस्रों शिल्पी मिलकर भी नील वर्ण को पीत वर्ण नहीं बना सकते। यदि कहें सत्त्व और असत्त्व ये दोनों घंट के धर्म हैं, तथापि धर्मी के न रहने से उसका धर्म नहीं हो सकता, इस हेतु सत्त्व तदवस्थ ही रह जाता, असत्त्व नहीं। असम्बद्ध अथवा अतदात्म असत् से "असन् घटः" [यह प्रयोग कैसे उपपन्न होगा ? इसलिए कारण-व्या]पार से ऊर्ध्व [के समान उससे पूर्व] भी कार्य सत् ही था। कारण बनने से केवल इसकी अभिव्यक्ति सिद्ध होती है, जैसे पीड़न से तिलों में तैल की, अवघात से धान्यों में तण्डुलों की और दोहन से गौवों में दुग्ध की अभिव्यक्ति होती है। असत् के बनाने में कोई निदर्शन नहीं क्योंकि अभिव्यज्यमान अथवा उत्पद्यमान असत् कहीं नहीं देखा गया, न देखा जाता है। कारण-व्यापार से पूर्व भी कार्य सत् ही था, इसमें द्वितीय हेतु देते हैं— उपादानग्रहण। उपादान शब्द का अर्थ कारण होता है। उसके साथ कार्य का सम्बन्ध अर्थात् उपादान के साथ कार्य का सम्बन्ध होने से कार्य को सत् कहना अत्यावश्यक है। इस भाव से कहा जाता है कि कार्य के साथ जो कारण का कार्य-कारण-भाव नियत सम्बन्ध है, तादृश कारण ही कार्य का जनक होता है। यदि कार्य असत् हो तो उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान न रहने से उक्त सम्बन्ध की सम्भावना नहीं हो सकती। इस हेतु कार्य सत् है।

एवमस्तु। कारणों से असम्बद्ध ही कार्य क्यों नहीं उत्पन्न होता ? तब असत् ही उत्पन्न होता है, यही कहा जायगा। इस अशंका की निवृत्ति के लिए

"सर्वसम्भवाभाव" यह हेतु देते हैं। सर्वत्र सकल कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। सम्बन्धरहित कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करने से असम्बद्धता अर्थात् सम्बन्धाभाव का कुछ विशेष न रहने से सब कार्य सर्वदा सकल कारण से उत्पन्न हो किन्तु ऐसा होता नहीं। अत एव असम्बद्ध कारण से असम्बद्ध कार्य होता है, ऐसा न कहकर "सम्बद्ध कार्य सम्बद्ध कारण से होता है" ऐसा कहना उचित है। सांख्य-वृद्ध अर्थात् प्रामाणिक प्राचीन सांख्यशास्त्रकारगण ऐसा कहते हैं— कि कार्य असत्ता स्वीकार करने से सत्ता आश्रय अर्थात् विद्यमान कारणों के साथ उक्त कार्य का सम्बन्ध है नहीं। असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करने से कोई नियम न रहेगा। तिल से ही तैल होता है, एतद्रूप नियम न रहने से सर्वत्र ही तैल की उत्पत्ति हो जाय।

नैयायिक पुनः शंका करते हैं कि असम्बद्ध भी वही कारण कार्य को उत्पन्न करता है जिसमें जो कारण शक्त है, कार्य के देखने से शक्ति का बोध होता है। अतः हमारे पक्ष में अव्यवस्था न होगी। इस हेतु सांख्यकार आगे "शक्तस्य शक्यकरणात्" कहते हैं। वह शक्ति शक्तकारणाश्रय होकर सर्वत्र है अथवा केवल शक्य में है ? यदि सर्वत्र ही है तो अव्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रही। यदि वह शक्ति शक्य में है तो शक्य के अभाव से वहाँ यह है, यह आप कैसे कह सकते हैं ? यदि आप इस पर कहें कि शक्तिभेद ही वैसा है कि वह किञ्चित् ही कार्य को उत्पन्न करता है, सबको नहीं। बहुत शोक की बात है, वह शक्ति विशेष कार्य से सम्बद्ध है, यद्वा असम्बद्ध ? यदि सम्बद्ध है, तो असत् के साथ सम्बन्ध नहीं, अतः सत्कार्यवाद ही सिद्ध होता है। यदि असम्बद्ध है, तो वह पूर्वोक्त अव्यवस्था बनी ही रही। अतः "शक्तस्य शक्यकारणात्" यह बहुत अच्छा कहा गया है।

कार्य सत् है, इसमें पुनः "कारणभावात्" यह हेतु देते हैं। कार्य कारणात्मक होता है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है क्योंकि कारण से भिन्न कार्य नहीं होता। कारण सत् है, तब कैसे तदभिन्न कार्य असत् हो सकता है ?

आगे कार्य के कारणाभेद साधक प्रमाण देते हैं। तन्तुओं से पट भिन्न नहीं क्योंकि पट तन्तुओं का धर्म है। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ जिससे जो भिन्न होता है, वह उसका धर्म नहीं होता। यथा अश्व का धर्म गौ नहीं क्योंकि अश्व से गौ भिन्न है, किन्तु तन्तुओं का पट धर्म है। अतः उससे पट भिन्न पदार्थ नहीं। और भी तन्तु और पट में उपादानोपादेय भाव सम्बन्ध है, अतः पट अन्य पदार्थ नहीं क्योंकि जिनमें अर्थान्तरत्व होता है, उनमें उपादानोपादेय भाव नहीं देखा जाता। जैसे घट और पट में। किन्तु तन्तु और पट में उपादानोपादेय भाव विद्यमान है, अतः इन दोनों का अर्थान्तरत्व (भिन्नत्व) नहीं। इस कारण भी तन्तु-

पट का अर्थान्तरत्व नहीं क्योंकि इनमें संयोग-प्राप्ति-भाव है क्योंकि पदार्थान्तरत्व में संयोग देखा जाता है, जैसे कुण्ड और बदरफल का संयोग होता है, अथवा पदार्थान्तरत्व में अप्राप्ति होती है, जैसे हिमालय और विन्ध्याचल में। किन्तु यहाँ संयोग और अप्राप्ति नहीं है, इस हेतु अर्थान्तरत्व नहीं। पुनः इस कारण भी तन्तुओं से पट भिन्न नहीं क्योंकि इन दोनों में गुरुत्वान्तर कार्य नहीं पाया जाता। यहाँ यह नियम है कि जो जिससे भिन्न होता है, उससे उसका गुरुत्वान्तर कार्य का ग्रहण होता है— जैसे एक पलपरिमित स्वस्तिक का जो अवनतिविशेष गुरुत्व कार्य है, तदपेक्षया द्विपलपरिमित स्वस्तिक का अवनतिविशेष गुरुत्व कार्य अधिक होता है। किन्तु तन्तु-गुरुत्व कार्य से पट-गुरुत्व का कार्यान्तर वैसा कदापि नहीं देखा जाता है। अतः तन्तुओं से पट अभिन्न है। वे ये प्रदर्शित अवीत अर्थात् केवल -व्यतिरेकी अनुमान सकल कार्य और कारण के अभेदबोधक हैं, तन्तु और पट स्थूल-प्रदर्शन-मात्र हैं। तद्द्वारा समस्त कारण और कार्य ज्ञातव्य है। इस प्रकार अभेद सिद्ध होने पर तन्तु ही तत्तत् आकारभेद से परिणत पट है, किन्तु तन्तुओं से अर्थान्तर पट नहीं।

पुनः जैसे कूर्म के अंग कूर्मशरीर में प्रविष्ट होने से तिरोभूत ही और निकालने से आविर्भूत ही होते हैं। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कूर्म के अंग उत्पन्न होते अथवा विध्वस्त होते हैं। इसी प्रकार एक ही मृत्तिका अथवा सुवर्ण के घट-मुकुटादि अनेक विशेष-विशेष पदार्थ निकलने से आविर्भूत अथवा उत्पन्न और पुनः उनमें ही प्रविष्ट होने से तिरोभूत अथवा विनष्ट कहलाते हैं किन्तु इनके असत् की उत्पत्ति और न सत् का निरोध ही होता है। भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने इस सम्बन्ध में यह कहा है, यथा—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता २.१६)

असत् का कदापि भाव नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता। जैसे अपने संकोची और विकासी अंगों से कूर्म भिन्न नहीं है, इसी प्रकार घट, मुकुटादि भी मृत्तिका और सुवर्ण से भिन्न नहीं। इससे यह परिणाम निःसृत हुआ कि जैसे वन में ये तिल हैं, वैसे ही तन्तुओं से यह पट है, ईदृग् व्यपदेश होता है। अर्थ-क्रिया-भेद भी भेद-साधक नहीं होते हैं क्योंकि एक ही पदार्थ की नाना क्रियाएँ देखी जाती हैं। जैसे एक ही अग्नि दाहक, प्रकाशक और पाचक होता है। अर्थ-क्रिया-व्यवस्था भी भेदसाधक नहीं क्योंकि उन ही समस्त-व्यस्तों की अर्थ-क्रिया-व्यवस्था देखते हैं। (मिलित और पृथक्-पृथक् व्यवस्था का नाम समस्त-व्यस्त है) जैसे प्रत्येक विष्टिगण (वाहक) पथ-प्रदर्शनरूप क्रिया करते हैं किन्तु शिविकावहन एक आदमी भी नहीं कर सकता, सब कोई मिलकर ही शिविकावहन कर सकते

हैं। इसी प्रकार एक-एक तन्तु यद्यपि प्रावरण का कार्य नहीं दे सकते तथापि मिलकर पटरूप में आविर्भूत हो प्रावरण का कार्य कर सकते हैं।

एवमस्तु। सांख्यकार से नैयायिक जिज्ञासा करते हैं। कारण के व्यापार से पूर्व वस्त्र का आविर्भाव सत् है अथवा असत् ? यदि असत् कहें तो असत् की उत्पत्ति स्वीकार करनी चाहिए। यदि कहें कि सत् है तब कारण के व्यापार का प्रयोजन ही क्या ? कार्य रहने पर कारण का कुछ भी व्यापार-प्रयोजन नहीं देखा जाता। आविर्भाव की सत्ता स्वीकार करने से अन्य आविर्भाव पुनः मानना पड़ेगा। अतः अनवस्था दोष का प्रसंग होगा। अत एव तन्तु ही आविर्भूत पट किये जाते हैं, यह निरर्थक वचन है।

तथास्तु, (नैयायिक से सांख्यकार प्रश्न करते हैं) असत् की उत्पत्ति होती है, इस मत में भी असत् की उत्पत्ति किंस्वरूपा है। विद्यमाना अथवा अविद्यमाना। यदि विद्यमाना कहें, तो कारण-व्यापार निरर्थक है। यदि असती अर्थात् अविद्यमाना कहें, तो उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। वह उत्पत्ति भी असती होगी, पुनः उसकी भी उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। यदि कहें कि वस्त्र की उत्पत्ति वस्त्र से भिन्न नहीं। इस पक्ष में भी जब कहा जाता है कि यह पट है, तभी यह समझा जाता है कि पट उत्पन्न होता है। तब "पट" ऐसा कहने पर उत्पन्न होता है, ऐसा न कहना चाहिए क्योंकि पुनरुक्ति दोष होगा। [पट] "विनष्ट होता है" यह भी कहना उचित नहीं क्योंकि एक साथ उत्पत्ति और विनाश का विरोध है। इत्यादि श्री वाचस्पति मिश्र का अभिप्राय है। वास्तव में यह विषय अति कठिन है क्योंकि न्याय और सांख्य दोनों सत्कार्यवादी नहीं हैं, किञ्चिन्मात्र का विभेद है, जिसकी सूक्ष्मता अतिदुर्बोध है। नैयायिक के कथन का सार यह है कि कारण अनादि और नित्य है किन्तु उससे जिस रूप और आकार में पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उस आकार में पहले कार्य नहीं थे। तन्तुओं से पट बनता है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु तन्तुओं में वस्त्राकार विद्यमान नहीं था। उन तन्तुओं को लेकर तन्तुवाय वस्त्र बनाता है। तब जो-जो तन्तुओं से नहीं होते थे, वस्त्र से वे-वे कार्य होते हैं। वे ही तन्तु बुन जाने पर कोई धोती, कोई शाटिका, कोई प्रावरण, कोई कुर्त्ता आदि बनते हैं। इसी प्रकार मृत्तिका से जो-जो घट-शरावादि बनते हैं, वे आकार मृत्तिका में नहीं थे। अंकुर से जो काण्ड और पत्रादिक होते हैं, वे सर्वप्रकार अंकुर में विद्यमान नहीं थे। अतः यह कहना पड़ता है कि सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है। यह न्याय-सिद्धान्त खण्डनीय नहीं है क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है।

तथापि यह सिद्धान्त चिन्तनीय अवश्य है क्योंकि सर्वदा एक बीज से एक

ही प्रकार का पदार्थ बनता है, जैसे लाल कूष्माण्ड के बीज से सदा लाल कूष्माण्ड और श्वेत से श्वेत होता रहता है। कभी मरिच के बीज से तिक्त पदार्थ की उत्पत्ति नहीं देखी जाती किन्तु उससे कटु पदार्थ ही उत्पन्न होंगे। इससे यह सार निकलता है कि बीज में अति सूक्ष्मता से स्वकीय सर्व आकार और रूप विद्यमान ही थे, वे संयोगवश विकसित वा परिणत होते चले जाते हैं। सांख्यकार का यह आशय है कि कूर्म के अंग कूर्म से भिन्न नहीं, अथ च नवीन भी नहीं किन्तु किसी समय कारणवश वे अंग उसी में समा जाते और निकल आते हैं, तद्वत् प्रकृति और कार्य का सम्बन्ध है। उत्पत्ति और विनाश के स्थान में अविर्भाव और तिरोभाव ये दो सांख्य-शास्त्र में प्रयुक्त होते हैं। एवमस्तु।

इस विस्तृत लेख से हमारा आशय यह है कि इस जड़ जगत् का उपादान कारण सदा से चला आता है। न इसका आदि है और न अन्त है। इस मत को गुप्तरीति से मानते हुये भी वेदान्ती नहीं मानते हैं क्योंकि प्रकृति के स्थान में वे माया को अनादि मानते हैं किन्तु जब वे पूछे जाते हैं कि आप की माया क्या है, तो वे कहते हैं कि वह अनिर्वचनीया है, भ्रम है, मिथ्या है, विवर्त्त, स्वप्न है, अध्यास हैं इत्यादि-इत्यादि शतशः मायावादियों की मायाएँ हैं। उन्होंने सुन्दर अपना नाम वेदान्ती रखा है और उपनिषदों को ही अपना आधार माना है। इनको वेद, श्रुति, ईश्वर-वाक्य आदि कहते हैं। मूल संहिताओं से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। अन्ततोगत्वा इनके मत में वेद भी अनित्य और भ्रममात्र है। लोक में स्वप्नवत् इनका व्यवहार हो रहा है। एवमस्तु, आगे इस पर विचार करें।

कारिका का **'असदकरणात्'** यह पद व्यतिरेक दृष्टान्त है "उत्पत्तेः पूर्वं कार्यं सत् कार्यत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथा असत्"। कार्य सत्ता का व्याप्य है। सत्ता-रूप व्यापक के अभाव में कार्यत्वरूप व्याप्य का अभाव होता है अर्थात् जो सत् नहीं वह कार्य भी नहीं। यहाँ "तदभावव्यापकीभूता भावप्रतियोगिता" रूप सत्ता की व्यतिरेक व्याप्ति कार्यत्व में है। सत्ताभाव का व्यापक कार्यत्वाभाव का प्रतियोगी कार्यत्व है "असदकरणात्" यह कार्यरूप पक्ष में नहीं है। अत एव यह हेतु नहीं किन्तु व्यतिरेकव्याप्ति का सूचक मात्र है। सत्तासाध्यक अनुमिति में कार्यत्व को हेतु बनाना चाहिए। कार्यमात्र ही यहाँ पक्ष है। अतः अन्वय में दृष्टान्त दुर्लभ है। "घटः सन् कार्यत्वात्" इस प्रकार विशेष कार्य का उल्लेख करने से अन्वय में दृष्टान्त पटादि हो सकता है, किन्तु यह अभिमत नहीं क्योंकि पटादि की सत्ता भी यद्यपि सिद्ध नहीं होती। अतः क्या उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता सिद्ध है ? क्या कार्यकारण की अभेदसिद्धि सर्वत्र ही केवलव्यतिरेकी-अवीत अनुमान से हो सकती है ?

अनुमान के पूर्व प्रतिवादी जो स्वीकार करते हैं, वही स्वीकृत विषय अनुमान द्वारा पुनः सिद्ध करने पर वादी के पक्ष में "सिद्धसाधन"[१] दोष होता है। उत्पत्ति के पश्चात् नैयायिक गण भी कार्य की सत्ता मानते हैं "असदकरणात्" इत्यादि द्वारा उत्पत्ति के पश्चात् उस सत्ता का यदि सांख्यकार साधन करें, तो उनके पक्ष में सिद्धसाधन दोष होगा।

कारणरूप सामान्य सर्वत्र विशेषरूप कार्य में अनुगत है। मृत्तिका, सुवर्ण और बीजावयव प्रभृति कारण हैं, वे घट, कुण्डल और अंकुरादि कार्य में अनुगत हैं। यदि ऐसा न हो, तो घटादि में मृत्तिकादि का ज्ञान न हो। कारण सामान्य में आश्रित रहकर तत्तत् कार्य के आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होते हैं। एक-एक विशेष कार्य अन्य विशेष कार्य का जनक नहीं होता, सर्वत्र सामान्य कारण द्वारा विशेष कार्य होता है। सुवर्ण से कुण्डल होता है, पुनः कुण्डल नष्ट करके वलय प्रस्तुत हो सकता है। यहाँ जैसे कुण्डल वलय का कारण नहीं किन्तु सर्वत्र सुवर्णखण्ड ही कारण कहा जायेगा, तद्वत् बीजांकुर स्थल में बीज के अवयव ही अंकुरादि के कारण हैं। अवयवरूप सामान्य कारण से बीज, अंकुर और काण्ड प्रभृति तत्तत् विशेष कार्य का आविर्भाव होता है। बीजध्वंस अंकुर का कारण कहा नहीं जाता क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती नहीं। यदि हो, तो कार्यवर्ग भी अभाव ही प्रतीत हो।

महर्षि गौतमकृत न्यायसूत्र के ऊपर वात्स्यायनभाष्य है। भाष्य के ऊपर उद्योतकर का वार्त्तिक, वार्त्तिक के ऊपर वाचस्पति मिश्र का न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका है। उस टीका के ऊपर उदयनाचार्यकृत तात्पर्यपरिशुद्धि इत्यादि न्याय के सम्प्रदाय ग्रन्थ हैं। सर्वतन्त्र अलौकिक प्रतिभाशाली वाचस्पति मिश्र षड्दर्शनों की टीका, स्मृतिसंग्रहप्रभृति अनेक ग्रन्थों का प्रणयन कर गए हैं।

उत्तर काल में बाधकज्ञान होने से पूर्वज्ञान और तद्विषयक मिथ्यात्व का निश्चय होता है। "नेदं रजतम्" इस प्रकार उत्तरकालीन ज्ञान द्वारा "इदं रजतम्" इस ज्ञान का और उसके विषय अनिर्वचनीय रजत का बाध होता है।

घट-पटादि स्थल में तद्रूप कोई बाधक ज्ञान नहीं। घट कह कर जो व्यवहार होता है, वह त्रिकाल में समान रूप से स्थित रहता है, घट नहीं है, ऐसा ज्ञान कदापि नहीं होता। प्रत्यक्ष परिदृश्यमान घट-पटादि प्रपञ्च सत्य नहीं किन्तु वे ब्रह्म के विवर्त्त हैं, अत एव मिथ्या हैं, ईदृक् कल्पना केवल अज्ञान का परिचायक है। इस प्रकार कटाक्ष कर सांख्यकार ने विवर्त्तवाद वेदान्तमत सर्वथा मिथ्या है, इसका खण्डन क्या किया जाय ? इस हेतु दो-चार बातें कह कर उपेक्षा

१. हस्तलेख में 'सिद्धान्तसाधन' पाठ है।

की है।

सांख्यमत में समवाय नहीं है। समवायि कारण को सांख्यमत में उपादान कारण यद्वा प्रकृति कहते हैं। न्यायमत में समवायि कारण में जो कार्य का प्रागभाव रहता है, वही कार्य उत्पन्न होता है। सांख्यमत में उपादान कारण में जो कार्य अव्यक्त भाव से स्थित रहता है, वह उत्पन्न होता है। इस प्रकार नियम रहने से अतिप्रसंग अर्थात् सकल वस्तु से सकल कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। न्याय के उत्पत्ति और विनाश शब्द के स्थान में [सांख्य में] क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव शब्दों का प्रयोग होता है।

समवाय सम्बन्ध में सत्ता जाति रहती है "सन् घटः" इत्यादि व्यवहारवत् "असन् घटः" इत्यादि व्यवहार करने से असत्ता के साथ घट का विशेष सम्बन्ध रहना आवश्यक है क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व घटादि न रहने से असत्तारूप धर्म कहाँ रहेगा ? अतः "असन् घटः" अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व घट को असत् कहने पर भी प्रकारान्तर से सत्ता है, यह सिद्ध होता है। सांख्य, वेदान्त और मीमांसा मत में शक्ति स्वीकार है। सांख्यकार कार्य की अव्यक्त अवस्था को शक्ति मानते हैं। अग्नि में दाहानुकूल शक्ति है। चन्द्रकान्त मणि निकट रहने से अग्नि में दाहशक्ति नहीं रहती। इस मणि को स्थानान्तरित करने से अथवा सूर्यकान्त मणि को उसके निकट रखने से उस अग्नि में पुनः दाहशक्ति होती है। इस स्थल में यह जानना चाहिए कि चन्द्रकान्त मणि के प्रभाव से अग्नि की दाहशक्ति विनष्ट हो गई थी। उक्त मणि को स्थानान्तरित करने से अथवा सूर्यकान्त मणि के सन्निधान में पुनरपि अग्नि में दाहशक्ति होती है। यहाँ नैयायिक कहते हैं– कारण समूह के अतिरिक्त मानने का प्रयोजन नहीं। दाह के प्रति वह्न्यादिवत् चद्रकान्तमणि का अभाव भी एक कारण है। अत एव उक्त मणि को प्रतिबन्धक कहते हैं। **"कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं प्रतिबन्धकत्वम्"** अर्थात् जिस कार्य के प्रति जो अभाव कारणस्वरूप होता है, उसके प्रतियोगी को प्रतिबन्धक कहते हैं। उत्तेजक सूर्यकान्त मणि के सन्निधान में चन्द्रकान्त मणि रूप प्रतिबन्धक रहने पर भी दाह होता है। एतन्निमित्त उत्तेजकाभाव विशिष्ट मणि सामान्याभाव को ही कारण कहना चाहिए। इस प्रकार उत्पत्ति होने से अनन्त शक्ति स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं।

कार्य और कारण का भेद स्वीकार करके समवाय सम्बन्ध से कारण में कार्य रहता है, इस प्रकार प्रतिपादन करना प्रक्रियागौरव है। साधारण [जन] को समझाने के लिये सुगम उपाय देखना चाहिए। सहस्र चीत्कार करने से भी साधारण जन को समवाय सम्बन्ध नहीं समझा सकते। किञ्चित् स्थिरचित्त होकर विचारने से यह बोध होता है। कारण कि अवस्थाविशेष ही कार्य है, अतिरिक्त

नहीं। न्याय के समवाय सम्बन्ध के स्थल में सांख्य का तादात्म्य यद्वा अभेद सम्बन्ध समझना चाहिए। कार्य और कारण के समान द्रव्य, गुण, जाति, व्यक्ति प्रभृति का समवायस्थल में तादात्म्य सम्बन्ध ज्ञातव्य है। सांख्य मत में द्रव्य-गुण से गुणादि अथवा व्यक्ति से जाति अतिरिक्त पदार्थ नहीं।

कार्य और कारण के संयोग-वियोग नहीं माने गए हैं। एतन्निमित्त वैशेषिक दर्शन में **"युतसिद्धयोः संयोगः"** एवम् **"अयुतसिद्धयोः समवायः"** इस प्रकार संयोग और वियोग का पार्थक्य दिखलाया है। यु धातु का अर्थ मिश्रण है। जो विभिन्न स्थान में रहकर एकत्र होने पर भी परिज्ञात हों, वे युतसिद्ध कहलाते हैं। जैसे तरु और पक्षी। तन्तु और पट का तद्रूप सम्बन्ध है, वे कभी भी परस्पर पृथक् नहीं होते। एतन्निमित्त वे अयुतसिद्ध कहलाते हैं। कार्य और कारण तरु-पक्षिवत् यदि वास्तविक भिन्न होते, तब उनमें भी युतसिद्धि की बाधा नहीं होती।

तन्तु का गुरुत्व कार्य तुलादण्ड के अवनतिविशेष से पट का गुरुत्वान्तर कार्य नहीं, यह कह कर तन्तु और पट की अभेद-सिद्धि की गई है। जिन[१] दो पदार्थों के गुरुत्व कार्य तुल्य हैं, वे अभिन्न हैं, वैसा समझना उचित नहीं। यदि ऐसा हो तो परिमाण[२]यन्त्र और परिमेय [वस्तु अभिन्न होने चाहिएँ, परन्तु उन] का भेद प्रत्यक्ष है। कार्य और कारण का भेद प्रत्यक्ष नहीं। अत एव उस स्थल में गुरुत्वान्तर कार्य के अदर्शन से स्वतः अनुमान प्रमाण द्वारा अभेद-सिद्धि होती है।

परकीय हेतुओं में दोष न दिखला, स्वकीय हेतु द्वारा साध्य-सिद्धि नहीं होती। विरुद्ध हेतु द्वारा आक्रान्त होकर स्वकीय हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है। इस निमित्त प्रतिवादी के भेदसाधक हेतुओं को अन्यथा रूप में उपपन्न करना उचित है, प्रतिवादी जिन समस्त हेतुओं के द्वारा भेद-सिद्धि करेंगे, वे अभेद में भी उपपन्न हो सकते हैं, यह विस्तार से दिखलाना चाहिए। सांख्यमत में कार्य की उत्पत्ति के पूर्व सत् होने पर भी, उसको आविर्भावनिमित्त कारण की अपेक्षा होती है किन्तु वह आविर्भाव भी यदि सत् हो, तो अन्य कौन सा पदार्थ असत् होगा, जिसको सत् करने के लिये कारणव्यापार आवश्यक हो। आविर्भाव का आविर्भाव निमित्त कारण का व्यापार कहने से आविर्भावधारा चलती है, यह अनवस्था दोष है। उक्त आशंका का कुछ सदुत्तर न देखकर सांख्यकार जिज्ञासा करते हैं कि आपकी असदुत्पत्ति सत् है वा असत्। स्वकीय दोष का प्रतिविधान न करके वही दोष प्रतिवादी के ऊपर अर्पण करना प्रतिबन्ध कहलाता है। सांख्यकार ने दिखलाया है कि नैयायिकप्रदर्शित दोष केवल सांख्यमत में ही नहीं किन्तु उक्त दोष न्यायमत में भी होते हैं। जो दोनों में दोष होते हैं, उनकी गणना दोष में नहीं

१. हस्तलेख में 'जो वस्तु' पाठ है। २. हस्तलेख में 'परिणाम' पाठ है।

क्योंकि, कहा गया है—

यश्चोभयोः समो दोषः परिहारश्च यः समः।
नैकस्तत्रानुयोज्यः स्यात् तादृगर्थविनिर्णये।।

अर्थात् दोष और उसका उद्धार यदि उभय पक्ष में तुल्य हो, तो वादी और प्रतिवादी में से केवल एक दोषी नहीं। उस अर्थ के विचार के लिए यदि दोषी हैं, तो दोनों अथवा एक भी नहीं।

"पट उत्पद्यते" इस वाक्य का अर्थ उत्पत्तिविशिष्ट पट है। उत्पत्ति पट का स्वरूप होने से पुनः "उत्पद्यते" कहने का प्रयोजन नहीं। कहने से पुनरुक्ति होगी। तद्वत् "पटो विनश्यति" यह भी कहना नहीं चाहिए क्योंकि उत्पत्तिविशिष्ट पट उत्पत्ति क्षण में विनष्ट नहीं होता। प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति और तत्पश्चात् विनाश होता है। उत्पत्ति क्षण में विनाश केवल क्षणिकवादी बौद्ध मत में ही होता है।

"स्वकारण-समवाय" अर्थात् कारण में समवाय सम्बन्ध से कार्य का रहना अथवा "स्वसत्ता-समवाय" अर्थात् कार्य में समवाय सम्बन्ध से सत्ता जाति का रहना, न्यायमत में इसी को उत्पत्ति कहते हैं। समवाय सम्बन्ध से कारण में कार्य रहता है, द्रव्य, गुण और कर्म रूप व्यक्ति में जाति रहती है। यथा—

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्त्तितः।।

पूर्वोक्त रूप से उत्पत्ति को समवायस्वरूप स्वीकार करने से उसके निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं होती। समवाय नित्य सम्बन्ध का नाम है, नित्य समवायात्मक उत्पत्ति नित्य होने से भी जिस प्रकार उसके निमित्त कारण की अपेक्षा होती है, तद्वत् कार्य सत् होने पर भी उसके निमित्त कारण की अपेक्षा होने में आपत्ति क्या ? सांख्यमत में आविर्भाव को कार्यस्वरूप नहीं कहते। उत्पत्ति समवाय स्वरूप स्वीकार की गई है। समवाय न्यायमत में कार्य से अतिरिक्त पदार्थ है।

इति श्री शिवशंकरप्रणीते त्रैतसिद्धान्तादर्शे प्रकृतित्वादर्शः समाप्तः।।५।।[१]



१. हस्तलेख में यह पुष्पिका नहीं है।

समन्वयादर्श

उपनिषदों तथा वेदों में बहुत से ऐसे स्थल हैं, जिनके देखने से सन्देह होता है कि यह वर्णन ईश्वरपरक अथवा प्रकृतिपरक अथवा जीवपरक है। इसलिए उनका कुछ निर्णय कर देना उचित है।

"अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्।" (छा॰ उप॰ १.९.१)

अर्थ– छान्दोग्योपनिषद् में एक संवाद आता है कि शिलक शालावत्य ब्राह्मण प्रवाहण जैवलि राजा से पूछते हैं कि इस लोक की गति कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में राजा कहते हैं कि इस लोक की गति आकाश है क्योंकि सब ये भूत (प्राणी और पृथिव्यादि महाभूत) आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन होते हैं। इन भूतों से आकाश ही बहुत बड़ा है और आकाश ही परायण है।

यहाँ संशय होता है कि आकाश शब्द से परब्रह्म अथवा भूताकाश अभिप्रेत है अर्थात् यहाँ आकाश शब्द ब्रह्मवाचक अथवा भूताकाशवाचक है। इस संशय का कारण क्या है ? ब्रह्म और व्योम इन दोनों अर्थ में आकाश शब्द का प्रयोग ही संशयबीज है। भूतविशेषार्थक आकाश शब्द लोक और वेद दोनों में प्रसिद्ध है। कहीं यह शब्द ब्रह्मार्थ में भी प्रयुज्यमान देखा जाता है, जहाँ वाक्यशेष के वश से अथवा असाधारण-गुण-श्रवण से ब्रह्म निर्धारित होता है। यथा–

"यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै॰ उप॰ २.७)

अर्थ– यदि यह आकाश आनन्द न होता।

"आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म" (छा॰ उप॰ ८.१४.१)

अर्थ– निश्चय आकाश ही नाम और रूप का निर्वहिता अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति हेतु है। वे नामरूप जिससे भिन्न हैं अथवा जिसमें स्थित हैं, वह ब्रह्म है। इत्यादि स्थलों में आकाश शब्द ब्रह्मवाचक भी है, इस हेतु संशय होता है।

इन दोनों में किसका ग्रहण करना चाहिए। युक्त यही है कि भूताकाश का ग्रहण किया जाय क्योंकि प्रसिद्धतर प्रयोग से वह अर्थ शीघ्र बुद्धि में आरूढ़ होता है। और दोनों अर्थों में आकाश शब्द को साधारण मानना उचित नहीं क्योंकि अनेकार्थत्व दोष प्रसक्त होगा। इस हेतु ब्रह्म में आकाश शब्द गौण हो सकता है

क्योंकि विभुत्वादि बहुत धर्मों से आकाश के सदृश ब्रह्म है।

जहाँ मुख्यार्थ सम्भव हो, वहाँ गौणार्थ करना उचित नहीं। यहाँ मुख्य आकाश का ही ग्रहण सम्भव है।

शंका– यदि यहाँ भूताकाश अर्थ लिया जाय, तो वाक्यशेष का अर्थ उपपन्न नहीं होगा। वाक्यशेष यह है **"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेवोत्पद्यन्ते"** सब ये भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं।

उत्तर– यह दोष न होगा क्योंकि आकाश भी क्रमशः वायु आदि का कारण है, यथा **"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः"** (तै॰ उप॰ २.१) उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ और आकाश से वायु उत्पन्न हुआ इत्यादि। भूताकाश में ज्यायस्त्व और परायणत्व भी अन्य भूतों की अपेक्षा उपपन्न हैं। इस हेतु आकाश शब्द से भूताकाश का ग्रहण उचित है। इत्यादि शंका की निवृत्ति के लिये वेदान्तरचयिता **"आकाशस्तिल्लिंगात्"** (वेदान्त॰ १.१.२२) इस सूत्र को रचते हैं। ऐसे स्थलों में आकाश शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण उचित है क्योंकि यहाँ ब्रह्म के मुख्य गुणों का चिह्न पाया जाता है क्योंकि परब्रह्म का ही यह चिह्न है जो वक्ष्यमाण वाक्यों में पाया जाता है **"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेवोत्पद्यन्ते"** **अर्थ**– निश्चय सब ये भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि परब्रह्म से ही सकल भूतों की उत्पत्ति होती है, यही वेदान्तमर्यादा है।

शंका– भूताकाश का भी वाय्वादि क्रम से कारणत्व स्वीकार किया है।

उत्तर– यह सत्य है, तथापि मूल कारण ब्रह्म का ग्रहण न करके आकाश से ही यह सब धारण और "सर्वाणि" यह भूतविशेषण अनुकूल नहीं हो सकता। और भी, **"आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति"** यह ब्रह्मलिंग है पुनः **"आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्"** आकाश ही इन भूतों से सर्वश्रेष्ठ है और आकाश ही परायण है इसमें ज्यायस्त्व और परायणत्व का निरूपण है। ज्यायस्त्व जिस हेतु एक परमात्मा में ही अपेक्षित है, यह स्वयं वेद कहते हैं, यथा–

"ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः" (छा॰ उप॰ ३.१४.३)

पृथिवी से बड़ा, अन्तरिक्ष से बड़ा, द्युलोक से बड़ा और इन सब लोकों से बड़ा वह ब्रह्म है। यह छान्दोग्योपनिषद् कहती है। तथा परायणत्व भी परमकारणत्व से परमात्मा में ही उपपन्न होता है। श्रुति भी कहती है

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्" (बृ॰ उप॰ ३.९.२८)

अर्थ– वह परब्रह्म विज्ञानमय, आनन्दमय और दानदाताओं का परायण

है। और भी, अन्तवत्त्व दोष से शालावत्य का पक्ष निन्दित बतला, किसी अनन्त को दिखलाने के लिये जैवलि ने आकाश का [कथन किया।] उस आकाश को उद्‌गीथविद्या में लगाकर उपसंहार करते हैं–

"स एष परोवरीयानुद्‌गीथः स एषोऽनन्तः" (छा॰ उप॰ १.९.२)

वह यह परोवरीयान् अर्थात् सर्वश्रेष्ठ उद्‌गीथ है, वह यह अनन्त है। यह आनन्त्य ब्रह्मलिंग है।

अब जो यह कहा है कि आकाश शब्द का प्रसिद्ध अर्थ लेना उचित है, इसके उत्तर में यह वक्तव्य है कि प्रथमतर प्रतीत भी आकाश शब्द वाक्यशेषगत ब्रह्मगुण देखकर प्रसिद्धार्थ में नहीं लिया गया। ब्रह्म में आकाश शब्द का प्रयोग दिखलाया गया है **"आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता"** इत्यादि स्थल में आकाशपर्यायवाची शब्दों का ब्रह्मार्थ में प्रयोग भी बहुत देखते हैं। यथा–

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।"

(ऋ॰ १.१६४.३९)

"सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता।" (तै॰ ३.६)

"ओं कं ब्रह्म खं ब्रह्म" (छा॰ उप॰ ४.१०.५)

"खं पुराणम्" (बृ॰ उप॰ ५.१)

अर्थ– (अक्षरे) कूटस्थ (परमे) परम (व्योमन्) आकाश में अर्थात् परमात्मा में (ऋचः) ऋग्वेद प्रतिष्ठित है। (यस्मिन्) जिस ब्रह्म में (विश्वे+देवाः+अधि+निषेदुः) सकल देव प्रतिष्ठित हैं। (सा+एषा॰) वह यह भार्गवी विद्या (परमे+व्योमन्) परमब्रह्म में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है। (ओं कं ब्रह्म खं ब्रह्म) ओं को सुखस्वरूप ब्रह्म और व्यापक ब्रह्म समझ उपासना करें (खं पुराणम्) वह ब्रह्म आकाशवत् व्यापक और चिरन्तन है इत्यादि स्थल में आकाशवाची शब्द ब्रह्मवाचक है। वाक्य के उपक्रम में भी वर्त्तमान आकाश शब्द का वाक्यशेष के वश से ब्रह्मविषयत्व निर्धारण करना उचित है। जैसे "अग्निरधीतेऽनुवाकम्" अग्नि अनुवाक पढ़ता है। यहाँ वाक्योपक्रमगत भी अग्नि शब्द माणवक-शिष्यपरक देखा जाता है। इस हेतु आकाश शब्द यहाँ ब्रह्मवाचक है, यह सिद्ध हुआ।

उपसंहार

पञ्चभूतों में से आकाश का प्रथमत्व है, इसलिये प्रथम दिखलाया गया है कि बहुत प्रकरणों में आकाश और तत्पर्याय व्योमादिक शब्द ब्रह्मार्थ में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण वेद तथा उपनिषद् से दिखलाये गए हैं। इसी प्रकार वायु, अग्नि, जल, भूमि ये चार भूत और इनके पर्यायवाचक शब्द भी ईश्वरार्थ में प्रयुक्त होते

हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ईश्वर के ये तीन मुख्य लिंग हैं– प्रथम सृष्टि का रचना, दूसरा पालना, तीसरा हरना। ये तीनों गुण जिस-जिस इन्द्र, वरुण, विष्णु, रुद्र इत्यादि नामों के साथ पाये जायँ, वहाँ-वहाँ इन्द्रादिक शब्दवाच्य ईश्वर समझना चाहिए। और उस-उस प्रकरण को ईश्वर में ही लगाना उचित है। दो-एक उदाहरण इसके और भी दिये जाते हैं जिनसे और भी अर्थ की विस्पष्टता होगी।

ईश्वरवाचक प्राण शब्द

छान्दोग्योपनिषद् में एक प्रसंग आता है कि उषस्ति चाक्रायण नाम के एक ऋषि थे। इतस्ततः भ्रमण करते हुए एक राजा के निकट जा पहुँचे। जिसने यज्ञ का आरम्भ किया था। वे उद्‌गाताओं के निकट जा बैठे और प्रस्तोता, उद्‌गाता और प्रतिहर्त्ता इन तीनों से पूछा कि जो देवता प्रस्ताव, उद्‌गीथ और प्रतिहार से सम्बन्ध रखती हैं, क्या उनको आप लोग जानते हैं ? यदि नहीं जानते, तो यज्ञ करवाने से आप लोगों का अनिष्ट होगा। शिर नीचे गिर जायेगा। यह सुन यजमानसहित ऋत्विजों ने पूछा कि भगवन् ! हम लोग नहीं जानते, आप ही कृपा कर बतलावें कि वह कौन सी देवता है। इसके उत्तर में–

"प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति।" (छा॰ उप॰ १.११.५)

उषस्ति चाक्रायण ने कहा वह "प्राण" है क्योंकि ये सब भूत प्राण में ही प्रविष्ट होते और प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। वह यह देवता प्रस्ताव के अनुगत है, उसको न जानकर यदि आप प्रस्ताव करते तो आपका शिर नीचे हो जाता। इत्यादि।

यहाँ संशय और निर्णय पूर्ववत् द्रष्टव्य हैं। **"प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः"** (छा॰ उप॰ ६.८.२), **"प्राणस्य प्राणम्"** (बृ॰ उप॰ ४.४.१८) हे सोम्य यह मन प्राण-बन्धन है। यह प्राण का प्राण है, इत्यादि स्थल में प्राण शब्द ब्रह्मविषयक है और वायुविकार में सर्वत्र यह शब्द प्रसिद्धतर है, इस हेतु प्राण शब्द से किसका ग्रहण है, यह संशय होता है। युक्ति तो यही है कि प्राण शब्द पञ्चवृत्ति वायु-विकारार्थ में लिया जाय क्योंकि उसी अर्थ में प्राण शब्द प्रसिद्धतर है। यह शंका उठानी ही उचित नहीं थी क्योंकि जहाँ-जहाँ ब्रह्मलिंग पाया जाय वहाँ-वहाँ उस शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करना उचित है। यह आकाश-प्रसंग में अभी उक्त हुआ। तब ऐसी शंका क्यों ? यहाँ भी वाक्यशेष में भूतों के संवेशन और उद्‌गमन ये दोनों कर्म परमेश्वर के हैं। **उत्तर**– मुख्य प्राण में भी भूतों के संवेशन और उद्‌गमन देखे

जाते हैं, इसलिए ऐसी शंका की गई है। यथा—

"यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुद्ध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते।" (श॰ ब्रा॰ १०.३.३.६)

अर्थ— जब पुरुष सोता है, तब वाणी प्राण में लीन होती है, चक्षु प्राण में, श्रोत्र प्राण में और मन प्राण में लीन होता है। वह पुरुष जब जागता है, तब प्राण से ही वे वागादि पुनः उत्पन्न होते हैं।

यहाँ यह प्रत्यक्ष है कि स्वापकाल में अपरिलुप्यमान प्राणवृत्ति में इन्द्रियवृत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं और प्रबोध के काल में पुनः उत्पन्न होती हैं। भूतों के इन्द्रिय सारत्व के कारण मुख्य प्राण में भी संवेशनोद्गमनवादी वाक्यशेष अविरुद्ध है। और भी, आदित्य और अन्न ये दोनों क्रम से उद्गीथ और प्रतिहार की देवताएँ प्रस्ताव देवता प्राण के अनन्तर कहे गए हैं। उन दोनों का ब्रह्मत्व नहीं है। इसलिये तत्समान प्राण का भी ब्रह्मत्व उचित नहीं। ऐसी शंका होने पर सूत्रकार कहते हैं कि—

अत एव प्राणः। (वेदान्त॰ १.१.२३)

आकाशवत् यहाँ ब्रह्मचिह्न दृष्ट होने से प्राण शब्द भी ब्रह्मवाचक है क्योंकि प्राण का भी ब्रह्मचिह्न सम्बन्ध सुनते हैं। यथा—

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" (छा॰ उप॰ १.११.५)

अर्थ— सब ये भूत प्राण में ही लीन और प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ समस्त भूतों की उत्पत्ति और प्रलय प्राणनिमित्तक कहे गए हैं, ये दोनों धर्म प्राण को ब्रह्म दिखला रहे हैं।

शंका— अभी कहा गया है कि मुख्य प्राण ग्रहण करने में भी कोई दोष नहीं क्योंकि उसमें भी भूतों के संवेशन और उद्गमन अविरुद्ध हैं क्योंकि स्वाप और प्रबोध में वैसा देखा जाता है। इसका **उत्तर—** यह है कि स्वाप और प्रबोध में केवल इन्द्रियों के ही प्राणाश्रय संवेशन और उद्गमन हैं किन्तु सकल भूतों के नहीं। परन्तु यहाँ सेन्द्रिय और सशरीर जीवाविष्ट भूतों के सम्बन्ध में कहते हैं कि **"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि"** इत्यादि। जब भूतश्रुति महाभूत विषयक ली जाय, तो भी ब्रह्मचिह्न अविरुद्ध है।

शंका— विषयों के साथ इन्द्रियों का लय स्वाप-प्रबोध में प्राण कहा गया है और प्राण से इन्द्रियों की उत्पत्ति भी सुनते हैं। यथा—

"यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति

तदैवं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति"[१] (कौ॰ ब्रा॰ उप॰ ३.३)

अर्थ— जब सो जाता है और कोई स्वप्न [नहीं] देखता है, तब उसी प्राण में एक होता है। तब वाणी सब नामों के साथ प्राण में ही लीन होती है।

[समाधान—] वहाँ भी तल्लिंग से प्राण शब्द ब्रह्मवाचक है। और जो यह कहा है कि अन्न और आदित्य के सन्निधान से प्राण का अब्रह्मत्व है। यह कथन युक्ततर नहीं क्योंकि वाक्यशेष बल से जब प्राण शब्द की ब्रह्मविषयता सिद्ध है, तब सन्निधान की बात अकिञ्चित्कर है। पुनः प्राण शब्द का पञ्चवृत्ति वायुविकार में प्रसिद्धतरत्व है। यह कथन भी युक्त नहीं क्योंकि वाक्यशेष में जब ब्रह्मलिंग देखते हैं, तब वायुविकारार्थ नहीं लिया जाता यही वेदान्तमर्यादा है। इसी प्रकार सम्पूर्ण उपनिषदों और वेदों की संगति लगानी चाहिए।

पुनः प्राण शब्द का विचार

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में इन्द्र और प्रतर्दन की एक आख्यायिका आती है, वह इस प्रकार है— दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन किसी एक समय इन्द्र के प्रिय धाम में पहुँचे। वहाँ पर प्रसंग आया कि उससे इन्द्र ने कहा हे प्रतर्दन ! तुझको मैं वर देता हूँ। इसके उत्तर में इन्द्र से प्रतर्दन ने कहा कि हे इन्द्र ! मनुष्य के लिये जो वर हिततम हो उसको आप स्वयं विचार कर मुझको देवें। तब इन्द्र ने कहा कि मैं ज्ञानस्वरूप प्राण हूँ। उस मुझको आयु और अमृत समझकर उपासना करें। आगे भी इस तरह की बात आती है। यथा—

"अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति"[२] (कौ॰ ब्रा॰ उप॰ ३.१,२,३) तथा **"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्"** इत्यादि। अन्ते च **"स एव प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः"** (कौ॰ ब्रा॰ उप॰ ३.८)

प्राण ही इस शरीर को पाकर उठता है और भी वाणी की जिज्ञासा न करे वक्ता को जाने इत्यादि। अन्त में कहा गया है कि वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है इत्यादि।

यहाँ संशय होता है कि प्राण शब्द से वायुमात्र का ग्रहण है अथवा किसी देवतात्मा का अथवा जीव अथवा परमात्मा का। यदि कहें कि **"अत एव प्राणः"** यहाँ प्राण शब्द का ब्रह्मपरत्व है। यह वर्णन हो चुका है, यहाँ भी **"आनन्दोऽजरोऽमृतः"** यह ब्रह्मलिंग है। तब यह संशय क्यों ? अनेक चिह्नों के दर्शन से ऐसा संशय होता है कि केवल ब्रह्मलिंग ही नहीं, किन्तु इतर लिंग भी पाये जाते हैं। यथा **"मामेव विजानीहि"** यह इन्द्र का वचन देवतात्मलिंग है **"इदं शरीरं**

१. शांकरभाष्य (वेदान्त १.१.२३) में उद्धृत। २. शांकरभाष्य (वेदान्त १.१.२८) में उद्धृत।

परिगृह्योत्थापयति" यह प्राणलिंग है **"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्"** इत्यादि जीवलिंग है। अत एव संशय उपपन्न है। यहाँ प्रसिद्धि से प्राण शब्द वायुविकारार्थक है, यह प्रतीत होता है। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये सूत्रकार—

प्राणस्तथानुगमात्।। (वेदान्त १.१.२८)

इस सूत्र को रचते हैं। प्राण शब्द से यहाँ ब्रह्म जानना चाहिए क्योंकि पौर्वापर्यपर्यालोचना से प्राण शब्द ब्रह्मवाचक ही सिद्ध होता है क्योंकि प्रारम्भ में "वर माँगो" इस प्रकार इन्द्र से उक्त प्रतर्दन ने परम पुरुषार्थ सिद्धि के लिये वर माँगो **"त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे"** इत्यादि यहाँ हिततम वर प्राण ही है। तब यह प्राण परमात्मा का वाचक क्यों न हो क्योंकि सब का हिततम परमात्मा ही है। परमात्मा का ज्ञान छोड़ दूसरे हिततम की प्राप्ति नहीं हो सकती, यह श्रुति कहती है—

"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"

(श्वे० उप० ३.८)

अर्थ— उसी को जानकर अमृत पाता है, दूसरा मार्ग नहीं है इत्यादि अनेक श्रुतियाँ इस प्रकार की हैं। पुनः—

"स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया" (कौ० ३.१.)

अर्थ— सो जो कोई मुझको जानता है, उसको किसी कर्म से हानि नहीं पहुँचती इत्यादि वाक्य ब्रह्मग्रहण करने से ही घट सकते हैं क्योंकि ब्रह्मविज्ञान से ही सर्वकर्मक्षय प्रसिद्ध है। यथा—

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० उप० २.२.८)

परमात्मदर्शन से उपासक के सब कर्मों का क्षय होता है। और प्रज्ञात्मत्व ब्रह्म पक्ष में ही उपपन्न हो सकता है क्योंकि अचेतन वायु का प्रज्ञात्मत्व सम्भव नहीं तथा उपसंहार में कहा गया है **"आनन्दोऽजरोऽमृतः"** आनन्दत्वादि धर्म ब्रह्म से अन्यत्र नहीं घट सकते। क्योंकि—

"स न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते" इति **"एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः"** (कौ० ब्रा० उप० ३.८)

अर्थ— वह न उत्तमोत्तम कर्म से अधिक होता है और न हम लोगों की दृष्टि से नीचातिनीच कर्म से छोटा होता है। यही उससे उत्तम कर्म करवाता है

जिसको इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है। यही उससे असाधु कर्म करवाता है जिसको इन लोकों से नीचे ले जाना चाहता है। यह लोकाधिपति और लोकेश है। इत्यादि सकल प्रसंग ब्रह्म ग्रहण करने से घट सकते हैं अन्यथा नहीं। इस हेतु प्राण शब्द ब्रह्मवाचक है, यह सिद्ध हुआ।

अत्त्रधिकरण

कठवल्ली में लिखा है कि—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।

अर्थ— जिस (ब्रह्म) के ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ओदन होते हैं, जिसका मृत्यु घृतादिवत् उपसेचन होता है, उसको कौन जानता है, जहाँ वह है। यहाँ ओदनीय सेचन सूचित कोई अत्ता (भक्षक) प्रतीत होता है। यहाँ अत्ता शब्द से अग्नि का अथवा जीव का अथवा परमात्मा का ग्रहण है, यह संशय होता है क्योंकि इन तीनों में से किसी का निश्चयात्मक वर्णन नहीं है। इन तीनों अग्नि, जीव, परमात्मा के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में प्रश्नोपन्यास पाया जाता है। तब क्या प्राप्त हुआ ? अग्नि अत्ता है, यही प्राप्त होता है क्योंकि **"अग्निरन्नादः"** (बृ० उप० १.४.६) अग्नि अन्नभक्षक है, यह श्रुति और लोक में प्रसिद्ध है। अथवा जीव ही अत्ता हो क्योंकि **"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति"** उन दोनों में से जीव स्वादु फल खाता है यह प्रमाण जीव को अत्ता सिद्ध करता है, परमात्मा को नहीं क्योंकि **"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"** (मु० उप० ३.१.१) दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इत्यादि शंकाओं की निवृत्ति के लिये सूत्रकार यह सूत्र रचते हैं—

अत्ता चराचरग्रहणात्।। (वेदान्त १.२.९)

यहाँ अत्ता शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण हो सकता है। दूसरों का नहीं क्योंकि प्रकरण में चराचर का ग्रहण है। ये स्थावर और जंगम चराचर कहलाते हैं। वह चराचर यहाँ भक्ष्य प्रतीत होता है, तादृश भक्ष्य का भक्षक केवल परमात्मा ही सम्भव है क्योंकि विकारसमूहों को वही परमात्मा संहार करने से अत्ता कहला सकता है। यदि कहें कि प्रकरण में चराचर ग्रहण न होने से सिद्धवत् चराचर ग्रहण हेतु क्यों कहा जाता है तो यह दोष नहीं क्योंकि मृत्यूपसेचनत्व से सर्व प्राणियों का ग्रहण है और ब्राह्मण और क्षत्रियों के प्रधानतया निदर्शन से भी तदर्थ प्रतीत होता है और जो यह कहा गया है कि परमात्मा में भी अत्तृत्व सम्भव नहीं क्योंकि "वह न खाता हुआ केवल देखता रहता है" यह कथन केवल कर्मफलभोग का प्रतिषेधक है क्योंकि वही सन्निहित है किन्तु विकार संहार का प्रतिषेधक नहीं।

सर्व वेदान्त शास्त्रों में परमात्मा ही सृष्टि-स्थिति-संहार का कारण प्रसिद्ध है। अतः परमात्मा ही यहाँ अत्ता हो सकता है, दूसरे नहीं।

इस कारण भी यहाँ परमात्मा ही अत्ता हो सकता है, परमात्मा का ही यह प्रकरण है क्योंकि **"न जायते म्रियते वा विपश्चित्"** (कठो॰ १.२.१८) वह सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा परमात्मा न जन्म लेता न मरता है। और **"क इत्था वेद यत्र सः"**[१] इससे परमात्मा का ही दुर्विज्ञानत्व दिखलाया है। इस प्रकार के जो अन्यान्य संशय हों, उन्हें इसी प्रकार दूर करना चाहिए। इस निर्णय से दो शिक्षाएँ हम लोग ग्रहण करें। प्रथम मनुष्य समुदाय में ब्राह्मण, क्षत्रिय की ही प्रधानता है और वे दोनों ही भगवान् के ओदनवत् भक्ष्य हैं। परमात्मा न्यायकारी और अन्यायकारी दोनों के शासक हैं। बड़े-बड़े अन्यायी नृपगण इस पृथिवी पर आये और नष्ट हो गए अतः अन्याय नहीं करना चाहिए क्योंकि भगवान् सबका न्याय करके दण्ड देगा। दूसरी शिक्षा यह निकलती है कि वही एक भगवान् पूज्य, ध्येय और उपास्य है क्योंकि मृत्यु भी जिसका उपसेचन है, वह कितना महान् है। एक तो यह सृष्टि ही आदि-अन्तरहित है। यह जगत् कहाँ तक फैला हुआ है, मनुष्य नहीं जान सकता, जिसमें अनन्त सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी आदि विद्यमान हैं। उसको भी विध्वस्त करने वाला जो परमदेव वह कितना महत्तम है, यह सदा ध्येय और चिन्त्य है। इति।

अन्तर्याम्यधिकरण

"य इमं लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति" इत्युपक्रम्य श्रूयते– **"यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"**

(बृ॰ उप॰ ३.७.१,२)

अर्थ– जो परमात्मा सबके अन्तःस्थित होकर इस लोक को परलोक को और सर्वप्राणियों को अपने वश में रखकर शासन करता है, इत्यादि आरम्भ करके आगे कहते हैं– जो पृथिवी में स्थित होकर वर्त्तमान है, जो पृथिवी से भिन्न है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका शरीर पृथिवी है, जो अभ्यन्तर स्थित होकर पृथिवी का शासन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है। इसी प्रकार–

"योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। योऽग्नौ तिष्ठन् इत्यादि॰। योऽन्तरिक्षे

१. द्र॰– शांकरभाष्य (वेदान्त १.२.१०)।

तिष्ठन् इत्यादि॰। यो वायौ तिष्ठन् इत्यादि॰। यो दिवि तिष्ठन् इत्यादि॰। य आदित्ये तिष्ठन् इत्यादि॰। यो दिक्षु तिष्ठन् इत्यादि॰। यश्चन्द्रतारके तिष्ठन् इत्यादि॰। य आकाशे तिष्ठन् इत्यादि॰। यस्तमसि तिष्ठन् इत्यादि॰। यस्तेजसि तिष्ठन् इत्यादि॰। यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् इत्यादि॰। यः प्राणे तिष्ठन् इत्यादि॰। यो वाचि तिष्ठन् इत्यादि॰। यश्चक्षुषि तिष्ठन् इत्यादि॰। यः श्रोत्रे तिष्ठन् इत्यादि॰। यो मनसि तिष्ठन् इत्यादि॰। यस्त्वचि तिष्ठन् इत्यादि॰। यो विज्ञाने तिष्ठन् इत्यादि॰। यो रेतसि तिष्ठन् इत्यादि॰। अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञातानन्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम।" (बृ॰ उप॰ ३.७.१-२३)

अर्थ– जल में स्थित होकर वर्त्तमान है, जो जल से भिन्न है, जिसको जल नहीं जानता, जिसका शरीर जल है। जो अभ्यन्तर होकर जल का शासन करता है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी, अमृत है। जो अग्नि में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो अन्तरिक्ष में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो वायु में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो द्यौ लोक में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो आदित्य में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो दिशाओं में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो चन्द्रतारकाओं में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो आकाश में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो तम में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो तेज में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो सर्वभूतों में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो प्राण में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो वचन में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो आँखों में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो कानों में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो मन में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो त्वचा में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो विज्ञान में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो रेत में स्थित होकर वर्त्तमान है इत्यादि॰। जो अदृष्ट होकर सबका द्रष्टा है, जो अश्रुत होकर सबका श्रोता है, जो अमत होकर सबका मन्ता है, जो अविज्ञात होकर सबका विज्ञाता है। इससे अन्य मन्ता नहीं है, इससे अन्य विज्ञाता नहीं है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इससे अन्य आर्त्त है। तब उद्दालक आरुणि ने विराम लिया। इत्यादि।

यहाँ अधिदैवत, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अधिभूत और अध्यात्म कोई अन्तरवस्थित यमयिता अन्तर्यामी सुना जाता है। यहाँ अपूर्व संज्ञा के देखने से संशय होता है कि वह कोई अधिदैवादि अभिमानी देवात्मा है। अथवा अणिमाद्यैश्वर्य

सम्पन्न कोई योगी है अथवा परमात्मा है अथवा किञ्चित् अर्थान्तर का वर्णन है। यहाँ हमें प्रतीत होता है कि संज्ञा के अप्रसिद्ध [होने के कारण संज्ञी भी अप्रसिद्ध] अर्थान्तर ही होना चाहिए अथवा अनिरूपित रूप अर्थान्तर का ग्रहण करना उचित नहीं। अन्तर्यामी शब्द की अन्तरयमन योग के साथ प्रवृत्ति होने के कारण अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं। इस हेतु पृथिव्याद्यभिमानी कोई देव अन्तर्यामी हो सकता है। सुना भी जाता है— **"पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः"** (बृ॰ उप॰ ३.९.१०) पृथिवी ही जिसका शरीर है, अग्नि चक्षु है, मन ज्योति है इत्यादि। वह कार्यकारणवत्त्व से पृथिव्यादि भूतों का अन्तःस्थित होकर शासन करता है। इस हेतु देवात्मा का यमयितृत्व हो सकता है अथवा किसी सिद्ध योगी का सर्वानुप्रवेश से यमयितृत्व हो सकता है किन्तु परमात्मा प्रतीत नहीं होता क्योंकि वह किसी कार्य का करण नहीं होता। इत्यादि अनेक संशयों की निवृत्ति के लिये सूत्रकार कहते हैं कि—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्।। (वेदान्त॰ १.२.१८)

जो अधिदैवादियों में अन्तर्यामी सुना जाता है, वह परमात्मा ही है, अन्य नहीं क्योंकि उस परमात्मा के धर्म यहाँ निर्दिश्यमान देखे जाते हैं क्योंकि अधिदैवादि भेद भिन्न पृथिव्यादि समस्त विकारों को अन्तःस्थित होकर शासन करता है, वह परमात्मा का ही यमयितृत्व धर्म है क्योंकि सर्वविकारों का कारण होने से उसी में सर्वशक्तियों की उपपत्ति है। **"एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"** इस वाक्य में जो आत्मत्व और अमृतत्व दो धर्म कहे गये हैं, वे परमात्मा के ही हो सकते हैं। **"यं पृथिवी न वेद"** जिसको पृथिवी नहीं जानती है, यह वाक्य पृथिवी देवता के अविज्ञेय अन्तर्यामी को दिखलाता हुआ देवात्मा से कोई अन्य अन्तर्यामी है, यह सिद्ध करता है। पुनः पृथिवी देवता मैं हूँ, इस प्रकार पृथिवी अपने आत्मा को जान सकती है तथा **"अदृष्टोऽश्रुतः"** इत्यादि व्यपदेश भी रूपादिविहीन परमात्मा का ही हो सकता है। और जो यह कहा गया है कि अकार्यकरण परमात्मा का यमयितृत्व सम्भव नहीं, यह दोष नहीं हो सकता है क्योंकि जिनका वह शासन करता है, उनमें उसकी व्यापकता होने से उसका कार्यकरणवत्त्व सिद्ध है, इसलिये परमात्मा ही अन्तर्यामी है।

अदृश्यत्वाद्यधिकरण[1]

"'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'। 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः-श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति

१. द्र॰— शांकरभाष्य (वेदान्त १.२.२१)।

धीराः'" (मु॰ उप॰ १.१.५,६)

मुण्डकोपनिषद् में यह प्रसंग आता है कि दो विद्याएँ जाननी चाहिएँ परा और अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष ये सब अपरा विद्याएँ हैं और परा विद्या वह है, जिससे उस अक्षर की प्राप्ति होती है। जो अदृश्य= बुद्धीन्द्रियों का अविषय है। अग्राह्य= कर्मेन्द्रियों का अगोचर। अगोत्र= कारणरहित। अवर्ण= ब्राह्मणत्वादिहीन। वह केवल इन्द्रियों का अविषय ही नहीं है किन्तु उसको इन्द्रिय भी नहीं हैं। अतः कहा गया है कि अचक्षुःश्रोत्र= चक्षुःश्रोत्ररहित अर्थात् ज्ञानेन्द्रियविहीन, नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म= दुर्विज्ञेय है। एवमस्तु, क्या वह परिणामिनित्य है ? कहते हैं— नहीं, वह अव्यय= कूटस्थ नित्य है।

परिणामो विवर्त्तो वा सरूपस्योपलभ्यते।
चिदात्मना तु सारूप्यं जडानां नोपपद्यते।।१।।
जडं प्रधानमेवातो जगद्योनिः प्रतीयताम्।
योनिशब्दो निमित्तं चेत् कुतो जीवनिराक्रिया।।२।।[1]

सरूप का परिणाम अथवा विवर्त्त होता है, चिदात्मा के साथ जड़ वस्तुओं का सारूप्य नहीं हो सकता।।१।। संख्याभिप्रेत प्रधान जड़ है, इस हेतु जगत् का कारण वही प्रतीत होता है। यदि कहें कि यहाँ योनि शब्द निमित्तवाची है तो जीव का निराकरण नहीं हो सकता।।२।। अर्थात् जीव ही भूतयोनि हो। परिणममान सरूप ही परिणाम देखे जाते हैं। जैसे ऊर्णनाभि लालापरिणाम जो लूतातन्तु वे तत्सरूप होते हैं। वैसे ही विवर्त्त भी विवर्त्तमान सरूप ही होते हैं, विरूप नहीं। यथा रज्जुविवर्त्त जो सर्पादिक वे रज्जुसरूप होते हैं, कदापि भी रज्जु में हाथी का भ्रम नहीं होता और हेमपिण्ड का परिणाम कदापि लूतातन्तु नहीं होता क्योंकि वह अत्यन्त विरूप है। इस हेतु जड़ प्रधान ही इस जड़ जगत् का योनि है, इत्यादि शंका की निवृत्ति के लिये यह कहा गया है कि वह अदृश्य आदि है। उस भूतयोनि को विज्ञानी जन देखते हैं।

यहाँ संशय होता है कि अदृश्यत्वादिगुणक कोई भूतयोनि प्रधान है अथवा जीवात्मा है अथवा परमेश्वर है। इनमें अचेतन प्रधान भूतयोनि है, यही युक्ततर प्रतीत होता है क्योंकि अचेतनों के ही यहाँ दृष्टान्त दिये गए हैं। यथा—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।।

१. भामती (वेदान्त॰ १.२.२१)।

(मु॰ उप॰ १.१.७)

अर्थ– जैसे ऊर्णनाभि उत्पन्न करता और ग्रहण करता है, जैसे पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे विद्यमान पुरुष से केश और लोम होते हैं, वैसे ही अक्षर से सम्पूर्ण जगत् होता है। यदि यहाँ कहें कि ऊर्णनाभि और पुरुष ये दोनों चेतन ही दृष्टान्त दिये गये हैं, तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि केवल चेतन का सूत्रयोनित्व और केशलोमयोनित्व यहाँ नहीं है किन्तु चेतनाधिष्ठित अचेतन जो ऊर्णनाभि शरीर वह सूत्रयोनि है और पुरुषशरीर केश और लोमों का योनि है।

यहाँ अदृश्यत्वादि धर्म प्रधान में सम्भावित है। यहाँ विरुध्यमान धर्म कोई नहीं कहा गया है। यदि कहें कि **"यः सर्वज्ञः सर्ववित्"** (मु॰ उप॰ १.१.९) यह वाक्यशेष अचेतन प्रधान में सम्भव नहीं, तब प्रधान भूतयोनि कैसे कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि **"यथा तदक्षरमधिगम्यते", "यत्तदद्रेश्यम्"** यहाँ अक्षर शब्द से अदृश्यत्वादिगुणक भूतयोनि कह कर पुनः अन्त में कहेंगे कि **"अक्षरात् परतः परः"** (मु॰ उप॰ २.१.२) वहाँ जो अक्षर से पर कहा गया, वह सर्वज्ञ, सर्ववित् होगा, प्रधान ही अक्षर शब्दनिर्दिष्ट भूतयोनि है। किन्तु जब योनि शब्द निमित्तवाची लिया जाय, तब जीवात्मा भी भूतयोनि हो क्योंकि धर्म और अधर्म के द्वारा सकल भूतों का उपार्जन जीवात्मा करता है। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि जो यह अदृश्यत्वादिगुणक भूतयोनि है, वह परमेश्वर ही है, दूसरा नहीं क्योंकि परमेश्वर का ही धर्म यहाँ उच्यमान देखा जाता है।[१] यथा– **"यः सर्वज्ञः सर्ववित्"**। अचेतन प्रधान का अथवा जीव का सर्वज्ञत्व अथवा सर्ववित्त्व सम्भव नहीं।

शंका– अभी कहा गया है कि अब अक्षर शब्द निर्दिष्ट जो भूतयोनि उससे पर का ही वह सर्वज्ञत्व और सर्ववित्त्व है किन्तु भूतयोनिविषयक नहीं है। यहाँ कहा जाता है कि–

उत्तर– यह सम्भव नहीं क्योंकि **"अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्"** (मु॰ उप॰ १.१.७) इत्यादि वाक्य से प्रकृत भूतयोनि को जायमान प्रकृति कह कर तदनन्तर भी जायमान प्रकृतित्व से ही सर्वज्ञ का निर्देश करते हैं। यथा–

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते" (मु॰ उप॰ १.१.९)

अर्थ– जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है, जिसका ज्ञानमय तप है, उससे नाम,

१. यह 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' (वेदान्त १.२.२१) सूत्र का अर्थ है।

रूप और अन्न इत्यादि उत्पन्न होता है। इस हेतु निर्देशसाम्य से प्रत्यभिज्ञायमानत्व से प्रकृत ही अक्षर भूतयोनि का सर्वज्ञत्व और सर्ववित्त्व धर्म ज्ञात होता है। **"अक्षरात्परतः परः"** यहाँ भी प्रकृत भूतयोनि अक्षर से पर कोई अन्य अभिप्रेत है क्योंकि–

"येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्"

(मु॰ उप॰ १.२.१३)

जिस ज्ञान से अक्षर को प्रकृत भूतयोनि सर्वज्ञ पुरुष और सत्य समझता है, उस ब्रह्मविद्या को उपसन्न और शान्त शिष्य से आचार्य कहे– इस वाक्य से प्रकृत अक्षर का ही भूतयोनि और अदृश्यत्वादिगुणक है, यह प्रतिज्ञान हुआ है। और भी, परा और अपरा दो विद्याएँ जाननी चाहिएँ। वहाँ ऋग्वेदादि को अपरा विद्या कहकर आगे कहते हैं **"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते"** परा विद्या वह है जिससे अक्षर की प्राप्ति होती है इत्यादि। यहाँ परा विद्या का विषय अक्षर है। यदि वह परमेश्वर से अन्य अदृश्यत्वादिगुणक अक्षर परिकल्पित हो, तो वह परा विद्या नहीं कहला सकती क्योंकि यह विद्याओं का जो परस्पर विभाग है, वह अभ्युदय और निःश्रेयस फल के लिये है। निःश्रेयस फल वाली प्रधान विद्या का स्वीकार कोई नहीं करता। तीन विद्याओं की प्रतिज्ञा करते। उस पक्ष में अक्षर भूतयोनि से परमात्मा का प्रतिपादन होता, किन्तु दो ही विद्याएँ जाननी चाहिएँ, ऐसा ही कहा गया है।

"कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (मु॰ उप॰ १.१.३)

अर्थ– हे भगवन् ! कौन विज्ञात होने पर यह सब विज्ञात हो जाता है। इस वचन से एक विज्ञान द्वारा जो सर्वविज्ञानापेक्षण कहा गया है, वह विवक्ष्यमाण सर्वात्मक ब्रह्म में ही घट सकता है, अचेतन प्रधान में अथवा भोग्यव्यतिरिक्त भोक्ता जीवात्मा में नहीं घट सकता। और भी–

"स ब्रह्म विद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठाय पुत्राय प्राह"

(मु॰ उप॰ १.१.१)

अर्थ– सर्वविद्याओं की प्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व से कहा। यहाँ प्रधानतया ब्रह्मविद्या का आरम्भ कर, परापर विभाग से अक्षराधिगमनी परा विद्या को दिखलाते हुए, उस विद्या का ब्रह्मविद्यात्व दिखला रहे हैं। वह ब्रह्मविद्या तदधिगम्य अक्षर के अब्रह्मत्व होने पर बाधिता होगी और ऋग्वेदादिलक्षणक अपरा कर्मविद्या का ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिये ब्रह्मविद्या के आरम्भ में उपन्यास करते हैं क्योंकि–

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

एतत् श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति।।

(मु॰ उप॰ १.२.७)

अर्थ— (एते) ये (यज्ञरूपाः) यज्ञोपाधिक कर्म (प्लवाः+हि) प्लव हैं अर्थात् विनाशी हैं। "प्लवन्ते गच्छन्तीति प्लवा विनाशिनः" (अदृढाः) नित्य फलसम्पादन में असक्त होते हैं (येषु) जिन कर्मों में (अष्टादशोक्तम्) अष्टादशोक्त (अवरं कर्म) निकृष्ट कर्म अर्थात् अनित्यफलक कर्म होता है। सोलह ऋत्विक् एक यजमान और एक यजमानपत्नी ये सब मिलकर अष्टादश ऋत्विक् होते हैं। ऋतुओं में जो यज्ञ करवाते हैं, उनको ऋत्विक् कहते हैं। जो यज्ञ करते हैं, उनको यजमान कहते हैं। "यजत इति यजमानः" और "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (अ॰ ४.१.३३) इस सूत्र से यज्ञसम्बन्ध यदि विहित हो, तो पति शब्द के स्थान में नकार अन्तादेश हो। तदनुसार पति शब्द से पत्नी शब्द सिद्ध होता है। (एतत्) इसी को (ये मूढाः) जो मूढ जन (श्रेयः+अभिनन्दन्ति) श्रेय है, ऐसा समझते हैं (ते) वे (पुनः+जरामृत्युम्) पुनः जरा और मृत्यु को (अपियन्ति) पाते हैं।

इत्यादि निन्दावचन भी वहाँ पाये जाते हैं। इस प्रकार अपरा विद्या की निन्दा कर उससे विरक्त पुरुष के लिये पराविद्याधिकार दिखलाते हैं। यथा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।

(मु॰ उप॰ १.२.१२)

अर्थ— कर्मसञ्चित लोकों को अच्छी तरह से जान ब्राह्मण वैराग्य प्राप्त करे क्योंकि केवल कर्म से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। उस मोक्ष के विज्ञान के लिये वह ब्राह्मण साधनसम्पन्न हो ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के निकट जावे।

अब जो यह कहा गया कि अचेतन पृथिव्यादिकों के दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक भूतयोनि को भी अचेतन होना चाहिए, यह कथन युक्ततर नहीं क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अत्यन्त साम्य नहीं होता। और भी, स्थूल पृथिव्यादिकों के दृष्टान्त दिये गए हैं। इसलिये दार्ष्टान्तिक भूतयोनि भी स्थूल ही हो, यह नियम नहीं हो सकता। इस हेतु अदृश्यत्वादिगुणक भूतयोनि परमेश्वर ही है। इति।

वैश्वानर नाम विवेक[1]

एक समय प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नाम के महाशाल महाश्रोत्रिय ये सब मिलकर विचार करने लगे कि आत्मा कौन है, ब्रह्म कौन है[2] ? वे परस्पर निर्णय करने में असमर्थ हो, उद्दालक के निकट गए।

१. द्र॰— शांकरभाष्य (वेदान्त १.२.२४)। २. द्र॰— छा॰ उप॰ ५.११.१ आदि।

उद्दालक भी इस विषय में अपने को असमर्थ पा, उन पूर्वोक्त पाँचों के साथ केकय देशाधिपति अश्वपति राजा के निकट जा, उनसे बोले कि आप वैश्वानर आत्मा का अध्ययन करते हैं। हम लोगों को भी उस आत्मा का उपदेश करें। तत्पश्चात् राजा ने एक-एक से वक्ष्यमाण क्रम से प्रश्न पूछा।

राजा— हे औपमन्यव प्राचीनशाल ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?

प्राचीन॰— हे राजन् ! मैं द्युलोक की उपासना करता हूँ।

राजा— यह आत्मा का मूर्धा (मस्तक) है। यदि आप मेरे निकट न आते, तो आपका मूर्धा गिर जाता। यह द्युलोक सुतेजा आत्मा वैश्वानर है। हे सत्ययज्ञ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?

सत्ययज्ञ— हे राजन् ! मैं आदित्य की उपासना करता हूँ।

राजा— यह विश्वरूप (सब रूप वाला) आत्मा वैश्वानर है, यह आत्मा का चक्षुमात्र है। यदि आप मेरे निकट न आते, तो अन्धे हो जाते। हे इन्द्रद्युम्न ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?

इन्द्रद्युम्न— मैं वायु की उपासना करता हूँ।

राजा— यह पृथक् वर्त्मा (पृथक्-पृथक् मार्ग वाला) वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का प्राण है। यदि आप मेरे निकट न आते, तो आप का प्राण निकल जाता। हे जन ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?

जन— यह बहुल (सर्वगत) वैश्वानर आत्मा है।

राजा— यह आत्मा का मध्य भाग है। यदि आप मेरे निकट न आते, तो आपका मध्य भाग विशीर्ण हो जाता। हे बुडिल ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?

बुडिल— राजन् ! मैं जल की उपासना करता हूँ।

राजा— यह रयि (धनप्रद) वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का बस्ति (मूत्रस्थान) है, यदि आप मरे निकट न आते, तो आपका बस्ति छिन्न-भिन्न हो जाता। हे उद्दालक ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?

उद्दालक— राजन् ! मैं पृथिवी की उपासना करता हूँ।

राजा— यह प्रतिष्ठा वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का चरण है। यदि आप मेरे निकट न आते, तो आपका पैर म्लान हो जाता। हे विद्वानों ! आप सब इस वैश्वानर आत्मा की पृथक्-पृथक् रूप में उपासना करते हैं, तथापि आप सब कल्याणभागी हैं किन्तु यह उचित नहीं। इसको आप इस प्रकार जानें।

यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपासते।

स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति।।

(छा॰ उप॰ ५.१८.१)

अर्थ– जो इस आत्मा को प्रादेशमात्र= अत्यन्त सूक्ष्म और अभिविम्नान सम्पूर्ण जगत् को प्रत्यक्ष रूप से देखने वाला समझ कर उपासना करता है, वह सब द्युलोक प्रभृति लोकों में सब स्थावर, जंगम भूतों में, सब देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीवात्माओं में फल पाता है। पुनः–

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग् वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः।।

(छा॰ उप॰ ५.१८.२)

अर्थ– इस वैश्वानर का द्युलोक सुतेजा मूर्धा है, आदित्य विश्वरूप चक्षु है, वायु पृथग्वर्त्मात्मा है, आकाश सर्वगत मध्यभाग है। जल रयि बस्ति है, पृथिवी चरण है, उर वेदि, लोम, कुश, हृदय गार्हपत्य, मन अन्वाहार्यपचन और मुख आहवनाय अग्नि है। इत्यादि उपदेश श्रवण कर उद्दालक आदि सब तृप्त हो, अपने-अपने गृह लौट गये और उस दिन से "ब्रह्म कौन वस्तु है ?" इस तत्त्व को समझ परमानन्दित हुए।

दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् विश्वानर कहलाता है। इसमें दृश्यरूप से व्याप्त जो परमात्मा, उसको वैश्वानर कहते हैं। अब संवाद का आशय संक्षेप से समझो। सर्वप्रथम औपमन्यव प्राचीनशाल ने अपना उपासना स्थान द्युलोक बतलाया। यह द्युलोक सबसे ऊर्ध्व स्थान पर माना गया है जिससे परे कोई अन्य लोक न हो। उसी की संज्ञा वेदान्त में 'द्यो' है। मानो, इसके नीचे आदित्य है, आदित्य के नीचे वायु है, वायु के नीचे आकाश है, आकाश के नीचे जल है, जल के नीचे यह पृथिवी है। जिसके नीचे दूसरा लोक न हो उसका नाम "पृथिवी" है। यद्यपि यह संसार अनन्त और अनादि है, तथापि वेदान्त की दृष्टि से अनादि और सान्त है क्योंकि इसका कारण प्रकृति अनादि और सान्त है। वास्तव में यह है भी वैसा ही। तब प्रत्यक्ष दृष्टि से और वर्णन की सुगमता के लिये सबसे ऊर्ध्व द्युलोक और सबसे अधःस्थित पृथिवी लोक मान लिया गया है और रूपक के द्वारा उस परमात्मा का द्युलोक मूर्धा और पृथिवी चरण माना गया है अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् मानो ब्रह्म है। इसको समष्टि रूप से ब्रह्म मानकर जो उपासना करता है, वह आत्मतत्त्ववित् है। पृथक्-पृथक् उपासना करने वाले आत्मवित् नहीं। इसी का नाम विराट् रूप है, इसकी उपासना करो।

प्रश्न– वेदान्ती वैसे शब्द क्यों प्रयुक्त करते हैं, जो अनेकार्थक हों। वैश्वानर शब्द जाठराग्नि में रूढ है। भूताग्नि को भी वैश्वानर कहते हैं और अभिमानी देवता भी वैश्वानर वर्णित है। परमात्मा का नाम वैश्वानर कोई नहीं जानता। इस हेतु यहाँ यदि वैश्वानर शब्द से जाठराग्नि ही समझ लें, तो कोई क्षति है ?

उत्तर– श्रुति ब्रह्म का उपदेश करती है। इसलिये प्रकरण के अनुसार अर्थ की संगति हो, तो ब्रह्म अर्थ मान लेना उचित है। प्रकरण में यह आया है कि "ब्रह्म कौन है ?" इसके ज्ञान के लिये छह प्राचीनशाल आदि [विद्वान्] राजा अश्वपति के निकट आये और उसी ब्रह्म के सम्बन्ध में उन्होंने प्रश्न भी पूछा। तब यदि ब्रह्म छोड़कर अन्य विषय का राजा उपदेश देते, तो आम्र पूछने वाले को कोई कदली बतलावे, तद्वत् राजा का उत्तर होता। अतः ब्रह्मसम्बन्ध के प्रश्न का उत्तर ब्रह्म ही होना चाहिए। यहाँ राजा को विस्पष्ट रूप से यह दिखलाना है कि विश्वरूप ब्रह्म है। जब यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है, तब उसमें स्थित प्रत्येक जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। अत एव आप सब विद्वान् व्यष्टिरूप से ब्रह्ममय ही हैं, तब ब्रह्म कौन है ? इस भ्रम में आप लोग क्यों पड़े हुए हैं और देहादिक को बाधकर इसमें स्थित जो प्रादेशमात्र जीव है, वह ब्रह्म है, इसको समझें। यद्यपि यह सम्पूर्ण विश्व (जगत्) ब्रह्ममय है, तथापि इस शरीर में आत्मरूप से स्थित जो सर्वान्तर्यामी है, वह भी तो आपका आत्मा ब्रह्म है। तब इससे अन्यत्र आत्मा का अन्वेषण करना अज्ञान है। इस भाव को दिखाने के लिये ही श्रुति में आत्मा के विशेषण प्रादेशमात्र और अभिविमान ये दो शब्द आये हैं। वैश्वानर शब्द का प्रयोग इसलिये ब्रह्मार्थ में किया गया कि रूपक द्वारा ब्रह्म का उपदेश विस्पष्ट हो। जैसे नर के मूर्धा से लेकर चरण तक अवयव होते हैं, तद्वत् मानो, उस ब्रह्म के भी मस्तक से लेकर चरण तक अवयव हैं। कौन वस्तु कौन अवयव है, इस अपेक्षा में श्रुति दिखलाई गई है। स्मृति यह है–

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः।।[१]

अर्थ– जिस परमात्मा का अग्नि मुख, द्युलोक मस्तक, आकाश नाभि, पृथिवी चरण, सूर्य चक्षु, दिशा श्रोत्र है। उस सर्वलोकात्मक परमात्मा को नमस्कार हो।[२]

अथ अक्षर नामविवेक

'अक्षर' यह नाम भी परमात्मा का है। यह शब्द दो धातुओं से सिद्ध हो

१. द्र॰– शांकरभाष्य (वेदान्त १.२.२५)। २. वैश्वानर का समन्वय सन्दिग्ध है।

सकता है— "न क्षरतीत्यक्षरम्" जो कभी विनष्ट न हो अर्थात् जो नित्य हो, वह अक्षर है। यहाँ क्षर धातु से अक्षर कहा गया और "अश्नुते= व्याप्नोतीत्यक्षरम्" जो सर्वत्र व्याप्त हो, वह अक्षर है। यहाँ अश धातु से भी अक्षर सिद्ध करते हैं। श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में इन दो धातुओं से ही अक्षर शब्द सिद्ध कर नित्य और व्यापी अर्थ करते हैं।[१] प्रथम इस शब्द का जैसे प्रसंग वाजसनेयी उपनिषद् में आया है, उसे दिखला, तब सूत्र और भाष्य का भी आशय दिखलाऊँगा।

एक समय विदेहाधिपति जनक के यज्ञ में नाना देशों से सब प्रकार के मनुष्य इकट्ठे हुए। कुरु और पञ्चाल देश से बहुत से ब्रह्मवित् ब्राह्मण और ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी आयी थीं। जनक महाराज के मुख्य आचार्य श्री याज्ञवल्क्य थे और वह ऋषि अपने समय में बड़े प्रसिद्ध और ब्रह्मवादी विख्यात थे। अतः इनसे अन्यान्य विद्वान् और अविद्वान् द्वेष और ईर्ष्या रखते थे। इस कारण सभा में आये हुए ब्रह्मवादियों ने परीक्षा के लिये याज्ञवल्क्य से अनेक प्रश्न पूछे। उनका उत्तर याज्ञवल्क्य देते गए। उस यज्ञ में प्रसिद्ध विदुषी और ब्रह्मवादिनी वाचक्नवी गार्गी भी आई थी। उन्होंने भी बहुत से प्रश्न ऋषि से पूछे थे। इन ही गार्गी और याज्ञवल्क्य के संवाद में अक्षर शब्द का प्रसंग आया है। सभा में गार्गी इस प्रकार बोलीं।

हे माननीय तथा पूज्य ब्राह्मणो ! मैं दो प्रश्न श्री याज्ञवल्क्य जी से पूछती हूँ। यदि उन दोनों प्रश्नों के यथोचित उत्तर ये दे सकेंगे, तो मुझको निश्चय हो जायेगा कि आप में से कोई भी इन महाभाग विद्वान् से न जीतेंगे। श्री भगवान् याज्ञवल्क्य जी, यदि आप की आज्ञा और कृपा हो, तो मैं आप से पूछूँ ?

याज्ञवल्क्य— हे गार्गी ! अवश्य आप स्वेच्छानुसार प्रश्न पूछ सकती हैं, मैं अन्तःकरण से आज्ञा देता हूँ।

गार्गी— मैं आप से दो प्रश्न पूछूँगी। प्रथम प्रश्न यह है— हे याज्ञवल्क्य ! द्युलोक से जो ऊर्ध्व है और पृथिवी से जो नीचे है और जिसके मध्य में ये दोनों द्यौ और पृथिवी स्थित हैं और जो भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कहाते हैं, वे सब ही किस में ओतप्रोत हैं। यह मेरा प्रथम प्रश्न है[२], इसका समाधान कीजिये।

याज्ञवल्क्य— श्रीमती गार्गी ! ये सब ही आकाश में ओतप्रोत हैं।

गार्गी— नमस्तेऽस्तु भगवन् याज्ञवल्क्य ! आप ने बड़ी योग्यता और सावधानता से इसका समाधान किया। मुझे बहुत हर्ष प्राप्त हुआ किन्तु मेरे द्वितीय प्रश्न का समाधान करें। वह यह है कि सब तो आकाश में ओत और प्रोत हैं किन्तु वह आकाश किसमें ओत और प्रोत है ?

१. द्र॰— शांकरभाष्य (वेदान्त॰ १.३.१०)। २. बृ॰ उप॰ ३.८.६।

याज्ञवल्क्य— हे गार्गी ! वह आकाश भी उस अक्षर में ओत और प्रोत है, जिस अक्षर को ब्राह्मण—

"अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अछाय, अतम, अवायु, अनाकाश, असंग, अरस, अगन्ध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर और अबाह्य कहते हैं। उसको कोई नहीं पाता, कोई नहीं पाता।"[१] पुनः—

हे गार्गी ! निश्चय तू जान कि इसी अक्षर के प्रशासन (आज्ञा नियम) में सूर्य और चन्द्र दोनों विधृत हो, स्थित हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में द्यौ और पृथिवी दोनों विधृत हो, स्थित हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में निमेष, मुहूर्त्त, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु और संवत्सर विधृत हो, स्थित हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में पूर्व दिशा की नदियाँ श्वेत पर्वतों से निकल कर बह रही हैं और पश्चिम की नदियाँ उस-उस दिशा में जा रही हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में मनुष्य, देव, पितर और अन्यान्य सब ही प्राणी स्थित हैं।

हे गार्गी ! इस अक्षर को अच्छी तरह से न जानकर जो इस लोक में हवन, यजन और दान इत्यादि कर्म करते अथवा सहस्रों वर्षों तक तप, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना इत्यादि करते हैं, वे सब कर्म निष्फल होते हैं, उनका कुछ भी फल नहीं होता।

हे गार्गी ! इस अक्षर को न जानकर जो इस लोक से प्रस्थान करता है, वह कृपण है और इसको जानकर जो मरता है, वही ब्राह्मण है।

हे गार्गी ! यह अक्षर अदृष्ट-द्रष्टा, अश्रुत-श्रोता, अमत-मन्ता, अविज्ञात-विज्ञाता है। इससे अन्य द्रष्टा नहीं, इससे अन्य श्रोता नहीं, इससे अन्य मनता नहीं, इससे अन्य विज्ञाता नहीं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर में आकाश ओत और प्रोत है।

याज्ञवल्क्य के यथोचित प्रश्नोत्तर को सुन कर वाचक्नवी गार्गी ने सब ब्राह्मणों से कहा कि आप सब इस ब्रह्मवादी को नमस्कार करके अपना-अपना दोष क्षमा करवाईये। इनसे पुनः द्वेष और ईर्ष्या कभी मत कीजियेगा। यह कह कर गार्गी चुपचाप बैठ गई। अब श्री शंकराचार्य के भाष्य का जो आशय है, उसको संवादरूप में वर्णन करूँगा। वेदान्त के ये वक्ष्यमाण तीन सूत्र अक्षर के

१. बृ॰ उप॰ ३.८.७, ८ आदि।

सम्बन्ध में हैं—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः।। सा च प्रशासनात्।। अन्यभावव्यावृत्तेश्च।।

(वेदान्त॰ १.३.१०-१२)

शिष्य— भगवन् गार्गी के संवाद में आये हुए अक्षर शब्द से वर्ण का अथवा परमेश्वर का ग्रहण है क्योंकि "अथ अक्षरसमाम्नायः" इत्यादि स्थलों में अक्षर शब्द का अर्थ अ, आ, क, ख इत्यादि वर्ण प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध को छोड़ अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करना उचित नहीं। और भी— "ओंकार एवेदं सर्वम्" (छा॰ उप॰ २.२३.३) इत्यादि श्रुत्यन्तर में ओंकार वर्ण की उपासना विहित है क्योंकि यह ओंकार सर्वात्मक और आकाश पर्यन्त सब को धारण करने वाला है। इस हेतु इस अक्षर शब्द का अर्थ वर्ण ही प्रतीत होता है।

शंकराचार्य— हे शिष्य ! यहाँ अक्षर शब्द से परमेश्वर का ग्रहण है क्योंकि **"अम्बरान्तधृतेः"** पृथिवी से लेकर आकाशान्त सकल विकारजात की धारणा इसी अक्षर में की गई है। इसी अक्षर में त्रयविभक्त पृथिव्यादि समस्त विकार की **"आकाश एव तदोतञ्च प्रोतञ्च"** (बृ॰ उप॰ ३.८.७) इस श्रुति से आकाश में प्रतिष्ठा कहकर **"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च"** यह आकाश किसमें ओत-प्रोत है? इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि **"एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च"** (बृ॰ उप॰ ३.८.११) हे गार्गी ! इसी अक्षर में आकाश ओत और प्रोत है, यह कहा है। यह आकाशान्त धारणा ब्रह्मातिरिक्त अन्य वर्णादिक में नहीं घट सकती। इस हेतु इस अक्षर का वाच्य परमात्मा है और जहाँ ओंकार अक्षर की प्रशंसा की गई है, वहाँ भी ब्रह्मवाचक ओंकार के होने से वह की गई है। अतः क्षर और अश् धातु से यह अक्षर शब्द सिद्ध होता है और नित्य और व्यापी इसी के अर्थ हैं।

और भी, प्रकरण के अनुसार अनेक हेतु दिये जा सकते हैं जिनसे अक्षर-वाच्य परमेश्वर ही सिद्ध होगा। प्रकरण यह आया है कि इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य, चन्द्र आदि सब ही चल रहे हैं। यह प्रशासन केवल परमेश्वर का कर्म है, अचेतन प्रधान आदिकों का नहीं क्योंकि अचेतन घटादिक कारण मृत्तिकादि घटादि विषयों का शासन नहीं करते। और भी, प्रकरण में कहा गया है कि यह अक्षर ही द्रष्टा, श्रोता और मन्ता इत्यादिक है। और भी, यह अक्षर अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अमन इत्यादि भी कहा गया है। इत्यादि धर्म केवल परमात्मा में ही घट सकते हैं, अन्यान्य जीवादिकों में नहीं।

उपदेश

इस ब्रह्मवाचक अक्षर शब्द से कौन उपदेश ग्रहण करने योग्य है। वास्तव

में वेदान्त की दृष्टि से यह विषय बहुत ही गम्भीर और सुखप्रद है, तथापि अतिसंक्षेप से इसको मैं दिखलाऊँगा। प्रथम वर्णात्मक अक्षर क्या है और इनकी गति कहाँ तक है, इनको विचारो। क्या मनुष्यों के और पशु-पक्षियों के मुख से उच्चार्यमाण अक्षर दोनों समान हैं ? और अक्षर शब्द के प्रकृति आदि भी अनेक अर्थ होते हैं। वास्तव में मनुष्यों के मुख से विस्पष्ट अक्षर उच्चरित न होते तो निःसन्देह यह जाति भी पशुवत् जंगल में रहती। पश्वादिकों से विस्पष्ट अक्षर उच्चरित नहीं होते इसलिये मनुष्येतर जातियाँ स्वाभिप्राय परस्पर प्रकट नहीं कर सकतीं। अत एव सृष्टि के आदि से अब तक उनमें समानावस्था ही बनी रही और मनुष्य में विस्पष्ट अक्षर उच्चरित होते हैं, इस हेतु वे परस्पर अपना भाव प्रकट कर इस अचिन्तनीय उन्नति तक प्राप्त हुए हैं। वास्तव में यह अक्षर भी अनादि है क्योंकि वेद अक्षरमय हैं और वे नित्य और अनादि कहे गये हैं। जब से ही वेद परमेश्वर की कृपा से ऋषियों के हृदय द्वारा मनुष्य जाति में आये, तब से ही मनुष्य विस्पष्ट- भाषी हुआ। यदि आदि गुरु परमात्मा इस जाति को विस्पष्ट भाषण न सिखलाता, तो सम्भवतः यह जाति भी पशुवत् अविस्पष्टभाषी बनी रहती। एवमस्तु, इससे क्या शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, यह मुझे यहाँ दिखलाना है। जैसे मुखोच्चरित अक्षर निरवयव नीरूप और व्यापक वस्तु हैं किन्तु उन अक्षरों के स्थान में कल्पित जो अ, आ, क, ख, इत्यादि अक्षर हैं, वे बहुविध और साकार हैं। इसी प्रकार निरवयव, व्यापी, नित्य, विभु परमात्मा के स्थान में अथवा उससे रचित यह समस्त विकारजात सावयव और परिच्छिन्न है किन्तु जैसे क, ख इत्यादि लिपि कल्पित है, तद्वत् यह जगत् भी कल्पित ही है।[१] दूसरी बात यह है, जैसे अक्षर मनुष्य जाति की शोभा है, तद्वत् अपने समुदाय में भी सदाचार से शोभा बढ़ाते हुए प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिए।

अन्तर्यामी नाम विवेक

अनन्त नामों में से एक अन्तर्यामी नाम भी परमात्मा का है। जो सर्वजगत् के भीतर रहकर सब को कार्य में लगावे अर्थात् जो सबका प्रेरक हो, उसे अन्तर्यामी कहते हैं। अन्तः= अभ्यन्तर। यामी= प्रेरक, शासक, कराने वाला, भ्रमयिता, कारयिता इत्यादि। जो सबके भीतर में स्थित होकर प्रेरक हो, वह अन्तर्यामी है। यह नाम परमेश्वर का है। श्रुति में जिस प्रसंग में इसका प्रयोग आया है, प्रथम उसका श्रवण करो। उससे आत्मा पवित्र और ईश्वराभिमुख होगा। वह प्रसंग इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में आम्नात है—

"अरुणपुत्र उद्दालक ने जनक महाराज की महासभा में याज्ञवल्क्य से यों

१. यह पाठ सन्दिग्ध है ? वैश्वानर के समान समन्वय सन्दिग्ध है।

पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! हम सब कतिपय विद्यार्थी कपिगोत्रोद्भव पतञ्जल के गृह में निवास करते थे। और उनसे ही यज्ञविद्या का भी अध्ययन कर रहे थे। वे काप्य पतञ्जल मद्रदेश के रहने वाले थे। उनकी भार्या भी किसी उत्तम गन्धर्व अध्यापक से पढ़ती थी। वह अथर्वा का पुत्र था उसका नाम कवन्ध था, उस गन्धर्व अध्यापक ने एक समय किसी प्रसंग से काप्य पतञ्जल से तथा हम लोगों से भी पूछा कि आप लोग क्या उस सूत्र को जानते हैं–

येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति।

(बृ० उप० ३.७.१)

जिससे यह लोक और परलोक और सब पृथिव्यादि भूत ग्रथित हैं। इसको सुनकर पतञ्जल ने कहा कि भगवन् ! इस सूत्र को हम लोग नहीं जानते हैं। तब पुनः उस गन्धर्व ने हम सब से पूछा कि क्या आप लोग उस अन्तर्यामी को जानते हैं–

य इमञ्च परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति।

(बृ० उप० ३.७.१)

जो (अन्तरः) अभ्यन्तर में रहकर इस लोक को, परलोक को और पृथिव्यादि समस्त भूतों को (यमयति) स्व-स्व कार्य में लगा रहा है। जो सबका प्रेरक है, उस अन्तर्यामी को जानते हैं। काप्य पतञ्जल ने कहा कि भगवन् हम लोग इसे भी नहीं जानते।

गन्धर्व– हे पतञ्जल तथा हे याज्ञिको ! जो उस सूत्र को तथा उस अन्तर्यामी को जान ले, वही ब्रह्मवित्, वही लोकवित्, वही देववित्, वही वेदवित्, वही भूतवित्, वही आत्मवित्, वही सर्ववित् है।

इस प्रकार हम लोगों में बातें हुईं। पश्चात् उस गन्धर्व अध्यापक ने उस सूत्र और अन्तर्यामी पुरुष को हम लोगों को अच्छी तरह समझाया। मुझको सब बातें स्मरण में हैं। हे याज्ञवल्क्य ! क्या आप उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानते हैं। यदि जानते हैं, तो इस महाराज की महती सभा में समस्त विद्वानों के समीप वर्णन करें। तब ही वास्तव में आप ब्रह्मवित् माने जा सकते हैं।

याज्ञवल्क्य बोले– प्रथम प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है। हे गौतम ! यह सूत्र वायु है। इसी वायु से यह लोक और परलोक और सर्व भूत ग्रथित हैं।"

अंगुष्ठमात्र नाम विवेक

वेद के अनेक स्थानों में इस प्रकार उपदेश आता है–

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।[१]

१. द्र०– शांकरभाष्य (वेदान्त० १.३.२४)।

तथा

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य उ श्व एतद्वै तत्।।[१]

(का० २.४.१३)

अर्थ– शरीर के मध्य में अंगुष्ठमात्र पुरुष विद्यमान है। वह पुरुष अंगुष्ठमात्र है, धूमरहित, ज्योति के समान है, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान का वह शासक है। वही आज, वही कल, वही सदा रहने वाला है। इत्यादि स्थल में जो यह अंगुष्ठमात्र शब्द आया है, वह जीवात्मवाचक है अथवा परमात्मवाचक है ? यह संशय प्रायः सबको होगा। अतः इसका निर्णय वेदान्त शास्त्र में किस प्रकार है, इसको संक्षेप रूप से यहाँ दिखलाता हूँ। तुम सब मन को एकाग्र कर सुनो।

शिष्य– यहाँ अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला कहा जाता है, अतः विज्ञानात्मा जीव का ही प्रतिपादन प्रतीत होता है क्योंकि अनन्त आयाम और विस्तारयुक्त परमेश्वर का अंगुष्ठमात्र परिमाण कहना सर्वथा अयुक्त है। जीवात्मा उपाधि-परिच्छिन्न है। अतः किसी कल्पना द्वारा उसको अंगुष्ठमात्र कह सकेंगे। यहाँ स्मृति भी कहती है–

अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्।।

(महाभारत० ३.२९७.१७)

सत्यवान् के शरीर से यम ने बलात्कार से उस अंगुष्ठमात्र जीव को निकाल लिया। इत्यादि प्रमाण से भी जीव ही प्रतीत होता है क्योंकि परमेश्वर को कोई भी खींच नहीं सकता। हे गुरु ! इस सन्देह की निवृत्ति कृपया आप करें।

श्रीशंकर– यहाँ अंगुष्ठमात्र शब्द से परमेश्वर का ग्रहण है, जीवात्मा का नहीं। अत एव वेदव्यास कहते हैं–

शब्दादेव प्रमितः।। वेदान्तः (वेदान्त० १.३.२४)

वेद के प्रकरणस्थ शब्द से यहाँ अंगुष्ठमात्र ईश्वर ही है क्योंकि "ईशानो भूतभव्यस्य" भूत और भविष्यत् का वही शासक है, ऐसा कहा है। परमेश्वर को छोड़ अन्य कोई भी भूत और भव्य का शासक नहीं हो सकता। और भी, वहाँ ही कहा गया है कि–

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यति तद् वद।।

१. द्र०– शांकरभाष्य (वेदान्त० १.३.२४)।

(का॰ १.२.१४)

वह धर्म से, अधर्म से, कृताकृत से, भूत से और भव्य से पृथक् है। हे यम! आप कदाचित् उसको देखते हैं। उसके उपदेश मुझको भी दीजिये। इत्यादि कठवल्ली उपनिषद् में जो वर्णन आया है, वह केवल ईश्वर में ही घट सकता है।

तब यदि पूछो कि सर्वगत ईश्वर का परिमाणो[1]पदेश कैसे ? इस सन्देह को दूर करने के लिये वेदव्यास इस सूत्र को रचते हैं—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्।। (वेदान्त॰ १.३.२५)

सर्वगत भी परमेश्वर का हृदय में स्थान है, इस अपेक्षा से वह अंगुष्ठमात्र कहा जाता है। जैसे किसी छिद्रगत आकाश को कहें कि यहाँ अति अल्प आकाश है। यदि कहो कि अनन्त जीवों के अनन्त हृदय हैं। सब का हृदय तुल्य नहीं तब पुनः वह अंगुष्ठमात्र कैसे ? इसके उत्तर में (मनुष्याधिकारत्वात्) यह कहते हैं। आशय इसका यह है कि यद्यपि सबके लिये शास्त्र प्रवृत्त है, तथापि शास्त्र केवल मनुष्य के लिये ही है क्योंकि यज्ञादि और उपासनादि यही कर सकता है। यही फल का प्रार्थी भी होता है। मनुष्य का काम नियतपरिणाम वाला है। प्रायः उचित रूप से ही वही परिणाम होता है और शास्त्र में केवल मनुष्य का ही अधिकार सिद्ध होता है। अतः मनुष्य के हृदय की अपेक्षा से परमात्मा अंगुष्ठमात्र कहा गया है। इति संक्षेपतः।

ज्योतिःस्वरूप नाम विवेक

पुनः उपनिषदों में यह वर्णन आता है कि—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

(मु॰ उप॰ २.२.१)

इसका आशय यह है कि उसको सूर्य प्रकाशित नहीं करता, उसको चन्द्र और ताराएं भासित नहीं करतीं, उसको ये विद्युत् भासित नहीं करतीं। तब यह क्षुद्र अग्नि वहाँ किस गणना में है। यही प्रकाशित हो रहा है। उसी के प्रकाश से सब ही प्रकाशित होते हैं। यहाँ भी संशय हो सकता है कि जिसके प्रकाश के पश्चात् सब प्रकाश पाता है, वह कोई तेजो धातु है अथवा प्रांज्ञ आत्मा है। यहाँ भी प्रायः प्रथम तेजो धातु ही कहा जायेगा क्योंकि तेजो धातु जो सूर्यादिक पदार्थ हैं, उनके भान का वहाँ प्रतिषेध है। चन्द्रतारक आदि भी तेजःस्वभाव वाले हैं। दिन में तेजोरूप सूर्य के भासमान होने पर भासमान नहीं होते हैं अर्थात् अभिभूत हो जाते हैं, वह भी कोई महातेजस्वी धातुमय पदार्थ ही होना चाहिए कि वह

१. हस्तलेख में 'परिणाम' पाठ है।

परमदेव ही है। यद्यपि सूर्यादिवत् वह प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशित नहीं होता, तथापि इसके आधार पर यह सम्पूर्ण जगत् है। वही संबका जीवन है। इसी प्रकार सूर्य-चन्द्रादिक में भी उसी की शक्ति है, जिससे वे भास रहे हैं **"तेजोऽसि तेजो मयि धेहि"** इत्यादि प्रमाण से वही वास्तव में ज्योतिःस्वरूप है। सूर्यादिक में परमात्मा का ही तेज है। गीता कहती है—

न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्त्तते तद्धाम परमं मम।।
यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।

(गीता १५.६,१२)

उस ब्रह्म को न सूर्य, न चन्द्र, न अग्नि प्रकाशित करता है, जहाँ जाकर नहीं लौटते हैं वह मेरा परम धाम है। जो सूर्यगत तेज इस अखिल जगत् को भासित कर रहा है और चन्द्र और अग्नि में जो तेज हैं, वह सब मेरा है। इति संक्षेपतः।

इसी प्रकार—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः। (छा॰ उप॰ ३.१३.७)

अर्थ— (यत्+ज्योतिः) जो ज्योति (अतः+दिवः) इस द्युलोक से (परः) पर (दीप्यते) प्रदीप्त हो रहा है। जो (विश्वतः+पृष्ठेषु) सब के ऊपर स्थित है (अनुत्तमेषु) सबसे अनुत्तम लोकों और उत्तम लोकों में प्रकाशित हो रहा है, वह ज्योति यह है, जो पुरुष के अभ्यन्तर में स्थित है।

इत्यादि स्थलों में भी ज्योतिः शब्द से उसी परमात्मा का ग्रहण है। इस पर **"ज्योतिश्चरणाभिधानात्"** (वेदान्त॰ १.१.२४) इत्यादि वेदान्त सूत्रों को देखो। यहाँ मैं अनेक ईश्वरीय नामों की व्याख्या दिखलाकर ईश्वर का स्वरूप बतला आया हूँ। इन सब पर अधिक मनन करने से ही ईश्वरी महिमा प्रतीत होती है। वेदान्त शास्त्र पितृस्वरूप होकर सबको उत्तम उपदेश देकर मुक्ति की ओर ले जाना चाहता है। जो कुछ इसमें है और जो कुछ इससे पर है, वह सब ही ईश्वर का ही अंश है, यह निश्चय समझो।

इस प्रकरण में भूमा, वैश्वानर, आकाश, प्राण, अक्षर, भूतयोनि, अन्तर्यामी,

अत्ता, अंगुष्ठमात्र और ज्योति[1] आदि अनेक नामों की व्याख्या की है। ये नाम विशेष कर वेद से सम्बन्ध रखते हैं। इसके अतिरिक्त आनन्दमय, विज्ञानमय, इन्द्र, यम, अग्नि, मित्र, वरुण आदि भी बहुत से नाम हैं। महाभारत में विष्णु के एक सहस्र नाम कहे गए हैं। तन्त्रादिक में भगवती के नाम एक-एक सहस्र गिनाए गए हैं। जितनी मानव भाषाएँ इस पृथिवी पर हैं, [उनमें] भी ईश्वर के नाम होंगे, इसमें भी सन्देह नहीं। अपनी-अपनी भाषा में कविगणों ने अच्छे-अच्छे नाम ईश्वर के गिनाए हैं। पृथिवीस्थ सब ही मनुष्य ईश्वर का गुण किसी न किसी नाम से गाते हैं। वेदान्त शास्त्र का विलक्षण सिद्धान्त है, वह नाम और रूप को कल्पित मानता है। केवल नाम से इसका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। ईश्वरीय ज्ञान से प्रयोजन सिद्ध होता है। यह वेद-[शास्त्र] परमार्थ है। अतः किसी प्रकार आत्म- बोध हो, इस आत्मा को न गिराओ।

इति श्री शिवशंकरप्रणीते त्रैतसिद्धान्तादर्शे
समन्वयादर्शः समाप्तः।।६।।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः।।[2]

१. हस्तलेख में 'गुहाप्रविष्ट' पाठ है।

२. हस्तलेख में यह पुष्पिका और समाप्तिसूचना नहीं है।

विशिष्टशब्दसूची